सरल अर्थशास्त्र

(उत्तर प्रदेश के इंटरमीडियेट बोर्ड के अर्थशास्त्र विषय के लिये स्वीकृत)

लेखक

पंडित दयाशंकर दुबे, एम० ए०, एल-एल० बी०

अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय; अर्थशास्त्र-सम्बन्धी
अनेक ग्रन्थों के रचयिता

और

श्रीयुत भगवानदास केला

रचयिता भारतीय अर्थशास्त्र, भारतीय राजस्व, भारतीय
शासन इत्यादि, इत्यादि

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

चतुर्थ संस्करण] सन् १९५० ई० [मूल्य ५)

मुद्रक—
मुंशी रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

भूमिका

मै उन लोगो मे से हूँ जो विश्वास करते हैं कि सब विषयों का उच्च से उच्च पढाई, विशेष कर अर्थशास्त्र की एम्० ए० तक पढाई, हिन्दी के माध्यम द्वारा आसानी से हो सकती है। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के अर्थशास्त्र विषय की उत्तमा परीक्षा बिना अँग्रेजी का एक भी ग्रंथ पढे कोई भी परीक्षार्थी उत्तीर्ण कर सकता है। मै उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था जब इस प्रान्त के इन्टरमीडियेट कालेजों मे अर्थशास्त्र की पढाई हिन्दी के माध्यम द्वारा होना आरम्भ हो जाय। परमेश्वर की कृपा से वह दिन अब आ गया। सन् १९४१ से उत्तर प्रदेश के इन्टरमीडियेट बोर्ड की परीक्षा मे कोई भी परीक्षार्थी अपनी इच्छानुसार अर्थशास्त्र के प्रश्नपत्रों के उत्तर हिन्दी मे लिख सकता है। ऐसे परीक्षार्थियो की सुविधा के लिये ही यह ग्रन्थ तैयार किया गया है। इसमे इन्टरमीडियेट बोर्ड के अर्थशास्त्र विषय के पाठ्यक्रम के अनुसार प्रायः सब आवश्यक बातो का समावेश कर दिया गया है। सब बाते भारतीय दृष्टिकोण से ही लिखी गई हैं। यह भी इस पुस्तक की विशेषता है। प्रत्येक अध्याय के अत मे कुछ चुने हुए प्रश्न दिये गए हैं। जिस वर्ष मे जो प्रश्न इन्टरमीडियेट बोर्ड की परीक्षा मे पूछा गया था उसकी सूचना प्रश्न के साथ मे ही दे दी गई है। मुझे आशा है कि यह ग्रन्थ उन विद्यार्थियो का भी लाभदायक सिद्ध होगा, जिन्होंने अपने अध्ययन का माध्यम अँग्रेजी रखा है। इस पुस्तक मे कुछ बाते ऐसी दी गई हैं जो अँग्रेजी पुस्तकों मे भी नही मिलेगी।

यह पुस्तक मेरे करीब २० वर्षो के इस शास्त्र के अध्ययन और पढाई के अनुभव के आधार पर लिखी गई है। यदि इस पुस्तक के लिखने मे मेरे मित्र, अर्थशास्त्र-सम्बन्धी कई ग्रन्थो के रचयिता श्रीभगवानदास केला का सहयोग प्राप्त न होता तो यह इतने शीघ्र प्रकाशित न हो पाती। श्रीमहेशचन्द्र अग्रवाल एम्० ए०, बी० एस-सी०, 'विशारद' ने इस पुस्तक के लिखने मे बड़ी सहायता दी। श्रीमान् केलाजी का 'भारतीय अर्थशास्त्र' 'भारतीय राजस्व' और 'धन की उत्पत्ति' तथा श्रीमुरलीधर जोशी का 'सम्पत्ति का उपभोग' से बड़ी सहायता ली गई है। इन सब सज्जनो का मैं बहुत आभारी हूँ। इस पुस्तक के अंत मे परिशिष्ट (३) मे ऐसी सहायक पुस्तकों की सूची दी गई है जिनके पढने से अर्थशास्त्र के ज्ञान की वृद्धि होगी।

यदि अर्थशास्त्र के विद्यार्थी और अध्यापकगण इस पुस्तक की त्रुटियों के सम्बन्ध में मेरा ध्यान आकर्षित करने की कृपा करेंगे तो मैं उनका बहुत आभारी रहूँगा और इस पुस्तक के दूसरे संस्करण में उन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न करूँगा। इस पुस्तक में यदि कुछ गलतियाँ रह गई हों तो मैं आशा करता हूँ कि विज्ञ पाठकगण उनको सुधार लेंगे।

श्री दुबे-निवास, दारागंज (प्रयाग)
श्रावण शुक्ल ५, संवत् १६६६
तारीख १८ अगस्त १६३६

दयाशंकर दुबे
अर्थशास्त्र अध्यापक,
प्रयाग विश्वविद्यालय

चौथे संस्करण की भूमिका

हम यह जानकर बहुत प्रसन्न हैं कि यह पुस्तक उत्तरप्रदेश के बोर्ड द्वारा इंटरमीडियेट परीक्षा के अर्थशास्त्र विषय के लिये पाठ्य ग्रन्थ स्वीकृत है; विद्यार्थियों को अपना विषय समझने मे इससे अच्छी सहायता मिल रही है और उनमें इसका खूब प्रचार भी हो रहा है। बिहार प्रांत के विद्यार्थियों के लिये भी यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इस संस्करण मे इस पुस्तक को विद्यार्थियों के लिये और भी अधिक उपयोगी बनाने का प्रयत्न किया गया है। पहिले संस्करण मे जो कुछ थोडी बहुत आवश्यक बातें रह गई थीं वे अब इस पुस्तक मे नवीनतम बातों के साथ दे दी गई हैं। इस संस्करण में तीन अध्याय, एक परिशिष्ट, और सवा सौ पृष्ठों से अधिक अत्यन्त आवश्यक सामग्री बढा दी गई हैं। हम आशा करते हैं कि स्वतंत्र भारत मे इस पुस्तक से अर्थशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने मे विद्यार्थियों को पूरी सहायता मिलेगी।

श्री दुबे-निवास,
दारागंज (प्रयाग)
३०।४।५०

दयाशंकर दुबे

विषय-सूची

प्रथम खंड—विषय-प्रवेश

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र का विषय

दूसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के भाग

तीसरा अध्याय

अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध

चौथा अध्याय

आर्थिक जीवन का विकास

द्वितीय खंड—उपभोग

पाँचवाँ अध्याय

आवश्यकताएँ

छठा अध्याय

उपयोगिता

सातवाँ अध्याय

आमदनी खर्च करने की विधि

आठवाँ अध्याय

उपभोग के पदार्थ

नवाँ अध्यय

माँग

दसवाँ अध्याय

पारिवारिक आय-व्यय

ग्यारहवाँ अध्याय
उपभोग मे सामाजिक दृष्टि

तृतीय खंड—उत्पत्ति

बारहवाँ अध्याय
उत्पत्ति और उसके साधन

तेरहवाँ अध्याय
भूमि

चौदहवाँ अध्याय
श्रम

पंद्रहवाँ अध्याय
पूँजी

सोलहवाँ अध्याय

व्यवस्था

सत्रहवाँ अध्याय

उत्पत्ति के साधनों की क्षमता

अठारहवाँ अध्याय

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति

उन्नीसवाँ अध्याय

खेती

बीसवाँ अध्याय

घरेलू उद्योग-धन्धे

इक्कीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति के नियम

बाईसवाँ अध्याय

उत्पत्ति और सरकार

तेईसवाँ अध्याय

उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श

चतुर्थ खंड—विनिमय

चौबीसवाँ अध्याय

अदल बदल

पच्चीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की कीमत

छब्बीसवाँ अध्याय

व्यापार के साधन

सत्ताईसवाँ अध्याय

देशी और विदेशी व्यापार

अट्ठाईसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार

उन्तीसवाँ अध्याय

मुद्रा

तीसवाँ अध्याय

साखपत्र

इकतीसवाँ अध्याय

बैंक

बत्तीसवाँ अध्याय

विनिमय की दर

पंचम खंड—वितरण

तैंतीसवाँ अध्याय

लगान

चौंतीसवाँ अध्याय

मजदूरी

पैंतीसवाँ अध्याय

सूद

चालीसवाँ अध्याय

प्रान्तीय आय-व्यय

इकतालीसवाँ अध्याय

स्थानीय राजस्व

परिशिष्ट (१)

परिशिष्ट (२)

परिशिष्ट (३)

परिशिष्ट (४)

परिशिष्ट (५)

प्रथम खंड

विषय-प्रवेश

पहला अध्याय

अर्थशास्त्र का विषय

अर्थशास्त्र किसे कहते हैं?—संसार मे हम लोगो को नाना प्रकार के कार्य करते हुए देखते हैं। एक आदमी सर्दी-गर्मी सहन करके प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक खेती का काम करता है। दूसरा, दिन भर परिश्रम करके जंगल से घास या लकड़ी लाता है अथवा कई घंटो तक कल-कारखाने में मजदूरी करता है। तीसरा, सबेरे से रात को नौ दस बजे तक दुकानदारी करता है। चौथा, किसी दफ्तर में कष्ट-साध्य लेखन कार्य करता है। पाँचवाँ, रात भर जाग कर बस्ती में पहरा देता है। ये लोग इन कामों मे क्यो लगे हैं, क्या ये केवल अपने मनोरंजन के लिए इन कामो में लगे हैं, अथवा क्या इनका उद्देश्य केवल लोक-सेवा है? सम्भव है हजार आदमियो में से केवल एक दो लोक-सेवा के लिये ही कार्य करते हैं। शेष सब तो इन कार्यो को इसी लिए करते हैं कि उन्हे इन कार्यो के करने के उपलक्ष्य मे आवश्यक भोजन, वस्त्र आदि मिलता है, या द्रव्य आदि मिलता है, जिससे हम भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त कर सकते हैं। निदान, हमारे विविध प्रयत्नो का मूल हमारी आवश्यकताएँ (Wants) है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हम तरह-तरह के प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे ये प्रयत्न 'आर्थिक प्रयत्न' (Economic Activity) कहे जाते हैं और जिस शास्त्र मे मानवी आवश्यकताओ तथा उनकी पूर्ति के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों का अध्ययन किया जाता है, उसे 'अर्थशास्त्र' (Economics) कहते है।

परन्तु अर्थशास्त्र में सभी मनुष्यो की आवश्यकताओ का विचार नहीं किया जाता। जो आदमी जगल या गुफा आदि मे एकान्त जीवन व्यतीत करता है, जिसका दूसरे व्यक्तियो से कोई सम्बन्ध नही है, ऐसे आदमी की आवश्यकताओ का अध्ययन करना अर्थशास्त्र का कार्य नही है। अर्थशास्त्र मे केवल उन्हीं आदमियो की आवश्यकताओं का विचार होता है, जो समाज में रहते हैं,

जिनका अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरे से विविध प्रकार सम्बन्ध होता है । अर्थशास्त्र सामाजिक मनुष्य के सम्बन्ध मे विचार करता है। इसलिए यह एक सामाजिक विद्या है । अर्थशास्त्र के अतिरिक्त और भी कई एक सामाजिक विद्याएँ हैं, उनसे अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, यह आगे एक स्वतत्र अध्याय मे बताया जायगा ।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Economics)—अर्थशास्त्र केवल सामाजिक मनुष्यो का विचार करता है, किन्तु उनके भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले सब प्रयत्न इसके क्षेत्र में नही आते । घरो मे विशेषतया स्त्रियाँ और बच्चे बहुत से ऐसे कार्य करते है जिनसे आदमियो की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं, अनेक आदमी ताश, चौसर, क्रिकेट, फुटबाल आदि खेल करके मन बहलाते हैं, क्योकि वे कार्य किसी प्रतिफल के लिहाज से नही किये जाते, उनका अर्थशास्त्र मे विचार नही किया जाता । अर्थशास्त्र मे ऐसे प्रयत्नो का विचार किया जाना है, जो प्रधानतः प्रतिफल, पारिश्रमिक, वेतन, पुरस्कार या मुआवज़े की दृष्टि से किये जाते हैं, केवल प्रेम, मित्रता, स्नेह, मनोरञ्जन या धार्मिक भावना आदि से नही । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र समाज मे रहने वाले मनुष्यो के धन सम्बन्धी अर्थात् आर्थिक प्रयत्नो का क्रमबद्ध विवेचन करता है ।

इगलैड के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री डाक्टर मार्शल का मत है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन सबधी साधारण कार्यो का अध्ययन करता है । वह मनुष्य के ऐसे व्यैक्तिगत जीवन और सामाजिक कार्यो की जाँच करता है जिसका घनिष्ठ सबध उसके कल्याण (Well-being) के भौतिक साधनों को प्राप्त करने और उपयोग करने से रहता है । मनुष्य-जीवन के कार्यो को साधारण और असाधारण दो श्रेणियो मे बॉट कर और यह न बतला कर कि असाधारण कार्य कौन से समझे जाने चाहिये अर्थशास्त्र की परिभाषा कुछ अस्पष्ट कर दी गई है । हमको स्पष्ट रूप से कहना चाहिये कि अर्थशास्त्र मे मनुष्य के अर्थ सबधी सब कार्यो का क्रमबद्ध विवेचन होता है । मनुष्य के कल्याण को अपनी परिभाषा मे स्थान देकर डाक्टर मार्शल ने एक कमी की पूर्ति की है । प्रत्येक शास्त्र द्वारा मार्ग-दर्शन होना आवश्यक है और यह तब ही अच्छी तरह से हो सकती है जब शास्त्र का कोई स्पष्ट ध्येय हो । हमको यह जान लेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्र का ध्येय मनुष्य का कल्याण और उसके साथ ही साथ विश्व का कल्याण है ।

अर्थशास्त्र का वर्तमान रूप मे विकास पाश्चात्य देशो में, विशेषकर इगलड में हुआ । आज कल भी इस शास्त्र की परिभाषा के सबध मे अर्थशास्त्रियों मे

एक मत नही है। प्रोफेसर राबिन्स अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान ही मानकर यह स्वीकार नही करते कि अर्थशास्त्र मे ऐसी बातो पर विचार किया जाय जिनके द्वारा आर्थिक सुधार के लिये मार्ग-दर्शन हो। प्रोफेसर राबिन्स के मतानुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के उन कार्यो का अध्ययन करती है जो इच्छित वस्तु (Ends) और उसके ऐसे परिमित साधनो (Scarce means) के सबध के रूप मे उपस्थित होते हैं जिनका उपयोग वैकल्पिक (Alternative) या कम से कम दो प्रकार से किया जा सकता है। इस परिभाषा मे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के उन कार्यो के सबध मे विचार होता है जिनमे इच्छित वस्तु प्राप्त करने के साधन परिमित रहते हैं और इन साधनो का उपयोग वैकल्पिक रूप से कम से कम दो प्रकार से किया जाता हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने समय के उपयोग करने की अनेक प्रकार की इच्छाएँ होती है। परतु समय हमेशा परिमित रहता है और उसका उपयोग कई तरह से किया जा सकता है। मान लीजिये कि कोई मनुष्य सो रहा है पूजा कर रहा है या कोई खेल खेल रहा है। जो समय सोने मे, पूजा मे, या खेल मे लगाया गया है वह अन्य किसी कार्य मे लगाया जा सकता था इसलिये इन सब कामो का विचार अर्थशास्त्र मे करना प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा के अनुसार आवश्यक हो जाता है। मनुष्य कोई भी काम करे उसमे समय की आवश्यकता अवश्य पडती है और इस परिमित समय के उपयोग का विवेचन अर्थशास्त्र मे करना आवश्यक हो जाता है। यदि बारीकी से विचार किया जाय तो यह आसानी मे समझ मे आ जायगा कि प्रत्येक कार्य के सबध में अपार इच्छित वस्तुओ के साधन परिमित होते हे और उनका उपयोग कई प्रकार से किया जा सकता है। इस प्रकार प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के प्रत्येक कार्य के सबध मे विचार करता है। यह परिभाषा इतनी व्यापक है कि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का विवेचन चाहे वह राजनैतिक, धार्मिक या सामाजिक क्यो न हो अर्थशास्त्र के अन्दर आ जाता है। इस परिभाषा को मान लेने पर अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, राजनीति-शास्त्र और समाज-शास्त्र की सीमाओ का स्पष्टीकरण बराबर नही हो पाता।

प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा की दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान ही मानते है। उसमे केवल ऐसे विषयो का ही विवेचन उनके मतानुसार होना चाहिये जो किसी समय की परिस्थितियो मे कार्य-कारण का सबध बतलाते है। उन परिस्थितियो मे क्या अदल-बदल होना चाहिये और परिस्थितियो के बदलने के क्या तरीके है इन गभीर

प्रश्नों पर विचार उसमें नही किया जा सकता क्योकि ये सब काम विज्ञान की सीमा के बाहर हैं। मान लीजिये कि किसी देश मे शराब पीने वालो की सख्या बढ़ रही है। प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मे केवल यही विचार किया जायगा कि शराब पीने वालो की सख्या बढने से शराब की कीमत पर क्या प्रभाव पड़ेगा, शराब पैदा करने वालो पर क्या असर होगा। परतु उनके अर्थशास्त्र में इस प्रश्न पर विचार करने के लिये गुजाइश नही है कि शराब पीना अच्छा है या बुरा और शराब पीने की आदत सरकार व जनता के प्रयत्नो द्वारा कैसे बद की जा सकती है। उनके अर्थशास्त्र मे मार्ग-दर्शन का अभाव है। प्रत्येक शास्त्र मे मार्ग-दर्शन उसका एक महत्वपूर्ण भाग माना जाता है और इसी भाग का प्रोफेसर राबिन्स की परिभाषा मे न होना उसकी एक भारी कमी है। इस कमी के कारण अर्थशास्त्र का अध्ययन जनता को लाभकारी भी नही हो सकता।

अर्थशास्त्र बहुत प्राचीन है। इस विषय पर ससार मे सर्व प्रथम क्रमबद्ध उपलब्ध ग्रन्थ कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। हमारे भारत को ही यह गौरव प्राप्त है। यह ग्रथ कम से कम २२ सौ वर्ष पुराना है। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने के उपायो का विचार करना है। आपने अर्थशास्त्र मे ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशों में विजय प्राप्त करने की अनेक बाते दी हैं। शहरो का बसाना, खुफिया पुलिस का प्रबध, राजाओ का कर्तव्य, फौज की रचना, अदालतो की स्थापना, फौजदारी और दीवानी कानून, विवाह सबधी नियम, दाय भाग, शत्रुओ पर चढाई, किले बदी, सधि और उनके भेद आदि बातो का विचार आचार्य कौटिल्य अपने ग्रथ मे करते है। इससे स्पष्ट है कि आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र मे राजनीति, समाज-शास्त्र, आचार-शास्त्र इत्यादि विषयो का समावेश कर लिया है।

अर्थशास्त्र की परिभाषा—अर्थशास्त्रियो मे थोडा बहुत मत भेद होने पर भी अर्थशास्त्र की ऐसी परिभाषा दी जा सकती है जो सरल हो और जिससे उसकी सीमा निर्धारित होती हो। अर्थशास्त्र दो शब्दो से बना है अर्थ और शास्त्र इसलिये अर्थशास्त्र की सब से सरल परिभाषा यह है कि वह ऐसा शास्त्र है जिसमे मनुष्यों के अर्थ सबधी बातो का विवेचन हो। किसी विषय के क्रम-बद्ध ज्ञान को उस विषय का शास्त्र कहते है इसलिये अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के अर्थसबधी सब बातो का क्रम बद्ध ज्ञान होना आवश्यक है। उसमें मनुष्यो के उन प्रयत्नो के सबध मे विचार नही किया जाता जिनका संबध अर्थ के प्राप्त करने, रक्षा करने और खर्च करने से नही होता है।

ज्ञान का उद्देश सत्य की खोज द्वारा विश्व के लिये सुख और शांति के साधन प्राप्त करना है। अर्थशास्त्र भी यह बतलाता है कि अर्थ के द्वारा विश्व मे सुख और शाति कैसे प्राप्त हो सकती है। सब शास्त्रो के समान अर्थशास्त्र का उद्देश भी विश्व का कल्याण है और वह यह बतलाता है कि आर्थिक प्रयत्नो द्वारा विश्व-कल्याण कैसे हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचना के अनुसार अर्थशास्त्र की सरल परिभाषा यह है कि उसमे मनुष्य के अर्थसम्बन्धी सब कार्यों का क्रम बद्ध अध्ययन किया जाता है और उसका ध्येय विश्व-कल्याण है।

अर्थ का पर्यायवाची शब्द है धन या सम्पति। इसलिये अर्थशास्त्र को कुछ लोग धन विज्ञान या सम्पति शास्त्र भी कहते हैं।

अर्थ या धन (Wealth) की परिभाषा—अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के अर्थ संबधी कार्यों का अध्ययन होता है इसलिये अर्थ की परिभाषा समझ लेना आवश्यक है। अर्थ शब्द के अनेक अर्थ होते हे और हिन्दी जानने वालो के मन मे इस शब्द के सुनने से कई भाव पैदा हो जाते हैं। काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के हिन्दी शब्द सागर मे अर्थ शब्द के नीचे लिखे अनुसार आठ अर्थ दिये है :—

१—शब्द का अभिप्राय, मनुष्य के हृदय का आशय जो शब्द से प्रकट हो। २—अभिप्राय, प्रयोजन, मतलब। ३—काम ४—हेतु, निमित्य, ५—इद्रियो के विषय, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध। ६—चतुर्वर्ग मे से एक, धन सपत्ति ७—अर्थशास्त्र के अनुसार मित्र, पशु, भूमि, धन, धान्य आदि की प्राप्ति और वृद्धि। ८—जन्म कुडली के लग्न से दूसरा घर।

अर्थशास्त्र मे अर्थ के उपर्युक्त प्रथम पॉच अर्थो से कोई सबंध नही है। और आठवे अर्थ का सबध ज्योतिष-शास्त्र से है इसलिये हमको विचार केवल छठवे और सातवे अर्थ पर ही करना है। छठवे अर्थ मे यह बतलाया गया है कि अर्थ चतुर्वर्ग मे से एक है। चतुर्वर्ग है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिनका प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये अभीष्ट है। अर्थ इन चार वर्गो मे से होने के कारण उसका प्राप्त करना भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। छठवे अर्थ का पर्यायवाची शब्द धन या संपत्ति दिया है और साधारण जनता मे धन का प्रयोग ही अर्थ के बदले में किया जाता है। इसलिये हम भी अर्थ के बदले मे धन शब्द का उपयोग करते हैं। शब्द सागर मे दिये हुए सातवे अर्थ के अनुसार अर्थ में मित्र, भूमि, धन-धान्य आदि की प्राप्ति और वृद्धि सम्मिलित है। हमे यह

नही मालूम कि किस अर्थशास्त्र से अर्थ की यह परिभाषा ली गई है। वर्तमान समय मे अर्थशास्त्रियो द्वारा अर्थ की जो परिभाषा मान्य की गई है उसमे मित्र सम्मिलित नही है। मित्र कोई मनुष्य ही हो सकता है और मनुष्य को अर्थ का भाग नही माना जा सकता। यह परिभाषा इतनी स्पष्ट नही है कि जिससे आसानी से मालूम हो सके कि कौन सा पदार्थ अर्थ या धन है और कौन सा नही है।

अर्थशास्त्र मे अर्थ या धन केवल रुपए-पैसे आदि सिक्को या सोने-चाँदी आदि धातुओ को ही नही कहते, वरन् इसके अतर्गत वे सब पदार्थ समझे जाते है, जिनसे मनुष्य की किसी प्रकार की कोई आवश्यकता पूरी हो सकती हो, एव जिनको देकर बदले मे दूसरी उपयोगी वस्तुएँ मिल सकती हो। इस प्रकार अन्न, कोयला, लोहा, लकडी आदि चीजे भी धन है। सक्षेप मे समस्त उपयोगी और विनिमय-साध्य चीजे (Exchangeable goods) धन है। कोई वस्तु विनिमय-साध्य तब कही जाती है, जब उसे देकर उसके बदले मे अन्य उपयोगी वस्तु मिल सके। ससार मे बहुत सी वस्तुएँ ऐसी है जो विनिमय-साध्य नही इन वस्तुओ को अर्थशास्त्र मे धन नही कहते। उदाहरणवत् हवा और रोशनी का विचार कीजिए। इनके उपयोगी होने मे किसी को सन्देह नही है, परन्तु साधारणतया ये अपरिमित मात्रा मे मिलती है, अतः ये विनिमय-साध्य नही होती और इसलिए अर्थशास्त्र मे धन नही मानी जाती। हाँ, विशेष दशाओ मे खान आदि मे, ये परिमित परिमाण मे होती है, इन्हे अधिक मात्रा मे प्राप्त करने के लिए श्रम अथवा द्रव्य खर्च करना होता है, तब ये विनिमय-साध्य होती है और इसलिए वहाँ धन मानी जाती है। इससे मालूम हुआ कि किसी चीज का धन होने के लिए विनिमय-साध्य होना आवश्यक है।

ऊपर धन के जो उदाहरण दिए गए है, वे भौतिक पदार्थो (Material goods) के है। उनके अतिरिक्त, अ-भौतिक धन भी होता है। एक आदमी दूसरे की, किसी प्रकार की सेवा करता है, यह उपयोगी तो है ही, इसके बदले मे उसे द्रव्य अन्न आदि और उपयोगी वस्तुएँ भी मिलती हैं। अतः उसकी सेवा धन है। इसी प्रकार किसी व्यवसाय की प्रसिद्धि या ख्याति उपयोगी भी है और विनिमय-साध्य भी है, अर्थात्, इसका क्रय-विक्रय हो सकता है। इसलिए यह भी अर्थ-शास्त्र मे धन मानी जाती है।

यह बात ध्यान मे रखना आवश्यक है कि किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत गुण धन नहीं माने जाते, यद्यपि उन गुणो के द्वारा धन की प्राप्ति हो जाती है। उसका मुख्य कारण यह है कि व्यक्तिगत गुण विनिमय साध्य

नही हैं। कोई भी अध्यापक पढाते समय अपने ज्ञान का विनिमय नही करता। उसका ज्ञान तो उसके पास वैसा ही बना रहता है। वह अपनी सेवा का विनिमय करता है। इसलिये उसकी सेवा धन मानी जाती है। किसी कारीगर की कार्य कुशलता या दक्षता भी विनिमय-साध्य नही है। इसलिये वह भी धन नही मानी जाती। यद्यपि वह उस कार्य कुशलता या दक्षता के द्वारा जो काम करता है उससे उसको धन की प्राप्ति अवश्य होती है।

राष्ट्रीय धन (National Wealth)—हमारे नगर मे दूसरे नगर से जो सड़क आती है, इसके बनवाने मे हजारो रुपये लगे है। इसी प्रकार हमारे नगर के पास की नदी पर जो विशाल पुल बना है, वह तो लाखो रुपये मे तैयार हुआ है। अतः उपर्युक्त सड़क तथा पुल के धन होने मे तो किसी को शका ही नही हो सकती, प्रश्न यह है कि यह किसका धन है। कोई आदमी ऐसा नही जो इसे अपना कह सके, हॉ, सरकार या राष्ट्र इस पर अपना अधिकार बता सकता है। इससे मालूम हुआ कि कुछ चीजे ऐसी होती है जो किसी व्यक्ति विशेष की धन न होने पर भी राष्ट्रीय धन अवश्य होती हैं। ऐसी अन्य वस्तुएँ सार्वजनिक मकान, स्कूल, अस्पताल, अजायब घर, डाक, तार, रेल, नदी, नहर आदि हैं। इस प्रकार धन के दो भेद हुए, वैयक्तिक और राष्ट्रीय। भारतवर्ष के राष्ट्रीय घन मे यहॉ की जनता के धन के अतिरिक्त भारत-सरकार, प्रातिक सरकार, स्थानीय स्वराज्य सस्थाओ, म्युनिसिपल और लोकल बोर्डो, ग्राम-पंचायतो और मदिर, मसजिद, धर्मशाला आदि सस्थाओ के विविध धन सम्मिलित होने चाहिए। इन सब के जोड़ मे से वह रकम घटा देनी चाहिए, जो भारतवर्ष मे अन्य देशो की लगी हुई है, अर्थात् जो दूसरो को देनी है। कुछ अर्थशास्त्रियो के मत से तो राष्ट्रीय साहित्य, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के अतिरिक्त देश के निवासी भी राष्ट्रीय धन के हिसाब में सम्मिलित किये जाने चाहिएँ, क्योकि ये भी अपने देश के धन को बढाते है।

अर्थ या धन का महत्व—संसार में शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो जो धन का महत्त्व न जानता हो। छोटा बचा भी पैसे का महत्त्व समझता है और मचल कर अथवा रोकर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह भी इतना जानता है कि पैसा ही ऐसी वस्तु है जिससे वह अपनी इच्छित वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है। नवयुवक और बूढे आदमी जो दिन-रात उसी की चिंता में परेशान रहते हैं और उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। बिना धन के इस ससार मे किसी का गुजारा नही। जिसके पास धन है वह आसानी से वे सब वस्तुएँ प्राप्त कर सकता है जिनकी उसको आवश्यकता है

और इन वस्तुओ के उपयोग से उसको सुख मिलता है। इस प्रकार धन प्रत्येक मनुष्य के सुख का प्रधान साधन है। प्रत्येक मनुष्य सुखी होना चाहता है इसलिये वह उसके प्रधान साधन धन को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। समाज मे भी धनवान व्यक्ति की ही इज्जत की जाती है। कई व्यक्ति समाज मे ऊँचा स्थान प्राप्त करने के लिये भी अधिक धन पाने का प्रयत्न करते है। धन के बढ़ने से मनुष्य गरीबी की मुसीबतों से बच जाते है और अधिक सुखी भी हो सकते हैं। धन मे अपार शक्ति है। धन के द्वारा ही बडे-बडे कारखाने चलाए जाते है जिनमें अनेक व्यक्तियों को अपनी जीविका प्राप्त करने का अवसर मिलता है। धन के द्वारा अनेक परोपकार के कार्य भी होते हैं। धन के द्वारा ही शिक्षा प्रचार होता है और औषधालय तथा अस्पताल खोले जाते है जिनमे रोगियो की चिकित्सा की जाती है। अपने कुटुम्ब, समाज और देश को अधिक सुखी बनाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति का अधिक धनवान होने का प्रयत्न करना स्वाभाविक है।

परतु हमको यह न भूल जाना चाहिये कि धन की शक्ति का दुरुपयोग भी होता है। चोरी, डकैती, मुकदमेबाजी और लड़ाई-झगड़े प्रायः धन के लिये ही होते है। युद्ध भी धन या उसके साधन प्राप्त करने के लिये ही किये जाते है। कुछ व्यक्ति धन कमाने की धुन मे दूसरों के हितो का विचार नहीं करते और ऐसे साधनों द्वारा धन प्राप्त करते है जिनसे दूसरो की हानि होती है। समाज मे सघर्ष पैदा होता है और देश मे अशान्ति बढ़ने लगती है। जब एक महाजन अधिक सूद लेकर कर्जदार का खून चूसता है, जब एक जमीदार अत्यधिक लगान लेकर अपने किसानो को तबाह करता है, जब एक पूँजीपति अपने मजदूरो को उचित मजदूरी न देकर उनके स्वास्थ्य को चौपट करता है, जब एक सौदागर वस्तुओं मे मिलावट कर या अत्यधिक कीमत पर बेच कर अपने ग्राहको को ठगता है तो इन सब कार्यों से धन तो अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु शोषित व्यक्तियो और समाज की बड़ी हानि होती है। इस प्रकार की हानि से बचने के लिये इन सब कार्यो को सरकार द्वारा नियत्रण किया जाना आवश्यक है।

अर्थ के संबंध में भारतीय आदर्श—हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के सब प्रयत्नों का लक्ष्य-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करने का होता है। मोक्ष प्राप्त करने के लिये अर्थात् भौतिक बधनो से मुक्ति मिलने के लिये धर्म की आवश्यकता होती है, काम अर्थात् जीवन की सब उचित वासनाओं या इच्छाओं की तृप्ति के लिये अर्थ की आवश्यकता होती है, परतु यह अर्थ धर्म द्वारा ही प्राप्त किया जाना चाहिये। जब अर्थ के प्राप्त

करने में धर्म की हानि होती हो, दूसरो को नुकसान पहुँचता हो तो ऐसे अर्थ को नही प्राप्त करना चाहिये। अधर्म से प्राप्त किया हुआ धन कभी भी सुख और शाति का साधन नही हो सकता और न उससे जीवन-मुक्ति या मोक्ष प्राप्त करने मे सहायता ही मिल सकती है। दूसरो का शोषण कर के प्राप्त किया हुआ धन, बेईमानी या धोके बाजी से प्राप्त किया हुआ धन, चोरबजारी, रिश्वत या चोरी डकैती से प्राप्त किया हुआ धन, अधर्म से प्राप्त किया होने के कारण कभी भी सुख और शाति का साधन नही हो सकता। हमारा भारतीय आदर्श यह है कि धन हमेशा धर्म के अनुसार बिना किसी अन्य व्यक्ति, समाज या देश को हानि पहुँचाए ही प्राप्त करना चाहिये। आजकल इस आदर्श के अनुसार चलने वाले व्यक्तियों की सख्या बहुत कम है। अधिकाश व्यक्ति धन कमाने की धुन मे धर्म का या दूसरो के हितों का विचार ही नही करते। इसलिये धनवान होने पर भी वे सुखी नही हो पाते। प्रत्येक व्यक्ति को सुख और शाति अवश्य मिलनी चाहिये। इसके लिये प्रत्येक व्यक्ति को धन कमाते समय अपने भारतीय आदर्श का सदा ध्यान रखना चाहिये और कभी भी दूसरों को हानि पहुँचा कर अधर्म से या बेईमानी से धन प्राप्त करने का प्रयत्न नही करना चाहिये।

क्या अर्थशास्त्र कला (Art) है?—किसी भी शास्त्र का अध्ययन करने से ज्ञान प्राप्त होता है। जब इस ज्ञान से ऐसे नियमो का पता चलता है जिनसे वर्तमान परिस्थिति समझने मे सहायता मिलती है और कार्य कारण का सबंध मालूम होता है तो उसे हम विज्ञान (Science) कहते है। जब ज्ञान से हमको ऐसे तरीके प्राप्त होते हैं जिनसे किसी उद्देश की प्राप्ति होती है तो उसे हम कला कहते हैं। अर्थशास्त्र से ज्ञान प्राप्त होता है, उसके नियम कार्य कारण का सबध बतलाते हुए वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों को समझने मे सहायता देते है, उससे ऐसे तरीके भी प्राप्त होते है जिनसे मनुष्य, देश और समाज का आर्थिक विकास हो सकता है। इसलिये अर्थशास्त्र को हम विज्ञान और कला दोनो के रूप मे पाते है। अर्थशास्त्र का वह भाग जिसमे कार्य-कारण का सबध बताते हुए ऐसे नियमों पर विचार किया जाता है जिनसे वर्तमान परिस्थितियों को समझने में सहायता मिलती है अर्थ-विज्ञान कहलाता है। उसका वह भाग जिससे आर्थिक विकास के लिए मार्ग-दर्शन मिलता है अर्थशास्त्र की कला कहलाता है।

कुछ लोग अर्थशास्त्र को धन कमाने की कला समझते हैं और उसको

अध्ययन इसलिए करते है कि जिससे उनको वे तरीके मालूम हो जाएँ जिनके उपयोग से वे शीघ्र धनवान हो सके। यह सभव है कि अर्थशास्त्र के नियमो को समझ कर कार्य करने से कुछ लोग धनवान हो जाते है परतु अर्थशास्त्र का उद्देश व्यक्तिगत स्वार्थ-साधन नही है। जब कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ-साधन के लिये दूसरो का शोषण करता है तब देश को हानि होती है। कई राष्ट्रो के कार्य भी ऐसे होते है जिनसे राष्ट्रों मे पारस्परिक सघर्ष बढता है और विश्व-कल्याण मे बाधा पहुँचती है। जब व्यक्तिगत स्वार्थों या देश के स्वार्थों का विश्व के स्वार्थो से विरोध होता है तब अर्थशास्त्र स्पष्ट रूप से विश्व-कल्याण के लिये व्यक्तिगत या राष्ट्रीय स्वार्थो के नियत्रण करने के तरीके बतलाता है। वह बतलाता है कि विश्व-कल्याण अर्थ द्वारा कैसे प्राप्त हो सकता है। इसलिये अर्थशास्त्र के उस भाग को जिसमें इन तरीकों पर विचार किया जाता है हम विश्व-कल्याण की कला कह सकते है।

अर्थशास्त्र के नियम (Laws of Economics)—प्रत्येक शास्त्र या विज्ञान मे ऐसे नियमों का-अध्ययन किया जाता है जिनसे कार्य कारण का सबंध मालूम होता है और वर्तमान परिस्थितियों को समझने में सहायता मिलती है। भौतिक विज्ञान के नियम जड़ पदार्थो के सबध मे रहते है। हम जानते है कि सूर्य भगवान सदा पूर्व से उदय होकर पश्चिम मे अस्त होते है। समुद्र मे ज्वार भाटा एक निश्चित समय पर ही आता है। इन पर मनुष्य की बदलती हुई परस्थितियो का प्रभाव नही पडता। भौतिक विज्ञान के नियम अटल होते है। वे सदा एक से लागू होते हैं। परतु अर्थशास्त्र के नियम, मनुष्यों से सबध रखने के कारण, सदा एक से नही रहते और न वे पूर्ण रूप से निश्चित ही रहते हैं। उन पर बदलती हुई परस्थितियो का प्रभाव पड़ता रहता है। साधारणतः हम यह देखते है किं जब किसी वस्तु की कीमत बढने लगती है, तब उसकी माग कम हो जाती है। परन्तु कभी-कभी हमें यह भी देखते है कि वस्तु की कीमत बढ़ने के साथ ही साथ, अन्य परिस्थितियों के बदलने से, उसकी माग भी बढ़ जाती है। इसलिये जब हम माग का नियम बतलाते है तब हमको यह स्पष्ट कर देना आवश्यक हो जाता है कि अन्य परिस्थितियों में कोई परिवर्तन न हो तो किसी वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसकी माग कम हो जाती है। हम माग के विषय मे यह स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते कि कीमत बढने पर माग कितनी कम हो जाती है। नियम मे तो हम केवल इस प्रवृति का ही निर्देश कर देते हैं। इसलिये

हमारे अर्थशास्त्र के नियम भौतिक विज्ञान के नियमो के अनुसार निश्चित नही रहते और न वे सर्वत्र सर्व काल एक से लागू ही होते है। बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार उनमे परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है।

अर्थशास्त्र की मान्यताएँ (Assumptions in Economics)—अर्थशास्त्र मे मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नो का अध्ययन होता है। मनुष्य का जीवन बहुत पेचीदा है, इसलिये उसके आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन भी साधारण काम नही है। प्रारभिक बातो को सरल करने के लिये हमको अपना कार्य क्रम क्रम से पूरा करना पड़ता है। सब के पहिले कुछ बातों को मान कर किसी विषय का अध्ययन आरभ किया जाता है और निर्धारित सीमाओ के अदर विषय पर विचार कर लेने के बाद सीमा की बाहर की बातों का क्रमशः विचार किया जाता है। इन मानी हुई बातो को सदा ध्यान मे रखने से विषय आसानी से समझ मे आ जाता है।

सबसे पहिले यह मान लिया जाता है कि देश में व्यवस्थित सरकार है और वह देशवासियों की जान माल की रक्षा करने का और उनको बाहरी देशो के आक्रमण से बचाने का पूरा प्रयत्न करती है। जब किसी देश में अराजकता फैल जाती है और जान माल की रक्षा का उचित प्रबंध सरकार द्वारा नहा होता तो देशवासियो के आर्थिक प्रयत्नो पर उसका बुरा प्रभाव पडता है। आवश्यकता पडने पर ऐसी दशा का वर्णन या युद्ध की दशा का वर्णन अर्थशास्त्र मे विशेष रूप मे अलग ही किया जाता है, साधारणतः यह मान लिया जाता है कि देश मे शाति है और सरकार का कार्य व्यवस्थित रूप से चल रहा है।

दूसरी बात यह मान ली जाती है कि प्रत्येक मनुष्य आर्थिक प्रयत्न अपने और अपने कुटुब के स्वार्थ साधन के लिये ही करता है। प्रत्येक मनुष्य परिश्रम धन कमाने के लिये करता है। आजकल तो स्वार्थ साधन की इच्छा इतनी अधिक बढ गई है कि अधिकाश व्यक्ति अपना स्वार्थ साधन करते समय इस बात का विचार ही नही करते कि उनके प्रयत्नों का दूसरो के स्वार्थों पर क्या प्रभव पड़ेगा। जब दूसरो के स्वार्थों को हानि पहुँचने लगती है तब शोषण आरभ होता है, आपस मे सघर्ष पैदा होता है और समाज की शाति भग होने लगती है। देश वासियो को सुखी बनाने के लिये, अपना स्वय सच्चा सुख प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वार्थ साधन करते समय यह विचार

अवश्य कर लिया करे कि उसके प्रयत्नो से दूसरो का अहित तो नहीं होता है। उसको दूसरों के हितो का उतना ही ध्यान रखना चाहिये जितना कि वह अपने हितो का रखता है। यह कहा गया है कि रूस मे अधिकाश व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिये नही परन्तु समाज के हित के लिये ही प्रयत्न करते है। भारत मे भी कई व्यक्ति दूसरो के हितो के लिये, परोपकार के लिये ही सदा प्रयत्न शील रहते है। ऐसे व्यक्तियो के प्रयत्नों से देश और समाज को बहुत आर्थिक लाभ होता है। परन्तु ऐसे व्यक्तियो की संख्या बहुत कम रहती है। साधारणतः अधिकाश व्यक्ति स्वार्थ साधन के लिये ही प्रयत्न करते हैं और उनके प्रयत्नो का अध्ययन अर्थशास्त्र में किया जाता है।

तीसरी बात यह मान ली जाती है कि प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक स्वतत्रता है और एक समान काम करने वालों मे प्रतिस्पर्धा रहती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार अपनी जीविका का साधन और स्थान चुन लेता है। सरकार को देश और समाज के लाभ के लिये इस स्वतत्रता पर कभी कभी नियंत्रण करना पड़ता है। मादक वस्तुओ की दुकानो, अस्त्र शस्त्र की दुकानों और कारखानो पर सरकार का नियत्रण रहता है। बिना उचित शिक्षा पाये कोई व्यक्ति वकालत या डाक्टरी का पेशा नही कर सकता। हिंदू वर्णव्यवस्था के अनुसार प्रत्येक वर्ण के कार्य अलग अलग बाट दिये गए हैं और साधारणतः शूद्र का कार्य ब्राह्मण नही करता। परन्तु अब वर्णव्यवस्था के बंधन शिथिल हो गए है। इसलिये आर्थिक स्वतत्रता को मान लेने से कोई विशेष हानि नही है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता—आजकल किसी समाज या देश के आदमियो का सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करना, समय पर उचित भोजन-वस्त्र तथा विश्राम प्राप्त करना, रहने के लिये मकान आदि की व्यवस्था करना, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के यथेष्ट साधन होना—ये सब बाते बहुत कुछ उनकी आर्थिक स्थिति पर निर्भर होती हैं। धनहीन व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने से वचित रह जाते है क्योकि उनके पास पुस्तको या फीस आदि के लिये रुपया नही होता। वे अपनी बीमारी मे उचित इलाज नहीं करा सकते, क्योकि उनके पास औषधि आदि के लिये द्रव्य नहीं होता। भूख प्यास से व्याकुल व्यक्ति से ईमानदारी, सच्चरित्रता, स्वाभिमान की भी आशा नहीं हो सकती। उसका भगवद्भक्ति या उपासना आदि में भी लगना कठिन है, कहा है 'भूखे भजन न होय गोपाला'। उसका दूसरों की सहायता या सेवा करना तो प्रायः असम्भव ही है। इस

प्रकार मनुष्यो की सुख शाति की वृद्धि के लिये उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी होना आवश्यक है। और हम किसी समाज या देश की आर्थिक उन्नति मे तभी सहायक हो सकते हैं, जब हमे अर्थशास्त्र के सिद्धातो का समुचित ज्ञान हो, उन सिद्धातो के अनुसार उचित उपायो का अवलम्बन किया जाय। इस प्रकार जो व्यक्ति किसी समाज या देश के सुख-समृद्धि के अभिलाषी हैं उनके लिये अर्थशास्त्र का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है।

किसी व्यक्ति के विकास मे गरीबी सबसे बड़ी रुकावट रहती है और अर्थशास्त्र गरीबी दूर करने के मार्ग बतलाता है। व्यापारी को भी अर्थशास्त्र के अध्ययन की बहुत आवश्यकता है। वह वर्तमान व्यापार संगठन बराबर समझे बिना अपने व्यापार से पूरा लाभ नही उठा सकता। अर्थशास्त्र के अध्ययन से किसान अपनी हीन दशा के कारणो को समझ कर अपनी सब बाधाओ के तरीके आसानी से जान सकता है। गरीब मजदूर अपने संगठन की आवश्यकता को समझ कर और मजदूर सघ को मजबूत बनाकर अपनी दशा सुधारने का तरीका सीख लते है। एक राजनीतिज्ञ या व्यवस्थापक सभा के सदस्य के लिये अर्थशास्त्र का अध्ययन उतना ही आवश्यक है जितना एक समाज सुधारक के लिये है। दोनो ही समाज मे सुख और शाति की वृद्धि करने के लिये हमेशा प्रयत्न करते है। अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञान की वृद्धि होती है और ऐसे तरीको का पता लगता है जिनके उपयोग से व्यक्ति, समाज और विश्व का कल्याण हो सकता है।

भारतवर्ष एक गरीब देश है। यहाँ के अधिकाश व्यक्तियो को कठिन परिश्रम करने पर भी पेट भर भोजन नही मिल पाता। यहाँ के किसानो और मजदूरो की दशा अत्यत ही शोचनीय है। उनके रहन-सहन का दर्जा बहुत ही नीचा है। अर्थशास्त्र के ज्ञान के प्रचार से इनकी दशा मे बड़ा सुधार हो सकता है और देश भी समृद्धिशाली हो सकता है। इसलिये भारतवासियो को तो इस शास्त्र का अध्ययन विशेष रूप से करना चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

१—अर्थशास्त्र मे साधारणतः किन विषयो पर विचार होता है? किसानो के सम्बध में किन विषयो पर विचार होता है? मजदूरो के सम्बंध मे किन विषयो पर विचार होता है? उद्योग-धंधो के सम्बध में किन विषयो पर विचार होता है?

२—यदि आपको किसी अपढ व्यक्ति को अर्थशास्त्र का महत्व समझाना हो तो आप कैसे समझावेगे ?

३—अर्थशास्त्र क्या है ? व्यावहारिक जीवन में अर्थशास्त्र के ज्ञान की क्या उपयोगिता है ? (१९३२, १९३९)

४—भारत मे इस समय अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता समझाइए।

५—धन या सम्पति की परिभाषा लिखिए। निम्न लिखित वस्तुएँ किन दशाओं मे धन मानी जा सकती है ? कागजी रुपया, घर का कूड़ा-कचरा, जहर, रेल का टिकट, समाज-सेवा।

६—राष्ट्रीय धन मे कौन सी वस्तुएँ सम्मिलित रहती हैं ? अपने नगर के राष्ट्रीय धन की सूची तैयार कीजिये।

७—कुछ विद्वानो ने अर्थशास्त्र की धन विज्ञान के रूप में परिभाषा की है। क्या यह परिभाषा ठीक है ?

८—क्या अर्थशास्त्र कला है ? अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानो से क्या भेद है ? (१९४१)

९—अर्थशास्त्र की निम्नलिखित परिभाषाओ की आलोचना कीजिये :—

(क) Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well being (Marshall)

(ख) Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses (Robbins)

१०—अर्थशास्त्र का क्षेत्र समझाइये और उसका ध्येय बतलाइये।

११—अर्थ के संबध में भारतीय आदर्श क्या है ? इस आदर्श के अनुसार कहाँ तक कार्य भारत मे हो रहा है ?

१२—अर्थशास्त्र के नियम अटल क्यों नहीं हैं ?

दूसरा अध्याय

अर्थशास्त्र के भाग

मनुष्य को भूख लगती है; उसे भोजन की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए खेती की जाती है। खेती करने वालो को किसान कहते हैं। सृष्टि की प्रारम्भिक स्थिति मे एक समय ऐसा होता है जब अधिकाश आदमी किसान ही होते हैं। किसान अन्न उत्पन्न करते हैं, उपज का कुछ भाग तो वे अपने लिए रखते हैं, कुछ भाग वे नाई, धोबी या कुम्हार आदि को देते हैं जिन्होने उन्हे विविध प्रकार से सहायता दी है, शेष भाग को वे व्यापारी के हाथ बेच देते हैं। बेचने के दो उद्देश्य होते हैं एक तो यह कि उन्हे जमीदार या सरकार को भूमि का लगान देना होता है और महाजन को उधार लिए रुपये का सूद चुकाना होता है, दूसरे यह कि उन्हें अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ जैसे कपड़ा आदि खरीदना होता है। किसानों को अपनी उपज की बिक्री से जो रुपया मिलता है, उससे ये काम किये जाते हैं। इस प्रकार आर्थिक प्रयत्नो के कई भेद हैं। अध्ययन की सुविधा के लिए इन प्रयत्नों के, अर्थात् अर्थशास्त्र के पाँच भाग किये जाते हैं—(१) उपभोग (२) उत्पत्ति (३) विनिमय (४) वितरण और (५) राजस्व। अब हम यह बतलाते हैं कि इनमे से प्रत्येक का क्या आशय है, और उसमें कैसे कैसे प्रश्नों पर विचार किया जाता है।

उपभोग— हम बहुधा कहते और सुनते रहते हैं कि अमुक आदमी ने वह चीज खर्च कर दी। परन्तु अर्थशास्त्र में वस्तुओं के सभी प्रकार के खर्च को उपभोग नहीं कहा जाता। यह विचार करना होता है कि उस वस्तु के खर्च होने से किसी व्यक्ति को तृप्ति या सतुष्टि प्राप्त हुई है या नहीं। उदाहरणार्थ एक आदमी एक रोटी खाता है और दूसरा एक को आग मे फेक कर जला डालता है। दोनों दशाओ मे रोटी खर्च हो गई, उसकी उपयोगिता नष्ट हो गई। परन्तु प्रथम दशा मे रोटी से खाने वाले की

सतुष्टि हुई, इस दशा में उसका उपभोग हुआ, यह कहा जायगा, इसके विपरीत, दूसरी दशा मे रोटी के जलने से किसी व्यक्ति की सतुष्टि नही हुई, इस दशा मे अर्थशास्त्र की दृष्टि से उसका उपभोग नही माना जायगा।

अच्छा, एक कारखाने मे कोयला खर्च होता है, उसके जलने से उसकी उपयोगिता नष्ट होती है। इसी प्रकार वहाँ मशीन धीरे-धीरे घिसती है, क्रमशः उसकी उपयोगिता घटती जाती है। क्या इसे उपभोग कहा जायगा ? यहाँ विचारने की बात यह है कि यद्यपि कोयले और मशीन के उपयोग से जो वस्तुएँ बनेगी, उनसे मनुष्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, कोयले और मशीन के खर्च का तात्कालिक उद्देश्य किसी व्यक्ति की तृप्ति या सतुष्टि नहीं, वरन् और अधिक धन की उत्पत्ति है, अतः इस क्रिया को, अर्थशास्त्र में उपभोग न कह कर उत्पत्ति कहा जायगा।

अस्तु अर्थशास्त्र मे उपभोग का आशय किसी वस्तु (या सेवा) के ऐसे उपभोग से होता है, जिससे किसी व्यक्ति की तृप्ति या सतुष्टि (Satisfaction) हो। अर्थशास्त्र के इस भाग मे यह विचार किया जाता है कि मनुष्य जो विविध पदार्थो का उपभोग करते हैं, वह कहाँ तक उनके तथा देश के लिए हित कर है और किन दशाओ मे वह हानिकर है। इसी प्रसग मे पारिवारिक आय व्यय का भी विचार होता है, तथा यह भी सोचा जाता है कि रहन सहन का दर्जा कहाँ तक घटाना या बढ़ाना उपयोगी है, एवम् वस्तुओ के उपभोग से अधिकतम सतुष्टि किस प्रकार प्राप्त हो सकती है।

उत्पत्ति—अब हम यह विचार करे कि अर्थशास्त्र मे 'उत्पत्ति' का अर्थ क्या है। इस प्रसग मे इस प्रश्न पर भी ध्यान देना है कि क्या मनुष्य वास्तव में कोई ऐसी चीज पैदा कर सकता है, जो सर्वथा नयी हो अर्थात् जो किसी न किसी रूप या स्थान आदि मे पहले से विद्यमान न हो।

'उत्पत्ति' शब्द का अर्थ है ऊपर आना। जो वस्तु नीचे दबी या छिपी हुई थी, वह ऊपर आ गई। जो गुप्त रूप या स्थान आदि मे थी वह प्रकट हो गयी। इसका यह अर्थ नही है कि जो वस्तु पहले नही थी उसका नया अस्तित्व हुआ। वास्तव मे यह तो हो नही सकता। भारतवर्ष के ऋषियों ने चिरकाल से इस सिद्धान्त की घोषणा कर रखी है कि अभाव से भाव नही हो सकता और इसी प्रकार भाव से अभाव भी नहीं हो सकता।* विज्ञान के

* नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। —भगवद्गीता

विद्यार्थी भली भाँति जानते हैं कि कोई सर्वथा नया पदार्थ (Matter) नहीं बनाया जा सकता और न किसी विद्यमान पदार्थ का सर्वथा नाश ही किया जा सकता है। जिसे नाश करना कहा जाता है, वह भी वास्तव में रूपान्तर होना ही है।

उदाहरण के लिये दर्जी कोट सी कर लाता है। साधारण बोल चाल में कहा जाता है कि दर्जी ने कोट बनाया। परन्तु क्या दर्जी कोई सर्वथा नयी चीज बनाता है? उसे कपड़ा मिला था, उसे उसने काट कर एक खास माप का सी दिया है। उसने कपड़े को अधिक उपयोगी बनाने के लिए उसका रूप या आकार आदि बदल दिया है। अच्छा, अगर यह कहा जाय कि जुलाहे ने कपड़ा बनाया है, तो उसने भी कोई सर्वथा नयी वस्तु नही बनायी। उसने सूत लेकर उसका कपड़ा बुन दिया है, अर्थात् उसका रूप इस प्रकार बदल दिया है कि वह आज दर्जी के लिये सूत की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गया है। इसी प्रकार सूत कातने वाले ने भी कोई नयी वस्तु नही बनायी, उसने धुनी हुई रूई ली और उससे सूत काता, जिससे वह जुलाहे के लिये रूई की अपेक्षा अधिक उपयोगी हो गया। सूत कातने वाले से पहले रूई धुनने वाले ने रूई को धुना और कपास ओटने वाले ने कपास ओट कर रूई तैयार की। इन्होने भी कोई नयी वस्तु तैयार न कर पूर्व प्राप्त वस्तु का रूपान्तर किया है जिससे वह पूर्वापेक्षा अधिक उपयोगी हो गई। अस्तु, शायद यह कहा जाय कि कपास पैदा करने वाले किसान ने तो नयी वस्तु पैदा की है। परन्तु विचार करने पर विदित होगा कि उपर्युक्त अन्य व्यक्तियो की भाँति किसान ने भी कोई सर्वथा नयी वस्तु नही तैयार की। उसने कपास के बीज (बिनौले) लिये, उन्हे जमीन मे बोकर, तथा खाद और पानी देकर खेती की। हवा, मिट्टी और पानी की सहायता से बिनौले से कपास के पेड़ पैदा हुए, जिनसे कपास मिली। इस प्रकार उसने बिनौलों का रूपान्तर करके उनसे अधिक उपयोगी वस्तु, अर्थात् कपास पैदा की।

निदान, उपर्युक्त किसी भी व्यक्ति ने कोई सर्वथा नयी चीज पैदा नही की। प्रत्येक ने किसी वस्तु को लेकर उसके रूप आदि का कुछ परिवर्तन किया, जिससे वह पहले से अधिक उपयोगी हो गयी। इस उपयोगिता (Utility) की वृद्धि को ही अर्थशास्त्र मे 'धनोत्पत्ति' कहते हैं। स्मरण रहे कि प्रत्येक वस्तु थोड़ी बहुत उपयोगी तो पहले से ही होती है। मनुष्य अपने विविध प्रयत्नों से उस उपयोगिता को बढाने का कार्य करता है। उपर्युक्त उदाहरण में बिनौले कुछ उपयोगी तो हैं ही, पर किसान ने खेती करके, कपास को बिनौले से अधिक उपयोगी बनाया, उसके बाद कपास

ओटने वाले, रुई धुनने वाले, सूत कातने वाले, कपड़ा बुनने वाले और दर्जी ने क्रमशः उपयोगिता-वृद्धि का कार्य किया।

स्मरण रहे कि वही उपयोगिता-वृद्धि उत्पत्ति कही जाती है, जिसका आर्थिक दृष्टि से कुछ मूल्य हो, जिसके होने से उस वस्तु का मूल्य पहले से अधिक हो जाय, अर्थात् उसके बदले में उपयोगी वस्तु पहले से अधिक मिल सके।

उपयोगिता-वृद्धि किस किस प्रकार से होती है, अर्थात् उत्पत्ति के कितने भेद है, इसका विचार आगे किया जायगा। यहाँ हमे यही बतलाना अभीष्ट है कि अर्थशास्त्र मे उत्पत्ति से अभिप्राय उपयोगिता-वृद्धि का होता है।

उत्पत्ति के साधन (Factors of Production) भूमि (Land) श्रम (Labour) पूँजी (Capital) और व्यवस्था (Organisation) है। इसके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायाग। धनोत्पत्ति के अन्तर्गत भूमि मे यह विचार किया जाता है कि देश की प्राकृतिक शक्ति कितनी है, जल वायु, वर्षा, नदी, पहाड़, जगल, खान, समुद्र आदि कहाँ तक उत्पादन कार्य मे सहायक है और उन्हे कहाँ तक उपयोग मे लाया जा रहा है। श्रम मे जनता के सम्बन्ध में विचार होता है उदाहरणवत् जन-सख्या कितनी है, वह देश की उत्पादन-शक्ति के विचार से अधिक तो नही है, उसकी वृद्धि कहाँ तक हो रही है, उसका स्वास्थ्य, शिक्षा और कुशलता आदि कैसी है और देश की धार्मिक, या सामाजिक या राजनैतिक स्थिति का उस पर क्या प्रभाव पडता है। पूँजी के सम्बध मे यह सोचा जाता है कि कृषि-पूँजी (पशु-धन, खेती के औजार आदि) और उद्योग-पूँजी (मकान और मशीन आदि) की स्थिति कैसी है, इसकी किस प्रकार वृद्धि की जानी चाहिए। व्यवस्था मे यह विचारणीय होना है कि उत्पादन की कौन सी विधि मे क्या लाभ है, भूमि श्रम और पूँजी की क्षमता किस प्रकार और कहाँ तक बढ़ायी जा सकती है, खेती और उद्योग-धधों की उन्नति किस तरह की जानी चाहिए।

विनिमय—कोई मनुष्य अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ उत्पन्न नहो कर सकता। हमे बहुधा अपने जीवन-निर्वाह के लिए भी दूसरों की उत्पन्न की हुई, या बनाई हुई चीजों की जरूरत होती है। ये चीजें तभी मिल सकती हैं, जब हम उनके स्वामियों को उनके बदले मे अपने परिश्रम का कुछ फल दें। निदान, अदल-बदल (Barter) सामाजिक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। परन्तु हर समय एक चीज के अदल-बदल का सुबीता

नही होता, अतः समाज ने बड़े अनुभव से इस कार्य के लिए एक माध्यम अर्थात् मुद्रा (Money) का निश्चय किया है, मुद्रा से विशेष सम्बन्ध रखनेवाली सस्थाएँ बैक कहलाती है। मुद्रा और बैको के सम्बन्ध मे यह विचार किया जाता है कि देश मे मुद्रा किस धातु की और कितनी होनी चाहिए तथा उसका विदेशी मुद्राओ से विनिमय किस दर से होना चाहिए, कागजी मुद्रा का चलन किस सीमा तक होना उचित है, उसके सम्बन्ध मे किन नियमो का पालन होना आवश्यक है, बैक किस-किस उद्देश्य से खोले जाते है, उनका सचालन किस प्रकार किया जाय कि उनका दिवाला न निकले और उनसे जनता को यथेष्ट लाभ होता रहे।

पदार्थो का अदल-बदल इसीलिए होता है कि दोनो पक्ष वालो को लाभ हो, और तभी तक होता है, जब तक कि दोनो को लाभ होता रहे। किसी भी पक्ष का लाभ हटते ही यह कार्य बन्द हो जाता है। जब दो चीजो का अदल-बदल होता है, तो उनके परिमाण मे कुछ अनुपात सबध रहता है, अर्थात् एक वस्तु के कुछ परिमाण के बदले कुछ परिमाण मे दूसरी वस्तु दी जाती है। इसे हम उसका मूल्य (Value) कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि दस सेर चावल के बदले बीस सेर गेहूँ मिले, तो दस सेर चावल का मूल्य बीस सेर गेहूँ हुआ, अर्थात् एक सेर चावल का मूल्य दो सेर गेहूँ हुआ। जब किसी वस्तु की एक इकाई का मूल्य मुद्रा मे बताया जाता है, तो हम उसे उस चीज की कीमत (Price) कहते हैं। उपर्युक्त उदाहरण मे यदि एक सेर गेहूँ का मूल्य दो आने हो, तो गेहूँ की कीमत दो आने फी सेर हुई। पदार्थो को ऐसे हिसाब से लेना-देना आधुनिक समय का विनिमय है। प्राचीन समय मे जब मुद्रा का प्रचार नही था, पदार्थो का अदल-बदल ही विनिमय था। विनिमय मे यह विचार किया जाता है, कि देश के भिन्न-भिन्न भागो मे तथा विदेशो मे कहाँ तक कैसी-कैसी वस्तुओ का व्यापार होता है, उसमे क्या बाधाएँ हैं, और उन बाधाओं का किस प्रकार निवारण हो सकता है; विदेशी व्यापार की स्थिति कैसी है।

वितरण—धनोत्पत्ति के विविध साधनो के मालिको को उनका प्रतिफल मिलने का नाम अर्थशास्त्र में धन वितरण है। भूमि वाले को लगान, (Rent) श्रम करने वाले को वेतन (Wages), पूँजीवाले को सूद (Interest), व्यवस्था करने वाले को मुनाफा (Profit) मिलता है। सम्भव है, किसी-किसी उत्पादक कार्य मे दो या अधिक उत्पादन साधनों का प्रतिफल पाने का अधिकारी एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह हो, तथापि प्रत्येक के प्रतिफल का पृथक् पृथक् हिसाब लगाया जा सकता है।

उत्पादक साधनो मे उत्पन्न पदार्थ ही हमेशा नही बटता। मेज कुर्सी आदि बहुत-सी चीजे ऐसी होती हैं, जिनका भाग या टुकडे होने पर उपयोगिता नष्ट हो जाती हैं। बहुधा ऐसा भी हो सकता है कि कोयला लोहा आदि जो चीज तैयार हुई है, उसकी सब को आवश्यकता न हो। इसलिए उत्पादकों को उत्पन्न वस्तु का हिस्सा न देकर ऐसी रकम दे दी जाती है, जो उनके हिस्से की वस्तु की मापक हो। किसी उत्पन्न वस्तु के कुल मूल्य को कुल उप्ज रकम कहते हैं। उसमे से उस वस्तु मे लगी हुई कच्ची सामग्री और कारखाने की टूट-फूट की सँभाल अथवा बीमे (Insurance) की रकम निकाल देने पर जो रकम शेष बचती है, उसे वास्तविक या असली उपज रकम कहते हैं, उत्पादक साधनों मे असली उपज-रकम का ही बटवारा होता है। अर्थात् इसी रकम मे से लगान, वेतन, सूद आदि दिए जाते हैं।

अर्थशास्त्र के इस भाग में यह विचार किया जाता है कि धनोत्पत्ति के विविध साधनो के मालिको को लगान, वेतन, सूद आदि किस हिसाब से मिलना चाहिए, ऐसा तो नही होता कि भूमिवाला या पूँजीवाला अथवा व्यवस्थापक उत्पन्न धन मे से इतना अधिक भाग ले ले कि श्रमिको के पास बहुत कम रह जाय, और सर्वसाधारण जनता की अवस्था चिन्तनीय हो, देश मे धन-वितरण यथासम्भव समान हो, ऐसा असमान न हो कि जिससे समाज को बहुत हानि हो, तथा असतोष सूचक विविध आन्दोलनो की नौबत आए।

राजस्व—मनुष्य जो विविध आर्थिक प्रयत्न करते हैं, उनका किया जाना तभी विशेष सुविधाजनक होता है, जब देश मे शान्ति और सुव्यवस्था हो यदि हर दम लूटमार की आशका हो, जिसकी लाठी उसकी भैंस हो, तो धन की उत्पत्ति, विनिमय, वितरण एव उपभोग अच्छी तरह नहीं हो सकता। देश मे शान्ति और सुव्यवस्था रखने का काम सरकार करती है। सरकार को अपना कार्य चलाने के लिए द्रव्य की आवश्यकता होती है, यह द्रव्य किसी न किसी रूप में जनता से ही लिया जाता है। सरकारी खर्च और आय के विवेचन को राजस्व कहते हैं। राजस्व मे यह विचार किया जाता है कि (Central) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय (Provincial) सरकार किन-किन तथा कैसे-कैसे करो (Taxes) तथा म्युनिसिपैलिटी, जिला-बोर्ड और ग्राम-पंचायतें आदि स्थानीय सस्थाएँ द्वारा आय प्राप्त करती है और अपनी आय को कैसे-कैसे कार्यो मे खर्च करती है, उन कार्यो से जनता का किस प्रकार हित सम्पादन होता है।

पाठक अब समझ गये होंगे कि अर्थशास्त्र के विविध भागो उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय, वितरण और राजस्व का क्या अर्थ है, तथा इनमे कैसे कैसे प्रश्नो का विचार किया जाता है।

इन भागों का पारस्परिक संबन्ध—स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र के उपर्युक्त भाग एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र नही हैं, वरन् ये भाग केवल अध्ययन की सुविधा के लिए किये जाते हैं। इन भागों का एक दूसरे से घनिष्ठ सम्बंध है उदाहरणार्थ उत्पत्ति और उपभोग को ही लीजिये। मनुष्य धन इस वास्ते उत्पन्न करता है, कि वह उसे उपभोग करता है। यदि उसे उपभोग न करना हो तो वह धनोत्पत्ति ही न करे। हम नित्य देखते हैं कि किसी वस्तु का उपभोग जितना अधिक होता है, उतनी ही उसकी उत्पत्ति भी अधिक हो जाती है। जब कि कोई आदमी धनोत्पत्ति करता है तो उसे उत्पत्ति के समय के लिए धन की आवश्यकता होती है, यदि वह उस समय उपभोग न करे तो उसमे धनोत्पत्ति की क्षमता ही न हो।

इसी प्रकार उत्पत्ति और विनिमय का परस्पर मे घनिष्ठ संबंध है, क्योकि उत्पन्न पदार्थो का ही तो विनिमय होता है, यदि उत्पत्ति न हो तो विनिमय ही कहाँ से हो। पुनः जब कोई वस्तु हमारे पास ऐसी होती है, जो हमारे लिये उत्पत्ति मे सहायक नहीं होती, तो बहुधा हम उसके विनिमय मे ऐसी वस्तु लेते हैं, जो हमे उत्पत्ति मे अधिक सहायक हो।

अब उत्पत्ति और वितरण की बात लीजिये। वितरण का अर्थ जमींदार, श्रमी, पूँजीपति, और व्यवस्थापक को लगान, मजदूरी, सूद और मुनाफे का मिलना है। परन्तु उत्पत्ति के इन साधकों को उनके हिस्से का प्रतिफल तभी मिलता है, जब वे किसी वस्तु की उत्पत्ति मे भाग लेते हैं। उत्पत्ति न हो तो वितरण भी न हो। पुनः यदि समाज मे धन का वितरण अच्छी तरह हो, आर्थिक विषमता कम हो तो लोगों में अधिक सतोष हो, और वे उत्पादन कार्य अधिक अच्छी तरह कर सके।

उपभोग और विनिमय का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट है। मनुष्यों की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न प्रकार की तथा अनेक हैं, और कोई मनुष्य अपनी सब आवश्यकताओं की पूर्ति केवल अपने प्रयत्न से ही नहीं कर सकता, इसीलिये तो उसे अपनी वस्तु दूसरो को देकर विनिमय द्वारा उनसे अपनी आवश्यकताओ की वस्तुएँ लेनी होती हैं। यदि प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी कम हों कि वह स्वय ही उनकी पूर्ति कर ले,

अर्थात् यदि मनुष्य सर्वथा स्वावलम्बी हो तो विनिमय की क्रिया का प्रश्न न रहे।

इसी तरह उत्पत्ति, विनिमय और वितरण के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार किया जा सकता है। कल्पना करो कि कुछ आदमी मिलकर खान मे कोयला निकालने का उत्पत्ति कार्य करते है, और प्रत्येक को उसके द्वारा लगायी हुई भूमि, श्रम, पूँजी या व्यवस्था के अनुसार प्रतिफल स्वरूप उस कोयला मे से निर्धारित भाग मिलता है। पर उन आदमियों को कोयले की आवश्यकता नही है। हाँ, उन्हे आशा है कि कोयले का विनिमय कर के वे अपने लिए आवश्यक अन्न, वस्त्र आदि प्राप्त कर सकते हैं। इसी आशा पर तो वे कोयले की उत्पत्ति मे भाग लेते है। यदि कही विनिमय न होता तो वे लोग कोयले का क्या करते, वितरण मे अपने हिस्से का कोयला क्यो लेते, अथवा कोयले की उत्पत्ति मे ही क्यो भाग लेते।

राजस्व का विषय लीजिये। राज्य कर इसलिए दिए जाते है कि देश मे शान्ति और व्यवस्था का कार्य करने वाली एक सस्था होती है, जिसे सरकार कहते है। यदि सरकार न हो तो देश मे शान्ति सुव्यवस्था भी न हो। उस दशा मे न धन की उत्पत्ति ही अच्छी तरह निश्चिन्तता पूर्वक हो सकती है, न धन का विनिमय ही, और न वितरण ही। पुनः यदि धन की उत्पत्ति न हो तो राज्य को कर आदि कहाँ से दिये जायँ, यदि धन का वितरण न हो तो जिस व्यक्ति को अपने उत्पादन कार्य का प्रतिफल न मिले, वह अपना कर कैसे चुकावे। इसी तरह यदि विनिमय न हो और प्रत्येक व्यक्ति अपने भिन्न-भिन्न रूप वाले प्रतिफल द्वारा राज्य-कर चुकावे, कोई राज्य मे कोयला ही लावे, कोई मिट्टी ही लावे, कोई पत्थर आदि लाया करे तो राज्य को इन सब वस्तुओं का सग्रह करके रखने तथा उनका जनता के हितार्थ उपयोग करने मे कितनी भारी असुविधा हो, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। निदान राजस्व का और अर्थशास्त्र के अन्य चारों भागों का परस्पर मे अनिवार्य सम्बन्ध है। एक भाग के बिना दूसरे भाग की क्रिया अपूर्ण तथा असुविधाजनक हो जाती है।

अस्तु, ये कुछ उदाहरण मात्र हुए। अर्थशास्त्र के पाँचों भागो का परस्पर मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्येक भाग के अन्तर्गत कई ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं जिन पर विचार करने के लिए अन्य दूसरे भाग के प्रश्नों पर सोचना आवश्यक हो जाता है। तथापि जैसा कि पहले कहा गया है अध्ययन की सुविधा के लिए अर्थशास्त्र के पाँच भाग कर लिये जाते है (१) उपभोग, (२) उत्पत्ति, (३) विनिमय, (४) वितरण और (५) राजस्व।

इनमें से कोई एक विषय दूसरे विषयो से सर्वथा पृथक् और स्वतत्र नही है। प्रत्येक का दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है और सब का अध्ययन करने पर ही अर्थशास्त्र के विषय का सम्यक् ज्ञान होता है।

अभ्यास के प्रश्न

१—अर्थशास्त्र के कौन से मुख्य-मुख्य भाग है? इन भागो मे जो पारस्परिक सम्बन्ध रहता है उसकी विवेचना कीजिये। (१६४०)

२—किसी एक मनुष्य का मोटर पर जाना किन दशाओ मे उत्पादन कार्य और किन दशाओं मे उपभोग का कार्य माना जायगा?

३—निम्नलिखित विषयों का विचार अर्थशास्त्र के किन भागों मे किया जायगा? (क) ग्रामसुधार की पॉच वर्षो की योजना (ख) उद्योग-धधो को आर्थिक सरक्षण देने की नीति (ग) वस्तुओ के मूल्य का नियत्रण (घ) असमानता दूर करने के उपाय।

४—'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' श्रीभगवद्गीता के इस कथन की सत्यता आर्थिक दृष्टि से सिद्ध कीजिये।

५—अर्थशास्त्र के विनिमय भाग मे किन बातो का विचार होता है? इस भाग का सम्बन्ध वितरण और उपभोग से उदाहरणों सहित समझाइये।

तीसरा अध्याय

अर्थशास्त्र का अन्य विद्याओं से सम्बन्ध

इस पुस्तक के प्रथम अध्याय में यह बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विद्या है। अन्य सामाजिक विद्याएँ समाजशास्त्र (Sociology) नीतिशास्त्र (Ethics), राजनीति (Politics), कानून (Law) और इतिहास हैं। इन मे मनुष्य का, एक सामाजिक प्राणी के तौर पर अध्ययन किया जाता है। इन विद्याओ का तथा भौतिक विज्ञानो का अर्थशास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस अध्याय मे हम यह विचार करते है कि अर्थशास्त्र का मुख्यतया किस विद्या से क्या सम्बन्ध है। पहले समाजशास्त्र को ल जिये।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र—समाजशास्त्र वह विद्या है जिसमें मनुष्यो के पारस्परिक सम्बन्धो का विचार होता है। इसमे बताया जाता है कि मनुष्य एक दूसरे से कैसा व्यवहार करते है, कैसी कैसी सामाजिक सस्थाएँ, रीति या नियम आदि बनाते हैं और किस प्रकार सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं। इस विद्या का क्षेत्र इतना व्यापक है कि कुछ लेखक अर्थशास्त्र (और अन्य सामाजिक विद्याओ) को इसका अश मात्र मानते हैं। यह ठीक है कि मानवी जीवन के भिन्न भिन्न पहलुओ का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और मनुष्य के धन सम्बन्धी प्रयत्नो को नीति, कानून, राजनीति आदि से सर्वथा पृथक् करके स्वतत्र रूप से अध्ययन नही किया जा सकता, तथापि सब सामाजिक विद्याओ का एकत्रित रूप मे सम्यक् विवेचन नही किया जा सकता, कारण कि मनुष्यो की विविध क्रियाओ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस प्रकार उत्तम यही है कि आर्थिक सिद्धान्तो की गवेषणा और मनन के लिए अर्थशास्त्र को पृथक् विद्या समझा जाय, साथ ही इसका अन्य सामाजिक विद्याओ से जो सम्बन्ध है, उसका भी ध्यान रखा जाय।

अर्थशास्त्र और नीति—अच्छा, अब हम विचार करते है कि अर्थशास्त्र और नीति का परस्पर मे क्या सम्बध है। नीति हमारे सामने आदर्श उपस्थित करती है, वह बतलाती है कि कौन सा कार्य अच्छा है कौन सा बुरा, मनुष्य को क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए। अर्थशास्त्र का जहाँ तक सिद्धान्त से सम्बध है वह केवल वस्तु स्थिति का विचार करता है, वह बताता है कि आर्थिक स्थिति क्या है, अथवा क्या होती है।

व्यावहारिक दृष्टि से अर्थशास्त्री को आर्थिक समस्याओ के—विशेषतया वितरण-सम्बधी आर्थिक समस्याओ के सम्बध मे—नैतिक दृष्टि-कोण का भी विचार करना होता है। उसके सन्मुख ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं कि श्रमजीवियो को कितना वेतन मिलना चाहिए, सूद की दर कहाँ तक होना ठीक है, वस्तुओ का उचित मूल्य क्या है। इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए नैतिक दृष्टि से विचार करना आवश्यक होता है। आधुनिक काल मे तो यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जा रही है।

पुनः आर्थिक परिस्थितियो का भी मनुष्यो के नैतिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। जिस देश मे धन की उत्पत्ति कम होती है, अथवा जहाँ धन वितरण बहुत असमान रूप से होता है, वहाँ अधिकतर जन-समाज बहुत असन्तुष्ट और कष्टपीड़ित रहता है, उनका नैतिक जीवन तथा आदर्श ऊँचा

नही होता। अस्तु, जब कि अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र दोनो का उद्देश्य समाज का हित है, एक को दूसरे से सर्वथा पृथक् नही किया जा सकता।

अर्थशास्त्र और राजनीति—अर्थशास्त्र और राजनीति भी एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बधित हैं। राजनीति में राज्य के नियमो का विवेचन होता है। आयात निर्यात कर, अन्य कर, कारखानो के कानून, सरकार के जन-सेवा सम्बधी कार्य इत्यादि ऐसे विषय हैं जिनका राजनीति और अर्थशास्त्र दोनो विद्याओ से सम्बध है। व्यापार और भूमि आदि विषय की सरकारी नीति से आर्थिक परिस्थिति मे परिवर्तन होता है तो धनोत्पत्ति और वितरण सम्बधी आर्थिक परिस्थिति का प्रभाव सरकार के कार्यो तथा स्वरूप पर पड़ता है। जहाँ धन का वितरण बहुत असमान हो, वहाँ यह सम्भावना रहती है कि राज्य प्रजातन्त्रात्मक होते हुए भी मतदाताओ पर अनुचित प्रभाव पडने से वह वास्तव मे कुछ पूँजीपतियो के इशारे पर चलने वाला हो जाय। राजनीति अर्थनीति को नियन्त्रित करने का दम भरती है, तो अर्थशास्त्र राज्य का ढाँचा बदलने मे बहुत कुछ सफल हो सकता है।

अर्थशास्त्र और कानून—इसी प्रकार अर्थशास्त्र और कानून के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार किया जा सकता है। कानून के सम्यक् पालन के बिना देश मे शान्ति और सुव्यवस्था नही हो सकती जो कि व्यापार और उद्योग आदि की उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार कानून लोगों की आर्थिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही आर्थिक परिस्थितियो का भी कानून पर प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे किसी देश की आर्थिक स्थिति बदलती जाती है, नये नये कानून बनाये जाते हैं, अथवा पुराने कनूनो मे संशोधन या परिवर्तन होते हैं, उदाहरणवत् कल कारखानों के नियम आधुनिक आर्थिक व्यवस्था के कारण ही बने हैं।

अर्थशास्त्र और इतिहास—अब अर्थशास्त्र और इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध का विचार करे। आर्थिक इतिहास (आर्थिक घटनाओ का इतिहास) बतलाता है कि देश में कब अनावृष्टि या अति-वृष्टि हुई, उसका प्रभाव कितना व्यापक हुआ, उसके लिए क्या क्या उपाय काम में लाये गये और उनमे कहाँ तक सफलता मिली। अथवा देश मे विविध पदार्थो के व्यापार मे कब कब विशेष प्रगति हुई, उसके कारण क्या थे, समय-समय पर सरकार की व्यापार-नीति तथा मुद्रा-नीति क्या थी, इत्यादि। इस सामग्री से अर्थशास्त्र मे दुर्भिक्ष या व्यापार आदि के सम्बन्ध मे विचार अच्छी तरह हो सकता है, गलत सिद्धान्तो की आलोचना करने और बैंक

या साख समितियाँ आदि सस्थाओ की सुदृढ आधार पर स्थापना करने मे सहारा मिलता है। पुनः इस समय जो आर्थिक समस्याएँ और विचार विद्यमान हैं, उनका उद्गम या प्रादुर्भाव भूतकाल मे हुआ है, उनके यथेष्ट विश्लेषण के लिए उनके क्रमिक विकास का इतिहास बहुत सहायक होता है। इस प्रकार आर्थिक इतिहास एव आर्थिक विचारो के इतिहास से अर्थशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र—मनुष्य और ईश्वर में क्या सम्बन्ध है तथा मनुष्य का अपने प्रति एव विश्व के प्रति क्या कर्तव्य है यह धर्मशास्त्र बतलाता है। पुराने समय मे अपने सब आर्थिक कामों में मनुष्य धर्म का अर्थात् समाज के प्रति तथा विश्व के प्रति अपने कर्तव्य का ध्यान रखते थे। वे ऐसा कार्य नही करते थे जिससे अपने लाभ के साथ ही साथ किसी दूसरे को हानि होती हो। इसका परिणाम यह होता था कि सारे समाज तथा विश्व में शाति एव सुख का साम्राज्य था। वर्तमान समय मे स्वार्थ की भावना बहुत बढ गई है। अपने थोडे से लाभ के लिये दूसरो को हानि पहुँचाना साधारण-सी बात हो गई है। जब एक दूकानदार घी मे या खाद्य पदार्थ मे खराब वस्तुएँ मिला कर ग्राहक को बेचता है तब वह यह नहीं विचार करता कि उसके इस कार्य से ग्राहको के स्वास्थ्य की क्या हानि होगी। जब एक जमीदार अपने किसान से अत्यधिक लगान लेता है, महाजन अपने कर्जदार से अत्यधिक सूद वसूल करता है और पूँजीपति अपने मजदूरों को बहुत थोड़ी मजदूरी देकर उनका शोषण करता है तब वह यह नही सोचता कि इन कार्यों का शोषित व्यक्तियो पर क्या प्रभाव पड़ेगा। अपने धन कमाने की धुन मे वे देश व समाज के प्रति अपने कर्तव्य को भूल जाते हैं या यह समझने लगते हैं कि उनका इस सम्बन्ध मे कोई कर्तव्य नही है। इस प्रकार के कार्यो से देश मे पारस्परिक सघर्ष बढ़ता है अशान्ति पैदा होती है और सब जीवन दुखमय हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य धन कमाता है सुख और शान्ति प्राप्त करने की इच्छा से। परन्तु यदि उसके प्राप्त करने मे वह दूसरों को दुखी करता है तो यह निश्चित है कि उसका प्राप्त किया हुआ धन उसे सुखी नही कर सकता। जो दूसरों के लिये दुख बोता है क्या वह स्वय अपने लिये सुख की आशा कर सकता है? वह सुखी तो दूसरो को सुखी करके ही हो सकता है। ससार मे सर्वत्र जो दुख और अशाति दिखलाई देती है उसका मुख्य कारण भी यही है कि धन कमाने की धुन मे मनुष्य दूसरे के हितों का बिल्कुल ही विचार नहीं करते। उनकी यह गलत धारणा कि धर्म और अर्थ का कोई सम्बन्ध

नही है इस अशाति को बढाती है। जब किसी कार्य मे धर्म और अर्थ का विरोध होता हो अर्थात् जब उस कार्य से धन तो प्राप्त होता हो परन्तु दूसरो का, समाज का या विश्व का हित न होता हो तो ऐसे कार्य को न करने का आदेश धर्मशास्त्र ही नहीं देता है परन्तु अर्थशास्त्र भी विश्व-कल्याण के लिये ऐसे कार्य को न करने का या नियत्रण करने का स्पष्ट आदेश देता है। जब तक मनुष्य अपने आर्थिक कार्यो मे दूसरे के हितो को, धर्म की, प्रधानता न देगे तब तक धन की वृद्धि होने पर भी मजदूर और मालिक, जमीदार और किसान, महाजन व कर्जदार अमीर व गरीब इत्यादि का सघर्ष बराबर जारी रहेगा। सबका जीवन दुखमय बना रहेगा। प्रत्येक व्यक्ति के सुखमय जीवन के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने प्रत्येक आर्थिक काम करते समय धर्म का अर्थात् देश व समाज के प्रति अपने कर्तव्य का अवश्य ध्यान रखे। ऐसा करने मे ही ससार मे सुख और शाति फिर से स्थापित हो सकती है।

अर्थशास्त्र और भूगोल—उपर्युक्त विद्याओ के अतिरिक्त भूगोल का भी अर्थशास्त्र से बहुत सम्बन्ध है। आधुनिक भूगोल विशेषतया मानव भूगोल (Human Geography) का मुख्य विषय यह होता है कि मनुष्य का उसकी प्राकृतिक परिस्थिति से क्या सम्बन्ध है—भूमि, जल, वायु, नदी, पहाड़, जगल, गर्मी, वर्षा आदि से उसके जीवन पर क्या प्रभाव पडता है। अब अर्थशास्त्र की बात लीजिये। जैसा कि आगे बताया जायगा धन की उत्पत्ति भूमि बिना हो ही नही सकती, उसमे पृथ्वी के ऊपरी सतह के अतिरिक्त भू-गर्भ, जल, वायु, वर्षा आदि का भी असर होता है। इन सब को भूमि के ही अन्तर्गत माना जाता है। मनुष्य की आवश्यकताओ (उपभोग) और व्यापार (विनिमय) सम्बन्धी प्रयत्नो का, उसकी प्राकृतिक परिस्थिति का सम्यक् विचार किये बिना, अध्ययन नही किया जा सकता। इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का भूगोल से कितना सम्बन्ध है।

अर्थशास्त्र का प्राकृतिक विज्ञानों (Natural Sciences) से सम्बन्ध—अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक विज्ञानो से ही नही है परन्तु उन विज्ञानो से भी है जिनके अध्ययन का विषय प्रकृति और जड़ पदार्थ है। ससार के भिन्न कार्य करने के लिये मनुष्य को प्रकृति की सहायता लेनी पड़ती है इस लिये अर्थशास्त्र का प्राकृतिक विज्ञान से जो सम्बन्ध हो जाता है वह आसानी से समझा जा सकता है। किसान खेती करता है। उसे अपने अनुभव से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि एक सीमा के बाद खेती पर अधिक मात्रा मे श्रम और पूँजी लगाने पर उपज की मात्रा मे

पहिले से कम वृद्धि होती है। इसका कारण प्रकृति विज्ञान का नियम है जो अर्थशास्त्र के नियम का आधार हो जाता है। भौतिक विज्ञान से हम जानते हैं कि किसी पदार्थ का नाश नहीं होता, उसका रूपान्तर ही होता है। इसी ज्ञान के आधार पर अर्थशास्त्र में पदार्थो की उत्पत्ति पर विचार किया जाता है। भिन्न-भिन्न खाद्य पदार्थो का स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसका ज्ञान हमको स्वास्थ्य विज्ञान से प्राप्त होता है। इसी ज्ञान के आधार पर अर्थशास्त्र मे यह बतलाया जाता है कि मजदूरो को कैसा भोजन मिलना चाहिये जिससे उनकी कार्य कुशलता बढ़ने लगे। इस प्रकार अर्थशास्त्र का प्राकृतिक विज्ञानो से सम्बन्ध स्पष्ट है।

अर्थशास्त्र और अन्य विद्याओं से संबंध—अर्थशास्त्र का मनोविज्ञान से भी बहुत सम्बन्ध है। कारण, अर्थशास्त्र मे यह अध्ययन किया जाता है कि मनुष्यो की आवश्यकताएँ क्या हैं, उसे किन वस्तुओ की प्राप्ति से कितना सतोष या सुख मिलता है, और यह विषय मनोविज्ञान के अन्तर्गत है।

अर्थशास्त्र के अध्ययन मे गणित तथा अकशास्त्र से बहुत सहायता मिलती है। यद्यपि मानवी इच्छाओ और आकाक्षाओ का ठीक ठीक नाप तोल नही हो सकता, तालिका रेखाचित्रो 'ग्राफ', समीकरण आदि से आर्थिक समस्याएँ और सिद्धान्त अच्छी तरह समझ मे आ जाते हैं। अतः अर्थशास्त्र के ऊँचे दर्जे के ग्रन्थो मे इनका देना आवश्यक होता है। इससे अर्थशास्त्र का गणित तथा अकशास्त्र से सम्बन्ध स्पष्ट है।

ये कुछ उदाहरण मात्र दिये हैं। अन्य बाते पाठक स्वय विचार सकते हैं। निदान, अर्थशास्त्र का सामाजिक विद्याओ से तो घनिष्ठ सम्बन्ध है ही, इसके अतिरिक्त अन्य कई विद्याओ से भी न्यूनाधिक सम्बन्ध है। अर्थ शास्त्र के विद्यार्थियो को इस शास्त्र के अध्ययन करने मे इस बात को स्मरण रखना चाहिए।

अभ्यास के प्रश्न

१—स्पष्ट बताइए कि अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विद्याओ से क्या सम्बन्ध है? उदाहरण दीजिए। (१६३०, १६४१)

२—आपकी समझ मे अर्थशास्त्र का किस अन्य विद्या से सर्वाधिक सम्बन्ध है? विवेचनापूर्वक बताइए।

३—क्या समाजशास्त्र अर्थशास्त्र का एक अग है अथवा अर्थशास्त्र

समाजशास्त्र का अग है ? समाजशास्त्र के अन्तर्गत और कौन सी विद्याएँ सम्मिलित हैं ?

४—अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र, राजनीति, इतिहास, मानवशास्त्र से सम्बन्ध उदाहरणो सहित समझाइए।

५—अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र का क्या सबध है ? यदि अर्थ और धर्म का विरोध हो तो किस को प्रधान मानना चाहिये ?

६—निम्नलिखित विषयो का विचार अर्थशास्त्र मे किस सीमा तक होता है—

(क) उत्पादक को कितना मुनाफा लेना उचित है ?
(ख) न्यूनतम मजदूरी की दर क्या होनी चाहिये ?
(ग) सार्वजनिक कार्यो मे सरकार का स्थान।
(घ) धर्म और अर्थ का सम्बन्ध।

—:o:—

चौथा अध्याय

आर्थिक जीवन का विकास

प्रथम अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नो का विवेचन करता है। किन्तु, क्या हमारा आर्थिक जीवन सदैव एक सा ही रहा है, क्या इसमे समय पर कुछ परिवर्तन नही हुए हैं ? आर्थिक जीवन का आशय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओ से प्रेरित होकर कैसे कैसे प्रयत्न करता है, और इन प्रयत्नो से उसकी आवश्यकताओ की कहाँ तक पूर्ति होती है। आर्थिक जीवन के विकास (Development of Economic Life) पर कई दृष्टियो से विचार किया जा सकता है। साधारणतया इस आधार पर विचार करना सुबोध होता है कि मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियो पर किस प्रकार अधिकाधिक अधिकार प्राप्त किया है। इस दृष्टि से उत्पत्ति के क्रम नीचे लिखे अनुसार हैं :—

१—शिकार अवस्था (Hunting Stage)
२—पशुपालन अवस्था (Pastoral Stage)
३—कृषि अवस्था (Agricultural Stage)

४—कारीगरी या दस्तकारी अवस्था (Handicraft Stage)

५—कल कारखानो की अवस्था (Manufactnring Stage)

स्मरण रहे कि यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक देश में एक क्रम एक साथ ही आरम्भ तथा समाप्त हो; अथवा किसी देश मे एक क्रम के समाप्त होने के बाद ही दूसरा क्रम आवे । भिन्न भिन्न देशो की प्रगति पृथक् पृथक् रही है, और एक देश मे एक ही समय मे उत्पत्ति के दो-तीन क्रम एक साथ भी मिलते है ।

शिकार अवस्था—प्रारम्भिक अवस्था मे मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये विविध पदार्थ उत्पन्न करने या बनाने का कार्य नही करता था । वह यह जानता भी नही था कि पशुओ का पालन तथा कृषि-कार्य कैसे किया जाय । पहले वह जगल में रहता था, एक दूसरे से मिल कर गॉव या खेड़े मे रहने की आदत न थी । प्रायः प्रत्येक व्यक्ति की केवल खाने पीने की आवश्यकताएँ होती थीं, इन्हे वह स्वय बिना किसी दूसरे व्यक्ति के सहयोग के पूर्ण करता था। भोजन के लिये वह शिकार करता, अथवा जगल मे जो कुछ फल आदि मिल जाता, उसी पर निर्वाह कर लेता था ।

पशुपालन अवस्था—प्रथमावस्था मे मनुष्य को नियमित रूप से, निर्धारित समय पर, भोजन मिलना कठिन था । फिर उसे जगली जानवरो से अपनी रक्षा करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई । क्रमशः उसमे मिल-जुल कर जत्था या टोली बनाकर रहने की भावना बढ़ी । उसने पशुओ को पालना सीखा । बकरी, गाय, भैंस आदि के दूध से उसकी भोजन की चिन्ता कम हुई । मछलियाँ पकडने के लिये वह जाल और किश्तियाँ बनाने और नदी और समुद्र-तट का उपयोग करने लगा । इस प्रकार धीरे-धीरे उसने उन्नति मे कदम बढ़ाया । पर इस अवस्था मे भी वह अधिकतर घूमता फिरता रहता था । हॉ, वह प्रायः जत्था बना कर रहता था । जहाँ कही किसी जत्थे के लिये तथा उसके पशुओ के लिये खाद्य वस्तुएँ मिलती, वहॉ ही कुछ दिन ठहर जाता, पश्चात् किसी और अनुकूल स्थान की खोज करता । उस समय भूमि पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार न था, 'सबै भूमि गोपाल की' थी । जिसका जहॉ जी चाहता, रहता और स्वच्छन्द भ्रमण करता था ।

कृषि अवस्था—क्रमश. मनुष्य ने कृषि-कार्य सीखा, जिससे प्रकृति उसके लिये प्रचुर मात्रा मे भोजन, वस्त्र आदि की सामग्री प्रदान करने

लगी। जब उसने कृषि के लिये भूमि तैयार की तथा उसमें बीज बोया तो फसल तैयार होने तक उसे एक ही स्थान मे ठहरना आवश्यक हुआ। इस प्रकार मनुष्य की आवारागिर्दी कम हुई। उसने गॉव या खेडे मे स्थायी रूप से रहने की बात सोची। जिस भूमि को जिस व्यक्ति ने जोता बोया, उस पर अब उसी व्यक्ति ने अपना विशेष अधिकार रखना आरम्भ किया। अब भूमि लोगो की व्यक्तिगत सम्पत्ति होने लगी, पर उसके काफी परिमाण मे होने तथा जनसख्या कम होने से उसके सम्बन्ध मे कुछ विशेष झगडा होने की बात न थी।

ऐसी अवस्था मे प्रत्येक गॉव प्राय. पूर्णतः स्वावलम्बी होता है, उसके निवासी अपनी आवश्यकताओ के पदार्थ मिलजुल कर स्वय बनाते हैं, वे बाहर के आदमियो के आश्रित नही रहते। अधिकतर आदमी खेती करने वाले होते है, कुछ मजदूर उन्हे सहायता करते है, और कारीगर खेती के लिये तथा अन्य व्यवहारोपयोगी वस्तुएँ बनाते है, या सुधारते हैं। योरप मे उद्योग-धन्धो की उन्नति होने से पूर्व प्रायः यही अवस्था थी। इस अवस्था मे प्राय. पदार्थो का अदल-बदल होता है, मुद्रा द्वारा क्रय विक्रय नही। मजदूरी भी बहुधा जिन्स मे दी जाती है, नकद वेतन नही दिया जाता।

इसका सब से अच्छा उदाहरण प्रचीन भारतीय ग्राम सस्थाएँ हैं, जो समय के अनेक उलट फेर होते हुए भी, यहाँ अँगरेजो के आने के समय तक अपनी स्वतन्त्रता तथा स्वावलम्बन बहुत कुछ बनाये हुये थी, और अब भी किसी न किसी रूप मे अपनी पूर्व महत्ता की सूचना दे रही हैं। प्रत्येक गॉव मे कुछ पुश्तैनी कार्यकर्त्ता होते थे—यथा लुहार, बढ़ई, तेली, नाई, धोबी, जुलाहा, कुम्हार, भगी, चमार, आदि। पुजारी, पहरेदार, महाजन आदि के कार्य के लिये भी प्रत्येक गॉव मे अपनी व्यवस्था थी। निदान, रोजमर्रा की सब साधारण आवश्यकताओ की वहां की वही पूर्ति हो जाती थी। जो चीजे गॉव मे नही होती थी, वे बाजार या हाट से ले ली जाती थी जो प्राय. प्रति सप्ताह या सप्ताह मे दो बार कुछ गॉवो के केन्द्रीय स्थानो पर लगता था। साधारण आवश्यकताओ की वस्तुओ मे विशेषतया नमक और लोहा ये दो ऐसी हैं, जो कुछ खास स्थानो मे ही मिलती हैं। हल आदि कृषि-सम्बन्धी औजारो के लिये लोहे की जरूरत होती है। नमक तो जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओ मे से है, पर यह हर कही सुगमता से नही तैयार हो सकता, अनुकूल भूमि मे ही हो सकता है। वहाँ से व्यापारी इसे विविध स्थानों मे ले जाकर,

बेचते हैं, प्रारम्भिक अवस्था में अन्यान्य वस्तुओं की भाँति नमक का मूल्य जिन्स मे ही लिया जाता था। कुछ लोगो का मत है कि नमक और लोहा उन वस्तुओ मे से है, जिनके लिये पहले-पहल व्यापार होना आरम्भ हुआ।

अस्तु, कृषि-प्रधान अवस्था मे गॉव साधारणतया स्वावलम्बी होता है। और, जिस तरह गॉव स्वावलम्बी होता है, उसी तरह देश भी अपनी सब आवश्यकताओ की स्वय पूर्ति करता हुआ स्वावलम्बी हो सकता है। भारत-वर्ष ने अति प्राचीन काल से ईसा की अठारहवी शताब्दी तक स्वावलम्बी जीवन व्यतीत किया। जो वस्तुएँ गॉव मे नही बनती थी, उन्हे गॉव वाले तीर्थयात्रा के स्थानों या राजधानी आदि के नगरो मे जाकर ले आते थे, इसी प्रकार नगर निवासी अपनी कारीगरी के लिये कच्चा माल देहातो से लेते थे। आज कल तो गॉव गॉव तक विलायती पदार्थो ने प्रवेश कर लिया है। आधुनिक जगत मे किसी देश के लिये सर्वथा स्वावलम्बी बना रहना प्रायः असम्भव ही है।

कारीगरी या दस्तकारी अवस्था—क्रमशः मनुष्य की जब आर्थिक उन्नति होती है, मनुष्य की सब आवश्यकताएँ बढती हैं। कृषिअवस्था मे उसकी मुख्य आवश्यकताएँ भोजन वस्त्र की होती हैं। ये आवश्यकताएँ सदैव बनी रहती हैं। पर ज्यों ज्यो आर्थिक उन्नति होती है, मनुष्य की सब आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाली वस्तुओ की तुलना मे भोजन वस्त्र का परिमाण बहुत कम हो जाता है। आज दिन कोई मध्य श्रेणी का व्यक्ति भी अपने घर के कुल पदार्थ की सूची बनाकर देखे, उनमे कितनी ही वस्तुएँ मिलेगी, जिनका भोजन वस्त्र से प्रत्यक्ष या विशेष सम्बन्ध नही। जिस परिवार मे सौ या डेढ सौ रुपया माहवार खर्च होता है, उसमे सम्भव है केवल भोजन वस्त्र का विशुद्ध व्यय चालीस पचास रुपये से अधिक न हो। शेष सब खर्च अन्य वस्तुओ मे होता है। ज्यो ज्यो अधिक आय वाले परिवार का विचार करेंगे, त्यों त्यो उनका, कुल खर्च मे भोजन वस्त्र के व्यय का अनुपात कम मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य की अन्य वस्तुओ की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। ये वस्तुएँ जिन कच्चे पदार्थो से बनती हैं, वे तो कृषि द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनकी तैयारी मे पीछे और भी विशेष श्रम करना होता है। उसके लिये शिल्प, दस्तकारी या कारीगरी की जरूरत होती है।

कारीगर को ऐसी जगह रहने की जरूरत होती है, जहाँ उसे अपने काम के लिये कचा पदार्थ मिल सके, तथा उसके तैयार किये हुये सामान

के खरीदार भी हो । इस प्रकार उसे बस्ती मे तो रहना होता ही है । बहुधा उसे उसी प्रकार के दूसरे कारीगर के पास रहने मे सुविधा होती है । इस तरह एक प्रकार के बहुत से अथवा भिन्न भिन्न कार्य करने वाले थोड़े थोड़े कारीगरो की एक बस्ती हो जाती है, जिसमे कृषक अपेक्षाकृत कम होते हैं । यह नगर-निर्माण का मार्ग है । कारीगरी की वृद्धि के साथ नगरो का बढ़ना अनिवार्य है ।

कारीगर (बहुधा अपने परिवार की सहायता से) स्वतत्र रूप से श्रम करता है, किसी की आधीनता मे नही । वह जो पूँजी लगाता है, वह स्वय उसकी ही होती है, चाहे कुछ दशाओ मे वह उधार ली हुई ही हो । जो वस्तु वह तैयार करता है, उस पर उसी का स्वामित्त्व होता है, वह उसे अपने नगर मे अथवा कभी कभी दूसरे स्थान मे बेचने का प्रबन्ध करता है । उससे जो आय होती है, वह पूर्ण रूप से उसकी होती है । उसमे जो तरह तरह का खर्च है, उसे चुकाने का दायित्व उसी पर रहता है, उदाहरणार्थ दुकान का किराया, कच्चे माल का मूल्य, पूँजी का सूद आदि । इस अवस्था मे उत्पत्ति छोटी मात्रा मे होती है, (बडी मात्रा मे नही) जिसके लाभ-हानि के विषय मे आगे लिखा जायगा । कारीगरी की अवस्था मे पदार्थो का अदल-बदल करने की सुविधा नही होनी, क्रय-विक्रय होता है, माध्यम के लिये मुद्रा का प्रयोग किया जाता है ।

भारतवर्ष अपने शिल्प तथा दस्तकारी के लिये अब से सौ वर्ष पहले तक विश्व-विख्यात रहा है । यहाँ के हाथ से कते सूत की बुनी मलमल विदेशियों को चकित करती थी । यहाँ के तैयार किये हुये बढिया माल की ओर अन्य देशों के निवासी ईर्षा और प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टि रखते थे । वर्तमान काल मे पाँसा बिल्कुल पलट गया—जो भारत औरो के लिये आदर्श और अनुकरणीय था, अब अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिये विदेशो का मोहताज है ।

कल-कारखानो की अवस्था—उत्पत्ति की उपयुक्त अवस्थाएँ थोडे बहुत रूप मे इस समय भी विद्यमान हैं, तथापि अब कल-कारखानो की वृद्धि हो रही है । औद्योगिक दृष्टि मे उन्नत देशो मे अधिकाश उत्पत्ति कल-कारखानो द्वारा ही होती है । इस पद्धति के सम्बन्ध मे विशेष बाते आगे प्रसगानुसार कही जायँगी । यहाँ यही वक्तव्य है कि इसमे भाफ, पानी या बिजली आदि की शक्ति से चलने वाली मशीनों या यत्रो का उपयोग होता है, तथा श्रमजीवी (मजदूर) स्वतत्र नही होते, वे सहस्त्रो लाखो की सख्या मे एकत्रित होकर, एक पूँजी वाले व्यक्ति या सस्था या सरकार के लिये

माल तैयार करते हैं। उन्हे आवश्यक कच्चे माल खरीदने तथा तैयार माल बेचने से कुछ प्रयोजन नही। न उन्हे आवश्यक पूँजी का प्रबन्ध ही करना होता है। उनका काम तो माल तैयार करना है। जो माल तैयार होगा, उस पर उनका कुछ स्वामित्व नही, उसका मूल्य, मुनाफा आदि उन्हे न मिलेगा, (कल-कारखाने वाले को मिलेगा), उन्हे तो केवल निर्धारित मजदूरी ही दी जायगी। इस पद्धति मे उत्पादन व्यय कम हो जाता है, माल सस्ता हो जाता है, दस्तकार अर्थात् हाथ से काम करने वाले प्रतियोगिता मे नही ठहर पाते। उन्हे बहुधा अपना धन्धा छोड़ने को विवश होना पड़ता है। अनेक शिल्प और दस्तकार अपने स्वतत्र धधे को छोड़ कर कल-कारखानो मे नौकरी करने लगे हैं, और बहुत से बेकार ही हो जाते हैं। अस्तु, इस युग मे, विविध कारणो से कुछ स्वतन्त्र शिल्पी या दस्तकार रहते तो हैं, पर उनकी सख्या, असख्य वेतन भोगी श्रमजीवियो की तुलना मे बहुत कम होती है। जब कलकारखाने सरकार द्वारा चलाए जाते है तब उनमे श्रमजीवियो की दशा अन्य कारखानो से प्रायः अच्छी रहती है। और यदि सरकार मजदूर दल की हुई तब तो श्रमजीवियो का शोषण बन्द हो जाता है और उनकी दशा मे उन्नति होती है। उत्पत्ति बडे बड़े कलकारखानो मे हो और मजदूरो द्वारा ही उन कारखानो का नियत्रण हो जिससे मजदूरो का शोषण न होने पावे, औद्योगिक विकास की यही चरम सीमा है। रूस इस सीमा के निकट पहुँच गया है। अन्य देश भी प्रयत्न शील है। भारत मे तो अभी मशीनो का यथेष्ट प्रचार नही हुआ है। यहाँ कारखानो मे काम करने वालो की अपेक्षा कारीगरो की सख्या कही अधिक है। कारीगर और मजदूर दोनों की दशा खराब है। उनकी दशा सुधारने का प्रयत्न भारत सरकार को शीघ्र करना चाहिये।

अस्तु, मनुष्य के आर्थिक जीवन मे देशकालानुसार हेर-फेर होता रहा है, इसलिये उसके आर्थिक प्रयत्नो का स्वरूप और परिमाण भी बदलता रहा है। इसका अर्थशास्त्र पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है। अतः हमे अर्थशास्त्र का अध्ययन करते समय लोगो के आर्थिक जीवन का ध्यान रखना चाहिये।

अभ्यास के प्रश्न

१—स्पष्ट समझा कर बताइये कि पशुपालन अवस्था मे जनसख्या क्यों शिकार अवस्था की अपेक्षा अधिक परन्तु कृषि अवस्था की अपेक्षा कम होती है (१९२७)

२—क्या कल-कारखानो की अवस्था अन्य सब अवस्थाओ से सर्वोच्च है ? सकारण अपने विचार प्रकट कीजिए।

३—आजकल आपके गाँव या शहर मे आर्थिक जीवन की कौन सी अवस्था प्रचलित है ? विस्तार पूर्वक समझाइये।

४—कल-कारखानो की अवस्था के गुण दोष लिखिये।

५—प्राचीन भारतीय ग्राम सस्थाओ की विशेषताएँ समझाइये। उनका पुनरुद्धार अब किस प्रकार हो सकता है ?

द्वितीय खंड

उपभोग

पाँचवाँ अध्याय

आवश्यकताएँ

उपभोग का महत्त्व—प्रत्येक मनुष्य को नाना प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी वह तृप्ति करना चाहता है। कई एक आवश्यकताएँ तो ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति उसको जीवित रहने अर्थात् मृत्यु से बचाने के लिए करनी पड़ती है, जैसे भोजन, वस्त्र और निवास-स्थान। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसको श्रम और उद्योग करना पड़ता है। अपने उद्योग से या तो वह अपनी आवश्यकता की वस्तु स्वयं बना लेता है, या दूसरी वस्तु बनाकर या सेवा कर विनिमय से उस वस्तु को प्राप्त करता है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि अर्थशास्त्र सम्बन्धी सब क्रियाओं का श्रीगणेश उपभोग में ही है, क्योंकि जब इच्छित वस्तु या सेवा को प्राप्त करके उसका उपभोग कर लिया और तृप्ति हो गई, तब फिर उसके सम्बन्ध में और कुछ करने को नहीं रह जाता है।

प्रत्येक मनुष्य को उपभोग का महत्व जानने की आवश्यकता है। प्रत्येक उत्पादक व्यक्ति को कोई भी काम करने के लिए शक्ति और स्फूर्ति की आवश्यकता होती है। इनको प्राप्त करने के लिए उसको विशेष प्रकार के खाने, पीने, पहनने की आवश्यकता होती है। अच्छी और पौष्टिक वस्तुओं का सेवन करने से मनुष्य की शक्ति और उत्साह में वृद्धि होती है और इसके विपरीत शराब पीने से या शक्ति ह्रास करने वाली अन्य वस्तुओं के सेवन करने से उलटा असर होता है। शक्ति क्षीण होने से मनुष्य कम उपार्जन कर सकता है। इसका फल यह होता है कि उसको खाने को भी पूरा नहीं मिल पाता है। आधुनिक काल को नाना प्रकार की मिलावट की वस्तुओं में से अपने काम की असली वस्तुओं को छाँटकर उनका उपभोग करने से प्रत्येक मनुष्य को सब से अधिक सन्तोष होता है और ऐसा ही करने की उसको कोशिश करनी चाहिए।

वस्तुओं का उचित रीति से उपभोग करना सहल काम नहीं है। जिनका अपने मन पर पूर्ण अधिकार है वही वस्तुओं का उचित उपभोग कर सकते

हैं। यह सच है कि द्रव्य का उपार्जन करना जितना सरल है उसका उचित उपभोग उतना ही कठिन है। आजकल के लोग प्राचीन काल के लोगो की तरह अपनी सब आवश्यकीय वस्तुओ को स्वय पैदा नही करते। वे किसी भी काम को करके द्रव्य उपार्जन करते हैं और उस द्रव्य से अपनी आवश्यकीय वस्तुओ को मोल लेत हैं। लेकिन प्रत्येक मनुष्य यह नही जानता है कि उसको किस किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है। अगर किसी मनुष्य को बीस रुपया देकर बाजार भेजिये कि वह अपनी जरूरत की वस्तुएँ मोल ले लेवे तो बाजार पहुँच कर वह मनुष्य ठीक ठीक निश्चय नही कर सकेगा कि वह कौन सी वस्तु ले। वह सोचेगा कि एक फोउन्टेनपेन खरीदे या एक सूट सिलवाये, एक जोड़ी जूता खरीदे या प्राइमस स्टोव खरीदे, एक रुपये मे सिनेमा देखे या उसको किसी भविष्य मे आने वाली आवश्यकता के लिए बचा रखे, इत्यादि अनेक प्रकार के प्रश्न हमारे खरीददार के मन मे उपस्थित होगे। अक्सर ऐसा देखा गया है कि खरीददार विज्ञापनो के धोखे या मित्रो के बहकाने मे आकर ऐसी वस्तुएँ खरीद लेता है जिनकी उपयोगिता उसको उतनी नहीं होती जितनी और वस्तुओ की होती है। कभी कभी खरीददार यह नही सोचता कि जो वस्तु वह खरीद रहा है उसके उपभोग का अन्तिम परिणाम क्या होगा। इसलिये वह अपनी खराब आदत के कारण नशीली वस्तुएँ भी खरीद लेता है। इससे उसको अन्त मे हानि ही अधिक होती है। ऐसे लोगो को अपने द्रव्य की पूरी उपयोगिता नही मिलती। इसको प्राप्त करने के लिए मनुष्य को यह जानना चाहिए कि उसकी आवश्यकताएँ क्या हैं और कौन सी वस्तु कितनी खरीदने से उसकी सबसे अधिक तृप्ति हो सकती है। एक मनुष्य सोच समझ कर खर्च कर बीस रुपये मे इतनी उपयोगिता और सन्तोष प्राप्त कर सकता है जितना कि दूसरा मनुष्य पचास रुपये मे भी प्राप्त नही कर सकता। इसका कारण यह है कि पहला मनुष्य उपभोग के महत्व को और उसके रहस्य को जानता है और दूसरा मनुष्य नही जानता।

हर एक उत्पादक या उत्पादक-सघ को भी उपभोग का विषय अच्छी तरह जानना चाहिए। उन लोगो को जानना चाहिए कि उपभोक्ता को किन किन चीजो की कितनी जरूरत है। व्यापारिक मद्दी (Depression) और धूम (Boom) से ससार मे जो हलचल होती है उसका एक कारण यह भी है कि उत्पादक आवश्यकता से अधिक या कम पैदा करते हैं।

किसी भी देश की शक्ति उस देश के निवासियो की शक्ति पर निर्भर रहती है। जिस देश के लोग लाभदायक और पौष्टिक वस्तुओ का सेवन

करते हैं और नशीली और अन्यान्य स्वास्थ्य को हानि पहुँचाने वाली वस्तुओ को त्याग देते है उस देश के लोग हृष्ट-पुष्ट,बलवान् और प्रवीण होते हैं। इसके विपरीत आचरण करने वाले लोग कमजोर, रोगी और आलसी होते हैं। देश की समृद्धि और रक्षा पहले प्रकार के लोगो से ही हो सकती है। उपर्युक्त वर्णन से उपभोग का महत्व भली भाँति विदित होता है।

आवश्यकता का अर्थ—मनुष्य विविध वस्तुओ का उपभोग इसीलिए करता है कि उसकी कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करना चाहता है। इस अध्याय मे हमे आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे विशेष विचार करना है, अत: हमे यह जान लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र मे इस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है। प्रायः आदमी इच्छा (Desire) और आवश्यकता (Want) का एक ही अर्थ मे प्रयोग करते रहते हैं, किन्तु अर्थशास्त्र मे इनका अर्थ भिन्न भिन्न लिया जाता है। इच्छा का विस्तार बडा है, आवश्यकता उसके अन्तर्गत है। एक बालक बाजार मे बहुत-सी चीजे देखता है और उसका जी उनके लिए ललचाता है। इस दशा मे हम यह तो कह सकते हैं कि बालक को उन वस्तुओ के लेने की इच्छा है। लेकिन हम यह नही कह सकते कि उसे उनकी आवश्यकता है। आवश्यकता केवल ऐसी ही इच्छा को कह सकते है जिसमे इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिये मनुष्य के पास साधन रहते है और उस वस्तु को प्राप्त करके उसकी तृप्ति होती है। जिस इच्छा को पूर्ण करने के लिए मनुष्य उद्योग करने को बाधित नही होता वह कोरी इच्छा मात्र रहती है, वह पानी के बुलबुलो की तरह पैदा होती तथा नाश होती रहती है। उसे आवश्यकता नही कहा जा सकता। साधारण तौर पर आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं। एक वे जिनकी पूर्ति के लिये रुपये-पैसे की आवश्यकता पडती है जैसे सायकिल, भोजन, वस्त्र आदि की आवश्यकता। इनको हम आर्थिक आवश्यकता कहते हैं। दूसरे प्रकार की वे आवश्यकताएँ है जिनको गैर आर्थिक कहते हैं। इनकी पूर्ति के लिये रुपये पैसे की जरूरत नही पडती। जैसे प्राकृतिक दृश्य, ईमानदारी, मित्रता आदि।

आवश्यकता और उद्योग का गहरा सम्बन्ध है। जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकता बढ़ती जाती है वह उनकी तृप्ति के लिये उद्योग करता रहता है। आरम्भ मे यही क्रम चलता है लेकिन कभी कभी उद्योग से भी नई आवश्यकताये उत्पन्न हो जाती है। कई एक मनुष्य किसी खास आवश्यकता की तृप्ति के लिये ही उद्योग और परिश्रम नही करते। वे लोग अपनी फ़ुरसत

का समय आलस्य मे नही बिता देते वरन् विज्ञान, साहित्य इत्यादि का मनन करते है। इससे ये लोग नयी नयी बातो का आविष्कार करते हैं। इन आविष्कारो की सहायता से नयी नयी वस्तुएँ बनाई जाती हैं और मनुष्यो को इन वस्तुओ की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

आवश्यकताओं के लक्षण—आवश्यकताएँ अपरिमित हैं। कोई भी कैसा ही धनवान् मनुष्य यह नही कह सकता कि उसकी सब आवश्यकताओं की तृप्ति हो गई, क्योकि ज्योही एक आवश्यकता की तृप्ति होती है त्योही दूसरी, उसके स्थान पर, आ खडी होती है। आवश्यकताओ की वृद्धि होने से ही सभ्यता की भी उन्नति होती है।

आवश्यकताएँ अपरिमित तो हैं, लेकिन यदि यथेष्ट साधन हो तो मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता की किसी एक समय मे पूर्ति हो सकती है। उदाहरण के लिये एक भूखे आदमी को लीजिये। उसको भोजन की आवश्यकता है, लेकिन उसके भोजन की भी एक सीमा है। पाँच छ रोटियो से उसका पेट भर जाता है और उसको उस वक्त फिर रोटियो की आवश्यकता नही रहती। इसी प्रकार किसी एक आवश्यकता का यथेष्ट साधन रहने से किसी खास समय मे तृप्ति हो सकती है। कहा जाता है कि कई एक इच्छाएँ ऐसी हैं जिनकी पूर्ति नहीं हो सकती, जैसे धन की इच्छा, अधिकार की इच्छा, बड़प्पन की इच्छा इत्यादि। लेकिन ये इच्छाएँ मिश्रित इच्छाएँ है। ये एक इच्छा नही हैं। धन की इच्छा देखने मे तो एक ही इच्छा है, लेकिन इसके अन्तर्गत उस धन द्वारा प्राप्त होनेवाली अनेक वस्तुओ की इच्छा छिपी रहती है।

किसी आवश्यकता की तृप्ति के एक से अधिक साधन होते हैं जिनमे आपस मे प्रतियोगिता रहती है। जैसे धूम्रपान की आवश्यकता तम्बाकू, सिगरेट, सिगार, बीड़ी इनमे से किसी से भी तृप्ति हो सकती है। इसी मे ये चीजे एक दूसरे का स्थान ग्रहण करने की कोशिश करती हैं। दुर्भिक्ष के समय गरीब लोग गेहूँ की रोटी के बदले चना, मडुवा इत्यादि की रोटी खाते हैं। इसी प्रकार आजकल रेलगाड़ी और मोटर-लारियो मे आपस मे प्रतियोगिता बढ रही है।

कई एक आवश्यकताएँ ऐसी होती हैं जो आपस मे एक दूसरे की पूरक होती हैं। जैसे इक्के के साथ घोड़े की या टैनिस के बल्लो के साथ गेन्द की आवश्यकता परस्पर पूरक हैं। ये आवश्यकताएँ साथ ही साथ चलती हैं।

जब हम किसी आवश्यकता की पूर्ति करते रहते हैं तो फिर वह आवश्यकता स्वाभाविक सी हो जाती है। जैसे कोई मनुष्य किसी के बहकाने

से शराब पीने लगे, तो फिर बाद को उसको शराब का व्यसन हो जाता है और वह फिर पूरा पियक्कड़ बन जाता है। उसकी शराब पीने की आदत ऐसी ज़बरदस्त हो जाती है कि वह आसानी से उस आदत को छोड़ नही सकता। इसी प्रकार और आवश्यकताओं का भी अभ्यास पड जाता है। इसी अभ्यास पर मनुष्यो का रहन-सहन का दर्जा भी निर्भर रहता है। आवश्यकताओं के घटने बढने या अन्य प्रकार के परिवर्तन से रहन-सहन के दर्जे में भी घट-बढ़ होता रहता है।

सुख तथा सन्तोष—सब लोगो को यह मान्य है कि मनुष्य का परम उद्देश्य सब से अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त करना है। वह प्राप्त सुख की वृद्धि के लिये और दुःख को टालने या कम करने के लिये सदैव उद्योग किया करता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि सुख क्या है और दुःख क्या है। नैय्यायिको ने सुख दुःख को अन्तर्वेदना (feeling) बतलाकर कहा है कि "अनुकूल वेदनीय सुखम्" अर्थात् जो वेदना हमारे अनुकूल है वह सुख है और "प्रतिकूल वेदनीय दुःखम्" अर्थात् जो वेदना हमारे प्रतिकूल है वह दुःख है। मनुष्य की अनेक इच्छाएँ और आवश्यकताएँ होती हैं। जब उसकी इन आवश्यकताओं की तृप्ति हो जाती है तो उसको सन्तोष मिलता है और वह सुख की वेदना का अनुभव करता है। इसके विपरीत जब उसकी आवश्यकताओं की तृप्ति नही होती तो उसको असन्तोष होता है और उसको दुःख की वेदना होती है। उदाहरण के लिए भोजन करने से मन को जो तृप्ति होती है, उसे सुख कहते हैं और भोजन न मिलने से उसको जो कष्ट होता है उसको दुःख कहते हैं।

पहले बतलाया गया है कि मनुष्य की आवश्यकताएँ अपरिमित हैं। जैसे कि एक आवश्यकता की पूर्ति हुई, शीघ्र ही दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। हमको यह भी मालूम है कि आवश्यकताओं की तृप्ति से ही मनुष्य को सुख और सन्तोष मिलता है। ऐसी दशा में यह बात स्वय सिद्ध है कि किसी भी मनुष्य को पूर्ण सुख कभी नही मिल सकता है। उसकी कुछ न कुछ आवश्यकताएँ ऐसी बनी रहेंगी जिसके तृप्त न होने से उसको असन्तोष और दुःख होगा। इसके अतिरिक्त, पाये हुये सुख से भी मनुष्य की तृप्ति नही होती है। मनुष्य एक ही प्रकार के सुख से तृप्त नही रहता। चूँकि उसको प्रति दिन नये नये सुख नही मिल सकते हैं, इसलिये उसको सदा असन्तोष ही बना रहता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसी दशा मे मनुष्य का कर्तव्य क्या है? मनुष्य को पूर्ण सन्तोष मिलना असम्भव है क्या इसलिये सब काम-

धन्धो को छोड कर जङ्गलो में भटक कर संन्यासी हो जाना चाहिये, या सन्तोष और असन्तोष का विचार छोड कर अपने आप इच्छा, तृष्णा और वासना का दास बन कर उसको स्वाधीनता खो देनी चाहिये ?

आजकल यह बात मानी जाती है कि आवश्यकताओं की वृद्धि से ही सभ्यता की वृद्धि हुई है । जैसे जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढती गई और वह उनकी तृप्ति के लिये उद्योग करता गया वैसे सभ्यता की वृद्धि होती गई । इसी प्रकार उद्योग करते रहने मे नई प्रकार की आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं और उनकी तृप्ति के लिये साधन निकाले जाते हैं । इससे यह बात प्रकट होती है, कि आवश्यकताओ को बढाने से ही मनुष्य की उन्नति होती है, और यह बात निर्विवाद है कि उन्नति से मनुष्य की सुख और सन्तोष की वृद्धि होती है ।

अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मालूम हो जाता है कि आवश्यकताओं को एकदम मर्यादा से बाहर बढा देने से अधिकतम सन्तोष नही होता है । यहाँ पर यह कहने का मतलब नही है कि सब प्रकार का असन्तोष निन्द्य है । उस इच्छा के मूलगत असन्तोष को निन्दनीय नही कहा जा सकता जो आदेश करता है कि मनुष्य को अपनी वर्तमान स्थिति मे पडे पडे न सडना चाहिये, परन्तु यथाशक्ति अधिकाधिक सुधार करके अपने को समाज को उन्नति की ओर ले जाना चाहिये । यही वह असन्तोष है जिसमे सभ्यता की उन्नति होती आई है । लेकिन वह असन्तोष निन्दनीय है जिसमे लोग किसी वस्तु को पाने के लिये रात-दिन हाय-हाय करते रहे और उसके न मिलने पर रोया करे और शिकायते करे ।

तृष्णा और असन्तोष की सुव्यवस्थित मर्यादा बाँधना एकदम असम्भव नही है । हाँ, इसके लिये एक विशेष शक्ति की आवश्यकता होती है जिसको मनोनिग्रह कहते हैं । जो मनुष्य अधिकतम सन्तोष और सुख पाना चाहता है उसको अपने मन को और इन्द्रियो को वश मे करना अत्यन्त आवश्यक है । अगर हम अपने को तृष्णा और वासना मे बहाये तो हमारे असन्तोष की कोई सीमा न होगी । अगर कोई गरीब किसान जिसको सदा पेट की हाय लगी रहती है, एक मोटर गाड़ी रखने की प्रबल तृष्णा करता रहे, सदा उसी ध्यान मे मग्न रहे, तो शायद ही वह सुख और सन्तोष प्राप्त कर सकता है । इसके प्रतिकूल अगर वह अपने मन को वश मे करके सोचे कि इस समय ऐसी अवस्था मे मोटर गाड़ी की इच्छा करना उसे उचित नही है, क्योकि इस इच्छा की तृप्ति करना उसकी शक्ति के बाहर की बात

है इसलिये उसको उचित है कि उन वस्तुओं को संग्रह करने का और उपभोग करने का यत्न करे जो उसके सामर्थ्य के भीतर है, तो इससे उसको अधिक सुख और सन्तोष प्राप्त होगा।

इससे यह प्रकट हो जाता है कि मनुष्य को अधिकतम सुख और सन्तोष प्राप्त करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को मर्यादित करे। इसके साथ ही साथ उसको अपनी फिजूल और हानिकारक इच्छाओं को दबाना चाहिये। अगर स्वास्थ्य और बुद्धि को हानि पहुँचाने वाली इच्छाओं का दमन न किया गया तो परिणाम में मनुष्य को सुख नहीं मिल सकता है।

भारतवर्ष में प्राचीन काल में अनेक महात्मा हो गये हैं जिन्होंने मनोनिग्रह तथा इन्द्रियनिग्रह द्वारा अपनी आवश्यकताओं को अपने वश में करके और मर्यादित करके परम सुख, सन्तोष और शान्ति पायी है। प्राचीन काल में ही क्यों, वर्तमान काल में भी महात्मा गान्धी इसके जीते जागते उदाहरण थे। लेकिन पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग में आने से भारतवर्ष के लोग भी भौतिक सभ्यता पर विश्वास करने लगे हैं। हम लोगों ने अपनी आवश्यकताओं का बहुत ही अधिक विस्तार कर दिया है। यह भी आज-कल भारतवर्ष में अशान्ति और असन्तोष की लहर का एक प्रधान कारण है। देश को शान्त, सन्तुष्ट और समृद्धिशाली बनाने के लिये आवश्यक है कि यहाँ के निवासी मनोनिग्रह तथा इन्द्रियनिग्रह द्वारा अपने को तृष्णा और वासना की शृङ्खलाओं से मुक्त करके, उनको अपने वश में करके सुखी और संतुष्ट बनें। उनको सादगी की तरफ विशेष ध्यान देना चाहिये। सादा जीवन और उच्च विचार का ध्येय ही आर्थिक दृष्टि से भी सर्वोत्तम है।

अभ्यास के प्रश्न

१—उपभोग की परिभाषा लिखिए और उसका महत्व समझाइए।

२—उपभोग से आप क्या समझते हैं? उपभोग और उत्पत्ति में क्या सम्बंध है? (१९२८)

३—भिन्न-भिन्न प्रकार के उपभोग के उदाहरण दीजिए। कुछ लोगों का कथन है कि हम उपभोग के लिए ही आर्थिक उद्योग करते हैं, दूसरे कहते हैं कि उद्योग करने के कारण क्षीण हुई ताकत की पूर्ति के लिये हम उपभोग करते हैं। सकारण समझाइए कि आपकी राय में कौनसा मत ठीक है। (१९३३)

४—भारतीय मजदूर की आवश्यकताएँ रीति-रिवाज और आदत पर निर्भर रहती है। भारतीय मजदूरी की कुछ माँगो के नाम बताइए। इनमे से एक कौन सी (अ) रिवाज (ब) आदत और (स) विचार के ऊपर निर्भर है? क्या कालेज के विद्यार्थियो की कोई आवश्यकताएँ रिवाज पर निर्भर हैं? उदाहरण दीजिए। (१६२६)

५—आर्थिक और गैर आर्थिक आवश्यताओ के भेद उदाहरणो सहित समझाइये।

६—आवश्यकताओ की विशेषताएँ लिखिए और उन पर नियन्त्रण रखने की जरूरत समझाइए।

७—सिद्ध कीजिए कि "सादा जवीन और उच्च विचार" आर्थिक दृष्टि से भी सर्वोत्तम ध्येय है।

८—बिना आमदनी के बढ़ाए सन्तोष की मात्रा कैसे बढ़ाई जा सकती है?

९—कुछ स्थानो मे चाय का उपभोग बढ रहा है। क्या इसका प्रचार रोकना आवश्यक है?

छठा अध्याय

उपयोगिता (Utility)

उपभोग किसी न किसी वस्तु का किया जाता है और वह इसलिए किया जाता है कि उस वस्तु की कुछ उपयोगिता होती है। अतः उपभोग सम्बन्धी अन्य बातो को जानने से पूर्व हमे जान लेना चाहिए कि अर्थशास्त्र मे वस्तु और उपयोगिता का वास्तविक अर्थ क्या है।

वस्तु—अर्थशास्त्र मे उन चीजो को वस्तु कहते हैं, जिससे मनुष्य की तृप्ति होती है। इनमे से कुछ चीजे ऐसी होती हैं, जिनको हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और जिनका विनिमय कर सकते हैं, जैसे किताब, लकड़ी, मोटर इत्यादि। कुछ ऐसी हैं जिनको हम देख नही सकते, जैसे मित्रता प्रसिद्धि

इत्यादि। पहले प्रकार की वस्तुएँ भौतिक कहलाती हैं और दूसरे प्रकार की अभौतिक कही जाती है। कुछ वस्तुएँ विनिमय-साध्य होती है, और कुछ अ-विनिमय-साध्य।

वस्तुएँ साधारणत. दो प्रकार की होती है। कुछ वस्तुएँ तो ऐसी होती हैं जिनको विभाजित करने से उनका मूल्य (Value in Exchange) कम नही होता, जैसे यदि हम दस तोले का सोने का एक टुकड़ा ले, और उसके एक एक तोले के दस टुकडे करे तो एक एक तोले वाले सब टुकड़ो का मूल्य दस तोले के टुकड़े के बराबर होता है। इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं, गेहूँ चावल, दाल, कपड़ा, चाँदी, लोहा, इत्यादि। कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनको विभाजित करने से मूल्य मे बहुत कमी आ जाती है, जैसे यदि हम किसी कुर्सी के चार टुकडे कर डाले तो चारो टुकड़ो का मूल्य कुर्सी के बराबर नही होता। इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ हैं—मकान, पुस्तक, छाता, कमीज, गाय, बैल, घोड़ा, इत्यादि।

जिन वस्तुओ का मूल्य विभाजित करने से कम नही होता, उनकी एकाई भिन्न भिन्न तुलना के लिये भिन्न भिन्न होती है, जैसे एक सेर गेहूँ, एक मन गेहूँ इत्यादि। गेहूँ को जब बडे परिमाण मे तौलना होता है तो मन का उपयोग किया जाता है। कम परिमाण के लिये सेर ही से काम लिया जाता है। सेर का वजन भी भारत के भिन्न भिन्न भागो मे भिन्न भिन्न है। कही एक सेर १०० रुपये के वजन के बराबर है, तो कही ८० रुपये और कही २८ ही रुपये के बराबर। परन्तु किसी एक समय मे तुलना के लिये एक ही प्रकार के सेर का उपयोग किया जाता है। अन्य देशो मे गेहूँ के तोल के लिए टन, हडरवेट, पाउड इत्यादि का उपयोग होता है। कपड़े को नापने के लिए गज का उपयोग होता है। सोना चाँदी तोलने के लिए तोला, माशा और रत्ती का उपयोग होता है।

जिन वस्तुओ को विभाजित करने से उनके मूल्य मे कमी होती है, उनकी एकाई एक रहती है, जैसे एक मकान, एक गाय, एक पुस्तक, एक कुर्सी आदि।

उपयोगिता—उपयोगिता किसी वस्तु का वह गुण है जिससे उस वस्तु की चाह होती है। इसका सम्बन्ध मन से होता है। इसलिए हम किसी वस्तु की उपयोगिता का वर्णन किसी नाप या तोल से नही कर सकते। चूँकि प्रत्येक मनुष्य की इच्छा या रुचि में कुछ न कुछ भिन्नता होती है इसलिए

किसी एक खास वस्तु की उपयोगिता प्रत्येक मनुष्य को बराबर नही होती। किसी वस्तु का मूल्य तय करने मे लोग उस वस्तु की उपयोगिता का विचार अवश्य करते है।

यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि हम किसी वस्तु विशेष को उत्पन्न या नष्ट नही कर सकते। हम केवल उपयोगिता ही उत्पन्न कर सकते है। उदाहरण के लिए कुर्सी को लीजिये। बढई ने अपने औजारों की मदद से लकडी का रूपान्तर करके उसमे लकडी से ज्यादा उपयोगिता ला दी है, लकडी उसने उत्पन्न नही की। इसी प्रकार काम मे आते-आते कुर्सी की उपयोगिता नष्ट होती जाती है। कुर्सी टूट जाती है, लकडी पडी रहती है, लेकिन कुर्सी काम की नही रहती।

उपयोगिता की एकाई—किसी वस्तु की उपयोगिता भिन्न भिन्न मनुष्यो के लिये भिन्न भिन्न होती है। एक ही वस्तु की उपयोगिता भी किसी मनुष्य के लिये भिन्न भिन्न परिस्थितियो मे भिन्न भिन्न होती है। इसलिये भिन्न भिन्न मनुष्यो की दृष्टि से किसी एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना साधारणतः नही की जा सकती, और न किसी एक मनुष्य के लिये भिन्न परिस्थितियो मे वस्तुओ की तुलना ही की जा सकती है। हम केवल किसी एक समय से, जब कि किसी एक मनुष्य की परिस्थिति मे परिवर्तन नही होता, उसकी भिन्न भिन्न वस्तुओ से प्राप्त होने वाली उपयोगिता का अन्दाजा लगा कर तुलना कर सकते है। किसी वस्तु के उपभोग करने से सन्तोष प्राप्त होता है। इसी सन्तोष का अन्दाजा लगा कर हम वस्तुओ की उपयोगिता का अदाजा लगाते हैं। इस तुलना के लिये यह मान लिया जाता है कि किसी एक खास वस्तु के उपभोग मे जो सन्तोष प्राप्त होता है, वह एक के बराबर है, अर्थात् उसकी उपयोगिता एक है। अब अन्य वस्तुओ के उपभोग से प्राप्त सन्तोष की तुलना उस प्रथम वस्तु के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से की जाती है और उसी के अनुसार उनकी उपयोगिता बतलाई जाती है। मान लीजिये कि किसी मनुष्य ने एक समय एक केला और एक आम खाया। दोनो के उपभोग से उसे कुछ सन्तोष प्राप्त हुआ, आम के उपभोग से जो सन्तोष प्राप्त हुआ, वह केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से करीब चौगुना था। अब यदि हम मान लें कि एक केले की उपयोगिता उसे एक है, तो आम की उपयोगिता उसे चार होगी। इसी प्रकार यदि एक रोटी खाने से उसे उस समय जो सन्तोष हुआ उसकी मात्रा, एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से दस गुनी है

तो एक रोटी की उपयोगिता उसे दस होगी। अब यदि दूसरी रोटी खाने से उसे जो सन्तोष प्राप्त हुआ, वह एक केले के उपभोग से प्राप्त सन्तोष से पाँच गुना है तो दूसरी रोटी की उपयोगिता उसे पाँच होगी।

जब कभी किसी एक मनुष्य के लिये वस्तुओ की उपयोगिता की तुलना की जाती है तब उस तुलना के लिये उपयोगिता की कोई एकाई मान ली जाती है और उस समय सब वस्तुओ की उपयोगिता का अनुमान इसी एकाई के अनुसार लगाया जाता है, परन्तु यह हमेशा ध्यान मे रखना चाहिये कि भिन्न भिन्न तुलनाओ के लिये उपयोगिता की एकाई भिन्न भिन्न रहती है।

सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता—यदि किसी मनुष्य के पास दस सेर गेहूँ हो, तो दसवे सेर की उपयोगिता दस सेर गेहूँ की सीमान्त उपयोगिता (Marginal Utility) मानी जाती है। इस प्रकार, वस्तु के किसी परिमाण की सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की अन्तिम एकाई की उपयोगिता को कहते हैं। सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता (Total Utility) मे बहुत अन्तर है। दस सेर गेहूँ की कुल उपयोगिता दसो सेर गेहूँ की उपयोगिता के योग के बराबर होती है, जब कि उसकी सीमान्त उपयोगिता केवल दसवे सेर की उपयोगिता के बराबर है। यदि किसी मनुष्य के पास एक ही सेर गेहूँ हो तो उसकी सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता एक-सी होगी। परन्तु जैसे वस्तु का परिमाण बढता जायगा सीमान्त उपयोगिता घटती जायगी और कुल उपयोगिता एक सीमा तक बढती जायगी।

सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास-नियम (Law of Diminishing Marginal Utility) यह बतलाता है कि जैसे जैसे किसी वस्तु का परिमाण या उपभोग बढ़ता है, उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है। कल्पना करो एक आदमी अमरूद खाता है। पहले अमरूद की उपयोगिता उसके लिये बहुत अधिक होगी। मान लो वह ३० है, इस दशा मे सीमान्त उपयोगिता तथा कुल उपयोगिता दोनो तीस-तीस ही होगी। अब वह दूसरा अमरूद खाता है, इसकी उपयोगिता पहले अमरूद की अपेक्षा कम होगी। मान लो वह २५ है। दोनो अमरूदो से उसे ५५ उपयोगिता मिली जो कि दो अमरूदों की कुल उपयोगिता हुई। पहिले अमरूद से उपभोक्ता को ३० सीमान्त उपयोगिता थी लेकिन दो अमरूद खाने से सीमान्त उपयोगिता २५ हो गई।

निम्नलिखित कोष्ठक में ऊपर लिखे अनुसार अमरूदों की उपयोगिता दी जाती है—

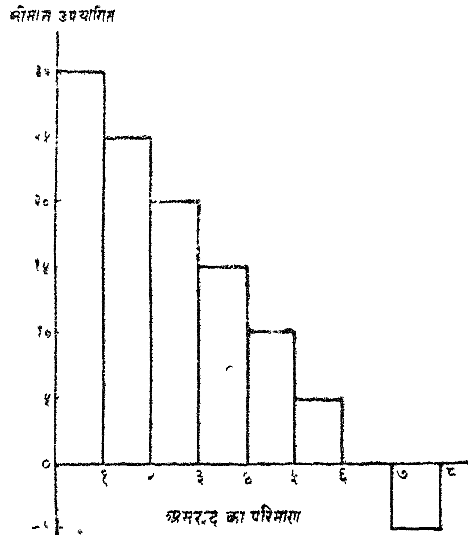
अमरूद	उपयोगिता	सीमान्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता
पहिला	३०	३०	३०
दूसरा	२५	२५	५५
तीसरा	२०	२०	७५
चौथा	१५	१५	९०
पाँचवाँ	१०	१०	१००
छठा	५	५	१०५
सातवाँ	०	०	१०५
आठवाँ	–५	–५	२५

इस कोष्ठक से यह स्पष्ट मालूम हो जाता है कि ज्यों ज्यों अधिक अमरूद खाये जायँगे उनकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जायगी, लेकिन कुल उपयोगिता तब तक बढ़ती जायगी जब तक किसी वस्तु के उपभोग में अधिकतम तृप्ति प्राप्त न हो जावे अर्थात् उसकी सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर न हो जाय। उपर्युक्त उदाहरण में सातवें अमरूद की सीमान्त उपयोगिता शून्य के बराबर है। उसकी कुल उपयोगिता सबसे अधिक है। इसके बाद अनुपयोगिता मिलने से कुल उपयोगिता भी घट जायगी। लेकिन ऐसी अवस्था बहुत ही कम पाई जाती है जब कि मनुष्य किसी वस्तु का इतने परिमाण में सेवन करे कि उससे अनुपयोगिता मिलने लगे, क्योंकि जैसे आगे बतलाया जायगा हर एक मनुष्य अपने द्रव्य को किसी एक वस्तु पर उतना ही खर्च करेगा जिसमें उसको कम से कम उस द्रव्य की उपयोगिता के बराबर उपयोगिता मिले। हाँ, अगर कोई वस्तु बिना मूल्य मिल जावे और मनुष्य को अपने स्वास्थ्य का कुछ भी ध्यान न हो तो वह अधिकतम तृप्ति मिलने पर भी खाता जावेगा।

इसी पृष्ठ पर दिये हुए अंकों का रेखाचित्र अगले पृष्ठ पर दिया जाता है। इससे सीमान्त-उपयोगिता ह्रास नियम और स्पष्ट हो जाता है।

इस रेखा चित्र में लम्बों की ऊँचाई अमरूदों की सीमान्त उपयोगिता बतलाती है। इस चित्र में यह स्पष्ट मालूम होता है कि ज्यों ज्यों अधिक अमरूद खाये गये प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता घटती गई और लम्बों

की ऊँचाई भी कम होती गई। यहाँ तक कि सातवे अमरूद की उपयोगिता बतलाने वाले लम्ब की ऊँचाई कुछ नही है और आठवे का लम्ब नीचे चला गया है जिससे यह मालूम होता है कि आठवें अमरूद से अनुपयोगिता प्राप्त हुई। इस चित्र मे इन लम्बो का क्षेत्रफल कुल उपयोगिता बतलाता

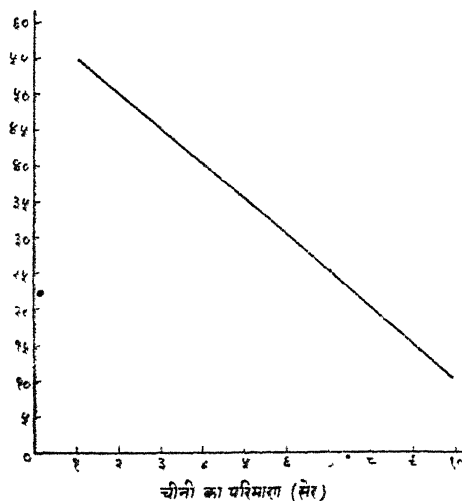


है। यदि हमे चार अमरूदो की कुल उपयोगिता मालूम करना हो तो पहिले, दूसरे, तीसरे और चौथे लम्बो के क्षेत्रफलो को जोड देने से वह आसानी मे मालूम हो जायगी।

सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास नियम को अधिक स्पष्ट करने के लिये हम एक ऐसे वस्तु का एक और उदाहरण लेते हैं जो कि छोटे से छोटे परिमाण म ली जा सकती है। अगले पृष्ठ पर दिये हुए कोष्ठक और रेखाचित्र मे एक परिवार के एक महीने के लिए १० सेर चीनी की सीमान्त उपयोगिता और कुल उपयोगिता दिखलाई गई है।

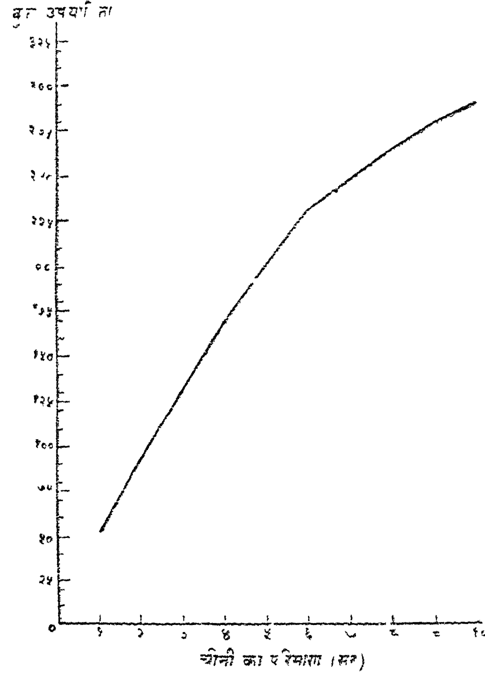
जैसे पहिले रेखाचित्र मे प्रत्येक अमरूद की उपयोगिता दिखलाई गई थी उसी प्रकार इस रेखाचित्र मे भी प्रत्येक सेर चीनी की उपयोगिता दिखलाई गई है। लेकिन पहिले रेखाचित्र मे उपयोगिता लम्बो के रूप मे दिखलाई गई थी और इस रेखाचित्र मे उपयोगिता वक्र रेखा द्वारा दिखलाई गई है। यह वक्र रेखा नीचे को गिरती जा रही है जिससे यह सूचित होता है कि चीनी की सीमान्त उपयोगिता घटती जा रही है।

सेर	सीमान्त उपयोगिता	कुल उपयोगिता
पहिला	५५	५५
दूसरा	५०	१०५
तीसरा	४५	१५०
चौथा	४०	१६०
पाँचवाँ	३५	२२५
छठा	३०	२५५
सातवाँ	२५	२८०
आठवाँ	२०	३००
नवाँ	१५	३१५
दसवाँ	१०	३२५



अगले पृष्ठ ५४ के रेखाचित्र में १० सेर चीनी की कुल उपयोगिता दिखलाई गई है।

नीचे दिये हुये रेखाचित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तु के अधिक परिमाण में सेवन करने से कुल उपयोगिता बढ़ती है क्योंकि वक्र रेखा, जो कि कुल-उपयोगिता दर्शा रही है, ऊँची होती जा रही है।



इस उपयोगिता-ह्रास नियम में यह बात मान ली गई है कि वस्तु का उपभोग किसी खास स्वभाव के मनुष्य द्वारा किसी खास समय में और खास परिस्थिति में हुआ है। अगर कोई मनुष्य एक अमरूद सुबह, एक दोपहर को और एक शाम को खाये तो सम्भव है कि प्रत्येक अमरूद की उपयोगिता उसको बराबर मालूम हो। लेकिन पहिले, दूसरे और तीसरे अमरूद खाने में बहुत समय का अन्तर हो गया है इसलिये यह नियम यहाँ लागू नहीं होता है। इसी प्रकार परिस्थिति और स्वभाव का भी इस नियम में प्रभाव पड़ता है। यह कहा जाता है कि शराब ज्यों ज्यों ज्यादा पी जाती है त्यों त्यों उसको अधिक पीने की इच्छा होती है, इसलिये पहिले प्याले से दूसरे प्याले की उपयोगिता अधिक मालूम होती है इत्यादि। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि शराब पीने के बाद उस मनुष्य के होश हवास दुरुस्त नहीं रहते हैं इसलिये उसकी स्थिति पहिले की सी नहीं रहती है।

इसलिये इस असाधारण दशा में उसको अधिक शराब पीने में अधिक उपयोगिता मालूम होती है।

इस नियम के सम्बन्ध में एक आक्षेप यह भी है कि अगर किसी वस्तु का बहुत सूक्ष्म परिमाण में उपभोग किया जाय तो पहिले उसकी सीमान्त उपयोगिता में ह्रास के बदले वृद्धि होती है। अगर हम अमरूद की बहुत ही छोटी छोटी फाँकें करके खायँ तो शायद चार पाँच फाँक तक सीमान्त-उपयोगिता की वृद्धि हो और दस बारह फाँक तक सीमान्त-उपयोगिता बराबर रहे, लेकिन किसी एक सीमा के बाद फिर उपयोगिता-ह्रास नियम लागू हो जायगा।

कुछ बाहरी दिखावट और फैशन की चीजें ऐसी होती है जिनके परिमाण में वृद्धि होने पर भी उनकी उपयोगिता में वृद्धि होती है। अगर दो धनी लोगों के पास एक एक मोटरकार हो और उनमें से एक मनुष्य एक और मोटरकार खरीद ले तो उसको दूसरी मोटरकार से अधिक सन्तोष मालूम पड़ता है और दूसरी मोटर की उपयोगिता पहिली से अधिक मालूम पड़ती है क्योंकि दो मोटर होने से वह अपने को पड़ोसी से श्रेष्ठ समझने लगता है।

इसी प्रकार कुछ ऐसी दुष्प्राप्य और अप्राप्य वस्तुएँ है जिनकी वृद्धि से उपयोगिता में बहुत वृद्धि हो जाती है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी मनुष्य के पास एक बड़ा बहुमूल्य हीरा है। अगर उसको मालूम हो जाय कि ऐसा ही हीरा एक और किसी के पास है तो उसको खरीदने के लिये वह पहिले हीरे की अपेक्षा बहुत अधिक मूल्य देने को तयार हो जायगा, क्योंकि अगर एक के बजाय उसके पास दो इतने बड़े हीरे हो जाएँ तो वह पहिले की अपेक्षा बहुत बड़ा आदमी समझा जावेगा। इसलिये दूसरे हीरे से उसको पहिले हीरे की अपेक्षा अधिक उपयोगिता मिलेगी।

द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता—द्रव्य के विषय में भी सीमान्त-उपयोगिता-ह्रास नियम लागू होता है। ज्यों ज्यों कोई मनुष्य धनवान् होता जाता है त्यों त्यों उसके द्रव्य की सीमात उपयोगिता कम होती जाती है। उदाहरण के लिये एक ऐसे मनुष्य को लीजिये जिसकी आमदनी १५० रुपया माहवार से ३०० रुपया माहवार हो गई है। जब तक उसकी आमदनी १५० रुपया माहवार थी तब तक वह तीन सेर घी माहवार खरीदता था, लेकिन जब उसकी आमदनी ३०० रुपया महीना हो गई तो वही मनुष्य उसी भाव पर महीने में ५ सेर घी खरीदने लगा। इससे प्रकट हो जाता है कि आमदनी बढ़ जाने से रुपये की सीमान्त-उपयोगिता में कमी हो गई। इसके विपरीत जब आमदनी कम होती जाती है तो द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता

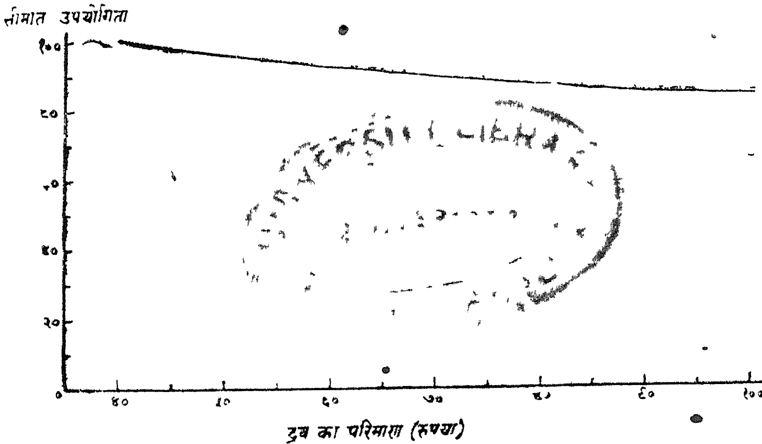
बढती जाती है। जब माह के आरम्भ मे विद्यार्थियो के पास रुपये आते है तो पहिले वे दिल खोल कर खर्च करते हैं, लेकिन जब माह के अन्त मे रुपया खतम होने को आता है तो फिर वे सॅभल कर खर्च करते है। इसका कारण यही है कि माह के आरम्भ मे अधिक रुपया होने से रुपये की सीमान्त-उपयोगिता कम होती है, और जैसे जैसे रुपया कम होता जाता है बाकी रुपयो की सीमान्त-उपयोगिता बढती जाती है यहाँ तक कि अन्तिम रुपये की उपयोगिता बहुत हो जाती है।

गरीब आदमी के द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता धनवान् आदमी से अधिक होती है। अगर एक आदमी की आमदनी २० रुपया महीना है और दूसरे की १००० रुपया हो तो गरीब आदमी के बीसवे रुपये की उपयोगिता अमीर आदमी के हजारवे रुपये से बहुत अधिक होगी। इसलिये गरीब आदमी को बीसवॉ रुपया खर्च करने के लिये अधिक उपयोगिता की आवश्यकता होगी तथा अमीर आदमी को हजारवॉ रुपया खर्च करने मे उससे कम।

आय की उपयोगिता बहुत धीरे धीरे घटती है। इसका कारण यह है कि द्रव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अनेक प्रकार की वस्तुऍ प्राप्त हो सकती है। इसलिये ज्यो ज्यो आय की वृद्धि हो और उससे उपभोग की नयी वस्तुऍ खरीदी जायॅ तो इस आय की वृद्धि मे सीमान्त-उपयोगिता मे बहुत कम ह्रास होगा। द्रव्य को एक वस्तु मानने के बजाय उसको कई वस्तुओ का समुच्चय समझना चाहिये। नीचे दिये हुये कोष्ठक और अगले पृष्ठ पर दिये हुये रेखा चित्र मे यह दिखलाया गया है कि द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता बहुत धीरे धीरे किस प्रकार कम होती है।

मासिक आय	सीमान्त उपयोगिता
४० रुपया	१००
४५ "	९८
५० "	९६
५५ "	९४
६० "	९२
६५ "	९०
७० "	८८
८० "	८४

इस रेखाचित्र में वक्र रेखा ही धीरे धीरे नीचो होती चली जा रही है। इससे यह मालूम होता है कि जैसे उस मनुष्य की मासिक आय बढ़ती गयी, वैसे वैसे उस आय की सीमान्त-उपयोगिता धीरे धीरे घटती गयी।



उपभोक्ता की बचत (Consumers' Surplus)

जब कोई वस्तु खरीदी जाती है तो उस वस्तु की कुल उपयोगिता में और उस पर खर्च किये हुये द्रव्य की उपयोगिता में जो अंतर होता है उसको उपभोक्ता की बचत कहते हैं। किसी भी वस्तु के लिये जो कीमत दी जाती है उसकी उपयोगिता उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है और यदि वस्तु अधिक परिमाण में खरीदी जाती है तो उसकी कुल उपयोगिता उस पर खर्च किये हुये द्रव्य की उपयोगिता से बहुत अधिक रहती है। यह हम ऊपर दिये चीनी के उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

पृष्ठ ५३ पर बता चुके हैं कि पहिले जो चीनी से ५५, दूसरे से ५०, तीसरे से ४५, चौथे से ४०, पाँचवे से ३५, छठे से ३०, सातवे से २५, आठवे से २०, नवे से १५ और दसवे से १० उपयोगिता मिलती है। मान लीजिये कि १ रुपये की उपयोगिता १० इकाई के बराबर है और चीनी का मूल्य भी १ रुपया प्रति सेर है। ऐसी दशा में वह दस सेर चीनी खरीदेगा। उसकी कुल उपयोगिता ५५+५०+४५+४०+३५+३०+२५+२०+१५+१०=३२५ इकाई उपयोगिता हुई। परन्तु दस सेर चीनी खरीदने में १० रुपये खर्च किया गया। जिनकी उपयोगिता १०० इकाई के बराबर है।

इसलिये उसे १० सेर चीनी खरीदने मे ३२५—१०० = २२५ इकाई उपयोगिता की बचत हुई। यही उसकी उपभोक्ता की बचत है। इसी प्रकार किसी भी वस्तु की उपभोक्ता की बचत निकाली जा सकती है।

उपभोक्ता की बचत का अनुमान द्रव्य मे भी लगाया जा सकता है। यह अक्सर देखा जाता है कि हम किसी वस्तु के लिये अधिक द्रव्य देने को तैयार रहते है। परन्तु वह बाजार से कम दामो मे मिल जाती है। इससे हमको जो बचत होती है उसको भी उपभोक्ता की बचत कहते है। मान लीजिये कि हम बाजार मे एक अनार खरीदने के लिये जाते है और हम उसके लिये ८ आने देने को तैयार रहते है परन्तु बाजार मे यदि वह हमको ४ आने मे ही मिल जाय तो ४ आने हमारी उपभोक्ता की बचत होगी।

अभ्यास के प्रश्न

१—उपयोगिता से आप क्या समझते है? संक्षेप मे उपयोगिता ह्रास नियम बताइये। (१९३९) (१९४२)

२—सीमान्त-उपयोगिता और कुल उपयोगिता के भेद उदाहरणो सहित समझाइए।

३—उपयोगिता-ह्रास-नियम की परिभाषा दीजिये तथा रेखाचित्र द्वारा उसे समझाइये। स्पष्ट बताइये कि यह नियम कब लागू नही होता। (१९३५ और १९३६, १९२८ और १९२९)

४—किसी वस्तु की पूर्ण उपयोगिता तभी सर्वाधिक होती है जब उसकी सीमान्त-उपयोगिता शून्य हो। रेखाचित्र द्वारा इसे समझाइये। (१९३८)

५—द्रव्य की सीमान्त-उपयोगिता की विशेषता रेखाचित्र द्वारा समझाइये।

६—उपभोक्ता की बचत उदाहरणो सहित समझाइये।

सातवाँ अध्याय

आमदनी खर्च करने की विधि

मनुष्य विविध वस्तुओ मे अपना द्रव्य खर्च करता है। इसमे क्या नियम काम करता है, तथा द्रव्य खर्च करने का उत्तम तरीका क्या है, इन बातो का विचार करने से पूर्व हम उपभोग की वस्तुओ के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे कुछ विचार करते हैं।

उपभोग की वस्तुओं का वर्गीकरण—ससार मे सब से पहले मनुष्य को अपने शरीर को बनाये रखने की फिक्र रहती है। अधा, अपाहिज कैसा ही मनुष्य क्यो न हो वह अपने चर्म अस्थि-पिञ्जर शरीर को नाश होने से बचाने का सदा प्रयत्न किया करता है। इसलिए उपभोग के पदार्थो में मुख्य स्थान उन पदार्थो को दिया जाता है जो शरीर और प्राण को साथ रखने के लिये जरूरी होते हैं। इन पदार्थो को जीवन-रक्षक पदार्थ (Necessaries for Life) कहते हैं। इन पदार्थो मे जल, अन्न, वस्त्र, मकान इत्यादि शामिल हैं। लेकिन केवल जीवन-रक्षा के लिए ये पदार्थ साधारण दर्जे के हो सकते हैं, जिनसे किसी मनुष्य का निर्वाह मात्र हो सके। जीवन रक्षक पदार्थो की कीमत बढ जावे या घट जावे लेकिन शरीर की रक्षा के लिए इन वस्तुओ को खरीदना अनिवार्य होता है। इसलिये जैसे जैसे जीवनरक्षक पदर्थो की कीमत बढती जाती है वैसे वैसे उन पर किया गया कुल खर्च बढता जाता है क्योकि माँग उस अनुपात मे कम नही होती है।

दूसरे प्रकार के उपभोग के पदार्थ निपुणता-दायक पदार्थ (Necessaries for Efficiency) कहलाते हे। वे ऐसे पदार्थ हैं जिनके सेवन करने से मनुष्य की कार्य करने की शक्ति बढती है। उनसे शरीर मे बल, उत्साह और स्फूर्ति पेदा होती है। शरीर निरोग रहता है। जीवन-रक्षक पदार्थो मे भी ये गुण रहते हे। परन्तु उनका वर्गीकरण अलग कर देने से निपुणतादायक पदार्थो मे जीवन-रक्षक पदार्थ सम्मिलित नहीं किये जाते। सब जीवनरक्षक पदार्थ अधिक मात्रा मे और अच्छे दरजे के होने पर निपुणतादायक पदार्थ कहलाने लगते हैं। जैसे साधारण भोजन करने से, फटा पुराना कपडा पहनने से तथा टूटी फूटी झोपडी मे रहने से भी मनुष्य जिन्दा तो रह सकेगा, लेकिन उसकी तन्दुरुस्ती अच्छी नहीं रहेगी। शरीर रोगी और निर्बल हो जावेगा, और काम

करने की शक्ति क्षीण होती जावेगी। लेकिन अगर उसको भर पेट पुष्टिकारक भोजन दिया जावे, जैसे अच्छा अन्न, घी, दूध, फल इत्यादि और स्वच्छ वस्त्र पहनने को दिये जाये, रहने के लिए अच्छा हवादार मकान दिया जाये, व्यायाम, खेल, पुस्तकालय इत्यादि का उसके लिये प्रबन्ध किया जाय तो वह पुरुष हृष्ट पुष्ट, नीरोग, निपुण और तन्दुरुस्त होगा, काम करने के लिए बल और उत्साह बढ़ेगा इसलिए उसका काम भी अच्छा होगा। निपुणता-दायक पदार्थों मे जितना खर्च किया जाता है उसका फल उससे कही अधिक मिलता है। कीमत के बढने पर निपुणता-दायक पदार्थों की मॉग मे भी अधिक कमी नही होगी इसलिये इन पदार्थों पर भी, जीवन-रक्षक पदार्थों के समान खर्च बढता जाता है जैसे इसके मूल्य मे वृद्धि होती है।

उपभोग के पदार्थों के तीसरे विभाग मे आराम की वस्तुएँ (Comforts) ली जाती हैं। इन वस्तुओ के उपभोग से शरीर को सुख और आराम तो मिलती ही है किन्तु निपुणता भी बढती है। लेकिन जितना खर्च इन पर किया जाता है उस अनुपात मे उससे कार्य-कुशलता नही बढती है। जैसे, किसी गरीब मनुष्य के लिए धोती, कुर्ता और चप्पल निपुणता-दायक पदार्थ हैं लेकिन अगर वह बढ़िया कमीज, कोट का उपभोग करे तो ये वस्तुएँ उसके लिए आराम की वस्तुएँ कही जावेगी। इनसे उसकी निपुणता भले ही बढे लेकिन उतनी नही बढेगी जितना इसमे खर्च हो जायेगा। इसी प्रकार से गरीब किसान के लिये साइकिल, घडी, पक्का मकान, इत्यादि भी आराम की वस्तुओ मे शामिल किये जा सकते है।

चौथे प्रकार के उपभोग की वस्तुएँ विलासिता की वस्तुएँ (Luxuries) कहलाती है। इन वस्तुओ के सेवन करने से इन पर किये गये खर्च की अपेक्षा इनसे बहुत कम निपुणता अथवा कार्य कुशलता प्राप्त होती है। कभी कभी तो इन वस्तुओ के उपभोग से कार्य-कुशलता का बढने की अपेक्षा ह्रास होने लगता है। ऐसी वस्तुओ के उदाहरण हैं खूब बढिया आलीशान अट्टालिकाये, बहुत कीमती भडकीले वस्त्र, शराब इत्यादि। विलासिता की वस्तुओं को सेवन करने से शरीर आलसी सा हो जाता है। काम करने को जी नही करता है। शराब इत्यादि के सेवन से तो मनुष्य की कार्य कुशलता बिलकुल क्षीण होने की सम्भावना रहती है। विलासिता की वस्तुओं की कीमत में थोड़ा सा अन्तर होने से ही इनकी मॉग मे बहुत अन्तर हो जाता है। इसलिये जैसे इनकी कीमत बढ़ती है वैसे ही इन पर कुल खर्च घटता जाता है।

उपभोग के पदार्थों का एक और विभाग है। इस विभाग में वे वस्तुएँ हैं जो जीवनरक्षा अथवा आराम इत्यादि के लिए आवश्यक नहीं हैं, लेकिन समाज के दबाव से, लोक-निन्दा के भय से अथवा रीति-रस्म, आचार व्यवहार तथा आदत पड जाने के कारण ये वस्तुएँ भी आवश्यक होने लगती हैं। इन वस्तुओं को 'कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुएँ" (Conventional Necessaries) कहते हैं। जन्मोत्सव, विवाह इत्यादि उत्सवों में खर्च, तथा शराब, तम्बाकू, गाँजा, चरस इत्यादि पर खर्च इसके उदाहरण हैं। चूँकि इन वस्तुओं की कीमत बढ जाने अथवा घट जाने से भी ये वस्तुएँ करीब करीब उसी परिमाण में खरीदी जाती है, इसीलिए कीमत के बढने पर इन पर होने वाला खर्च भी बढ जाता है।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि उपभोग की वस्तुओं के ये विभाग उपभोक्ताओं की परिस्थितियों के अनुसार किये गये हैं। हम यह नहीं कह सकते हैं कि अमुक वस्तुएँ सब के लिये सदा जीवन-रक्षक पदार्थ है, और कुछ वस्तुएँ विलासिता की अथवा आराम की वस्तुएँ हैं इत्यादि। कोई भी वस्तु अपने आप से किसी भी वर्ग में शामिल नहीं की जा सकती है। किसी वस्तु को कौन से वर्ग में रखा जाये इस बात को जानने के लिये हमको बहुत सी और बातें भी ध्यान में रखनी पडती हैं। मनुष्यों की प्रकृति, आदत, फैशन, जल-वायु, देश-काल, वस्तुओं की कीमत तथा मनुष्यों की आर्थिक अवस्था के वस्तुओं के वर्गीकरण में भिन्नता आ जाती है।

कई वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो कि वस्तुतः विलासिता की वस्तुएँ अथवा आराम की वस्तुएँ हैं, लेकिन उनका बार बार उपभोग करने से उन वस्तुओं के उपभोग की आदत पड जाती हैं। इसलिए वे कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुओं में गिनी जाने लगती हैं। उदाहरणार्थ चाय अथवा तम्बाकू को लीजिये। जिन लोगों को इन वस्तुओं का व्यसन पड जाता है उनसे अगर उनके सम्बन्ध में पूछा जाय तो वे कहते हैं कि उन वस्तुओं के सेवन किये बिना वे जी नहीं सकते हैं। भोजन ठीक वक्त पर मिले, न मिले इसकी परवाह नहीं लेकिन तम्बाकू शराब इत्यादि उनको अवश्य मिलनी चाहिये। कई मनुष्यों की शारीरिक अवस्था ऐसी होती है कि एक वस्तु जो दूसरे मनुष्य को नुकसान पहुँचाती है उनको लाभदायक होती है।

एक डाक्टर के लिये मोटरकार आवश्यक प्रतीत होती है क्योंकि उसकी सहायता से वह कम समय में बहुत मरीजों को देख सकता है लेकिन एक क्लर्क या अध्यापक के लिये मोटरकार आराम या विलासिता की ही वस्तु समझी जावेगी।

एक अमीर आदमी के लिए आलीशान महल, बिजली का लैम्प, पङ्खे, इत्यादि आराम की वस्तुएँ हो लेकिन एक गरीब किसान के लिये ये वस्तुएँ एकदम विलासिता की वस्तुएँ समझी जावेगी।

किसी वस्तु की कीमत के घटने से भी उस वस्तु के वर्गीकरण मे भिन्नता आ जाती है। अगर कोई कपडा ६ रुपया गज के हिसाब से बिकता हो तो वह किसी मनुष्य के लिये विलासिता की वस्तु समझी जाती है, अगर ३ रुपया गज हो जाये तो आराम की वस्तु, १ रुपया गज मे निपुणतादायक वस्तु तथा ||) आना गज मे जीवन-रक्षक वस्तु समझी जा सकती है।

समय या फैशन के अन्तर से रहन-सहन के दर्जे के भेद मे तथा कीमत के परिवर्तन से कोई वस्तु एक समय विलासिता की वस्तु, दूसरे समय आराम की वस्तु और किसी समय जीवन-रक्षक वस्तु भी समझी जाती है।

सम-सीमान्त-उपयोगिता-नियम—(Law of Equi-Marginal Utility) प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि वह अपने द्रव्य को इस प्रकार खर्च करे कि जिससे उसको अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो, यही कारण है कि लोगो को प्रायः यह समस्या हल करनी पडती है कि कौन सी वस्तु किस समय और कितनी खरीदनी चाहिये। लोग अपने मन मे एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना दूसरे वस्तु की उपयोगिता से करते हैं, और उस वस्तु को खरीदते है जिसकी उपयोगिता उनको सब से अधिक मालूम हो। चूँकि मनुष्य को विविध वस्तुओ की विविध सख्या मे आवश्यकता होती है, और सीमात-उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु को अधिक परिमाण मे खरीदने से क्रमश. सीमात उपयोगिता कम होती जाती है, इसलिए साधारण मनुष्य को यह निश्चय करने मे कठिनता होती है कि वह कौन कौन सी वस्तु कितनी कितनी खरीदे कि जिसमे उसको अपने द्रव्य से अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो इसी बात का विवेचन अर्थशास्त्र मे सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम मे किया जाता है। इस नियम का यह मतलब है कि अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक उपभोक्ता अपनी आय को विविध वस्तुओ मे इस प्रकार विभाजित करे कि उसको प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये अन्तिम रुपये से करीब करीब बराबर उपयोगिता प्राप्त हो। हमको अपने द्रव्य से अधिकतम उपयोगिता तभी प्राप्त हो सकती है जब कि प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये गये अन्तिम सिक्के से समान सीमान्त उपयोगिता मिले। यह नियम आसानी से सिद्ध किया जा सकता है।

निम्नलिखित कोष्ठक में यह बतलाया गया है कि यदि कोई मनुष्य गेहूँ, चावल, कपड़ा और चीनी पर अपनी आय खर्च करे तो क्रमश. प्रत्येक रुपये से उसको कितनी उपयोगिता प्राप्त होगी।

रुपया	एक रुपया खर्च करने पर प्राप्त उपयोगिता			
	गेहूँ में	चावल में	कपड़े में	चीनी में
पहला	१००	८०	९०	६०
दूसरा	८०	६०	७०	४०
तीसरा	६०	४०	५०	३०
चौथा	५०	३०	३०	२०
पाँचवाँ	४०	२०	१७	१५
छठा	३०	१५	१०	१०
सातवाँ	२०	१०	६	५
आठवाँ	१५	५	३	२
नवाँ	१०	३	२	१
दसवाँ	५	२	१	०

इस कोष्ठक से यह पता लगता है कि वह मनुष्य पहिला रुपया गेहूँ पर खर्च करके १०० उपयोगिता प्राप्त करता है, दूसरा रुपया खर्च करने से उसे जो गेहूँ मिलता है उसकी उपयोगिता ८० है। यदि वह अपना रुपया चावल पर खर्च करता है तो उसे ८० उपयोगिता मिलती है और दूसरा रुपया चावल पर खर्च करने से उसे ६० उपयोगिता प्राप्त होती है। मान लीजिये कि इस मनुष्य के पास ८ रुपये है और वह उन्हे उपर्युक्त चार वस्तुओं पर खर्च करना चाहता है। वह इन चार वस्तुओं पर इस प्रकार खर्च

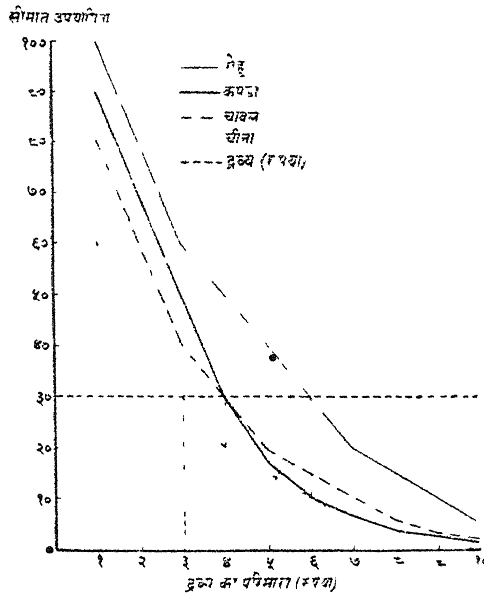
करेगा जिससे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो, इसलिये वह पहिला रुपया गेहूँ पर खर्च करेगा, दूसरा रुपया वह कपडे पर खर्च करेगा, परन्तु वह कपडे पर खर्च किये जाने वाला प्रथम रुपया होगा और उससे उसे ६० उपयोगिता मिलेगी। तीसरा और चौथा रुपया वह गेहूँ और चावल पर खर्च करेगा, दोनो से उसे बराबर उपयोगिता प्राप्त होगी, वह पाँचवाँ रुपया कपडे पर खर्च करके ७० उपयोगिता प्राप्त करेगा। छठवाँ, सातवाँ और आठवाँ रुपया वह गेहूँ, चावल और चीनी पर बराबर खर्च करके बराबर उपयोगिता प्राप्त करेगा। इस प्रकार रुपया खर्च करने पर उसे सबसे अधिक उपयोगिता मिलेगी।

इस प्रकार अपने रुपये चारो वस्तुओ पर विभाजित करने से उसने प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये हुये अंतिम रुपये से प्राप्त उपयोगिता करीब बराबर कर ली। उसने गेहूँ पर ३ रुपया, चावल पर २ रुपया, कपडे पर २ रुपया और चीनी पर १ रुपया खर्च किया। गेहूँ पर तीसरा रुपया खर्च करने से जो उपयोगिता प्राप्त हुई वह ६० है। इसी प्रकार चावल, कपड़ा और चीनी पर अंतिम रुपया खर्च करने से प्राप्त उपयोगिता क्रमश. ६०, ७० और ६० है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसने अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिये सम सीमान्त उपयोगिता नियम का पालन किया। वस्तुओ के खरीदने के लिये प्रत्येक मनुष्य इसी नियम का पालन करता है।

हम यह पहिले बतला आए है कि रुपये की भी सीमान्त उपयोगिता होती है और वह धीरे धीरे घटती है। मान लीजिये कि उपर्युक्त उदाहरण मे उस मनुष्य को रुपये की सीमान्त-उपयोगिता ३० है तो वह मनुष्य गेहूँ पर ६ रुपये खर्च करने को तैयार हो जायगा, यदि वह सातवाँ रुपया खर्च करेगा तो उसके बदले मे जो गेहूँ मिलेगा उसकी उपयोगिता केवल २० ही रहेगी। रुपये की उपयोगिता उसे ३० है इसलिये वह सातवाँ रुपया गेहूँ पर खर्च करने को राजी नही होगा। इसी प्रकार वह चावल पर चार रुपये, कपड़े पर चार रुपये और चीनी पर तीन रुपये खर्च करने को राजी होगा। इस तरह वह प्रत्येक वस्तु पर खर्च किये हुये अन्तिम रुपये से प्राप्त उपयोगिता को अपने रुपये की उपयोगिता के बराबर बनाकर समसीमान्त-उपयोगिता-नियम का पालन करेगा। पृष्ठ ६३ पर दिये हुये कोष्ठक के उपयोगिता-सम्बन्धी अको को अगले पृष्ठ पर दिये हुये रेखाचित्र मे गेहूँ, चावल, कपड़ा चीनी और द्रव्य को वक्र रेखाओ द्वारा दिखलाया गया है।

इस रेखाचित्र से यह स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि वह मनुष्य प्रत्येक

वस्तु पर कितने रुपये खर्च करेगा। जिस बिंदु पर द्रव्य की रेखा किसी वस्तु की रेखा पर मिलती है उसी बिंदु से उस पर खर्च किये गये रुपये का परिमाण मालूम हो जाता है। इस रेखाचित्र से भी यही पता लगता है कि वह मनुष्य चीनी पर तीन रुपये, चावल पर चार रुपये, कपड़े पर



चार रुपये और गेहूँ पर छै रुपये खर्च करेगा। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के उपयोगिता-सम्बन्धी अंक प्राप्त करके या रेखाएँ खींचकर यह बतलाया जा सकता है कि कोई भी मनुष्य अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक वस्तु पर कितना रुपया किसी समय खर्च करेगा।

सम सीमान्त उपयोगिता नियम से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जब कोई मनुष्य आवश्यक वस्तुओं को खरीदने के लिये बाजार जाता है, वह उन वस्तुओं की उपयोगिता की तालिका अपने साथ बनाकर ले जाता है या वह बाजार में जाकर इसी प्रकार की कोई तालिका बनाता है। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि वह इस नियम का उपयोग अवश्य करता है। खरीदते समय वह अपने मन में प्रत्येक वस्तु पर अन्तिम रुपया खर्च करके प्राप्त होने वाली उपयोगिता की तुलना करता है, और जब कभी दो वस्तुओं की इस प्रकार की उपयोगिता बिलकुल बराबर हो जाती है तब वह असमंजस

मे पड जाता है और यह निश्चय नही कर पाता कि किसको खरीदा जाय और किसको न खरीदा जाय। यदि उसके पास उस समय दोनो को खरीदने के लिये काफी द्रव्य न हो तो ऐसी दशा मे सम सीमान्त-उपयोगिता-नियम का पालन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

इस नियम के सम्बन्ध मे हमे यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि प्रत्येक मनुष्य भविष्य के लिये कुछ न कुछ इन्तजाम करना चाहता है। इसके लिये उसको अपनी वर्तमान आवश्यकताओ मे काट छाँट करके भविष्य के लिये द्रव्य का सचय करना पडता है। उसको इस समय के आवश्यकीय पदार्थो की उपयोगिता की भविष्य मे खरीदे जाने वाले पदार्थो की उपयोगिता से तुलना करनी पड़ती है, जिससे वह भविष्य के लिये द्रव्य बचा कर रखे। लेकिन भविष्य के अनिश्चित होने के कारण मनुष्य को भविष्य मे खरीदी जाने वाली वस्तुओ की उपयोगिता का अन्दाज लगाना बहुत मुश्किल होता है।

इस नियम मे समय का विशेष ख्याल रखना पड़ता है। जिन वस्तुओ को खरीदने के लिये हम एक वस्तु की उपयोगिता को अन्य वस्तुओ की उपयोगिताओ से तुलना करते हे, यह तुलनात्मक काम एक ही समय मे होना चाहिये। समय के बदल जाने से वस्तुओ की उपयोगिताओ मे भी भिन्नता आ सकती है। आज हमको पहिले रुपये से गेहूँ खरीदने मे सौ और कपडा खरीदने मे ६० उपयोगिता मिलने से हम पहिले रुपये मे गेहूँ खरीद ले। लेकिन अगर हम वह रुपया आज खर्च न करके कल के ऊपर उठा रखे तो सम्भव है कि दूसरे दिन हमको प्रथम रुपया खर्च करने से गेहूँ से केवल ६० उपयोगिता ही प्राप्त हो और हम उस रुपये से कपडा ही खरीदे। इसलिये यह ध्यान मे रखना चाहिये कि जब हम सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार खर्च करने के लिये वस्तुओ की उपयोगिताओ की तुलना करते है तो वह तुलना एक समय विशेष के लिये ही लागू हो सकती है। दूसरे समय के लिये हमको नये सिरे से तुलना करनी पड़ती है।

द्रव्य खर्च करने का उत्तम तरीका—प्रत्येक मनुष्य समसीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार अपना द्रव्य खर्च करता है। इससे उसे अपने खर्च से सबसे अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु अधिकाश व्यक्ति इस बात का ध्यान नही रखते कि जिन पदार्थो का वे उपयोग करते है उनका दीर्घकाल मे क्या परिणाम होगा। कुछ पदार्थ ऐसे है जिनकी दीर्घकाल की उपयोगिता या अतिम उपयोगिता वर्तमान उपयोगिता से बहुत कम रहती

है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जिनकी दीर्घकाल की उपयोगिता वर्तमान उपयोगिता से अधिक रहती है। जब हम किसी मादक पदार्थ जैसे भॉग, गॉजा इत्यादि का उपभोग करते हैं, तो उसके उपभोग करते समय हमारी इच्छा की पूर्ति होती है और हमको कुछ उपयोगिता प्राप्त होती है। परन्तु उसके उपभोग का प्रभाव दीर्घकाल मे हमारे स्वास्थ पर बहुत बुरा पड़ता है और हमारी कार्य-कुशलता कम हो जाती है। इसलिये मादक वस्तुओ की दीर्घकाल की उपयोगिता या अतिम उपयोगिता बहुत ही कम होती है। इसी प्रकार विलासिता की अतिम उपयोगिता वर्तमान उपयोगिता से कम होती है। यदि हम किसी निपुणता-दायक पदार्थ का उपयोग करते हैं तो दीर्घकाल मे उससे हमारा स्वास्थ सुधरता है और हमारी कार्यकुशलता भी बढ जाती है। इसलिये निपुणता-दायक पदार्थो की अतिम उपयोगिता वर्तमान उपयोगिता से अधिक होती है। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने द्रव्य को इस तरह से खर्च करे कि पदार्थो की अतिम उपयोगिता सबसे अधिक हो जावे तो वह अपने द्रव्य का सबसे अच्छा उपयोग करेगा। द्रव्य खर्च करने का सबसे उत्तम तरीका यह है कि वह अपने द्रव्य को भिन्न भिन्न पदार्थो पर इस तरह से खर्च करे कि प्रत्येक पदार्थ पर खर्च किये हुये अतिम रुपये से प्राप्त अतिम उपयोगिता बराबर हो जावे अर्थात् वह समसीमान्त उपयोगिता के नियम का पालन अतिम उपयोगिता के सम्बन्ध मे सोच-विचार करके करे। इस उद्देश की प्राप्ति के लिये उसे अपने खर्च पर गम्भीरता पूर्वक विचार करना होगा और अपनी इच्छाओ पर नियत्रण करके जान बूझकर ऐसी वस्तुओ पर खर्च कम करना होगा जिनकी अतिम उपयोगिता वर्तमान उपयोगिता से कम है और ऐसी वस्तुओ पर खर्च अधिक करना होगा जिनकी अतिम उपयोगिता वर्तमान उपयोगिता से अधिक है। अपने द्रव्य से सबसे अधिक अतिम उपयोगिता प्राप्त करने लिये अर्थात् उसका सदुपयोग करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने खर्च का पूरा हिसाब रखना चाहिये और उसके आधार पर अपने उपयोग की वस्तुओ की सूची बनाकर यह जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि उसकी कृत्रिम आवश्यकताओं की वस्तुये, विलासिता की वस्तुये और निपुणता-दायक वस्तुये कौन-कौन सी हैं। फिर उसको जान-बूझकर कृत्रिम आवश्यकताओ और विलासिता की वस्तुओ पर कम खर्च करने का अभ्यास करना चाहिये और बचे हुये द्रव्य को निपुणता दायक वस्तुओ पर खर्च करने की आदत डालना चाहिये या उसे भविष्य में आपत्ति के समय

उपयोग करने के लिये किसी अच्छे बैंक में जमा कर देना चाहिये। इस प्रकार सोच विचार कर अपना द्रव्य खर्च करने से उसके अंतिम उपयोगिता की मात्रा में वृद्धि होने लगेगी और दीर्घकाल में वह अपने द्रव्य से सबसे अधिक सुख और शांति प्राप्त कर लेगा।

अपने द्रव्य के विलासिता की वस्तुओं पर या कृत्रिम आवश्यकताओं पर खर्च करना उसका दुरुपयोग है, फिजूलखर्ची है, क्योंकि उनसे दीर्घकाल में अंतिम उपयोगिता बहुत कम प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति को इस फिजूल खर्ची से बचना चाहिये। यदि कोई धनी आदमी अपने द्रव्य के बहुमूल्य शराब, मेले और तमाशो में खर्च करे तो क्षणिक आनन्द के पश्चात् उसके कुछ और हाथ न आवेगा। लेकिन अगर वह इसी द्रव्य के जायदाद खरीदने में, मकान बनवाने में, पुस्तकों और कला-कौशल की वस्तुओं के खरीदने में, अथवा जवाहरात इत्यादि खरीदने में खर्च करे तो ये चीजें चाहे उस वक्त उसके कम काम में आवें परन्तु ये उसके पास एक तरह की पूँजी के रूप में हो जाती हैं, जो कि समय पर बेची जा सकती हैं, अथवा भविष्य में उसके काम में आ सकती हैं। इन टिकाऊ वस्तुओं पर किया गया खर्च एक प्रकार से भविष्य के उपभोग के लिये रक्षित द्रव्य है। टिकाऊ वस्तुओं पर किये खर्च के सम्बन्ध में भी एक बात ध्यान में रखने के योग्य है। ये वस्तुयें ऐसी नहीं होनी चाहिये जिससे समाज का उपकार न हो। अगर नदी के किनारे एक कुआँ बनाया जाय तो शायद उस पर खर्च की गई पूँजी और श्रम से बहुत कम फायदा होगा। इसी प्रकार अगर ऐसे मकान बना दिये जावें जिनमें कोई न रह सके तो उन पर किया गया खर्च भी फिजूलखर्ची माना जवेगा।

खर्च और बचत—मनुष्य की आवश्यकतायें दो प्रकार की होती हैं। एक तो दैनिक आवश्यकता जैसे भोजन वस्त्र आदि तथा दूसरी आकस्मिक या भविष्य में आने वाली जैसे किसी दुर्घटना एवं बीमारी के कारण उत्पन्न होने वाली आवश्यकतायें। दूसरी प्रकार की आवश्यकता के सम्बन्ध में मनुष्य विचार भी नहीं कर सकता कि वह कब, कहाँ और कैसे आयेगी। इसी लिये मनुष्य के भविष्य में उपस्थित होने वाली आवश्यकताओं के लिये कुछ न कुछ अवश्य बचा कर रखना चाहिये जिससे कि वह उन आवश्यकताओं का सामना सरलता से कर सके। वास्तव में मनुष्य को दूरदर्शी होना चाहिये। उसे अपनी सब आय वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में ही खर्च न कर डालनी चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि भविष्य में उसे अपने लड़कों के भी शिक्षा देना है और उनका व्याह आदि करना है। अकस्मात् दैवी घटना

मृत्यु एव बीमारी आदि के लिये भी धन रखना चाहिये। इसलिये जो लोग इतना धनोपार्जन करते हैं कि उसमे से उनका जीवन निर्वाह हो जाने के उपरान्त कुछ बचत हो सकती है, उन्हे अपनी परिस्थित के अनुसार थोड़ा बहुत अवश्य बचाना चाहिये। कम से कम प्रत्येक मनुष्य को अपनी आय का १०% अवश्य बचाना चाहिये। यदि किसी मनुष्य की आय बहुत कम हो तो भी उसे अपनी आवश्यकताओ पर नियत्रण करके प्रति माह कुछ बचाने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये जितना वह मितव्ययिता से काम लेगा उतनी ही बचत अधिक होगी। यह पहले बताया जा चुका है कि मनुष्यो का अपने जीवन निर्वाह के खर्च की अपेक्षा ऐशोआराम तथा विलासिता की वस्तुओ पर खर्च अधिक घटता बढ़ता है। इसलिये जब किसी आदमी की बचत कम (या ज्यादह) होती है तो बहुधा यह अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपने एशोआराम की वस्तुओ पर खर्च बढा दिया ह, (या घटा दिया ह।) निदान, खर्च और बचत का एक दूसरे पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, और इन दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अपने बचत के द्रव्य को गाड के नहीं रखना चाहिये। इसमे कुछ लाभ नही होगा और उसके चुराये जाने का भय बना रहता है। कुछ व्यक्ति बचत के रुपयो से सोने या चाँदी के गहने बनवा लेते हैं। उनको इन गहनो के गुम जाने या चोरी जाने का भय रहता है और आवश्यकता पडने पर जब गहने बेचे जाते हैं तो उनकी साधारणत उतनी कीमत नहीं मिलती जितने मे वे खरीदे जाते है। बचत के सदुपयोग का सब से उत्तम तरीका यह है कि वह किसी अच्छे सुरक्षित बेंक मे जमा कर दी जाय या उससे सरकारी ऋणपत्र खरीद लिये जावे। इससे यह लाभ होगा कि जमा की हुई रकम पर थोड़ा बहुत सूद भी मिलेगा, उसकी रक्षा की कोई चिन्ता नहीं रहती और आवश्यकता पड़ने पर वे आसानी से बैंक से निकाले जा सकेंगे।

विशेष वक्तव्य—वास्तव मे धन का सदुपभोग करना एक बडी भारी कला है। बहुत कम आदमी यह जानते हैं कि द्रव्य का उचित उपभोग किस प्रकार किया जाना चाहिये। परन्तु खर्च करते समय प्रत्येक मनुष्य को यह ध्यान रखना चाहिये कि वह अपनी आमदनी से अधिक खर्च तो नही करता। दैनिक आवश्यकताओ का खर्च तो दैनिक आमदनी से कभी भी किसी प्रकार किसी भी दशा मे न बढने देना चाहिये। यदि दैनिक आवश्यकताओं के लिये कर्ज लिया जाय तो उससे छुटकारा पाना कभी भी सम्भव न होगा। और उस व्यक्ति का जीवन हमेशा के लिये दुखमय हो जावेगा। ऐसी दशा में तो व्यक्ति को अपनी आमदनी बढ़ाने का ही दत्तचित्त

होकर प्रयत्न करना चाहिये। और जब तक आमदनी न बढ़े तब तक अपनी दैनिक आवश्यकताओं का नियन्त्रण कर खर्च कम करने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये। यह देखा गया है कि मनुष्य विवाह, श्राद्ध आदि समयों पर अपनी आमदनी का ध्यान न रखकर बहुधा कर्ज लेते हैं और व्यर्थ में रुपया बर्बाद करते हैं। यह बहुत ही निन्दनीय है। ऐसा कभी न करना चाहिये। इस प्रकार का खर्च अपनी हैसियत के अनुसार ही करना चाहिये। वास्तव में जो आदमी सोच समझ कर खर्च करता है वह परिमित आय से भी अपने आपको उन आदमियों से अधिक सुखी बना सकता है जिनकी आय उतनी ही है, परन्तु जो उनकी अपेक्षा कम सोच समझ कर काम करते हैं। खर्च के सुप्रबन्ध करने में इस अध्याय में बतलाई हुई बातों पर ध्यान देने से बड़ी सहायता मिलेगी।

अभ्यास के प्रश्न

१—सर्वाधिक सन्तोष प्राप्त करने की दृष्टि में आप अपनी बहिन को पारिवारिक व्यय के प्रबन्ध के सम्बन्ध में क्या राय देंगे? (१९३८)

२—मनुष्य की आवश्यक वस्तुओं की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? उदाहरण सहित आवश्यक, आराम की या विलासिता की वस्तुओं की भिन्नता स्पष्ट कीजिये। (१९३५, १९२९)

३—निम्नलिखित की भिन्नता स्पष्ट कीजिये तथा भिन्नता का महत्व बताइये :—

(अ) आवश्यक व विलासिता की वस्तुएँ।
(ब) जीवन-रक्षक वस्तुएँ व निपुणतादायक पदार्थ। (१९२८)
(स) किसी वस्तु की वर्तमान उपयोगिता और अंतिम उपयोगिता।

४—यदि कोई कुली अथवा मामूली किसान आपके पास अपने खर्च के सुप्रबन्ध के सम्बन्ध में राय लेने आवे तो आप उसे कौन कौन सी व्यावहारिक बातें बताएँगे? (१९२८)

५—खर्च और बचत के सम्बन्ध को समझाइये। साधारण परिस्थिति के व्यक्तियों को कम से कम प्रतिमास कितनी बचत करनी चाहिये।

६—अपनी बचत के धन से सोने चाँदी के गहने बनवा लेना कहाँ तक उचित है?

७—विलासिता की वस्तुओं से क्या तात्पर्य है ? कुछ मनुष्य विलासिता की वस्तुओं के बिलकुल विरुद्ध हैं। क्या वे सही रास्ते पर हैं ? विलासिता से समाज को क्या हानि लाभ होते हैं ? (१९४३)

८—बचत का क्या उद्देश्य है ? आदमी इस बात को कैसे तै करता है कि उसे अपनी आमदनी में से कितना हिस्सा खर्च करना चाहिये और कितना बचाना चाहिये। (१९४३)

आठवाँ अध्याय

उपभोग के पदार्थ

अन्न—अब हम भारत में उपभोग के कुछ पदार्थों के सम्बन्ध में विचार करते हैं। सबसे पहिले हम अन्न को लेते हैं। सन १९२० में पंडित दयाशंकर दुबे ने हिसाब लगाकर यह सिद्ध किया था कि भारत में अनाज की कमी के कारण करीब दो तिहाई देशवासियों को उतना अन्न भी नहीं मिल पाता जितना कि जेलों में कैदियों को दिया जाता है। यहाँ करीब ७ करोड़ व्यक्तियों को आधा पेट भोजन पाकर ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। सन् १९११-१२ से १९३५-३६ तक २५ वर्षों में सम्पूर्ण भारत में अनाज की कमी की वार्षिक औसत करीब ४० करोड़ मन की थी।* आज कल भी जो सरकारी हिसाब लगाया गया है उसके अनुसार देश में अनाज की औसत वार्षिक कमी १०० लाख टन अर्थात् २७ करोड़ मन मानी गई है।

भारत में शाक भोजी भारतवासियों को केवल २८½ सेर गेहूँ और १३२ सेर चावल प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष मिलता है। जबकि मांसभोगी अमेरिका वासी १९२ सेर गेहूँ प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति खा लेते हैं।

अधिकांश भारतवासी गरीबी के कारण गेहूँ और चावल का यथेष्ठ परिणाम में उपभोग नहीं कर पाते। वे प्रायः ज्वार, बाजरा, मकई, चना आदि का अधिक उपयोग करते हैं। प्रति मनुष्य अन्न के होने के उपभोग का औसत आध सेर भी कम है। नई फसल तैयार होने के पहिले अथवा दुर्भिक्ष के समय असंख्य व्यक्ति बेर, महुआ, इमली, गूलर आदि

---

*देखिये भारत में कृषि सुधार दूसरा संस्करण) पृष्ठ ७-८

के बीजो को पीसकर आटे मे मिलाकर खाते है या गाजर, शलगम, प्याज, ककड़ी या आम की गुठली आदि से अपनी भूख मिटाने की चेष्टा करते है। इस अनाज की कमी के कारण देशवासियो के स्वास्थ पर बहुत बुरा असर पड रहा है। उनकी कार्य क्षमता बहुत कम हो गई है और मृत्यु सख्या बहुत बढ गई है। अनाज की कमी कैसे दूर की जा सकती है यह किसी अगले अध्याय मे बताया जायगा।

नमक—यह एक जीवन रक्षक पदार्थ है, भारतवर्ष मे यह काफी पैदा होता है, और इसकी उत्पत्ति सहज ही बढाई भी जा सकती है। विशाल समुद्र-तट, नमक की झील तथा नमक के पहाड़ होने के कारण यहाँ इतना नमक पैदा हो सकता है कि जनता की आवश्यकता सहज ही पूरी हो जाय। तथापि पिछली दशाब्दियो मे यहाँ नमक बाहर से आता रहा है, कारण, अगरेज सरकार स्वाभाविक रूप से पाए जाने वाले तथा आसानी मे बन सकने वाले इस पदार्थ का जनता को स्वेच्छापूर्वक उपभोग नही करने देती थी। वह इस पर अपना एकाधिकार रखती थी। वह समय-समय पर फी-मन आठ आने से, ढाई रुपये मन तक कर लगाती रही। यहाँ अधिकाश आदमी बहुत गरीब है। इसलिये इस पदार्थ के जीवन-रक्षक होने पर भी, कीमत बढ़ते ही इसका उपभोग कम हो गया। अन्य देशो मे नमक के उपभोग का प्रति मनुष्य वार्षिक औसत भारत से बहुत अधिक है। इसकी आवश्यकता आदमियो के लिए ही नही, पशुओ के लिए भी होती है। परन्तु मँहगी के समय भारत के पशुओ की कौन कहे, आदमियो को भी नमक काफी नही मिला। जनता को इस जीवन-रक्षक पदार्थ पर लगने वाला सरकारी कर बहुत अखरता रहा। नेताओ ने इसका निरतर विरोध किया। आखिर, सन् १६४६ मे जब यहाँ केन्द्र मे अन्तरिम सरकार थी, यह कर उठा दिया गया। अब तो भारतवर्ष स्वतन्त्र ही है, और सरकार के लिये लोकहित का ध्यान रखना अनिवार्य है। अब जनता को नमक के उपभोग मे कमी न करनी होगी।

घी-दूध—भारतवर्ष मे अधिकाश आदमी निरामिष-भोजी या शाकाहारी हैं। उनके लिये मुख्य पौष्टिक पदार्थ घी-दूध है। इस देश मे गाय भैसो की सख्या, जनसख्या की दृष्टि से, बहुत कम है। फिर, यहाँ गाय-भैस रखने वाले अधिकतर किसान लोग है। इनकी गाय भैसे जो दूध देती है, वह या तो पास के नगरो मे बिकने चला जाता है, या उसका घी निकाल कर बेचा जाता है। किसानो तथा इनके बच्चो को मट्ठा या छाछ मिल जाय, वही बहुत है घी-दूध की चीजे तो किसी त्योहार या सामाजिक

भोज के अवसर पर नसीब होती है। भारतवर्ष में एक समय था, जब घर-घर गाय-भैंस, और खासकर गाय, होने से किसी को दूध, दही या घी आदि खरीदने की आवश्यकता नहीं होती थी। आज दिन वह है कि दाम देकर भी यह चीजें, विशेषतया शहरों में, शुद्ध और काफी परिमाण में मिलना कठिन होता है।

बच्चों के भरण-पोषण के लिये, रोगियों की चिकित्सा के लिये, और बूढ़ों की शक्ति की रक्षा के लिये गाय का दूध अमृत है। पर सर्व साधारण के लिये दूध है कहाँ! यहाँ प्रति व्यक्ति दूध का दैनिक औसत साढ़े तीन छटाँक है, उसमें से भी सिर्फ एक-तिहाई पीने के काम आता है। नतीजा यह है कि भारतवासियों की शक्ति का ह्रास हो रहा है और उनकी कार्य कुशलता बहुत कम हो रही है। यही नहीं, वे निर्बल और रोगी होने के साथ संसार के अनेक देशों के आदमियों की अपेक्षा, अल्पायु होते हैं— जल्दी मर जाते हैं।

खाँड़ और गुड़—माँस न खाने वाले गरीब मनुष्यों के लिये खाद्य पदार्थों में खाँड ही एक विलास-सामग्री है। यह मिठाइयों में बहुत खर्च होती है, जिन्हें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई और योरोपियन भी जन्मोत्सव, ब्याह-शादी, मृतक-संस्कार अथवा अन्य त्योहारों या दावतों में बहुत खाते हैं। नगरों में बहुत-से विद्यार्थी तथा अन्य पेशे वाले बहुधा मिठाई का नाश्ता करते हैं। सन् १९३२ ई० पूर्व यहाँ विदेशी खाँड की खपत बहुत होती थी। उस वर्ष सरकार ने विदेशी खाँड पर काफी कर लगा कर स्वदेशी खाँड के व्यवसाय को संरक्षण दिया, तब से यहाँ स्वदेशी खाँड अधिक तैयार होने लगी। अब यह पहले की अपेक्षा काफी अधिक खपती है। तो भी बहुत से आदमियों के लिये यह बहुत महँगी है, इसलिये वे इसका उपभोग नहीं कर सकते। इसके तैयार करने की लागत में कमी की जानी चाहिये और इसकी कीमत घटाई जानी चाहिये जिससे इसकी खपत बढ़े।

अस्तु, अभी यहाँ जन-साधारण में गुड़ का ही उपभोग अधिक है, जैसा कि अखिल भारतीय ग्राम-उद्योग संघ द्वारा प्रकाशित सूचना में कहा गया है, स्वास्थ्य की दृष्टि से खाँड की अपेक्षा गुड़ कहीं ज्यादा फायदेमन्द है गुड़ में शरीर के लिये बहुत जरूरी कुछ ऐसे पोषक द्रव्य और जीवन-तत्व रहते हैं, जो खाँड में बिलकुल नहीं रह जाते। गुड़ जल्दी हजम हो जाता है और अकेला भी पेट का आधार हो सकता है, पर खाँड अकेली नहीं खाई जाती। गुड़ खाँड से सस्ता भी है।

गुड़ का प्रचार बढ़ना चाहिये। ऐसा होने से खाँड पर खर्च होने वाला बहुत-सा पैसा गरीब गाँववालों को मिलेगा, जिससे उन्हें बहुत सहायता मिलेगी। जो लोग खाँड खाना न छोड़ सकें उन्हें हाथ की बनी शक्कर का इस्तेमाल करके गरीबों की सहायता करनी चाहिये। सरकारी कृषि-रसायन विशेषज्ञ रायबहादुर डी० एल० सहस्रबुद्धे का मत है कि हिन्दुस्तान में हर साल लगभग तीस लाख टन गुड़ बनता है, यदि उसकी खाँड बनाई जाय तो सिर्फ साढ़े इक्कीस लाख टन ही होगी। कोई कारण नहीं कि साढ़े आठ लाख टन स्वास्थ्यप्रद बढ़िया खाद्य पदार्थ का इस तरह नुकसान किया जाय। हाँ, गुड़ बहुत शुद्ध और साफ बनाया जाना चाहिये।

कपड़ा—भारतवर्ष में विशेषतया चार प्रकार के कपड़ों का उपयोग होता है—(क) विदेशी, (ख) भारतीय मिलों के सूत से मिलों में ही बुना हुआ (ग) भारतीय मिलों के सूत का जुलाहों द्वारा हाथ से बुना हुआ, और (घ) हाथ से कते सूत का हाथ से बुना हुआ खद्दर कपड़ा।

यह सब मिलाकर भी यहाँ बहुत से आदमियों को आवश्यकतानुसार कपड़ा नहीं मिल पाता। प्रति मनुष्य प्रतिवर्ष केवल १६ गज के हिसाब से ही भारतवासियों को कपड़ा मिल पाता है। यह ठीक है कि विवाह-शादी अथवा मेले-तमाशों में कुछ आदमी तरह-तरह के चटकीले भड़कीले और कुछ बढ़िया वस्त्र पहन कर निकलते हैं, एवं सरकारी नौकर अथवा उच्च श्रेणी के कुछ आदमी कपड़ों में फैशन का बहुत ध्यान रखते हैं। परन्तु वास्तविक दशा को जानने के वास्ते तो हमें साधारण आदमियों को साधारण परिस्थिति में देखना चाहिये। भारतीय जनता का वास्तविक प्रतिनिधि यदि कोई हो सकता है तो वह किसान है। और वह क्या पहनता है? गर्मियों के दिनों वह प्रायः 'अर्ध-नग्न' रहता है। एक छोटी-सी, घुटनों से भी ऊपर तक रहने वाली धोती, और सिर पर कभी मामूली पगड़ी होती है। उसके बच्चे बहुधा नंगे फिरा करते हैं। लड़कियाँ भी बहुधा लंगोटी लगाकर अपनी लज्जा निवारण करती हैं। जाड़े के दिनों में बहुत से किसानों या कृषि-श्रमजीवियों के बदन पर केवल एक सूती मिर्जई या अँगरखा होता है, जिसके बदलने का अवसर प्रायः उसके फटजाने पर ही आता है। ऊनी वस्त्रों का तो अभाव ही रहता है। रात्रि में ओढ़ने के लिए एक मामूली रजाई, और बिछाने को पयाल या फूस मिल जाय तो गनीमत है। बहुत-से आदमियों को खेतों पर पहरा देते समय एक फटी-पुरानी चादर में रात काटनी पड़ती है।

यदि किसान और श्रमजीवी अपने अवकाश के समय (जो बहुत काफी होता है) कपास ओटले, और रुई का सूत कातकर कपड़ा बुनवाले तो वह इन्हे मुफ्त-सरीखा पड सकता है। इसमें स्त्रियों के श्रम का भी बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। किसानों के अतिरिक्त, गाँवों तथा नगरों के अन्य आदमियों को भी चाहिए कि यथा-सम्भव खद्दर का ही इस्तेमाल करें, जिससे कपास पैदा करनेवाले, ओटनेवाले, सूत कातनेवाले और कपडा बुननेवाले—इन सब गरीब भाई-बहिनों को सहायता मिले। अस्तु, यदि सर्वसाधारण के लिए कपडे की समस्या का कुछ हल हो सकता है तो विशेष आशा खद्दर के धन्धे की उन्नति से ही हो सकती है।

चाय—इस पदार्थ का उपभोग उत्तरोत्तर बढता जा रहा है, गत वर्षों में इसमें विलक्षण वृद्धि हुई है। इसका शौक पहले उच्च दर्जे के रहन-सहन वाले ही करते थे। धीरे-धीरे युवकों और विद्यार्थियों ने इसे अपना लिया। अब तो साधारण मजदूरों तक में इसका प्रचार खूब जोर से हो रहा है। इसका कारण बहुत-कुछ चाय की कम्पनियों की व्यापार-कुशलता और विज्ञापनबाजी है। जगह-जगह इनके ऐजन्ट घूमते हैं, और ग्रामोफोन के गीत सुनाकर, सिनेमा आदि के चित्र दिखाकर, जहाँ-तहाँ दीवारों पर, स्टेशनों और चौराहों पर सुन्दर बढ़िया रंगीन चित्रवाले विज्ञापन चिपकाकर एवं भिन्न-भिन्न भाषा के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराकर सर्वसाधारण के मन में यह बात बैठाई जाती है कि चाय हरेक आदमी के लिए प्रत्येक ऋतु में स्वास्थ्य-वर्द्धक है यह गर्मी में ठंडक पहुँचाती है, और सर्दी में बदन गरम रखती है। निर्धन नागर वासियों को अब गाय का दूध दुर्लभ होता जा रहा है, और वे इस नये हानिकर पदार्थ का शौक करके सन्तोष प्राप्त करते हैं। अनेक स्थानों में अब यह स्वागत-सत्कार की चीज बन गई है कितने ही आदमी तो प्रति दिन कई-कई प्याले उड़ा जाते हैं।

कई डाक्टरों की सम्मति है कि चाय एक हल्का उत्तेजक पदार्थ है, जो मनुष्य की शक्ति को उसी प्रकार बढाता है, जैसे दुर्बल घोडे की शक्ति को चाबुक या हंटर बढ़ाता है। लोगों को चाहिए कि वे मिथ्या या अत्युक्ति-पूर्ण विज्ञापनों के धोखे में न आवें। यदि उन्हें अपनी शक्ति वास्तव में बढानी है तो दूध, घी फल, मेवा आदि पौष्टिक पदार्थों का सेवन करें, न कि चाय जैसे उत्तेजक पदार्थों का।

तम्बाकू—बहुत से लोगों के लिए तम्बाकू एक आवश्यक पदार्थ हो गया है। नवयुवकों अथवा शौकीनों को हुक्का अच्छा नहीं लगता, वे सिगरेट या बीड़ी पीते हैं, यद्यपि इसका धुआँ हुक्के के धुएँ से अधिक हानिकारक है।

मिलो मे काम करनेवाले तथा अन्य नीचे दर्जे के मजदूर अपने वेतन से चाहे जीवन-रक्षक पदार्थ यथेष्ट मात्रा मे ना पा सके, परन्तु इस शौक के लिए तो पैसे निकाल ही लेते है। बहुतेरे आदमी तम्बाकू पीते नही, तो सूँघते या खाते ही हैं। निदान, बहुत कम आदमी ऐसे मिलेगे, जो इसका बिलकुल ही व्यवहार नही करते। सभव है, कुछ आदमी तम्बाकू का सेवन किन्ही विशेष अवस्थाओं मे, कोई खास बीमारी दूर करने के लिये, औषधि-रूप मे करते हो, परन्तु इनकी सख्या मुश्किल से एक फी-सदी होगी। अधिकाश आदमी देखा-देखी, शौक के लिये, इसका खुद इस्तेमाल, और मित्रो मे प्रचार करते है। बडे-बडे वैद्यो और डाक्टरो का यह मत है कि तम्बाकू खाने, पीने या सूँघने से इन विकारो के होने का भय रहता है—मद-दृष्टि, मुर्च्छा, मुँह मे बदबू, कलेजे मे जलन, छाती मे कफ बढना, दाँतो की कमजोरी, पित्त की वृद्धि, और शरीर की कमजोरी आदि।

देश के जो आदमी इसका सेवन करते है, उनके एक दिन के इस उपभोग का औसत खर्च यदि एक पैसा माना जाय, तो पाठक अनुमान कर सकते है कि देश का कुल कितने करोड रुपया प्रति वर्ष इस मद मे खर्च हो जाता है। एक लेखक ने तो हिसाब लगाकर दिखाया है कि इससे प्रति वर्ष कम-से-कम दो अरब रुपय व्यर्थ जाते है स्वास्थ्य-हानि रही अलग। सिगरेट-बीडी पीनेवालो ने देश मे दियासलाई का भी खर्च बेहद बढा दिया है।

मादक द्रव्य—बहुत से आदमी भाँग, गाँजा चरस और अफीम आदि का सेवन करते है। पश्चिमी सभ्यता के ससर्ग से यहाँ शराबखोरी का प्रचार बढता ही जा रहा है। ऊँची श्रेणी के वे मनुष्य, जो विलायती ढग से रहने लगे है, मद्य-पान से परहेज नही करते। मजदूर, विशेषतया कल-कारखानो मे काम करने वाले, एक-दूसरे की देखा-देखी अपनी बहुत-सी गाढी कमाई इसमे खर्च कर डालते है।

गतवर्षो मे कुछ सज्जन मादक वस्तु-प्रचार-विरोध ('टेम्प्रेस') सभाएँ कायम करके मद्यपान आदि के विरुद्ध लोकमत तैयार करते रहे है, परन्तु कई स्थानो मे, अधिकारियो का यथेष्ट सहयोग न मिलने और विरोध होने के कारण, उन्हे यथेष्ट सफलता नही मिली। अगरेज सरकार मादक पदार्थो के उपभोग को नियत्रित करती थी, परन्तु वह इससे होनेवाली आय की वृद्धि को बुरा नही समझती थी। अनेक स्थानो मे मादक पदार्थ खुले आम बाजार के बीच बिकते रहे है, कोई तीर्थ-स्थान भी इनसे बचा नही रहा।

मजदूरों के लिये बहुधा कारखानों और खानों के पास ही शराब की दुकानों की व्यवस्था रहती थी। इससे ये अभागे अकसर अपना साप्ताहिक वेतन लेकर, घर पहुँचने से भी पहले अपनी गाढ़ी कमाई के पैसे मदिरा देवी की ही भेंट कर देते थे। सन् १९३७-३९ में, जब अधिकतर प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमंडल थे, अनेक स्थानों में सरकार मादक-वस्तु निषेध की नीति अमल में लाई थी। अब तो देश स्वतंत्र ही है केन्द्र में तथा सब प्रान्तों में जनता की सरकार है। परन्तु आमदनी घटने की आशंका से कई प्रान्तों की सरकारों ने मादक पदार्थों का सेवन रोकने की व्यवस्था नहीं की। आवश्यकता है लोक-हित के लिये इस दिशा में हरेक प्रान्त में जल्दी कदम उठाया जाय।

भोजन-वस्त्र का आवश्यक परिमाण—पहले कहा जा चुका है कि अधिकांश भारतवासी या तो यथेष्ट परिमाण में भोजन नहीं पाते अथवा घटिया भोजन से ही किसी तरह काम चलाते हैं। वैज्ञानिकों का मत है कि साधारणतया एक आदमी की औसत दैनिक आवश्यकता निम्नलिखित होती है—अनाज ८ छटाँक, दाल डेढ़ छटाँक, चीनी १ छटाँक, साग भाजी ३ छटाँक, फल १ छटाँक, घी-तेल चार तोले, और दूध जिसमें से मक्खन या मलाई आदि न निकाली गई हो ४ छटाँक, कपड़े के बारे में प्रति व्यक्ति की वार्षिक आवश्यकता का अनुमान कम से कम तीस गज किया गया है।

महात्मा गाँधी के विचार में हर आदमी को साधारण भोजन के साथ-साथ हर रोज आध सेर दूध और दो तोले घी या ढाई तोले मक्खन साग तरकारी और कुछ मौसमी फल मिलने ही चाहिये।

भोजन वस्त्रादि के उपभोग की विधि—उपभोग की वस्तुओं के अतिरिक्त, उपभोग की विधि की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। बहुत से आदमी बढ़िया अन्न तो खाते हैं, पर उनका खाने का तरीका ऐसा है कि उसमें अन्न के कई आवश्यक तत्व नष्ट हो जाते हैं, शरीर को उनका यथेष्ट लाभ नहीं पहुँचता। उदाहरण के लिये आजकल शहरों में ही नहीं, अनेक कस्बों में, और कहीं-कहीं तो गाँवों तक में, आटा पीसने के लिये मिल लग गई हैं। और साधारण श्रेणी के आदमी भी अपने लिये आटा स्वयं न पीस कर, वहाँ पिसवा लाते हैं। मशीन की चक्की की गरमी से आटे के जीवन-तत्व कम हो जाते हैं, और आटा महीन हो जाने से पचने में भारी, तथा स्वास्थ्य के लिये हानिकर, हो जाता है। अतः आटा हाथ की चक्की का ही पिसा हुआ इस्तेमाल करना चाहिये,* तथा उसमें से बहुत छानस या चोकर नहीं निकालना

* जो आदमी आटा स्वयं पीसें, उनके पिसाई के पैसे बचें, तथा

चाहिये, जिससे वह जल्दी हजम हो सके और शरीर को उसके सब पोषक तत्वों का लाभ मिले। बेसन या मैदा बहुत हानिकर वस्तु है।

चावल भी 'पूरा' खाया जाना चाहिये, जो धान का केवल छिलका निकाल देने के बाद शेष रहता है। परन्तु प्राय. इस चावल को घिस कर इसके ऊपर का कुछ हिस्सा घटा दिया जाता है जिससे चावल बहुत सफेद हो जाय और उसमे चमक आ जाय। प्राय: मध्य तथा ऊँची श्रेणी के आदमी एव शौकीन लोग इस 'घटाये हुये' चावल का उपभोग करते है, इससे बहुत सा पोषक तत्व निकल जाता है। यह स्वास्थ्य के लिये अच्छा नही होता। यही बात दालो के विषय मे है। आजकल धोई हुई दाल का प्रचार अधिक हो गया है। छिलकेवाली दाल को, जिसे 'काली' दाल कहते हैं, आदमी कम पसन्द करते है। स्वास्थ्य की दृष्टि से छिलके सहित दाल का सेवन करना अधिक उपयोगी है।

तिल या सरसो का तेल ऐसा इस्तेमाल किया जाना चाहिये, जो कोल्हू या घानी से निकाला गया हो। मिल से निकले हुये तेल मे मूगफली आदि का अन्य सस्ता तेल मिला रहता है तथा वह अधिक समय तक पडा रहने से खराब न हो जाय, इस आशका से उसमे कुछ रासायनिक द्रव्य डाले जाते है। यह स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। घानी या कोल्हू से निकाला हुआ तेल बारीकी से न छाने जाने के कारण उतना साफ नही होता, पर उसमे जो चीज रहती है, वह उन दानो का ही अश होता है, जिनसे तेल निकला है, अत. स्वास्थ्य के वास्ते हानिकर नही है।*

तली हुई चीजे, अथवा जिनमे खटाई मिर्च मसाले बहुत हो, शरीर के लिये हानिकर होती है। इनका उपयोग नही किया जाना चाहिये। शौक या जिह्वा के स्वाद के लिये स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाना ठीक नही।

वस्त्र के विषय मे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि हमारे कपडो के रग बहुत चटकीले भडकीले न हो ये आँखो के लिये हानिकारक है।

व्यायाम का लाभ होगा। यह व्यायाम विशेषत: स्त्रियो के लिये बहुत उपयोगी है। और, जो व्यक्ति आटा दूसरो से पिसायेंगे, वे पीसनेवालो की सहज ही आर्थिक सहायता कर सकेंगे।

*मिल की खली निस्सत्व होती है, पर घानी या कोल्हू की खली पशुओ के लिये बहुत अच्छा पौष्टिक भोजन है, इस प्रकार घानी के तेल से यह भी लाभ है। इसके धन्धे मे गरीब आदमियो को रोजी तो मिलती ही है।

वास्तव में हमारे भोजन-वस्त्र आदि का मन पर बहुत प्रभाव पड़ता है, और सात्विक रहनसहन का मानसिक उन्नति से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि 'सादा जीवन और उच्च विचार', एक कहावत ही हो गई है।

उपभोग के पदार्थों के शुद्ध होने की आवश्यकता—आजकल हम बहुत-सी ऐसी वस्तुओं का उपभोग करते हैं, जो बाजार से मोल लाई जाती हैं, घर पर नहीं बनाई जातीं। शहरों में पूरी कचौरी और मिठाई आदि का ही कितना खर्च हो जाता है! हमारे उपभोग की कितनी वस्तुएँ तो दूर-दूर के नगरों में ही नहीं, अन्य देशों में आती हैं। और, अनेक आदमी अपने लाभ के लिये बहुत पुरानी, घटिया या मिलावट वाली चीजों को अच्छी, ताजी और बढ़िया कह कर बेचते हैं। मिलावटवाले तेल, और चमकाए हुये चावल का जिक्र पहले किया गया है। अनेक स्थानों में हल्दी, सोंठ, इलायची और दाल आदि का खास तरह से रंग कर बेचा जाता है। कई मिठाइयों में भी रंग डाला जाता है। बाजारों में शुद्ध घी-दूध मिलना तो कठिन ही होता है। गेहूँ के आटे में अन्य घटिया आटा मिला होना साधारण बात है। कहाँ तक गिनावें, करीब-करीब सभी चीजों में मिलावट की आशंका होने लगी है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यों को, किसी वस्तु के उपभोग से जितना लाभ या सुख मिलना चाहिये, नहीं मिल पाता। बहुत आवश्यकता है कि उपभोक्ता प्रत्येक वस्तु को खूब जाँच करने के बाद लें, बाजार की चीजों का उपयोग ही कम हो, और, कानून से, तथा नागरिकता की शिक्षा द्वारा, उपभोक्ताओं के हित की समुचित व्यवस्था की जाय।

भारतवासियों के मकान—भारतवर्ष में औसतन प्रति पाँच मनुष्यों पीछे एक घर है कस्बों तथा देहातों में, यह औसत लगभग समान ही है। यह ठीक है कि बम्बई, कलकत्ता और देहली आदि में कितने ही मकान शाही महलों की भाँति भव्य और विशाल हैं, कुछ देशी राज्यों की राजधानियों में भी स्वयं राजाओं तथा उनके उच्च कर्मचारियों या कृपा-पात्रों आदि के मकान साधारण दर्शक को चकित करनेवाले हैं। परन्तु सब मिलाकर, ये भारतवर्ष के कुल मकानों में प्रति सहस्र या प्रति लाख कितने हैं! नगरों में कुछ थोड़े-से सौभाग्यशाली व्यक्तियों को छोड़ कर, सर्वसाधारण को मकान की कितनी असुविधा है, यह सब जानते हैं। मकानों की संख्या कम, उनका किराया बहुत अधिक, और अधिकतर आदमियों की आय मामूली! इसका परिणाम यह होता है कि बहुत से आदमी तंग, और अंधकार वाली गलियों के छोटे-छोटे मकानों में रहते हैं, एक कमरे में कई-कई आदमियों को रहना पड़ता है अथवा एक ही कमरे में एक से अधिक परिवारों को गुजर करनी

पडती है। बड़े-बडे शहरो मे मिलो और कारखानो ने श्रमियो के लिये मकानो की अलग ही समस्या उपस्थित कर रखी है। बम्बई के औद्योगिक क्षेत्रो मे एक आदमी को रहने के लिये औसतन २८ वर्ग फुट जगह मिलती है, जब कि स्वास्थ्य की दृष्टि से उसे १०० वर्ग फुट मिलनी चाहिये। पाकिस्तान से आये हुये शरणार्थियो के कारण कितने ही शहरो मे इस समस्या ने और भी उग्र रूप धारण कर लिया है।

अब तनिक देहातो के मकानो की बात ले भारतवर्ष अधिकाश मे देहातो का ही देश है। यहाँ कुछ जमीदारो या महाजनो के घर कुछ बडे, दुमजिले और पक्के है, मध्य श्रेणी के आदमी भी क्रमश. पक्के मकान बनवा रहे है। यह होते हुये भी सर्वसाधारण के मकानो की क्या दशा है! बहुत से मकान कच्चे है, जिनकी प्रति वर्ष, बरसात से पहले मरम्मत करने की जरूरत होती है, अन्यथा वे टपकते है, और दो-तीन साल बाद तो गिरने ही लगते है। अधिकाश घरो मे रसोई के लिये अलग कोठरी नही होती, पशु भी वहाँ ही रहते है। इससे होनेवाली असुविधा एव स्वास्थ्य हानि स्पष्ट है।

हमारे अनेक भाई तो फूस की झोपडियो म ही जैसे-तैसे गुजर करते है, जहाँ धूप, सर्दी और वर्षा सभी सहनी पडती है। इन झोपडियो के भीतर जाते समय तथा इनसे निकलते हुये आदमियो को सिर नवाना और कमर झुकानी पड़ती है, दुर्भाग्य से इनमे रहनेवालो का सिर समाज मे सदैव ही नीचा रहा है। फिर, शहरो और गाँवो मे अनेक आदमी ऐसे है जिनका अपना कोई घर या झोपडी नही, जो जहाँ तहाँ फिरते रहते है, और रात मे सडको के किनारे पडे रह कर अपना समय काटते है।

कुछ समय से मकानो की समस्या हल करने के विविध प्रयत्न हो रहे है। कही-कही मिलो के पास ही मजदूरो की बस्तियाँ बन रही है। मिल-मालिको को मजदूरो के लिये मकान बनवाने से लाभ ही है, ऐसा होने पर मजदूरो की कार्यक्षमता बढती है। परन्तु अधिकाश स्थानो मे मिले नगरो के बीच मे है, उनके पास जगह न होने के कारण वे मजदूरो के लिये मकान नही बना पा रही है। प्रान्तीय सरकारे खास-कर शरणार्थियो के लिये मकान बनाने का काम हाथ मे ले रही है कुछ शहरो की म्युनिसपेलटियाँ अपने क्षेत्र मे नये मकान बना रही है अथवा उप-नगरो का निर्माण कर रही है। कितने ही स्थानो मे सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ काम कर रही है। यह सब होते हुए भी अभी विशेष प्रगति नही हुई है। इसका एक मुख्य कारण काफी इमारती

सामान (ईटें, लकड़ी, लोहा, सीमेंट आदि) का न मिलना है। सीमेंट की बात लीजिये, इस समय यह प्रति वर्ष १८ लाख टन ही बनता है, जब कि आवश्यकता ५० लाख टन की है । अब इस उद्योग के बढाने का प्रयत्न किया जा रहा है। तथापि अभी देश की आवश्यकता पूरी होने में समय लगेगा।

घरो का सामान—हमने घरों की स्थिति देख ली, अब यह भी जान ले कि घरो मे सामान कैसा रहता है। कुछ राजा-महाराजाओ, या पूंजीपतियो, सेठ साहूकार या जमींदारो, ताल्लुकेदारो, वकीलो या उच्च सरकारी नौकरो के घरो के सामान की सूची अवश्य कुछ लम्बी होती है। परन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, इनकी सख्या कुल भारतीय जनता के हिसाब से बहुत ही कम है। मध्य श्रेणी के भी कुछ आदमियो को अपने घरो मे 'फर्नीचर' बढाने की फिक्र होती है। बहुत से आधुनिक शिक्षा-प्राप्त युवको के यहाँ मेज, कुर्सी आदि होना साधारण बात है। रसोई के साधारण बरतनो के अतिरिक्त 'कुकर' 'स्टोव' (जिसमे मिट्टी के तेल की आँच मे खाना पकाया जाता है) 'टिफन-केरियर', (भोजन रखने का बरतन) भी होते है । कपड़े रखने के लिये सन्दूको की जगह बडे-बडे ट्रन्क, आलमारी, 'हड-बेग' तथा सोने के वास्ते साधारण चारपाइयो की जगह लोहे के स्प्रिंगदार बढिया 'कोच' (पलग) होते है। रोशनी के लिये लालटैन या तरह-तरह के लैंपो का प्रचार हो रहा है, और अब तो बिजली की व्यवस्था हो जाने से, उसके 'बल्ब' रखे जाते है। मनोरजन के लिये बडे-बडे रगीन चित्र, तथा ग्रामोफोन या हारमोनियम आदि का उपयोग होता है। फुटकर सामान—आइना, हजामत का सामान, चायदानी, तश्तरी, प्लेट, प्याले या 'कप', कुछ पुस्तके, पूजा का सामान आदि भी क्रमश. अधिक परिमाण मे रहने लगा है। परन्तु अधिकतर आदमियो के साधन परिमित होते है, और उनका बहुत-सा सामान ज्यादहतर दिखावट के लिये होता है।

भारतीय जनता का अधिकाश भाग गाँवो मे रहनेवाले कृषक हैं। इनके यहाँ खेती के औजारो के अतिरिक्त, साधारण कीमत की कुछ इनी-गिनी वस्तुएँ—चक्की, चर्खा, सूप, चारपाई, या चटाई, और कुछ मिट्टी के घडे होते है, जिनमे अनाज या आटा दाल आदि होता है। भोजन पकाने और खाने के लिये ये कुछ मिट्टी के बरतन, अथवा कुछ दशाओ मे पीतल आदि के मामूली बरतन रखते हैं। पानी के वास्ते एक लोहे या टीन का डोल या बाल्टी, कुछ मिट्टी के घडे, और कही-कही एकाध पीतल का हन्डा होता है। आजकल कुछ आदमी लैंप या लालटेन का

उपयोग करते जा रहे हैं, अब से कुछ समय पहले तक अधिकांश आदमी मिट्टी के दिये से ही काम चलाते थे, जिसमें सरसों का तेल जलता है। कुछ सस्ता होने के कारण, मिट्टी के तेल का प्रचार बढ़ रहा है, जिसका धुआँ बहुत हानिकारक होता है। कितने ही घरों में तो किसी भी प्रकार रोशनी करने का साधन नहीं होता। अनेक आदमियों में इतनी सामर्थ्य नहीं कि महीने में कुछ पैसों का भी तेल जला सकें।

धनी और सम्पन्न गिने जानेवाले बम्बई, कलकत्ता, देहली और इन्दौर आदि नगरों में भव्य विशाल भवनों के बरांडों में, या छज्जों के नीचे अनेक ऐसे घर-हीन दरिद्र रहते हैं, जिनका कुछ सामान एक फटे-पुराने कपड़े की छोटी-सी पोटली में लिपटा होता है। इस सामान के परिमाण या प्रकार का पाठक स्वयं अनुमान करलें।

सामूहिक उपभोग के पदार्थ—अब सामूहिक रूप से उपभोग किए जाने वाले पदार्थों के विषय में विचार करते हैं। यद्यपि गत वर्षों में कुछ प्रगति हुई है, तो भी शहरों को छोड़ कर, जिनकी कुल जनसंख्या कम ही है, हमारे कितने कस्बों या ग्रामों में सरकारी या गैर-सरकारी वाचनालय और पुस्तकालय हैं। यह ठीक है कि देश में शिक्षा-प्रचार कम है, पर उसके बढ़ाने का भी तो एक उपाय यही है कि स्थान-स्थान पर ये संस्थाएँ कायम की जाएँ। उद्यान (पार्क), व्यायामशाला, क्रीडा-शालाएँ आदि कितने स्थानों में हैं। शहरों में चल-चित्र और वाक्-पट ('टाकी') बढ़ रहे हैं, पर उनका मुख्य लक्ष्य जनता का द्रव्य खींचना है। हमारे लाखों गाँवों और कस्बों में से कितनों में चिकित्सालय, दवाखाने या औषधालय हैं। यात्रियों को समुचित आश्रय मिलने की व्यवस्था कितने स्थानों में है। यह ठीक है कि विशेषतया तीर्थ-स्थानों में कुछ धर्मशालाएँ बनी हुई हैं, पर इन स्थानों में भी उत्सवों या पर्वों के समय सहस्रों आदमी खुले मैदान में डेरा डाले हुए देखे जाते हैं। इन बातों से इस विषय की कुछ कल्पना हो सकती है कि हम कैसे पदार्थों का, और कहाँ तक व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से उपभोग करते हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारत में अनाज की दशा का दिग्दर्शन कीजिये प्रति मनुष्य को प्रतिदिन कितने अनाज की आवश्यकता है और कितना अनाज साधारणतः मिल पाता है?

२—आजकल भारतवासियों को औसत के हिसाब से कितना दूध मिल पाता है ? प्रति-व्यक्ति प्रति दिन आध सेर दूध मिलने के लिये दूध की उत्पत्ति में कितनी वृद्धि करनी होगी ?

३—देश में प्रति व्यक्ति को औसत के हिसाब से वर्ष भर में १६ गज से अधिक कपड़ा नहीं मिल पाता। क्या यह परिमाण पर्याप्त है ? कम से कम कितना कपड़ा आवश्यक है ?

४—चाय और तम्बाकू के प्रचार से देशवासियों को जो हानियें होती हैं उनका दिग्दर्शन कीजिये।

५—मादक वस्तुओं के उपयोग से क्या हानियें होती हैं ? इनका प्रचार कैसे रोका जा सकता है ?

६—सादे जीवन के लिये किस प्रकार के भोजन के पदार्थों और कपड़ों की आवश्यकता है ? आजकल भारत में इस सम्बन्ध में क्या प्रयत्न हो रहे हैं ?

७—भारतवासियों के मकानों की क्या दशा है ? मकानों में किन सुधारों की आवश्यकता है ?

८—ग्रामों में वाचनालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, व्यायामशाला इत्यादि की क्या दशा है ?

नवाँ अध्याय

माँग (Demand)

उपभोग के लिए मनुष्यों को विविध वस्तुओं की आवश्यकता होती है। हम बहुधा सुनते हैं कि अमुक वस्तु की माँग बढ़ गयी, या अमुक वस्तु की माँग घट गयी। हमें विचार करना चाहिये कि वस्तुओं की माँग किन कारणों से बढ़ती अथवा घटती है और उसका क्या नियम है। पहले हम यह जान लें कि अर्थशास्त्र में माँग किसे कहते हैं, यद्यपि साधारण व्यवहार में इच्छा, आवश्यकता और माँग शब्द प्रायः समान अर्थ में प्रयुक्त किये जाते हैं अर्थशास्त्र में इनका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। इच्छा और आवश्यकता के सम्बन्ध में, इस खण्ड के दूसरे अध्याय में लिखा जा चुका है। किसी वस्तु की माँग से इच्छित वस्तु के उस परिमाण का बोध होता है जिसको कोई

मनुष्य, किसी खास समय मे, किसी निश्चित कीमत पर खरीदने को तैयार हो। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि किसी बच्चे को उसके पिता ने एक आना दिया। उसने बाजार जाकर नारगियॉ देखी। उसकी नारगी खरीदने की इच्छा हुई। पूछने पर उसे मालूम हुआ कि एक नारगी की कीमत दो पैसा है। उस लडके ने दो नारंगियॉ खरीद ली। अब यहॉ पर हम कह सकते हैं कि लड़के को नारगी की मॉग थी। हम उस मॉग को इस प्रकार बतलाते है कि जब फी नारगी की कीमत दो पैसा है तो उस लडके को उस समय, उस कीमत पर दो नारगियो की मॉग है। मॉग और कीमत का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना कीमत के मॉग हो ही नही सकती। अर्थशास्त्र के अनुसार हम यह नही कह सकते कि अमुक व्यक्ति को ५०० नारगियो की मॉग है जब तक हम नारगी की कीमत उसके साथ न जोडे। हम कह सकते हैं, नारगियो की दर दो रुपया सैकडा हो तो किसी मनुष्य की मॉग उस समय पॉच सौ है।

मॉग कीमत पर निर्भर होती है, और किसी वस्तु की कीमत उसका द्रव्य के रूप मे मूल्य होता है, अतः मॉग के नियम को समझने के लिये हमे ज्ञात होना चाहिये कि अर्थशास्त्र मे मूल्य, कीमत और द्रव्य का क्या अर्थ होता है।

मूल्य—इस शब्द का व्यवहार दो प्रकार से किया जाता है। कभी कभी मूल्य शब्द का प्रयोग उपयोगिता के अर्थ मे भी किया जाता है। जैसे हम कहते हैं कि अमुक वस्तु बहुमूल्य है। लेकिन यह अर्थ गौण है। अर्थशास्त्र मे इस प्रकार के मूल्य के लिये हम उपयोगिता शब्द का उपयोग करते है।

मूल्य (Value) शब्द का प्रधान अर्थ विनिमय मूल्य होता है। जब हम किसी एक वस्तु के बदले मे एक दूसरी वस्तु को लेते हैं तो दूसरी वस्तु का परिमाण पहली वस्तु का मूल्य कहलाता है। जैसे अगर हम एक गाय के बदले तीन बकरियॉ ले ले तो उस गाय का मूल्य तीन बकरियॉ हुआ। यह व्यावहारिक मूल्य भी कहलाता है। इस मूल्य की नीव उपयोगिता मे होती है, क्योकि जब किसी मनुष्य की दृष्टि मे तीन बकरियो की उपयोगिता एक गाय से अधिक या कम से कम उसके बराबर न हो, और उसके होश हवास दुरुस्त हो तो वह एक गाय के बदले तीन बकरियॉ कभी न लेगा।

कीमत—किसी वस्तु की एकाई का द्रव्य के रूप मे मूल्य उसकी कीमत price कहलाती है। अगर हमे एक गाय साठ रुपये मे प्राप्त होती है, तो ६० रु० गाय की कीमत हो गयी।

पहले जमाने में रुपया-पैसा विनिमय का माध्यम नहीं था, तब वस्तुओं की अदल-बदल से काम लिया जाता था। लेकिन इससे बहुत असुविधा होती थी। इस असुविधा को दूर करने के लिये रुपया पैसा विनिमय का ऐसा माध्यम निकाला गया जो सब लोगो को रुचिकर है और जिससे वस्तुओं के क्रय-विक्रय मे बहुत सुविधा हो गयी है। आज कल के व्यवहार और व्यवसाय मे किसी भी वस्तु का मूल्य द्रव्य मे ही प्रकट किया जाता है।

द्रव्य—वह वस्तु जो विनिमय का माध्यम हो, द्रव्य (money) कहलाती है। इससे विनिमय बडी आसानी से हो सकता है। प्राचीन काल मे जब कि द्रव्य का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब मनुष्यो को अपनी आवश्यकता की वस्तुओ को प्राप्त करने मे बड़ी दिक्कत होती थी। उनको किसी ऐसे आदमी को ढूँढना पडता था, जिसके पास उसकी आवश्यकता की वस्तुयें हो, और जिसको उसकी वस्तुओं की आवश्यकता हो। अब द्रव्य के माध्यम से लोग अपनी वस्तुओ के बदलने मे द्रव्य प्राप्त करके, फिर द्रव्य के विनिमय से अपनी आवश्यकीय वस्तुओ को प्राप्त करते हैं। आज कल ससार मे धात्विक और कागजी दोनो ही प्रकार के द्रव्य का चलन है। धात्विक द्रव्य के सिक्कों का वजन और शक्ल किसी देश की सरकार द्वारा निश्चित की जाती है। कागजी द्रव्य का सचालन भी सरकार ही करती है। अधिकतर कागजी द्रव्य विनिमय-साध्य होते हैं अर्थात् सरकार कागजी द्रव्य के बदले धात्विक द्रव्य देने का वादा करती है। कोई-कोई कागजी द्रव्य अत्यधिक परिमाण मे चलाये जाने के कारण विनिमय साध्य नहीं भी होते।

मॉग का नियम—मूल्य, कीमत और द्रव्य का पारिभाषिक अर्थ जान लेने पर अब हम मॉग के नियम का विचार करते हैं।

हम जानते हैं कि यदि जब कि नारगियाॅ दो-दो पैसे मिलती हैं, हम दो नारगी खरीदते हैं, तो जब कि नारगियाॅ एक एक पैसे मिलने लगे, सम्भव है हम पाॅच नारगियाॅ खरीद ले। बात यह है कि जब हम किसी वस्तु को अधिक अधिक परिमाण मे खरीदते हैं तो क्रमशः उस वस्तु की उपयोगिता कम होती जाती है। पहिली नारगी से दूसरी नारगी की उपयोगिता कम होगी, तीसरी की दूसरी से कम होगी और इस प्रकार दसवी की बहुत ही कम होगी। इसलिये हम शायद पहिली नारगी के लिये एक आना देने को तैयार हो जावे लेकिन दसवी के लिये एक आना कभी नहीं देगे। शायद जब दुकानदार एक पैसे मे एक नारगी दे तो हम पाॅच खरीद ले। अब हम कह सकते है कि जब नारगियो की कीमत एक आना फी नारगी हो तो हमारी

मॉग एक नारगी है, जब उसकी कीमत दो पैसा फी नारगी हो तो हमारी मॉग दो है और जब एक पैसा फी नारगी हो तो हमारी मॉग पॉच नारगियॉ है। यहॉ पर स्पष्ट हो गया कि जैसे जैसे नारगियो की कीमत घटती गई वैसे वैसे मॉग बढ़ती गई। इसी प्रकार जैसे जैसे नारगियो की कीमत बढती जायगी, वैसे वैसे उसकी मॉग घटती जायगी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मॉग का घटना बढना साधारणतः कीमत के बढने घटने पर निर्भर रहता है। बस, मॉग का नियम (Law of Demand) यही है कि जब किसी वस्तु की कीमत घट जाती है तो उस वस्तु की मॉग बढ जाती है, और जब उसकी कीमत बढ जाती है तो मॉग घट जाती है, बशर्ते कि अन्य सब बाते पूर्ववत रहे।

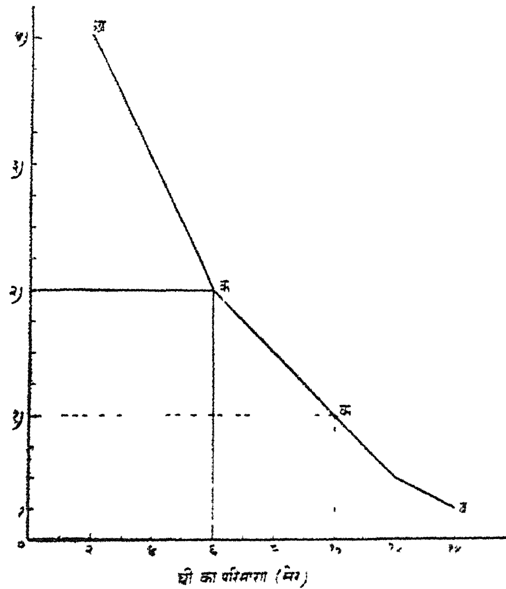
मॉग के नियम के ये शब्द "बशर्ते की अन्य सब बाते पूर्ववत रहे" बड़े महत्व के हैं। यह नियम किसी निश्चित समय और परिस्थिति पर निर्भर है। जैसे गर्मी के दिनो मे नारगी की उपयोगिता जाडो की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिये यह मुमकिन है कि गर्मियो मे एक आने फी नारगी के भाव पर हम दो या तीन नारगियॉ खरीद ले और जाड़ो मे इस भाव पर एक भी न खरीदे। जब किसी मनुष्य की आमदनी अचानक बढ जाती है तो द्रव्य की सीमात-उपयोगिता उसके लिये कम हो जाती है। इस दशा मे किसी वस्तु की कीमत वही रहने पर अथवा बढ जाने पर भी वह उस समय की अपेक्षा उसे अधिक सख्या मे खरीदेगा, जब कि उसकी आय कम थी।

मॉग की सारिणी (Demand Schedule) **और मॉग की रेखा** (Demand Curve)—अगर हम किसी कोष्ठक मे भिन्न कीमतो पर किसी वस्तु की भिन्न भिन्न मॉग का परिमाण दर्शाये तो हम उसे उस वस्तु की मॉग की सारिणी कहते हैं। हम यह जानते है कि वस्तु की कीमत के घटने बढने पर उसकी मॉग भी क्रमशः बढती और घटती है। जब हम इस बात को किसी तालिका द्वारा प्रगट करते हैं तो उसको उस वस्तु की मॉग की सारिणी कहते है। प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक वस्तु के लिये, प्रत्येक काम के लिए, भिन्न भिन्न मॉग की सारिणी होती है। नीचे एक मनुष्य की घी की मासिक मॉग की सारिणी का नमूना दिया जाता है।

इस मॉग की सारिणी को जब रेखाचित्र द्वारा प्रगट किया जाता है तो उसको "मॉग का रेखाचित्र" कहते है। उपरोक्त मॉग की सारिणी का रेखाचित्र नीचे दिया जाता है।

कीमत	घी की मासिक माँग
५) प्रति सेर	२ सेर
३) ,,	४ ,,
२) ,,	६ ,,
१) ,,	१० ,,
॥) ,,	१२ ,,
।) ,,	१४ ,,

इस रेखाचित्र में अ ब रेखा को माँग की रेखा कहते हैं। इस रेखाचित्र से मालूम होता है कि जब घी की कीमत २) प्रति सेर थी तो उसकी माँग ६



सेर थी। जब घी की कीमत १) प्रति सेर हो गई तो उसकी माँग १० सेर तक बढ़ गई। माँग की इस वृद्धि को माँग का प्रसार कहते हैं। इससे माँग का नियम सिद्ध होता है।

समाज की माँग की सारिणी—अगर हम किसी समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति की (किसी वस्तु की) माँग की सारिणी का योग करे तो हमको उस जन-समुदाय की माँग की सारिणी प्राप्त हो सकती है। लेकिन यह बहुत मुश्किल काम है, क्योकि प्रत्येक मनुष्य की माँग की सारिणी को प्राप्त करना मुमकिन नही है। इससे एक आसान तरीका और है, वह इस प्रकार है :—

(१) समाज को वार्षिक आय के अनुसार भिन्न भिन्न भागो मे विभाजित कीजिये—जैसे २०) रु० से ५०) रु० मासिक आमदनी तक का प्रथम भाग इत्यादि।

(२) हर एक भाग मे परिवारो की सख्या ढूँढ निकालिये।

(३) प्रत्येक भाग से एक औसत परिवार को छाँट निकालिये और इस प्रत्येक औसत परिवार की किसी वस्तु की माँग की सारिणी बना लीजिये।

(४) प्रत्येक भाग के औसत परिवार की माँग की सारिणी को उस भाग के कुल परिवारो की सख्या से गुणा करके प्रत्येक भाग की माँग की सारिणी प्राप्त कर लीजिये।

(५) सब भागो की माँग की सारिणी जोड़कर कुल समाज की माँग की सारिणी बना लीजिये।

मान लीजिये कि किसी एक काल्पनिक समाज मे २६००० व्यक्ति है, जिनमे से अ हिस्से मे १०००, ब हिस्से मे ५००० और स हिस्से मे २०,००० व्यक्ति हैं तो कुल समाज के घी की मासिक माँग की सारिणी इस प्रकार होगी :—

कीमत	समाज की मासिक माँग (सेरो मे)			
प्रति सेर	अ	ब	स	कुल
१०)	१,००० +	० +	० =	१०००
८)	२,००० +	५,००० +	० =	७,०००
६)	४,००० +	१०,००० +	२०,००० =	३४,०००
५)	६,००० +	१५,००० +	४०,००० =	६१,०००
४)	८,००० +	२५,००० +	६०,००० =	९३,०००
३)	१०,००० +	३५,००० +	८०,००० =	१२५,०००
२)	१२,००० +	४०,००० +	१००,००० =	१५२,०००
१)	१५,००० +	५०,००० +	१२०,००० =	१८५,०००

कुल समुदाय की माँग की सारिणी का रेखाचित्र, प्रत्येक हिस्से के रेखा-चित्रों को जोड़ कर बनाया जा सकता है, या वह जनसमुदाय की सारिणी के अंकों से भी उसी प्रकार बनाया जा सकता है जिस प्रकार एक मनुष्य की माँग की रेखा का चित्र बनाया जा चुका है।

माँग की प्रबलता और शिथिलता—जब हम किसी परिस्थिति के कारण उसी कीमत पर पहले की अपेक्षा अधिक परिमाण मे उस वस्तु को खरीदते हैं या उससे अधिक कीमत पर उतनी ही या अधिक परिमाणों में उस वस्तु को खरीदते हैं तो हमारी माँग उस वस्तु के लिये बढ जाती है। इस प्रकार से माँग के बढने को 'माँग की प्रबलता' (Intensification of Demand) कहते हैं। लेकिन जब कीमत कम होने से माँग बढ़े तो उसे 'माँग का प्रसार' (Expansion of Demand) कहते हैं। जब कोई वस्तु फैशन मे आ जाती है या मनुष्य की आदत बदल जाने से किसी वस्तु की उपयोगिता बढ जाती है तो उस वस्तु की माँग प्रबल हो जाती है। इसी प्रकार किसी मनुष्य की आमदनी बढ जाने से भी किसी वस्तु की माग का परिमाण उसी कीमत पर बढ जाता है। इसको भी माँग की प्रबलता कहते हैं। किसी वस्तु की माँग की प्रबलता उस वस्तु की कीमत बढने का एक कारण होता है। परन्तु माँग का प्रसार कीमत के कम होने का फल है।

इसी प्रकार से इसके विपरीत 'माँग की शिथिलता' (Weakening of Demand) किसी वस्तु के फैशन के बाहर चले जाने से या मनुष्य की आदत बदलने पर किसी वस्तु की उपयोगिता घट जाने से या आमदनी मे कमी हो जाने से होती है। ऐसी स्थिति मे कोई मनुष्य उसी कीमत पर पहले की अपेक्षा कम खरीदता है या कीमत घट जाने पर भी उतने ही या उससे कम परिमाण मे उस वस्तु को खरीदता है। इसमे माँग की घटी से यह भिन्नता है कि माँग की घटी कीमत बढने से होती है, लेकिन माँग की शिथिलता से कीमत मे कमी होने की सम्भावना रहती है।

किसी मनुष्य की आमदनी कम हो जाने के कारण अथवा किसी वस्तु के फैशन से निकल जाने के कारण उसकी माँग शिथिल हो जाती है। वस्तु की माँग शिथिल हो जाने से उसका मूल्य कम हो जाता है और उसकी उत्पत्ति के परिमाण मे भी कमी हो जाती है।

माँग की लोच (Elasticity of Demand)—माँग के नियम से यह स्पष्ट है कि कीमत मे परिवर्तन होने से किसी वस्तु की माँग मे अन्तर हो जाता है। माँग के इस गुण को अर्थशास्त्र मे 'माँग की लोच' कहते

है। जब कीमत मे थोडा सा परिवर्तन होने से—कीमत के कुछ बढने से या कुछ घटने से—किसी वस्तु की माँग मे बहुत परिवर्तन हो जाता है, अर्थात् वह अधिक घट बढ जाती है, तो उस वस्तु की माँग लोचदार (Elastic) कही जाती है।

ज्यों ज्यो किसी वस्तु का सग्रह हमारे पास अधिक होता जाता है, त्यों त्यों —अगर और सब बाते पूर्ववत् रहे—उपयोगिता-ह्रास नियम के अनुसार उस वस्तु की चाह कम होती जाती है। कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जिनका अधिक सग्रह होने पर उनकी चाह धीरे धीरे कम हो जाती है। ऐसी अवस्था मे अगर उस वस्तु की कीमत कुछ घट जाय तो उसकी माँग मे बहुत कम वृद्धि होगी। इसके विपरीत अगर उस वस्तु की कीमत बढ जाय तो भी माँग मे बहुत कुछ अधिक क्षति न होगी। इस वस्तु के लिए हम कह सकते हैं कि इसकी माँग मे लोच कम है। लेकिन अगर किसी वस्तु की चाह बड़ी तेजी से कम हो जावे तो उस वस्तु की कीमत थोड़ी सी घट जाने पर उसकी माँग बहुत बढ जावेगी, और कीमत के थोडा बढ जाने पर माँग भी बहुत कम हो जावेगी। ऐसी अवस्था मे हम कह सकते हैं कि उस वस्तु की माँग मे लोच अधिक है।

जब कि कीमत मे कुछ अन्तर पडने से माँग मे बहुत अन्तर—अधिक वृद्धि अथवा अधिक क्षति—हो जाती है तो माँग अधिक लोचदार कही जाती है। परन्तु जब कीमत मे थोडा सा अन्तर होने पर माँग मे कम अन्तर—कम वृद्धि अथवा कम क्षति—होती है तो माँग कम लोचदार कही जाती है।

माँग की लोच कीमत के साथ साथ बदलती रहती है। साधारणतः किसी एक दर्जे के मनुष्यों के लिए किसी वस्तु की माँग की लोच ऊँची कीमत पर अधिक, मध्यम कीमत पर उससे कुछ कम होती है, और ज्यों ज्यो कीमत घटती जाती है और तृप्ति बढती जाती है त्यों त्यों माँग की लोच कम होती जाती है, यहाँ तक कि एक ऐसा अवसर आ जाता है कि जब माँग मे लोच बिलकुल नही रहती। यहाँ पर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि प्रत्येक दर्जे के मनुष्यों के लिये ऊँची, मध्यम और कम कीमत अलग अलग होती है। पाच रुपया सेर घी धनी मनुष्यों के लिए कम कीमतवाला, मध्यम श्रेणी के मनुष्य के लिए मध्यम कीमत वाला और निर्धन श्रेणी मनुष्य के लिये ऊँची कीमत वाली हो सकता है। इसलिए किसी वस्तु की ऊँची, मध्यम और कम कीमत किसी खास श्रेणी के मनुष्यो के सम्बन्ध मे ही समझनी चाहिये।

भिन्न भिन्न वस्तुओ के लिए माँग की लोच भी भिन्न भिन्न होती है।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि भिन्न भिन्न श्रेणी के मनुष्यों के लिए एक ही वस्तु की माँग की लोच भिन्न भिन्न होती है। भिन्न भिन्न वस्तुओं की माँग की लोच भिन्न भिन्न श्रेणी के मनुष्यों के लिए जानने के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं।

पहिले हम विलासिता की उन वस्तुओं को लेते हैं जिनकी कीमत बहुत अधिक है—जैसे मोटरकार। अगर मोटरकार की कीमत ८०००) रु० से घट कर ५०००) रु० हो जावे तो बहुत से धनी लोगों में उसकी माँग बढ जावेगी इसलिए मोटरकार की माँग धनी लोगो में लोचदार हुई। लेकिन मध्यम श्रेणी के और निर्धन लोगो के लिए इसकी माँग बिला लोच की ही रही। क्योंकि कीमत घट जाने पर भी उनके लिए यह कीमत इतनी ऊँची है कि वे लोग मोटर नही खरीद सकते हैं।

अब विलासिता की उन वस्तुओं को लीजिए जिनकी कीमत बहुत अधिक नहीं है—जैसे घडी। अगर घडी की कीमत १००) रु० से घट कर ५०) रु० हो जावे तो बहुत से मध्यम श्रेणी के लोगों की माँग घड़ियों के लिए बढ जावेगी। इसलिए घड़ियों की माँग मध्य श्रेणी के मनुष्यों के लिए लोचदार कही जावेगी। लेकिन कीमत के कम होने से धनी लोगों की माँग कुछ ज्यादा न बढ जावेगी, क्योंकि वे लोग १००) रु० कीमत पर ही अपनी तृप्ति के योग्य घड़ियाँ खरीद चुके होंगे। इसी प्रकार एक किसान के लिए कीमत कम होने पर भी घड़ियों की माँग बिला लोच की रहेगी, क्योंकि ५०) रु० भी घडी के लिए उसके लिए ऊँची कीमत है।

इसी प्रकार से हम कह सकते हैं कि विलासिता की वे वस्तुएँ जिनकी कीमत बहुत कम है, उनकी माँग की लोच बहुत धनी लोगों के लिए बहुत कम, मध्यम श्रेणी के लोगों के लिए उससे कुछ अधिक और निर्धन श्रेणी के लोगो के लिए बहुत अधिक होती है।

साधारणतः यह कहा जाता है कि जीवनरक्षक पदार्थों की माँग की लोच विलासिता की वस्तुओं की लोच से बहुत कम होती है। लेकिन जीवनरक्षक पदार्थों की माँग की लोच भी लोगों की सम्पन्नता पर निर्भर रहती है। अमेरिका, इंगलैंड इत्यादि मुल्कों में गरीब लोगों को भी जीवन रक्षक पदार्थ पर्याप्त परिमाण में मिल जाते हैं। इसलिए वहाँ इन वस्तुओं की कीमत में अगर कुछ कमी हो भी गई तो गरीब लोग भी इन वस्तुओं का उपभोग पहिले से बहुत अधिक परिमाण में नहीं करते, इसलिए इन जीवनरक्षक पदार्थों की माँग की लोच इन मुल्कों में बहुत कम होती है। लेकिन भारतवर्ष ऐसे देश

मे जहाँ कि अधिकांश लोगों को दिन भर मे एक समय भी पेट भर भोजन नही मिलता है, जीवनरक्षक पदार्थों की भी माँग मे कुछ लोच होती है। अगर इनकी कीमत कम हो जावे तो माँग कुछ अवश्य बढ जाती है।

जब वस्तुएँ जीवनरक्षा के लिए अनिवार्य नही हैं उनकी माँग साधारणतः लोचदार होती है, जैसे अच्छा वस्त्र, अच्छा मकान, उपन्यास इत्यादि।

जो किसी मनुष्य को किसी वस्तु के सेवन करने का अभ्यास हो जाता है तो उस वस्तु की माँग की लोच अन्य वस्तुओं की माँग की लोच से कम हो जाती है। इसका कारण यह है कि वह वस्तु उसके आवश्यक पदार्थों मे शामिल हो जाती है और हम बतला चुके है कि जीवनरक्षक तथा आवश्यक पदार्थों की लोच अन्य वस्तुओ की लोच से कम होती है। जिन लोगो को चाय का अभ्यास हो गया हैं, उन लोगों के लिए चाय एक आवश्यक पदार्थ हो गया है। अगर चाय की कीमत एक आना फी प्याले से पाँच-पैसा फी प्याला हो जाय तो भी वे लोग एक प्याला सुबह और एक प्याला सायकाल अवश्य ही पियेंगे।

लोच की माप—अगर कीमत मे अन्तर पड जाने से किसी वस्तु को खरीदने मे उतना ही द्रव्य खर्च किया जाता है जितना पहले किया जाता था तो उसकी माँग की लोच एक के बराबर मानी जाती है। जब कीमत के बढ जाने से किसी वस्तु पर किया गया कुछ खर्च घट जाता है तो उस वस्तु की माँग की लोच इकाई से अधिक कही जाती है, और अगर कुल खर्च बढ़ जाता है तो लोच इकाई से कम कही जाती है।

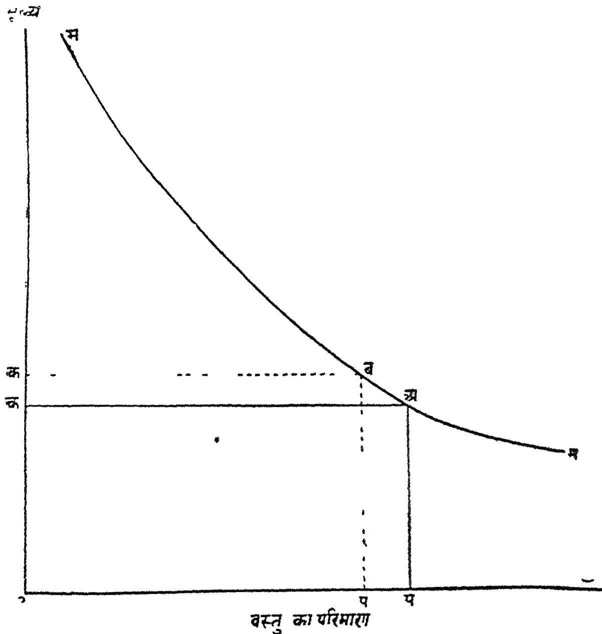
निम्नलिखित कोष्टक मे किसी मनुष्य की घो की मासिक माँग और उस पर किया गया खर्च दिया जाता है।

कीमत प्रति सेर	माँग	कुल खर्च	माँग की लोच
२)	१० सेर	२०) रुपया	एक से कम
४)	६ ,,	२४ ,,	
६)	४ ,,	२४ ,,	एक
८)	२ ,,	१६ ,,	एक से अधिक
१०)	१ ,,	१० ,,	

इस कोष्ठक से यह मालूम होता है कि जब कीमत २) प्रति सेर से ४) प्रति सेर हो जाती है तो उस पर खर्च २० रुपये से २४ रुपये हो जाता है।

तब माँग की लोच एक से कम रहती है और घी आवश्यक पदार्थ माना जाता है। जब घी की कीमत चार रुपया सेर से ६) सेर तक बढ़ती है तो घी पर खर्च २४ रुपये ही रहता है, उसकी माँग की लोच एक के बराबर रहती है और घी आराम की वस्तु माना जाता है। जब घी की कीमत ६) से बढ़ने लगती है तो कुल खर्च कम होने लगता है, उसकी माँग की लोच एक से अधिक हो जाती है और घी विलासिता की चीज हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि वस्तु की माँग की लोच ऊँची कीमत पर एक से अधिक, मध्यम कीमत पर एक और कम कीमत पर एक से कम रहती है। किसी मनुष्य के लिये ऊँची कीमत पर घी विलासिता की वस्तु, मध्यम कीमत पर आराम की वस्तु और कम कीमत पर आवश्यक वस्तु माना जाता है।

किसी वस्तु की माँग की रेखा से भी किसी कीमत पर माँग की लोच का अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे के रेखाचित्र मे 'म म' रेखा माग की



रेखा है। अब यदि हमको Oक कीमत पर माँग की लोच मालूम करना हो तो हमे यह जानना चाहिये कि कुछ अधिक कीमत पर उसकी माँग के परिमाण में कितनी कमी होगी। इसी चित्र से मालूम होता है कि Oक, कीमत पर माँग का परिमाण Oप' हो जाता है। जब कीमत Oक रहती है तब इस वस्तु पर Oप अ क परिमाणमें द्रव्य खर्च किया जाता है। जब कीमत Oक' तक

बढ जाती है तो खर्च का परिमाण OP' ब क' हो जाता है। यदि OP' ब क' का परिमाण OP अ क से कम हो तो इस वस्तु की माँग की लोच एक से अधिक, यदि बराबर हो तो माँग की लोच एक के बराबर और यदि अधिक हो तो माँग की लोच एक से कम समझी जावेगी।

माँग की लोच का महत्व—अर्थशास्त्र की दृष्टि से माँग की लोच का बड़ा महत्व है। इससे हमको यह पता लग जाता है कि कीमत के बदलने से भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न वस्तुओं का भिन्न भिन्न दर्जे के मनुष्यों की माँग पर कैसा असर पडता है। इस बात को जान लेने पर उत्पादको को और सरकार को अपने अपने काम में बहुत सहायता मिलती है। उत्पादक लोग, खास कर एकाधिकारी (Monopolist) उत्पादक, यह तै कर सकते हैं कि किस कीमत पर बेचने से उनको सबसे अधिक लाभ होगा। अगर किसी वस्तु की माँग मे बहुत कम लोच हो तो एकाधिकारी उस वस्तु की मनमानी कीमत बढ़ा कर बहुत लाभ उठा सकता है। लेकिन अगर किसी वस्तु की माँग बहुत लोचदार हो तो एकाधिकारी को कीमत घटाने से ही सबसे अधिक मुनाफा होता है।

इसी प्रकार किसी देश की सरकार को भी भिन्न भिन्न वस्तुओं के माँग की लोच जानना जरूरी होता है। जब किसी वस्तु पर आयात अथवा निर्यात कर लगाया जावे, अथवा देशी माल पर कर लगाया जावे तो सरकार को यह जानना चाहिए कि इस कर से उस वस्तु की कीमत मे जो वृद्धि होगी उसका माँग पर क्या असर पड़ेगा। जिन वस्तुओं की माँग की लोच बहुत कम हो उन पर कर लगाने से सरकार को अधिक आमदनी होती है और जिन वस्तुओं की माँग की लोच अधिक हो उन पर कर लगाने से कम आमदनी होती है। सरकार को यह बात भी ध्यान मे रखने के योग्य है कि जिन आवश्यकीय वस्तुओं की माँग की लोच गरीब आदमियो को भी होती है उन पर कर लगाने से गरीब आदमियों को बहुत दिक्कत उठानी पड़ती है। भारतवर्ष मे इसका उदाहरण नमक-कर था। इस कर के कारण यहाँ नमक की कीमत बढ गई थी। इसका परिणाम यह होता था कि नमक ऐसी आवश्यक वस्तु की माँग भी इस मुल्क मे कुछ लोचदार हो गई थी। गरीब किसान अपने पशुओं को काफी परिमाण मे नमक नही दे पाते थे।

अभ्यास के प्रश्न

१—माँग की लोच से आप क्या समझते हैं? कुछ पदार्थों की माँग की लोच दूसरे पदार्थों की माँग की लोच से क्यों अधिक होती है? भारतीय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट समझाइए। (१९३७, १९३४ और १९४१)।

२—माँग के नियम के बारे मे आप क्या जानते हैं ? बताइए कि नीचे लिखे भावों पर एक अमीर, एक मध्यम श्रेणी का मनुष्य व गरीब आदमी कितनी नारगियाँ खरीदेंगे ? इस प्रकार प्रत्येक भाव पर खरीदी जाने वाली कुल नारगियों का उपभोग करके पूर्ण माँग का रेखाचित्र खींचिए। (१६३३)

दाम फी दर्जन-१६ आना। १३ आना। ६ आना। ७ आना। ५ आना।

३—"लोचदार माँग" का आप क्या अर्थ लगाते हैं ? रेखाचित्र द्वारा लोचदार और बिना लोच की माँग को स्पष्ट कीजिए। (१६२६)।

४—मूल्य और कीमत का भेद उदाहरण सहित समझाइए।

५—निम्नलिखित पर सक्षिप्त नोट लिखिए :—

मॉग की सारिणी, मॉग की प्रबलता, मॉग की लोच का माप।

६—किसी वस्तु के लिये समाज की मॉग की सारिणी किस प्रकार तैयार की जा सकती है ?

दसवाँ अध्याय

पारिवारिक आय-व्यय

किसी पिछले अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि आदमियों को अपनी आमदनी भिन्न-भिन्न मद्दों मे किस प्रकार खर्च करनी चाहिए, जिससे उन्हे अधिकतम लाभ हो। किसी परिवार की आमदनी और खर्च के भिन्न भिन्न मद्दों के विवरण को उसका पारिवारिक बजट (Family Budget) अथवा आय व्यय पत्र कहते हैं। इससे यह मालूम हो जाता है कि उक्त परिवार की आमदनी कितनी है, उस परिवार में कितने प्राणी हैं, रहने के लिए कितने कमरे हैं, और यह भी मालूम होता है कि वह परिवार भिन्न भिन्न पदार्थों में कितना खर्च करता है। उससे यह भी मालूम होता है कि वह परिवार कुछ बचाता है या नही, अथवा ऋणग्रस्त है या नहीं। जो कम आमदनी वाला तथा अधिक प्राणियों वाला परिवार होगा, उसकी आमदनी का अधिकाश भाग जीवन रक्षक पदार्थों मे खर्च हो जावेगा। निपुणता-दायक पदार्थों मे तथा ऐशो-आराम की चीजों के लिए उसके पास द्रव्य न बचेगा। लेकिन आमदनी बढने के साथ साथ जीवन-रक्षक पदार्थों मे कम

अनुपात मे खर्च होगा और आराम तथा विलासिता की वस्तुओं मे अधिक अनुपात मे खर्च होने लगेगा। आगे भारतवर्ष के दो परिवारो के बजटों पर विवेचन किया गया है।

एक जर्मन लेखक डाक्टर एंजिल ने योरोपीय देशों के बहुत से पारिवारिक बजटो को इकट्ठा करके विशेष ध्यानपूर्वक उनका अध्ययन किया है। उनके अध्ययन के अनुसार भिन्न दर्जे के परिवारों की आमदनी का औसत प्रतिशत खर्च भिन्न वस्तुओं पर नीचे लिखे अनुसार था।

पदार्थ	मजदूर के परिवार का खर्च	मध्यम श्रेणी के परिवार का खर्च	सम्पन्न परिवार का खर्च
जीवन निर्वाह	६२ प्रतिशत	५५ प्रतिशत	५० प्रतिशत
वस्त्र	१६ ,,	१८ ,,	१८ ,,
मकान का किराया	१२ ,,	१२ ,,	१२ ,,
रोशनी और लकड़ी कोयला, इत्यादि	५ ,,	५ ,,	५ ,,
शिक्षा	२ ,,	३ ५ ,,	५ ५ ,,
टैक्स (कर)	१ ,,	२ ,,	३ ,,
स्वास्थ्य-रक्षा	१ ,,	२ ,,	३ ,,
अन्य	१ ,,	२ ५ ,,	३ ५ ,,
	१००	१००	१००

इस कोष्ठक से डाक्टर एजील ने निम्नलिखित परिणाम निकाले हैं :—

(१) कम आमदनी वाले परिवार का अधिकाश भाग जीवन-निर्वाह में खर्च हो जाता है।

(२) वस्त्र पर प्रत्येक परिवार मे प्रतिशत खर्च लगभग बराबर होता है। अर्थात् ५०) रु० आमदनी वाले का वस्त्र में करीब ४) रु० खर्च होता है तो १००) रु० आमदनी वाले का ८) रु०, १०००) रु० आमदनी वाले का करीब ८०) खर्च होता है।

(३) इसी प्रकार किराये मे, रोशनी और ईंधन मे भी, प्रत्येक परिवार में प्रतिशत खर्च बराबर होता है।

(४) अधिक आमदनी वाले परिवार का शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, परिचर्या इत्यादि में प्रतिशत खर्च बढ़ जाता है।

एक किसान के वार्षिक खर्च का बजट

सोनल किसान का पारिवारिक बजट

परिवार मे दो प्रौढ व्यक्ति, एक लडका (उम्र दस साल) और एक लडकी (उम्र तीन साल) थी।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
१—भोजन			
(अ) अनाज			
गेहूँ	५	४	६
जौ	२६	४	—
बाजरा	१३	८	—
चना	३	—	—
चावल	१	१०	६
उर्द	१	—	—
मसूर	—	१०	—
(ब) फल व तरकारी †			
फल	—	१४	—
तरकारी	१	२	—
(स) दूध, घी			
दूध	३	—	—
घी	६	१०	—
(द) अन्य			
नमक	—	१४	६
मसाला	१	८	—
तेल	१	७	६
गुड	—	१४	—
चीनी	—	४	३
कुल	६८	—	—

* यह बजट सन् १६३६ का है। वर्तमान समय मे वस्तुओ के मूल्य स्थिर नहीं हो पाए हैं। इससे किसान का यह पुराना बजट ही दिया जाता है। उस समय वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था।

† मौसम के फल व तरकारी खाई जाती थी।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
२—कपड़ा			
(अ) पोशाक			
२ रुई की फतोई	२	१०	—
२ मिर्जई	१	—	—
३ कुरता	२	१२	—
४ धोती	३	८	—
२ टोपी	—	५	—
(ख) अन्य			
१ रजाई	२	८	—
२ चद्दर	१	६	—
२ अंगौछा		६	—
कुल	१४	८	—
३—मकान			
मरम्मत	—	१२	
छप्पर ठीक कराई	३	१४	—
कुल	४	१०	—
४—लकडी व रोशनी			
लकडी	४	६	—
मिट्टी का तेल	—	१५	—
कुल	५	८	—
५—घर का सामान			
मिट्टी के बर्त्तन	—	८	—
पीतल की थाली	१	२	६
पीतल का गगरा	२	१४	६
कुल	४	६	—
६—स्वास्थ्य*			
दवा	१	१२	६
सफाई	—	३	६
कुल	२		

*यह खर्च लड़के के बहुत बीमार पड़ जाने पर हुआ था।

खर्च का मदद		रु०	आ०	पा०
७— शिक्षा				
फीस		—	९	—
पुस्तक		—	५	६
स्लेट		—	६	—
स्लेट की पेन्सिल		—	२	६
	कुल	१	७	—
८—मादक वस्तुएँ				
तम्बाकू		५	१४	—
बीड़ी			२	—
	कुल	६	—	—
९—सूद		२०	—	—
१०—फुटकर				
(अ) सामाजिक				
(ब) धार्मिक				
श्राद्ध		१	१५	६
कथा		१	—	६
(स) मनोरजन		—	—	—
	कुल	३	—	—

सीतल किसान के बजट का संक्षिप्त विवरण

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०	%
१—भोजन	६८	—	—	५२ ५
२—कपड़ा	१४	८	—	११·२
३—मकान	४	१०	—	३·६
४—लकड़ी व रोशनी	५	८	—	४·२
५—घर का सामान	४	९	—	३·५
६—स्वास्थ्य	२	—	—	१·५
७—शिक्षा	१	७	—	१·१
८—मादक वस्तुएँ	६	—	—	४·७
९—सूद	२०	—	—	१५·४
१०—फुटकर	३	—	—	२·३
कुल	१२९	१०	—	१००·०

रामकुमार पांडे क्लर्क का वार्षिक पारिवारिक बजट*

परिवार मे दो प्रौढ व्यक्ति और दो लड़के (उम्र ११ साल व ४ साल)

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
१—भोजन			
(अ) अनाज			
गेहूँ	३७	५	—
चना	२	—	—
चावल	६	—	—
उर्द	१	४	—
मूग	—	१२	—
अरहर	२	—	—
मसूर	—	४	—
(ब) फल व तरकारी†			
फल	१०	८	—
तरकारी	२१	८	—
(स) दूध-दही घी			
दूध	७५	८	—
दही	१	१२	—
घी	५४	—	—
(ख)			
नमक	१	२	—
मसाला	३	६	—
तेल	२	१०	—
चीनी	५	८	—
गुड	—	८	—
बताशा	—	६	—
कुल	२२६	५	—

* यह बजट भी सन् १९३९ का है। उस समय वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था।

† मौसम की तरकारी वा फल खाए जाते हैं।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
२—कपड़ा			
(अ) पोशाक			
२ ऊनी कोट	२१	६	—
१ सूती कोट	४	१०	—
३ कमीज	२	१०	—
२ कुरता	१	६	—
२ रुई की फतोई	२	१२	-
२ जम्पर	—	१२	—
४ धोती	४	४	—
२ हाफपेन्ट	२	७	—
(ब) अन्य			
१ रजाई	३	८	—
२ चद्दर	२	८	—
२ तौलिया	१	८	—
१ जोडी जूता	३	३	—
१ छाता	१	१२	—
कुल	५२	१०	—
३—मकान			
किराया	८०	—	—
४—लकड़ी व रोशनी			
लकडी	१२	—	—
उपले	—	१२	—
मिट्टी का तेल	६	४	—
कुल	१९	—	—
५—घर का समान			
१ कलछी (लोहा)	—	३	—
१ बालटी (पीतल)	४	८	—
१ गिलास (कलई का)	—	८	—
कुल	५	३	—

खर्च का मद		रु०	आ०	पा०
६—स्वास्थ्य				
डाक्टर की फीस		८	—	—
दवाई		२४	६	—
सफाई		—	१४	—
	कुल	३७	४	—
७—शिक्षा				
फीस (स्कूल)		३०	१२	—
फीस (ट्यूटर)		—	—	—
पुस्तक		११	६	—
कापियाँ		३	४	—
पेन्सिल, स्याही आदि		—	७	३
	कुल	४५	१३	३
८—मादक वस्तुएँ:—				
सिगरेट		३०	—	—
बीडी		—	७	—
चाय		६	५	—
	कुल	३६	१२	—
६—सूद				—
पुराने कर्ज पर		३६	—	—
नये कर्ज पर		६	—	—
	कुल	४५	--	
१०—फुटकर				
(अ) सामाजिक				
मुडन*		२१	५	
(ब) धार्मिक		६	६	—
श्राद्ध		४	१४	—
कथा		२	२	—
दान				
(स) कानूनी				
साइकिल टैक्स		३	—	—

* बहुत दिनों बाद ऐसा अवसर आने के कारण दावत दी गई थी।

खर्च का मद	रु०	आ०	पा०
(द) मनोरंजन			
पान तम्बाकू	६	२	६
मिठाई	३५	६	—
सिनेमा	६	४	—
(फ) अन्य			
नाऊ	३	२	—
धोबी	१८	३	—
मेहतर	३	—	—
नौकर	७२	—	—
चिट्ठी	५	३	६
साबुन आदि	७	१२	—
अन्य	१२	—	६
कुल	२०६	१४	६

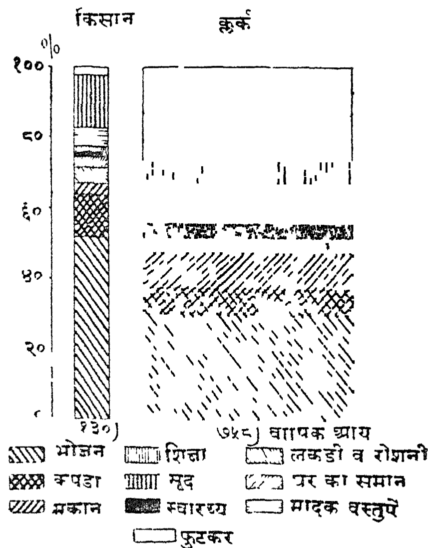
रामकुमार पांडे क्लर्क के बजट का संक्षिप्त विवरण

खर्च का मद	रु०	आ०	आ०	%
१—भोजन	२३६	५	—	३०.०
२—कपड़ा	५२	१०	—	७.०
३—मकान	८०	—	—	१०.६
४—लकड़ी व रोशनी	१६	—	—	२·५
५—घर का सामान	५	३	—	०·८
६—स्वास्थ्य	३७	४	—	४·६
७—शिक्षा	४५	१३	३	६·१
८—मादक वस्तुएँ	३६	१२	—	५·२
६—सूद	४५	—	—	६·०
१०—फुटकर	२०६	१४	६	२७·२
कुल	७५७	१४	—	१००·०

नीचे उपरोक्त दोनों बजट के खर्च दिखाए जाते हैं।

खर्च का मद	किसान का खर्च प्रतिशत भाग	क्लर्क का खर्च प्रतिशत भाग
१—भोजन	५२ ५	३० ०
२—कपड़ा	११ २	७·०
३—मकान	३ ६	१० ६
४—लकड़ी व रोशनी	४ २	२ ५
५—घर का सामान	३ ५	० ८
६—स्वास्थ्य	१ ५	४ ६
७—शिक्षा	१ १	६·१
८—मादक वस्तुएँ	४ ७	५ २
९—सूद	१५ ४	६ ०
१०—फुटकर	२ ३	२७ २
	१०० ०	१०० ०

किसान और क्लर्क के वार्षिक प्रतिशत पारिवारिक खर्च की तुलना



ये दोनो बजट चित्र द्वारा भी दिखाए गए हैं। इनके देखने से स्पष्ट है कि किसान और क्लर्क की आमदनी बहुत अच्छे ढग से खर्च नहीं की जा रही है। किसान तो तम्बाकू आदि मादक वस्तुओ के लिये बदनाम है ही। क्लर्क साहब उनसे भी बढ गए। किसान अपना अधिकतर आय भोजन पर खर्च करता है। शहर के बाबू जितना प्रतिशत भाग भोजन पर खर्च करते हैं उतना ही फुटकर मे व्यय कर डालते हैं। यह ठीक है कि बाबू साहब शिक्षा, स्वास्थ्य और मकान पर अधिक व्यय करते हैं, परन्तु ६५) माहवार पाते हुए भी वे ऋणग्रस्त रहते हैं। दोनो व्यक्तियो के बजट देखते हुए यही कहना पड़ता है कि क्लर्क साहब से तो बेचारा किसान ही कुछ अच्छे ढग से वस्तुओं का उपभोग करता है। परन्तु सुधार की दोनो बजटो मे काफी गुंजाइश है।

भारतवासियों का रहन-सहन—पारिवारिक आय-व्यय से लोगो के रहन-सहन के दर्जे (Standard of Living) का पता लगता है। किसी देश के निवासियो के रहन-सहन का विचार करने के लिए हमे वहॉ के निवासियो को उनकी आमदनी के अनुसार भिन्न भिन्न दर्जो मे रखकर, प्रत्येक दर्जे के लोगो के रहन-सहन से सारे देश के निवासियो के रहन-सहन के बारे मे अनुमान किया जा सकता है। भारतवर्ष मे पारिवारिक आय-व्यय के सम्बन्ध मे कुछ जॉच हुई है, परन्तु वह इतनी नहीं हुई कि उससे सम्पूर्ण देश के विषय मे कुछ व्यारेवार परिणाम निकाले जा सकें। वर्तमान परिस्थिति में हमे अप्रत्यक्ष आधारो पर ही निर्भर रहना पड़ता है। निम्नलिखित कारणो से मालूम होता है कि यहॉ बहुत नीचे दर्जे के रहन सहन वालो की सख्या बहुत अधिक है। सभवत. वह तीन-चौथाई से भी अधिक होगी—

(१) आमदनी का बहुत कम होना। यह पहले कहा जा चुका है कि यहॉ के निवासियो की दैनिक औसत आय भिन्न भिन्न लेखको के अनुसार छ पैसे से तेरह पैसे तक है। यह औसत आय है, अर्थात् इसमे राजा महाराजा, सेठ साहूकारों, पूँजीपतियो तथा उच्च-वेतन-भोगी सरकारी या गैर सरकारी पदाधिकारियो की आय भी सम्मिलित है, इसका आशय यह है कि अनेक व्यक्तियों की आय उपर्युक्त औसत आय से भी बहुत कम है। जो पुरुष ऐसी निर्धनता का जीवन व्यतीत करते हैं, उनका रहन-सहन नीचे दर्जे का होना स्वाभाविक ही है।

(२) हम पहले बता आए हैं कि यहॉ अन्न-वस्त्रादि आवश्यक पदार्थो के उपभोग की मात्रा बहुत कम रहता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि यहॉ अधिकाश भारतवासियो का रहन सहन नीचे दर्जे का है।

(३) यहाँ मृत्यु-सख्या का औसत फी-हजार २५ है, और औसत आयु केवल २३. २ वर्ष। इससे भी अधिकाश जनता का रहन-सहन नीचे दर्जे का साबित होता है।

कुछ अधिकारी यह प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं कि यहाँ के निवासियो का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। वे यहाँ के आराम और विलासिता के सामान की आयात के तुलनात्मक अक उपस्थित करते हैं, और कहते हैं कि सूती, रेशमी और ऊनी वस्त्र, भाँति-भाँति के खिलौने आदि, बिसातखाने का सामान, साबुन और औषधियों आदि की आयात की क्रमशः वृद्धि हाने से यह स्पष्ट है कि यहाँ इनका उपभोग अधिक हो रहा है। इसके अतिरिक्त अब बहुत से देहातवाले कच्चे और छप्पर के मकानो को छोडकर पक्के मकान बनवा रहे है। किसानो के लडके अँगरेजी ढग की कमीज, कोट तथा जूते पहनने और छतरी लगाने लगे हैं। कितने ही मामूली नौकर या श्रम-जीवी भी विशेष अवसरों पर सोडा वाटर या बर्फ का पानी पीते हैं। चाय और सिगरेट का प्रचार बढता जा रहा है। ऐसी ही बातो से वे रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना सिद्ध करते हैं।

इसके विपरीत इस देश के निवासी भुक्त-भोगी सज्जनों का मत कुछ और ही है। ये सरकारी मत का खडन करते हुए कहते हैं कि उपर्युक्त आधार पर भी, यह कहना तर्क सगत नही है कि इस समय यहाँ की जनता के सुख की वृद्धि हो रही है। सुविधा, ऐशो-आराम तथा भोग-विलास के पदार्थों के सेवन की ओर झुकना मनुष्य-मात्र की प्रकृति है। इसलिये हमारे दरिद्र बन्धु भी कभी-कभी उनमे पैसा लगा देते हैं। यदि ये पदार्थ न होते, तो सभव था कि यह पैसा उन भाइयों के जीवन-रक्षक पदार्थों मे व्यय होता। हम बहुधा देखते हैं कि मजदूरों या भिखारियों के लड़के बाजारों मे, मुँह मे सिगरेट दबाए या बालों मे तेल लगाए, घूमते हैं। इससे यह अनुमान करना सरासर भूल है कि उनके रहन सहन का दर्जा ऊँचा होता जा रहा है। इसी प्रकार, यदि कुछ मनचले रईसों, नवाबों या राजकुमारो की आवश्यकता के लिए, विदेशी जहाज, कुछ टीम-टाम या शान-शौकत का सामान लाकर, यहाँ के आयात को बढ़ाते हैं, तो इससे भी जन-साधारण को अधिक सुखी होने का सार्टीफिकेट नहीं दिया जा सकता।

सभ्यता की वृद्धि से मनुष्यों की आवश्यकताओं की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा करती है। इस बात का अनुभव सभी देशों मे—भारत मे भी—हो रहा है। बहुधा शक्ति-सपन्न या फैशन-पसद आदमी अपने बच्चों के लिए विलायती ढग के कपड़े सिलवाते, उन्हे बूट जूते पहनाते और विदेशी खिलौने लाकर

देते हैं। यहाँ तक कि यदि हो सकता है, तो वे उनके लिए 'ट्राइसिकिल' अथवा हाथ से चलनेवाली छोटी बग्घी खरीद देते हैं। इन बच्चों में से बहुत से, बड़े होकर, फैशन में कुछ और आगे कदम बढ़ाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक अगली पीढ़ी में रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है, या यों कहिए कि दिखावटी सुख बढ़ता जाता है।

इसमें संदेह नहीं कि देश की आन्तरिक शांति और पाश्चात्य सभ्यता के संसर्ग से यहाँ कुछ लोगों के धन में कुछ वृद्धि अवश्य हुई है, तथा अन्य धनी देशों के रहन-सहन का ज्ञान हो जाने के कारण जनता के हृदय में नवीन विचारों का समावेश हो रहा है। लूट मार का भय हट जाने से अमीर लोगों को अब अपनी अमीरी प्रकट करने का अवसर मिल गया है। इससे भी देश में सुख कुछ बढ़ता नजर आ रहा है। तथापि, वास्तविक बात यह है कि यहाँ की अधिकांश गरीब जनता को न तो पहले के समान भर-पेट और पुष्टिकर भोजन मिलता है, और न काफी कपड़े ही। अतएव उनका रहन-सहन गिर रहा है, यह स्पष्ट है।

रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने की आवश्यकता—अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि भारत में लोगों के रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने की कहाँ तक आवश्यकता है। पहले यह समझ लेना चाहिए कि हमारे इस कथन का अभिप्राय क्या है। रहन-सहन के दर्जे के ऊँचे होने से आशय यह नहीं है कि देश के आदमियों में विलास वस्तुओं के उपभोग की वृद्धि हो, और यह भी नहीं है कि आराम देनेवाले, अथवा कृत्रिम आवश्यकताओं के पदार्थों का उपभोग बहुत अधिक बढ़ जाय। उपर्युक्त कथन से हमारा अभिप्राय यही है कि पहले जीवन-रक्षक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, फिर निपुणता-दायक पदार्थों का अधिक उपभोग हो। इसके पश्चात् कुछ थोड़े से आराम के पदार्थों का उपभोग हो सकता है।

दस बीस फी-सदी आदमियों के रहन सहन के दर्जे के ऊँचे होने से ही किसी देश के रहन-सहन का दर्जा उन्नत नहीं कहा जा सकता। देश के सब आदमियों का जीवन सुखमय होना चाहिए—ऐसे आदमी बिलकुल न रहे, जो अपने जीवन रक्षक पदार्थों के लिए ही शोकातुर हों। तभी यथार्थ में देश के रहन-सहन के दर्जे का ऊँचा होना, माना जा सकता है।

रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के साधन—रहन-सहन ऊँचा करने के मुख्य चार साधन हैं—(१) इन्द्रिय-निग्रह, (२) शिक्षा, (३) यात्रा तथा अनुकरण, और (४) स्थानांतर-गमन।

इन्द्रिय-निग्रह जितना अधिक होता है, उतनी ही जन-सख्या की वृद्धि भी कम होती है, और परिवार मे जन सख्या कम होने से उपभोग के लिए पदार्थ अधिक मात्रा मे मिलते है। भारतीय जनसख्या की समस्या के सबध मे प्रसगानुसार लिखा जायगा।

यथष्ट शिक्षा की प्राप्ति से मनुष्य अधिक निपुण होता है, और उसकी आय बढती है, उससे उसके रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होना स्वाभाविक है।* शिक्षित आदमी दूरदर्शी अधिक होते है, उनमे सतान वृद्धि कम होती है। शिक्षा-प्रचार के सबध मे प्रसगानुसार लिखा जायगा।

यात्रा से मनुष्य बाहर का अनुभव प्राप्त करते है और अच्छी चीजों का उपभोग करने लगते है। मनुष्य म दूसरो की नकल करने की बहुत प्रवृत्ति होती है, हम बहुधा अपने निकट-वर्ती व्यक्तियो के रहन-सहन को देखकर उनका अनुकरण करने लगते हैं, इसस धीरे धीरे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होता जाता है। भारत मे यद्यपि रेलों तथा सड़कों की वृद्धि से यात्रा मे पहले की अपेक्षा सुविधा हो गई है, तथापि और भी अधिक की जाने की गुजाइश है। इस सुविधा से यथेष्ट लाभ उठाया जाना चाहिए।

स्थानान्तर-गमन (Migration) का रहन-सहन के दर्जे पर बड़ा प्रभाव पडता है। यदि किसी जगह एक पेशे के आदमी अधिक हों और उनकी आय कम हो, तो कुछ आदमियों के वहाँ से बाहर, दूसरे उपयुक्त देश मे, जाकर बसने से उनकी आय बढ़ेगी, एव उनके रहन-सहन का दर्जा भी ऊँचा हो जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

(१) पारिवारिक बजट किसे कहते हैं? (अ) गृहस्थ (ब) अर्थशास्त्र के विद्यार्थी और (स) समाज-सुधारक उनसे क्या लाभ उठा सकते हैं? (१६३८ और १६३६)

(२) गाँव के एक किसान की सालाना आमदनी छै सौ रुपया है। शहर का एक क्लर्क भी इतना ही पाता है। निम्नलिखित मदो पर होने वाले दोनों के व्यय की तुलना कीजिए:

---

* आय मे वृद्धि हुए बिना भी रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो सकता है। शिक्षित तथा समझदार व्यक्ति उपयोगी चीजो का ऐसी विधि से कैसे उपयोग करता है, जो अधिक निपुणता-दायक तथा आराम देने वाली हों, यह पहले बताया जा चुका है।

खानपान, घर, लकड़ी और रोशनी, पढ़ाई, स्वास्थ्य और सफाई, व्यक्तिगत सेवा, मुकदमा, धार्मिक तथा सामाजिक उत्सव, घरेलू फर्नीचर, मनोरंजन, देशाटन व चिट्ठी और बचत। ग्राफ-पेपर पर रेखाचित्र खींच कर उत्तर स्पष्ट कीजिए। (१६३६)

(३) पारिवारिक बजट क्या होते हैं ? अंदाज से एक भारतीय कारीगर के परिवार का मासिक बजट तैयार कीजिए। मदों को बड़े मदों के मध्य विभाजित कीजिए और इसे चित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए। (१६३४)

(४) नीचे एक कारीगर के व्यय दिए जाते हैं—

आटा ≶) रोज। पान)। रोज। लकड़ी २) महीना। तेल और घी २) महीना। चावल)॥ रोज। जूते की जोड़ी १।) साल। तम्बाकू ≶) सप्ताह। किराया मकान ३) महीना। मिठाई ॥) महीना। तरकारी)॥ रोज। म्युनिस्पल टैक्स १॥=) छमाही। मेहतर ।) महीना। सिनेमा ।=) महीना। चारपाई १=) साल। मिट्टी का तेल =) सप्ताह। धोती २।) साल। नमक =) महीना। अन्य कपड़े ३॥) साल। ताड़ी २) महीना। धार्मिक व सामाजिक ६) साल। कर्ज की अदायगी २) महीना।

हरेक मद का माहवारी खर्च निकालिए। उन्हे बड़े मदों के अन्तर्गत विभाजित करके उन्हे रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित कीजिए। (एक महीने में ३० दिन या चार सप्ताह होते हैं) (१६३२)

(५) अब गरीब लोग भी रेशम के कपड़े पहिनते हैं, तेल लगाते हैं इत्यादि। अतएव स्पष्ट है कि भारत में रहन सहन का दर्जा ऊँचा हो रहा है। उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

(६) "हिंदुस्तानियों का रहन-सहन बहुत निम्न ढग का है।" आपकी इस सबध मे क्या राय है ? रहन-सहन का दर्जा किस प्रकार बढाया जा सकता है ?

(७) एंजिल के पारिवारिक खर्चे के नियम को बतलाकर स्पष्ट कीजिए। भारतीय परिस्थिति के अनुसार यह कहाँ तक ठीक है ? (१६४०)

(८) कानपुर के एक चमार का पारिवारिक बजट बनाइये जिसकी

सालाना आमदनी ३००) है। यदि उसकी आमदनी ३०००) हो जाये तो उसके बजट के प्रत्येक मद पर क्या प्रभाव पडेगा?' (१६४३)

ग्यारहवाँ अध्याय

उपभोग में सामाजिक दृष्टि

पिछले अध्यायो मे उपभोग सबधी विविध विषयों पर विचार किया गया। हमे स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे अपने अन्यान्य कार्यो मे, उपभोग मे भी, सामाजिक दृष्टि रखनी चाहिए, अर्थात् उसे भिन्न-भिन्न पदार्थों पर खर्च इस प्रकार करना चाहिए कि उससे सामाज का किसी प्रकार का अहित न हो, वरन् समाज को लाभ ही पहुँचे। बहुत से आदमी अपव्यय अथवा दान धर्म आदि करते हुए इस बात को भूल जाते हैं। अतः इस अध्याय मे इन बातों की ओर ध्यान कुछ विशेष रूप से दिलाया जाता है।

विलासिता के पदार्थों पर होने वाला व्यय पहले बताया जा चुका है कि जीवन रक्षक पदार्थ और निपुणता दायक पदार्थ सब लोगों को सेवन करने चाहिए। इन पर किया गया खर्च न्याययुक्त है। यह भी कहा जा सकता है कि आराम की चीजों पर किया गया खर्च भी असंगत नही है; क्योंकि इससे भी कार्यकुशलता बढती है। लेकिन ऐशोआराम और विलासिता की वस्तुओं पर तथा मादक वस्तुओं पर किया गया खर्च बहुधा फिजूलखर्ची मे समझा जाता है।

यह कहा जा सकता है कि विलासिता की वस्तुओ पर खर्च करने से उन वस्तुओं की माँग बढती है, और इससे बहुत से लोगों की बेकारी दूर होती है और उनको रोजी भी मिलती है। उदाहरण के लिए आतिशबाजी को लीजिये। व्याह, शादी इत्यादि उत्सव के समय मे इस वस्तु का बहुत प्रयोग किया जाता है। इनका उपभोग करने वाले लोग कहते हैं—हमने अपने इस विलासिता की वस्तु के उपभोग से बहुत से मजदूर लोगो को काम दिया है, उनको मजदूरी देकर भूखो मरने से बचाया है, हमने देश का उपकार किया है, इसलिए हमारा यह खर्च फिजूलखर्ची मे शामिल नही किया जाना चाहिये। अगर ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इन लोगों के तर्क की असगतता

मालूम पड जाती है। माना कि आतिशबाजी के पदार्थों को पैदा करने से चन्द मनुष्यों को रोजी मिली। लेकिन उस आतिशबाजी से नुकसान कितना हुआ, यह उन लोगों ने नहीं विचारा। पहले तो आतिशबाजी से क्षणिक आनन्द होता है। कहाँ उतना खर्च और कहाँ क्षणिक आनन्द! इस आनन्द से भी उपभोक्ताओं की कोई कार्यकुशलता नहीं बढती है। इस बात की आशङ्का रहती है कि कहीं किसी मकान इत्यादि में आग न लग जावे। इसके अलावा इस आतिशबाजी की वस्तुओं को बनाने में देश का इतना द्रव्य, श्रम और पदार्थ, अन्य इससे अधिक उपयोगी वस्तुओं को बनाने के बदले, आतिशबाजी की वस्तुओं के बनाने में लग गया। इसलिए दूसरे उपयोगी उद्योग धन्धों में पूँजी और मजदूर कम मिलने से उन उपयोगी वस्तुओं की उत्पत्ति कम हो गई। अतः उन वस्तुओं की कीमत में वृद्धि होने से सर्वसाधारण जनता को हानि उठानी पड़ी। यदि वह पूँजी और श्रम आतिशबाजियों के बदले किसी और उपयोगी वस्तु को बनाने में लगाया जाता तो न केवल कुछ लोगों को काम ही मिलता, परन्तु वह वस्तु सस्ती हो जाती और जनता को बहुत अधिक लाभ होता। इसलिए हम कह सकते हैं कि आतिशबाजी विलासिता की वस्तु है और उस पर खर्च करना फिजूलखर्ची है। इस प्रकार नाच, भोज, खेल तमाशे इत्यादि में भी बहुत सी फिजूलखर्ची शामिल है।

धनवान् लोग प्रायः कहते हैं रुपया हमारा है, हम चाहे उसको कैसे ही खर्च करें, इसमें किसी का क्या बनता बिगडता है? यह बात वैयक्तिक दृष्टिकोण से ठीक मालूम होती है। लेकिन अगर समाज के दृष्टिकोण से भविष्य पर भी दृष्टि रखते हुए देखा जाय तो इन लोगों की भूल स्पष्ट हो जाती है। धनी, निर्धन सब समाज के व्यक्ति हैं, अगर समाज के किसी भी अङ्ग में दुःख या कष्ट हो तो अन्त में उससे सारे समाज पर असर पडे बिना नहीं रह सकता। अगर सब धनवान् मनुष्य मनमाने तौर पर ऐश आराम और विलासिता के पदार्थों को ही खरीदें और उनके ही रोजगार और व्यवसाय को उत्साहित करें तो इसका नतीजा यह होगा कि जीवनरक्षक और निपुणता-दायक पदार्थों की पैदायश घटती जावेगी। इनकी कीमत बढ जाने से गरीब लोग और मध्य श्रेणी के लोग इन वस्तुओं का उपयुक्त परिमाण में सेवन नहीं कर सकेंगे। अतएव उनका स्वास्थ्य, बल और उत्साह, और इसीलिए उनकी कार्यनिपुणता शिथिल होती जावेगी। इससे उत्पत्ति भी कम और बुरी होती जावेगी जिससे सारे समाज की हानि होगी।

अस्तु, धनी लोगों का विलासिता के पदार्थों पर अथवा मादक वस्तुओं पर

किया गया खर्च निन्द्य है, परन्तु गरीब लोगों का इन पदार्थों पर किया गया खर्च और भी अधिक निन्द्य है। धनी लोग तो अपने जीवन-रक्षक और निपुणतादायक पदार्थों को प्राप्त करके भी विलासिता की वस्तुओं के लिये खर्च करने मे समर्थ होते हैं, लेकिन गरीब लोग जब विलासिता की वस्तु खरीदते हैं तो बहुधा वे लोग अपने जीवन-रक्षक पदार्थों और निपुणतादायक पदार्थों मे कमी करके इन वस्तुओ को खरीदते हैं। भारतवर्ष मे मजदूरो और छोटे शिल्पकारों की दशा देखिये। वे लोग अपनी आमदनी का अधिकाश भाग कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएँ—जैसे तम्बाकू, शराब, अफीम इत्यादि मादक वस्तुओ के सेवन मे खर्च करते हैं। इसमे उनके स्वास्थ्य की तथा कार्यकुशलता की हानि होती है। इससे उनकी आमदनी भी घटने की सम्भावना रहती है। घर मे उनके स्त्री-बच्चों को पेट भर खाना प्राप्त नही होता है। कहाँ से बच्चो को घी, दूध, शिक्षा मिल सकती है जिससे वे भविष्य मे तन्दुरुस्त और कार्य कुशल बनें ?

अविवेकता-मूलक दान-धर्म—हम हट्टे-कट्टे भिखारियो या बनावटी साधुओं को जो दान-पुण्य करते हैं, उससे ऐसे मनुष्यों को लाभ पहुँचता है, जो देशी व्यापार तथा उद्योग-धधों की कुछ सहायता नही करते, और जिनका जीवन देश के लिए किसी प्रकार लाभकारी नही कहा जा सकता। यदि हम मुफ्त मे भोजन-वस्त्र न दें, तो वे उदरपालनार्थ कुछ उत्पादक कार्य अवश्य करें। हमारे दान आदि से वे आलसी और निरुद्यमी होते जाते हैं।

अनाथ बालकों, विधवाओं, रोगियो या अपाहिजो को यथा शक्ति सहायता पहुँचाना मनुष्य-मात्र का कर्त्तव्य है। जो साधु-सन्यासी घूम-फिर कर देश मे धर्मोपदेश का प्रचार करें, वे भी गृहस्थों की उदारता के पात्र-हैं। परन्तु आलसी, निखट्टू आदमी, केवल गेरुए कपडे पहन लेने से, दान-धर्म तथा प्रतिष्ठा के अधिकारी कदापि नही समझे जाने चाहिए। अच्छा हो,यदि भिन्न-भिन्न समाज इस बात के लिए लोकमत तैयार करें, और ये लाखों भिखारी, अपनी आवारा जिंदगी छोडकर, देश की सुख-समृद्धि के लिये जी-जान से परिश्रम करने लगें।

देवालयों और मदिरों में भी व्यर्थ अपव्यय न होना चाहिए। मूर्ति पूजकों के लिए थोडे-से व्यय से, एक साधारण स्थान में, प्रतिमा की प्रतिष्ठा हो सकती है; जहाँ प्रति दिन अनेक मनुष्यों का शुद्ध शाति से सहज सम्मेलन तथा ईश्वर-ध्यान हो। परन्तु अनेक देवालयो मे आवश्यकता से कई गुना अधिक रुपया लगा दिया गया है। बहुत से नगरों मे—विशेषतया

प्रयाग, काशी, मथुरा, वृंदाबन, हरिद्वार जहाँ एक-एक दो-दो मंदिरों में काम चल सकता था, धनी लोगों ने अपने-अपने धर्म भाव की विज्ञप्ति करने के लिए अलग-अलग मन्दिरों का निर्माण कर दिया। अब तो नए मन्दिरों का बनना बन्द हो जाना चाहिए। शिवालयों या देव मन्दिरों के साथ कुपढ, अनाचारी, मुफ्तखोरों को आश्रय न दिया जाय। भिन्न-भिन्न स्थानों के मठों (अखाड़ों) की बे काम पड़ी हुई, और निरंतर बढ़ती हुई सम्पत्ति के विषय में भी यही वक्तव्य है।

रीति-रस्म और अपव्यय—यद्यपि भारतीय जनता साधरणतः बहुत सादगी-पसन्द और निर्धन है तथापि कुछ बातों में वह अपव्यय भी करती है, उदाहरणार्थ, शादी और गमी का खर्च, तथा आभूषण। हमारे बन्धु बहुत-सी बातों में अपनी गाढ़ी कमाई का धन केवल इसलिए खर्च कर डालते हैं कि उसका रिवाज है। वे खर्च की उपयोगिता अथवा अपनी स्थिति का विचार नहीं करते। आजकल समाज-सुधार का आन्दोलन प्रायः प्रत्येक जाति में हो रहा है, परंतु कुछ पुराने विचारों के आदमी सुधारकों की बातें यथा शक्ति चलने नहीं देते। तथापि शिक्षा और सभ्यता अपना प्रभाव डाल रही है, और कुछ सुधार हो रहा है। कहीं-कहीं भोजन इतना परोसा जाता है कि बहुत जूठन पड़ी रहती है। इस प्रकार भोज्य-पदार्थ खराब होता है। यह सब अपव्यय बंद किए जाने की अत्यंत आवश्यकता है। धन को गाड़कर रखना भी एक प्रकार का अपव्यय है। अराजकता अथवा अज्ञान की दशा में ऐसा करना क्षम्य हो सकता है, परंतु शांति और सुविचार की स्थिति में तो ऐसा कदापि न किया जाना चाहिए, यह देश के लिये बहुत हानिकारक है।

मुक़दमेबाज़ी—भारतवर्ष में कृषकों तथा जमींदारों को प्रायः जमीन के और व्यापारी तथा व्यवसाइयों को रुपए-संबंधी मुकदमे बहुत खराब करते हैं। दत्तक या गोद के मामलों में भी बहुत मुकदमेबाजी होती है। यहाँ केवल ब्रिटिश भारत में दीवानी मुकदमों की औसत संख्या प्रति वर्ष २७ लाख होती है। इनमें बहुत रुपया नष्ट होता है। 'व्यय' नामक पुस्तक में बनारस के एक लक्खी चबूतरे का उदाहरण दिया गया है। उस चबूतरे के नामकरण का कारण यह है कि उसके लिए दो आदमियों ने मुकुदमेबाजी करके अदालती काम में एक एक लाख रुपए के लगभग खर्च कर डाला! यह चबूतरा सिर्फ ५-६ गज लंबा और एक गज चौड़ा है, और किसी अच्छे मौके पर स्थित भी नहीं है। मुकदमेबाजी में नष्ट होने वाले अपार धन को राष्ट्रीय पंचायतों द्वारा बचाया जा सकता है। इन पंचायतों की उन्नति और वृद्धि की बड़ी आवश्यकता है।

सरकार द्वारा नियंत्रण—वस्तुओ के उपभोग के सम्बन्ध मे साधारणतः सरकार द्वारा नियत्रण न होना चाहिये। वस्तुओ का उपभोग प्रत्येक मनुष्य को स्वतत्र रूप से करने देना चाहिये। परतु जब मनुष्य वस्तुओ का दुरुपयोग करते है तब सरकार द्वारा हस्तक्षेप होना जरूरी है। सरकार को किसी भी वस्तु के उपयोग का नियत्रण तभी करना चाहिये जब उस वस्तु के उपभोग से जनता को एव समाज को हानि होती हो। ऐसी दशा मे ही सरकार द्वारा साधारण एव असाधारण समय मे नियत्रण होता है।

जो मनुष्य मादक वस्तुओ का उपभोग करता है उसकी तो व्यक्तिगत हानि होती ही है, परन्तु इससे समाज की भी हानि होती है। ऐसा पुरुष न तो अपने परिवार को सुख से रख सकता है, न अपने बच्चो की शिक्षा का ही उचित प्रबन्ध कर सकता है। इस कारण समाज को हानि होती है। अतएव सरकार को अत्यन्त आवश्यक है कि वह ऐसी मादक वस्तु की उत्पत्ति को या तो बिकुल रोक ही दे, यदि पूरी तरह से न रोक सके तो उसकी उत्पत्ति और बिक्री पर तो अवश्य नियत्रण रखे। मादक वस्तु की कीमत इतनी अधिक होना चाहिये कि साधारण मनुष्य उसे न खरीद सके। साथ ही साथ सरकार इस बात का भी प्रचार करे कि मादक वस्तु का उपभोग उत्तरोत्तर कम होता जाय। ऐसा करने से समाज को अत्यत लाभ होगा।

अकाल एव युद्ध के असाधारण समय मे खाद्य पदार्थ की पूर्ति विशेष रूप से कम हो जाती है। जिसका परिणाम यह होता है कि वस्तु की कीमत बहुत बढ जाती है। इसके फल स्वरूप बेचारे गरीब लोगो का उदर पोषण होना नितान्त कठिन हो जाता है। अमीरों तथा गरीबो को वस्तु का वितरण बराबर हो और वस्तु का मूल्य भी अधिक न हो। इन दोनो बातों का ध्यान रखने क लिये सरकार द्वारा नियत्रण अत्यत आवश्यक हो जाता है।

युद्धकालीन असाधारण परिस्थिति मे खाद्य पदार्थों की कमी होने के कारण सरकार ने राशन की योजना की। इस राशन का अर्थ यही है कि सरकार वस्तु की पूर्ति एव बिक्री को अपने हाथ मे लेकर उस वस्तु की गरीब एव अमीरो मे बराबर वितरण की व्यवस्था करे। इसके लिये सरकार द्वारा एक पृथक् दफ्तर कायम हुआ, जिसको राशनिङ्ग डिपार्टमेन्ट (Rationing Department) कहते हैं। इसके कर्मचारी मनुष्यों की गणना के अनुसार प्रत्येक वस्तु के वितरण का एक कुटुम्ब का कार्ड बना देते हैं। इसको लेकर वह कुटुम्ब अपनी खाद्य समाग्री को एक विशेष दूकान पर जाकर जो सरकार द्वरा नियुक्त की होती है खरीदता है।

नियत्रण तभी सफल हो सकता है जब सरकार एव जनता एक दूसरे का सहयोग दे। वर्तमान समय के राशन का कटु अनुभव प्रत्येक मनुष्य को है। इसकी सफलता बहुत अश तक कर्मचारियो की ईमानदारी पर निर्भर रहती है। यदि बेईमानी और रिश्वतबाजी से उन्होने कार्य किया तो चोर बाजार गरम हो जाता है और ऐसे नियत्रण का कोई प्रभाव नही पडता। यदि वे ईमानदीरी से कार्य करे तथा खाद्य पदार्थ की पूर्ति को यथाशक्ति पूर्ण करने का प्रयत्न करे तो यह बहुत अश तक सफल हो सकता है।

उपभोग का आदर्श–अधिकाश भारतवासियों की आर्थिक स्थिति खराब है, उस पर भी वे अपव्यय करते हैं। यह बहुत चिन्तनीय है। इसे बन्द किया जाना चाहिए। लोगों में मितव्ययिता की आदत बढनी चाहिये। कृत्रिम तथा विलासिता सम्बन्धी आवश्यकताओं का नियत्रण करने से मनुष्यों के पास अपनी आय मे से कुछ बचत हो सकती है, और उस बचत का उपभोग सेवा, परोपकार, और राष्ट्रहित आदि मे किया जा सकता है, जिसका उल्लेख पहले किया गया है। निदान, हमारी शक्ति, धन और जीवन पर-हित साधन मे लगे, और हम 'परोपकाराय सता विंभूत्य' के आदर्श को चरितार्थ करने वाले हों।

यह शका की जा सकती है कि उपभोग का उद्देश्य तो उपभोक्ता के लिए सुख की प्राप्ति होता है। इस त्याग मे, और अपनी आवश्यकताओं के नियत्रण मे तो सुख न मिलेगा, वरन् दु ख का अनुभव करना पडेगा। परतु यह शका भ्रम मूलक है। निस्सदेह जब आदमी की कृत्रिम या विलासिता की आवश्यकताऍ पूरी करने की आदत पड जाती है, तो उसके नियत्रण में पहले पहल कुछ कष्ट प्रतीत होती है, परन्तु जब वह इस प्रकार बचाए हुए धन से सेवा-परोपकार सबधी अपनी नई आवश्यकताओ की पूर्ति करता है, तो उसे एक अद्‌भुत आनद की प्राप्ति होती है, जो आनद और सुख विलासिता के पदार्थो के उपभोग से मिलना कदापि सभव नही। भोग-विलास का सुख निम्न कोटि का तथा क्षणिक है, हमे इसके पीछे दौडकर अपने तथा देश के विकास मे बाधक न होना चाहिए।

इस सबध में भारतीय आदर्श का ध्यान रखना आवश्यक है। हमारे शास्त्रकारों ने जनता के लिए सर्वथा व्यावहारिक बातो का ही आदेश किया है। उन्होंने कल्पना-जगत् मे विचरण करते हुए यह आदेश नही कर डाला कि सभी आवश्यकताओं को रोको, खाना पीना बद कर दो, और शरीर को सुखा डालो। न उन्होंने व्यक्तिगत सुख वाद की ही पुष्टि की है, जिसका मूल मत्र यह है कि खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, अपने सुख से प्रयोजन है,

दूसरों की चिंता न की जाय। समाज-हित का ध्यान रखता हुआ, हिन्दू धर्म कहता है कि तुम अपनी जवीन-यात्रा के लिए आवश्यक वस्तुओं का उपभोग करो, खाने पीने की मनाई नही है, पर इसमें मर्यादा का ध्यान रखो, विलासिता-प्रिय न बनो, इस उपभोग मे त्याग-भाव रखो, दूसरों के हित की अवहेलना न करो, किसी दूसरे के हिस्से की वस्तु का उपभोग न कर डालो; समाज मे सबको सुखी बनाने का प्रयत्न करते हुए तुम भी सुखी रहो। यही संक्षेप मे उपभोग का आदर्श है । आशा है, पाठक इस पर भली-भाँति विचार करने तथा इसके अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न करेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१—आर्थिक दृष्टि से दान धर्म की सर्वोत्रम प्रणाली कौन सी है ? भारत मे इस प्रणाली के अनुसार दान कहाँ तक होता है ?

२—भारतवासियो मे प्रचलित खर्च के बुरे ढगों का वर्णन कीजिए। आपकी राय मे खर्च कहाँ तक तथा किस ढग पर रोके जाने चाहिए।

३—"विलासिता की वस्तुएँ खरीद कर हम हजारों मजदूरों को काम देते हैं। अतएव विलासिता को वस्तुओं को खरीदना ठीक है।" भारतवर्ष की दशा को दृष्टि मे रखते हुए इस कथन की विवेचना कीजिए।

४—किसी व्यक्ति के खर्च करने के ढग का समाज के ऊपर क्या कोई असर पडता है ? क्या समाज को व्यक्तियों के व्यय करने की स्वतन्त्रता मे बाधा डालनी चाहिये ? (१९३७, १९३४)

५—एक अमीर व्यक्ति अपने खर्च करने के ढग से समाज के अन्य व्यक्तियों पर किस प्रकार भिन्न भिन्न असर डाल सकता है ? (१९३६)

६—उपभोग का भारतीय आदर्श क्या है ?

७—क्या प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आमदनी अपनी इच्छानुसार खर्च करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये ? सरकार द्वारा हस्तक्षेप कहाँ तक वाञ्छनीय है ? (१९४०)

८—युद्धकाल के बाद भी भारत मे खाद्य पदार्थों के राशनिंग की आवश्यकता क्यों पडी ? यह कार्य कहाँ तक सफल हुआ ?

तृतीय खंड

उत्पत्ति

बारहवाँ अध्याय

उत्पत्ति और उसके साधन

पिछले खड मे उपभोग के सबध मे लिखा जा चुका है। अब इस खड मे उत्पत्ति के विषय मे विचार किया जाता है। उत्पत्ति का अर्थशात्र मे क्या अर्थ होता है, यह पहले बताया जा चुका है।

आवश्यकताओं और उत्पत्ति मे सम्बन्ध—आवश्यकताओ और उत्पति मे कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह तनिक विचार करने पर ही स्पष्ट हो जायगा। ससार मे विविध प्रकार के उत्पादन कार्य क्यों किये जा रहे हैं? किसान अन्न क्यों पैदा करता है, जुलाहा कपडा क्यों बुनता है, दुकानदार पदार्थों को क्रय-विक्रय क्यों करता है, क्लर्क दफ़्तर मे लिखा पढी क्यों करता है? ये सब व्यक्ति विविध कार्य इसीलिये तो करते हैं कि इन कार्यों द्वारा वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकते हैं। कोई व्यक्ति तो ऐसे पदार्थ की उत्पत्ति करता है, जिसका वह स्वय उपभोग करेगा, और कोई व्यक्ति ऐसा पदार्थ उत्पन्न करता है, जिसे वह दूसरों को देकर बदले मे उनसे अपनी आवश्यकता की वस्तु ले लेगा। अस्तु, प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति, उसके उपयोग किए जाने के लिये की जाती है। इस विचार से हम यह कह सकते हैं कि उपयोग और उत्पत्ति का कारण और कार्य का सम्बन्ध है। मनुष्यों को विविध प्रकार के पदार्थों की आवश्यकता होती है। वे उन्हे उपभोग करना चाहते हैं। इसलिये ससार मे तरह-तरह के काम धन्धे दिखाई पडते हैं। यदि हमारी आवश्यकताएँ कुछ भी न रहे तो सभवतः बहुत-से कार्य बद कर दिए जाएँ। साथ ही जो पुरुष यथेष्ट पदार्थ खाए-पियेगा ही नही, उसका उत्पादन शक्ति का ह्रास हो जायगा। इस प्रकार उपभोग अर्थात आवश्यकताओं का उत्पत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

उत्पत्ति के भेद—पहले कहा जा चुका है कि अर्थशास्त्र मे उत्पत्ति का अर्थ उपयोगिता-वृद्धि है। अब उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विशेष बातें जानने के लिए पहले उत्पत्ति के भेद जानना आवश्यक है। अतः यहाँ पर विचार किया जाता है कि वस्तुओं की उपयोगिता की वृद्धि किस-किस प्रकार होती है।

उपयोगिता-वृद्धि; रूप-परिवर्तन—कुछ दशाओं में किसी वस्तु के रूप में आवश्यक परिवर्तन करने से उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरणवत् जब दर्जी कपड़े की काट-छाँट करके, किसी व्यक्ति के लिये कोट सी देता है, तो वह उस कपड़े को उस व्यक्ति के लिये पहले से अधिक उपयोगी बना देता है, इसी प्रकार बढ़ई, लकड़ी चीर कर उसकी मेज कुर्सी बनाता है, कुम्हार मिट्टी से बर्तन और ईंटे आदि बनाता है, और सुनार सोना चाँदी से आभूषण या बर्तन बनाता है, ये सब वस्तु का रूपान्तर करके उसे अधिक उपयोगी बनाते हैं।

रूप परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि करने से कच्चा माल पैदा होता है, तथा तैयार माल बनता है। कच्चा माल पैदा करने में खेती बाड़ी और पशुपालन-सम्बन्धी व्यवसाय सम्मिलित हैं। खेती-बाड़ी में अन्नादि के उत्पादन का कार्य प्रकृति द्वारा होता रहता है, मनुष्य केवल बीज, खाद पानी आदि की व्यवस्था करके प्रकृति के कार्य में सहायक होता है और उसकी गति को बढ़ाता है। वह थोड़े से बीज का रूपान्तर करके उससे बहुत सा अन्न आदि पैदा करता है। इससे उस बीज की उपयोगिता बढ़ जाती है, और उनसे बहुत से आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसी प्रकार पशु पालन में पशुओं की वृद्धि तो प्रकृति द्वारा होती है। मनुष्य उनके लिये आवश्यक भोजन आदि का प्रबन्ध करके तथा उनकी रक्षा करके प्रकृति के कार्य में सहायक होता है, और इस प्रकार पशुओं की, रूपान्तर द्वारा उपयोगिता वृद्धि में भाग लेता है।

तैयार माल बनाने में मनुष्य कच्चे माल का इस प्रकार रूपान्तर करता है जिससे वह मनुष्यों के लिये अधिक उपयोगी हो जाय। उदाहरणवत् अन्न से रोटी, बिस्कुट और मिठाई बनाई जाती है, लकड़ी से मेज कुर्सी, तख्त आदि सामान बनाया जाता है, और रुई से भाँति भाँति के वस्त्र बनाये जाते हैं। इस प्रकार विविध शिल्प और उद्योग-धंधे रूपान्तर द्वारा उपयोगिता वृद्धि के उदाहरण हैं।

स्थान-परिवर्तन—स्थान परिवर्तन द्वारा उपयोगिता-वृद्धि करने में यातायात या बारबर्दारी द्वारा होने वाला कार्य सम्मिलित है। जिस जगह जो पदार्थ अधिक मात्रा में हैं, वहाँ से जब उन्हें उन स्थानों में ले जाया जाता है, जहाँ वे कम मात्रा में हैं, अथवा उनकी अधिक आवश्यकता है, तो उनकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इसका सब से अच्छा उदाहरण खनिज पदार्थों को खान से निकाल कर या लकड़ियों को जंगल से काट कर बाजार

मे ले जाने का है। लोहे, कोयले, और भाँति-भाँति के पत्थर आदि की अपना खान के पास, अथवा लकड़ियो की जगल मे, प्रायः बहुत कम उपयोगिता होती है। जब इन चीजों को वहाँ से गाडी, मोटर या रेल आदि द्वारा बाजार मे ले जाया जाता है, तो इनका स्थान-परिवर्तन होने से इनकी उपयोगिता बढ जाती है। अन्न, शाक, फलो को भी खेतो या बगीचों से मडी मे ले जाने से उनकी उपयोगिता बढाई जाती है। यदि नागपुर के सन्तरे, काश्मीर के सेव और काबुल की मेवा को भिन्न भिन्न स्थानो मे न पहुँचाया जाय तो ये पदार्थ इतने उपयोगी न बनें, और अपनी उत्पत्ति के स्थान मे पडे रह कर बहुत कुछ नष्ट हो जाया करें। मछली, मोती शख आदि नदियो और समुद्रो से निकाले जाकर दूर-दूर के स्थानो मे भेजे जाते है तो इनकी भी उपयोगिता कितनी बढ जाती है। ये सब ऐसे उदाहरण है, जिनमे पदार्थों का रूप-परिवर्तन नही होता, वरन् स्थान-परिवर्तन मात्र से उनकी उपयोगिता वृद्धि हो जाती है।

जब धातु के खान से निकाल कर तथा उसे शुद्ध करके लाया जाता है, तो इसमे स्थान के साथ रूप मे भी परिवर्तन होता है। इस दशा म उपयोगिता-वृद्धि के दो प्रकार एक साथ काम करते हुए मिलते है। इसी प्रकार यदि जगल से लकड़ी काट कर और उसके तख्ते चीर कर लाये जायँ तो उसमे भी स्थान एव रूप दोनो के परिवर्तन से उपयोगिता वृद्धि हुई, ऐसा कहा जायगा।

अधिकारी-परिवर्तन—कुछ दशाओं मे ऐसा होता है कि पदार्थ का रूप या स्थान आदि नही बदलता, केवल उसका अधिकारी बदलने से ही उसका उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है। इसमे सौदागरों, आढ़तियो और दलालो का कार्य सम्मिलित है। इनके द्वारा पदार्थ को उन व्यक्तियों से लिया जाकर, जिनके वास्ते उसको उपयोगिता कम है, उन लोगों को दिया जाता है, जिनके लिये उसकी उपयोगिता अधिक है। उदाहरणार्थ एक आदमी के पास एक हजार मन अनाज भरा हुआ है। उसके लिये वह जितना उपयोगी है, साधारण गृहस्थो के लिये वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी है। इसलिये जो दूकानदार बड़े बड़े जमीदारो या व्यापारियों से अन्न खरीद कर उसे साधारण लोगों के पास पहुँचाते हैं, अन्न पर अधिकारियों का परिवर्तन कराते हैं, वे उसकी उपयोगिता-वृद्धि मे सहायक होते हैं। इसलिये अर्थशास्त्र मे इन्हे उत्पादक कहा जाता है।

समय परिवर्तन या संचय—कुछ पदार्थ ऐसे हैं कि वे किसी खास

खेती करने में मिलता है। संसार की प्रारम्भिक अवस्था में बहुत समय तक धनोत्पत्ति का प्रधान मार्ग यही होता है। भारतवर्ष में इस समय भी अधिकांश आदमी खेती द्वारा ही अपनी आजीविका प्राप्त करते हैं। अच्छा, इसमें उपर्युक्त साधन किस प्रकार काम आते हैं? बिना भूमि के खेती नहीं हो सकती, और श्रमी या मनुष्य बिना खेती करेगा ही कौन? परन्तु, भूमि और मनुष्य होने से भी तो खेती नहीं हो सकेगी, उसके लिए बीज, हल, बैल तथा खाद आदि की भी आवश्यकता होगी, ये चीजें मनुष्य का धन हैं, परन्तु अब अधिक धन उत्पन्न करने के हेतु काम में आने के कारण वे ही चीजें उसकी पूँजी कही जाती हैं। इससे स्पष्ट है कि खेती अर्थात् कच्चे पदार्थ पैदा करने के लिए भूमि, श्रम और पूँजी की आवश्यकता है।

अब हम तैयार माल बनाने के एक उदाहरण पर विचार करते हैं। दर्जी के काम की चर्चा पहले की जा चुकी है। वह कपड़े की काट-छाँट करके कोट सीता है। इसमें उसे सीने के लिये बैठने को स्थान (दुकान या मकान) चाहिये, यह भूमि है। उस पर बैठकर वह सिलाई का कार्य करता है, इसमें उसे श्रम करना होता है। फिर उसे कपड़ा, सूई, डोरा आदि भी चाहिये, तभी तो वह कोट तैयार कर सकेगा। ये चीजें उसने पहले कमाये हुए धन में बचत करके जुटाई है, ये उसकी पूँजी हैं। इसी प्रकार लुहार, बढ़ई, जुलाहे आदि के कार्य पर विचार किया जा सकता है। निदान, तैयार माल बनाने में भी, कच्चा माल बनाने की तरह भूमि, श्रम और पूँजी इन तीन साधनों की आवश्यकता होती है।

अब तक हमने जिन उदाहरणों पर विचार किया, वे सब भौतिक उत्पत्ति के हैं। अब तनिक अ-भौतिक उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार करें, अर्थात् यह देखें कि जिन कार्यों से किसी पदार्थ की उपयोगिता वृद्धि न होकर भी धनोत्पत्ति होती है, उनमें उपर्युक्त साधनों का उपयोग किस प्रकार होता है। अध्यापक, डाक्टर, जज, मुन्सिफ, सिपाही आदि अ-भौतिक उत्पत्ति करते हैं, यह पहले लिखा जा चुका है। इनमें से अध्यापक के कार्य पर विचार करें। उसे अपने कार्य के लिये स्थान तो चाहिये ही, वह स्थान चाहे पाठशाला की इमारत के रूप में हो, या बिल्कुल खुला हो। इस प्रकार भूमि आवश्यक हुई। फिर अध्यापक को विद्यार्थी पढ़ाने के कार्य में श्रम करना होता है, यह स्पष्ट ही है। अध्यापक को पहले शिक्षा प्राप्त करने में धन खर्च करना पड़ा है, तभी तो वह इस योग्य हुआ है, कि दूसरों को पढ़ा सकता है। उस खर्च किये हुए धन से ही वह अधिक धन पैदा करने में समर्थ है, ऐसे धन को पूँजी कहते हैं। इस प्रकार अध्यापक के कार्य द्वारा

धनोत्पत्ति करने के लिये भी भूमि, श्रम, और पूँजी ये तीन साधन चाहिये। इसी तरह डाक्टर, जज, मुन्सिफ, सिपाही, गवैये, आदि के कार्य पर विचार किया जा सकता है। इन सब मे भी इन तीन साधनो की आवश्यकता होती है। निदान, अ-भौतिक उत्पत्ति के भी भूमि, श्रम और पूँजी ये तीन साधन होते है।

साधनों के विषय में नवीन विचार; प्रबन्ध (Management) जैसा पहले कहा गया है, प्राचीन अर्थशास्त्री धनोत्पत्ति के ये तीन ही साधन मानते थे। वास्तव मे ये तीन बहुत आवश्यक हैं। परन्तु यदि तनिक विचार कर देखा जाय तो इन तीनो साधनो से धनोत्पत्ति का कार्य नही हो सकता, जब तक कोई इन तीनों को इकट्ठा न करे, और यह निश्चय न करे कि अभीष्ट उत्पादन कार्य के लिए इन तीनों मे से प्रत्येक की कितने परिमाण मे आवश्यकता है। फिर, आज कल धनोत्पादन की विधि मे बहुत अन्तर हो गया है, अब इस कार्य को प्रायः कोई अकेला-दुकेला आदमी नही करता, सैकड़ों हजारों आदमी एक ही कल-कारखाने मे इकट्ठे मिलकर काम करते हुए नजर आते हैं। इन सबको अपने अपने निर्धारित कार्य मे लगाने के लिये एक पृथक् व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जो इस बात का प्रबन्ध करे कि कल-कारखानों मे कौन सा काम कब और किस प्रकार किया जायगा, तथा कौन कौन आदमी कहाँ कहाँ कार्य करेंगे, भूमि कौन सी अच्छी है, और आवश्यक पूँजी कहाँ कहाँ से कितनी कितनी मात्रा मे प्राप्त की जाय। उसे यह भी विचार करना होता है कि कारखाने मे उत्पन्न माल का विज्ञापन देकर कैसे उसकी माँग बढायी जाय, फिर कैसे उसे भिन्न-भिन्न व्यापार-मंडियो में रेल या मोटर आदि के द्वारा भेजा जाय, तथा किस तरह उसकी बिक्री करायी जाय। उपर्युक्त सब बातों का प्रबन्ध करने वाला व्यक्ति प्रबन्धक कहलाता है। यह व्यक्ति श्रम तो करता है, परन्तु इसका श्रम अन्य श्रमजीवियो से भिन्न प्रकार का होता है। अन्य श्रमजीवी तो अपना निर्धारित कार्य मात्र करने के जिम्मेवार होते हैं, परन्तु प्रबन्धक उन सब का निरीक्षण और नियंत्रण करता है, तथा धनोत्पत्ति के अन्य साधनों अर्थात् भूमि, श्रम, और पूँजी आदि का प्रबन्ध करना है। इस कार्य का आज कल बड़ा महत्व है, यहाँ तक कि इसे धनोत्पत्ति का एक स्वतत्र और पृथक् साधन माना जाता है। इसके बिना कल-कारखानों मे धनोत्पत्ति का कार्य चल ही नहीं सकता।

साहस (Enterprise)—प्रबधक के अतिरिक्त आजकल एक और व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की आवश्यकता है, जो धनोत्पादक कार्य के हानि-

लाभ का जिम्मेवार हो। श्रमजीवी तो दैनिक, साप्ताहिक या मासिक वेतन ले लेंगे, प्रबन्धक भी प्रतिमास अपना वेतन ले लेगा, इन्हें इस बात से कुछ प्रयोजन नहीं कि कारखाने में लाभ रहता है या नहीं, और रहता है तो कितना, ये तो अपना कार्य यथा सम्भव अच्छी तरह सम्पादन करने भर के लिये उत्तरदायी हैं। इस प्रकार भूमि वाला उसका किराया, भाड़ा या लगान, तथा पूँजी वाला पूँजी का व्याज अवश्य लेगा। कारखाने के चलने या डूबने की जोखम उस व्यक्ति या कम्पनी आदि पर होती है, जो उसको चलाने का साहस करता है, तथा जोखम उठाती है। बड़े पैमाने पर होने वाले आधुनिक धनोत्पादन में इस कार्य का भी विशेष महत्व है। यह धनोत्पत्ति का एक पृथक् साधन माना जाता है। इसे साहस कहते हैं।

इस प्रकार धनोत्पत्ति के निम्नलिखित साधन हुए :—

(१) भूमि
(२) श्रम
(३) पूँजी
(४) प्रबन्ध और
(५) साहस

उपर्युक्त साधनों में से अन्तिम दो अर्थात् प्रबन्ध और साहस को मिलाकर संयुक्त रूप में व्यवस्था (Organisation) कहते हैं। कुछ व्यक्ति इसके लिये 'संगठन' शब्द का प्रयोग करते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त पाँचों साधन प्रत्येक प्रकार के धनोत्पादन में पृथक् रूप से काम आते हुए दिखाई दें तथापि विषय-विवेचन की सुविधा के लिए उनका अलग अलग विचार कर लेना आवश्यक है।

उत्पत्ति के साधक (Agents of Production)—जिन व्यक्तियों से उत्पत्ति के उपर्युक्त साधनों की पूर्ति या प्राप्ति होती है, वे उत्पत्ति के साधक कहे जाते हैं, इस प्रकार उत्पत्ति के साधक भी पाँच ही होते हैं, यथा—

(१) भूमि का स्वामी अर्थात् जमींदार
(२) श्रम करनेवाला, श्रमजीवी
(३) पूँजीवाला, पूँजीपति
(४) प्रबन्ध करनेवाला, प्रबन्धक, और
(५) साहस करनेवाला, साहसी

यह आवश्यक नहीं है कि धनोत्पत्ति के प्रत्येक कार्य में उपर्युक्त पाँचों

साधक स्पष्ट रूप से भाग लेते हुए दिखायी पड़े। बहुधा ऐसा होता है कि दो या तीन साधकों पर अधिकार या नियन्त्रण रखनेवाला एक ही व्यक्ति होता है, अथवा यह भी सम्भव है कि एक ही साधक द्वारा धनोत्पादन का सब कार्य हो जाय।

खेती के सुपरिचित उदाहरण पर विचार करो। कल्पना करो, एक किसान है, उसके पास थोड़ी सी अपनी भूमि है, उस पर वह स्वय ही श्रम करता है, अर्थात् उसे जोतने, बोने के लिये वह कोई दूसरा श्रमजीवी नहीं रखता। उसके पास बीज, हल, बैल आदि भी अपने ही है, उसे किसी से पूँजी लेने की जरूरत नही। और क्योकि यह कार्य छोटे पैमाने पर है और भूमि, श्रम और पूँजी, सब उसी की हैं, इसलिये इसम प्रबन्ध की विशेष आवश्यकता नहीं, अथवा यों कह लीजिये कि उक्त साधनों को जुटाने का प्रबन्ध स्वयं उसके ही द्वारा किये जाने के कारण वह स्वय ही प्रबन्धक भी है। इसी प्रकार अपने उत्पादन कार्य मे होनेवाले हानि लाभ का जोखम वह स्वय ही उठाता है, इसलिये वह साहसी भी है। निदान पाँचों साधकों का कार्य एक ही व्यक्ति सम्पादन कर सकता है।

यह कच्चे माल की पैदावार के उदाहरण का विचार हुआ। इसी तरह तैयार माल बनाने की क्रिया पर विचार किया जा सकता है। कल्पना करो कि एक बढ़ई है, उसकी अपनी दूकान है, या वह मकान पर काम करता है। उसके पास अपने काम लायक लकड़ी और ओजार आदि हैं। इनसे वह मेज बनाता है। इस कार्य के लिए न कोई प्रबन्धक है और न कोई साहसी। सब का काम वह स्वय ही सम्पादन कर लेता है। इस तरह के अन्य उदाहरणों से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। इसस स्पष्ट है कि तैयार माल बनाने मे भी पूर्वोक्त पाँच साधकों से पृथक् पृथक् रूप से कार्य करने की आवश्यकता नहीं। तथापि सम्यक् विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि हम पूर्वोक्त पाँचों साधकों को, तथा धनोत्पादन मे उनके स्थान को भली भाँति जान लें।

अभ्यास के प्रश्न

१—उत्पत्ति के कितने भेद हैं? उनका संक्षेप मे वर्णन कीजिए।

२—किसी प्रकार की उत्पत्ति मे हमे किन किन साधनों से काम लेना पडता है? खेती का उदाहरण लेते हुए इसे विस्तार पूर्वक समझाइए।

३—"आवश्यकताओ के कारण उत्पत्तिकार्य मे वृद्धि होती है। हमारे

उत्पत्ति कार्य नई आवश्यकताओं को जन्म देते हैं।" इस कथन की भली भाँति विवेचना कीजिए। (१९३८)

४—निम्नलिखित पर संक्षिप्त नोट लिखिए :—
आवश्यकता और उत्पत्ति। स्थान परिवर्तन। उत्पत्ति में प्रबन्ध का स्थान।

५—उदाहरण सहित समझाइए कि स्थान परिवर्तन द्वारा उपयोगिता वृद्धि किस प्रकार होती है।

६—क्या किसी वस्तु के विज्ञापन से अथवा उसके अधिक उपयोग से उपयोगिता वृद्धि होती है?

७—यह समझाइए कि निम्नलिखित व्यवसायों में उत्पत्ति के साधनों का किस प्रकार उपयोग किया गया है :—
हलवाई का दूकान। कपड़े की दूकान। सूत कातना। कपड़े बुनना। गौशाला।

८—दूकानदार और व्यापारी वस्तुओं की उपयोगिता वृद्धि किस प्रकार करते हैं?

९—ग्रामीण उद्योग-धंधों और कल-कारखानों में विभिन्न उत्पत्ति के साधनों के महत्व की तुलना कीजिए (१९३८)

१० निम्नलिखित व्यवसायों में उत्पत्ति के साधनों का कैसा उपयोग होता है? तुलनात्मक रूप से समझाइए :—
गाँव का जुलाहा या कुम्हार। बनारस या मुरादाबाद का पीतल का उद्योग-धंधा। सूत कातने की मिल (१९२७)

तेरहवाँ अध्याय

भूमि

पिछले अध्याय में बताया जा चुका है कि धनोत्पत्ति का एक साधन भूमि है। यहाँ हमें इसके विषय में विशेष विचार करना है। विदित हो कि साधारण बोल चाल में भूमि का जो अर्थ लिया जाता है, वह अर्थशास्त्र में लिये जाने वाले अर्थ की दृष्टि से बहुत भिन्न है। साधारणतया भूमि का आशय पृथ्वी तल से लिया जाता है, परन्तु अर्थशास्त्र में इसके अन्तर्गत वे

सब उपयोगी पदार्थ तथा शक्तियाँ समझी जाती है, जो प्रकृति से प्राप्त होती है और धनोत्पत्ति मे उपयोग की जाती हैं। इस प्रकार 'भूमि' मे निम्नलिखित वस्तुएँ सम्मिलित हैं :—

१—पृथ्वी तल तथा पृथ्वी से प्राप्त होने वाले पदार्थ, यथा—लोहा, कोयला, सोना, चाँदी, मिट्टी का तेल, कुओ का जल, और भूमि की उत्पादक शक्तियाँ, तथा जगल मे मिलने वाले पदार्थ, विविध औषधियाँ आदि।

२—भूमि के ऊपर का जल, नदी, तालाब, झील, समुद्र और इनमे मिलने वाली मछलियाँ, शख, मोती आदि।

३—वायु, गर्मी, सर्दी, प्रकाश, वर्षा तथा जलशक्ति, वायुशक्ति, आदि।

स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र मे प्रकृति का वही भाग 'भूमि' के अन्तर्गत माना जाता है, जो धन की उत्पत्ति करने मे मनुष्य के उपयोग मे आता हो। प्रकृति का शेष भाग 'भूमि' नही माना जाता। कुछ अर्थशास्त्री उत्पत्ति के साधनों मे भूमि की जगह प्रकृति या प्राकृतिक स्थिति की गणना करते हैं।

भूमि के मुख्य लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं :—

(१) **परिमितता**—भूमि के लक्षणों मे सबसे पहिली बात तो यह है कि भूमि परिमाण मे परिमित है। यह ठीक है कि दलदल या जगली बेकार जमीन को उपयोगी बनाकर भूमि का परिमाण बढाया जा सकता है। परन्तु प्रथम तो उसमे समय बहुत लगता है, दूसरे जितनी भूमि का पहिले उपयोग होता है उसकी तुलना मे बढाई हुई भूमि का अनुपात बहुत कम रहता है। इस कारण अल्पकालीन विचार करने से तो भूमि परिमित है ही, दीर्घकालीन दृष्टि से भी इसे परिमित कहा जा सकता है।

(२) प्रकृति का लागत खर्च नहीं होता। भूमि का दूसरा लक्षण यह है कि यह प्रकृति दत्त है। यह परिमाण मे परिमित अवश्य है पर जितनी भी है उसके लिये मनुष्य को कुछ करना-धरना नही पड़ता। वह इन्हे बिना श्रम के ही मिल गई। यह बात प्रारम्भिक स्थिति के ही विषय में है। पीछे तो जहाँ जिसने अधिकार जमा लिया वह उसी की हो गई। अब यदि कोई दूसरा उसे लेता है तो उसे उसकी लागत देनी पड़ती है। कारण यह है कि उस मनुष्य ने उस सर्व प्रथम प्राप्त भूमि पर श्रम एव पूँजी लगाकर उसे अधिक उपजाऊ बनाया है।

(३) **अक्षयता**—भूमि का तीसरा लक्षण अक्षयता है। भूमि अमर एवं अविनाशी कही जा सकती है। भूमि की जो उपज पैदा करने की प्रकृति

दत्त शक्ति है वह तो घट-बट सकती है। परन्तु वह पूर्ण रूप से कभी नष्ट नहीं हो सकती।

(४) **स्थिरता**—भूमि स्थिर है, उसका स्थान नहीं बदला जा सकता। आवश्यकतानुसार मनुष्य एक जगह से दूसरी जगह जा सकता है। पर भूमि के संबंध मे यह बात नहीं है। मनुष्य मे भूमि का स्थान बदलने की क्षमता नहीं।

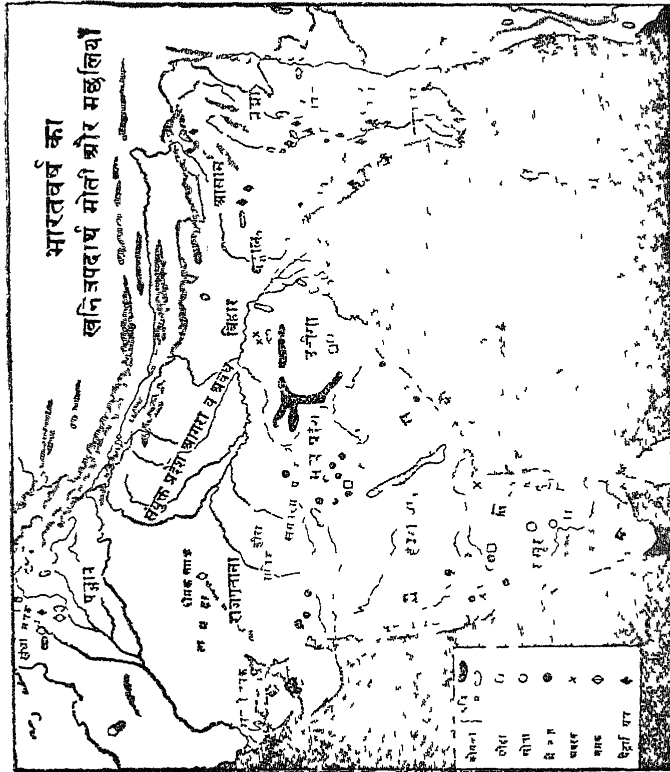
(५) **निष्क्रियता**—भूमि धनोत्पत्ति का एक निष्क्रिय साधन है। उससे अपने आप ही कुछ धन उत्पत्ति नहीं होती। उससे धन की प्राप्ति करने वाला है मनुष्य। मनुष्य अपनी पूँजी और श्रम आदि लगाकर भूमि से धनोत्पत्ति करता है। परंतु जहाँ भूमि निष्क्रिय है उसके साथ यह बात भी है कि वह धनोत्पत्ति के लिए अनिवार्य है। एक तरह से वह श्रम से भी अधिक महत्त्व की है। मनुष्य बैठकर काम तभी कर सकता है जब कि भूमि, हवा और प्रकाश विद्यमान है। इसलिए भूमि और श्रम अथवा प्रकृति और पुरुष दोनों का अपना अपना महत्त्व है।

भारतवर्ष की प्राकृतिक स्थिति—भारतवर्ष एक विशाल भू-खंड है। इसके उत्तर मे पर्वत शिरोमणि हिमाचल की ऊँची, बर्फ से ढकी दीवार है, शेष तीन ओर से यह समुद्र से घिरा हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रकार की जल-वायु, तरह-तरह की भूमि, विचित्र विचित्र दृश्य और भाँति-भाँति की पैदावार देकर मानो प्रकृति ने इसे जगत् की प्रदर्शिनी बनाया है। ऐसी कोई चीज नहीं, जो यहाँ पैदा न हो सकती हो। कच्चे पदार्थों का भंडार होने के कारण इसे औद्योगिक पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति करने के लिए विशेष प्राकृतिक सुविधा प्राप्त है, पूर्वीय गोलार्द्ध का केन्द्र होने से इसकी स्थिति एशिया, योरप और अफ्रीका से व्यापार करने के लिए बहुत अनुकूल है। हाँ, इसे एक बड़ी बाधा का सामना करना पड़ता है, यहाँ अच्छे बन्दरगाहों की कमी है। लगभग ३००० मील लम्बा समुद्र-तट होते हुए भी, यहाँ व्यापार के लिए यथेष्ट उपयोगी बन्दरगाह इने-गिने हैं। इस विषय का विशेष विचार व्यापार के प्रसंग मे किया जायगा। भीतरी आमदरफ्त की दृष्टि से दक्षिण भारत की तुलना मे उत्तर भारत की स्थिति अच्छी है, कारण कि वहाँ पर एक तो ऐसी नदियाँ हैं, जिनमे नावे अच्छी तरह आ जा सकती हैं, दूसरे वहाँ सड़कें और रेलें बनाने मे बहुत सुविधा रहती है, जब कि दक्षिण मे पहाड़ों के या पथरीली भूमि के होने से इसमे बड़ी कठिनाई होती है।

विस्तार—मोटे हिसाब से भारतीय संघ (जिसमे अब बर्मा और पाकि-

स्तान सम्मिलित नही है) का क्षेत्रफल १२ लाख २० हजार वर्ग मील है, इसमे से देशी रियासतो का क्षेत्रफल करीब ५ लाख वर्ग मील है ।

१५ अगस्त १९४७ को पाकिस्तान का राज्य भारतीय सघ से अलग हो गया । पाकिस्तान मे पूर्वी बगाल, सिलहट, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, पश्चिमी पजाब, सिध, और रियासते सम्मिलित हैं । पाकिस्तान का क्षेत्रफल करीब ३ लाख ६१ हजार वर्गमील है । नीचे के नक्शे मे भारतीय सघ और पाकिस्तान के भाग दिखाए गए है ।



प्राकृतिक भाग—भारतीय सघ प्राकृतिक रूप से चार भागों मे विभक्त है :—

(१) उत्तरी पहाडी भाग

(२) गंगा का मैदान

(३) दक्षिण भारत और

(४) समुद्र-तट

उत्तरी पहाडी भाग मे हिमालय १५०० मील तक बलखाता हुआ चला

गया है। इस विभाग की अधिक से अधिक चौडाई २०० मील है। हिमालय बडी बडी नदियों द्वारा उत्तरी भारत को हरा भरा रखता है। इसके पश्चिमी भाग का जल विविध नदियों में बहकर सिंध नदी द्वारा पाकिस्तान में पहुँच जाता है तथा पूर्वीय भाग का गगा मे जा मिलता है। इस विभाग मे बड़े मैदान नहीं हैं। यहाँ तरह तरह की लकडियाँ और वनौषधियाँ पैदा होती हैं। पहाड़ी नालो के जलमे बिजली का अतुल कोष सचित है, परतु देश मे विज्ञान का प्रचार कम होने मे इनका अभी यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता।

गगा का मैदान हिमालय से निकली हुई नदियों की घाटियों से बना हुआ है, और हिमालय की पश्चिमी शाखाओं से पूर्वीय शाखाओं तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल तीन लाख वर्ग मील से अधिक है, सारा उत्तरीय भारत इसमे सम्मिलित है। पश्चिमी रेतीले भाग को छोडकर, वह बहुत उपजाऊ, व्यापार के अनुकूल और घनी आबादी वाला होने मे प्रसिद्ध है। गगा से इसकी सिंचाई अच्छी तरह हो जाती है।

दक्षिणी भारत गगा के मैदान के दक्षिण मे पहाड़ों से घिरा हुआ तिकोना पठार (ऊँचा मैदान) है। इसमे छोटे छोटे पेड और झाड़ियाँ अधिक हैं, जहाँ पानी बहुत है या निकट है, वहाँ बडे बडे वृक्षों के जगल भी हैं। पत्थरों से बनी हुई मिट्टी काले रग की है। इसमे आना-जाना मुश्किल है, सडके और रेले कठिनाई से बनती है। इस पठार की ऊँचाई १२०० से लेकर ३००० फुट तक है। यह भारतवर्ष के पूर्वोक्त दोनों भागों की अपेक्षा अधिक ऊँचा तथा पुराना (अधिक उम्र वाला) है।

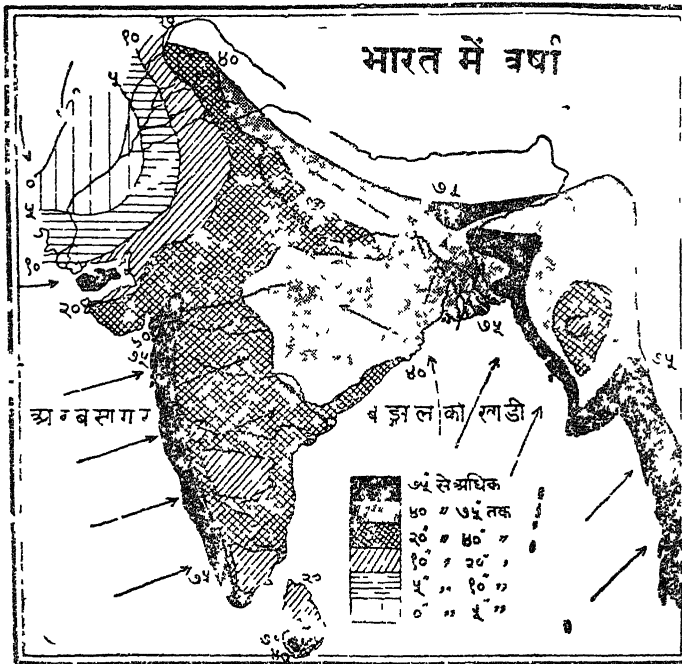
दक्षिण के पठार के पूर्व एव पश्चिम मे तग समुद्रतट का मैदान है इसका बहुत सा भाग समुद्र जल मे ढका हुआ है, जो अधिक से अधिक दो सौ गज गहरा है। पश्चिमी समुद्र तट की चौडाई २० मील से ६० मील तक है। पूर्वीय समुद्रतट की चौडाई ५० मील से १०० मील तक है। इन समुद्र-तटों मे नारियल के पेड़ बहुत होते हैं, और इनमे पैदावार अच्छी होती है।

जल वायु—भारतवर्ष भूमध्य रेखा के पास (उत्तर मे) है, परन्तु तीन ओर समुद्र से घिरा होने के कारण यहाँ गरमी का प्रभाव बहुत अधिक नहीं होता। स्थल का धरातल समुद्र से कहीं तो अधिक ऊँचा है, और कहीं कम। इससे सारे देश मे एक ही तरह का जल-वायु नहीं रहता। प्राय. दक्षिण में गरमी और उत्तरी पहाडी प्रदेश मे सरदी रहती है, बीच मे तरह-तरह का जल वायु मिलती है। मध्य-भारत और राजपूताना समुद्र से दूर हैं और शुष्क हैं। अतएव ये प्राय जाडे मे शीतल और गर्मियों मे बहुत उष्ण रहते हैं।

भारतवर्ष जैसे प्राकृतिक शक्ति-प्रधान देशों मे थोडा सा परिश्रम करने से मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। गर्म भागो मे वस्त्रो की विशेष आवश्यकता नही होती। साधारण आदमी वर्ष का अधिक समय केवल लॅगोट या ॲगोछा पहने बिता देता है। भोजन भी अपेक्षाकृत कम चाहिये। बडे मकान को भी बहुत जरूरत नहीं होती। गर्म देश मे मनुष्य जल्दी थक जाते है, और बहुधा आरामतलब, रोगी, व्यसनी, दुर्बल या अल्पायु होते हैं।

विज्ञान की सहायता से मनुष्य जल-वायु को कुछ अश मे बदल कर अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न कर रहा है। उदाहरणवत् यह विचार किया जा रहा है कि रेगिस्तान मे बडी बड़ो नहरे निकालने, तथा बडे पैमाने पर पेड़ लगाने से जल-वायु मे अन्तर किया जाय। भारतवर्ष मे अभी विज्ञान का इस दिशा मे प्रचार तथा प्रयोग नही हुआ है, और यह काम है भी इतना व्यय-साध्य, कि सरकार ही इसका बीडा उठा सकती है।

वर्षा—कृषि-प्रधान देश होने के कारण यहाॅ वर्षा पर बहुत आश्रय रहा है, उसके अधिक अथवा कम होने से फसले मारी जाती हैं, और बहुत-से आदमियों के जीवन संग्राम की कठिनाई बढ जाती है। वर्षा की मात्रा



पृथक् पृथक् होने से भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भाग खास खास फसलों के लिये उपयुक्त हैं, और देश मे लगभग सभी चीजे पैदा होती हैं। जन-सख्या का आधार भी कुछ अश मे वर्षा की मात्रा ही है, जहाँ वर्षा अच्छी होती है और लोगो को खाने को मिलता है, वहाँ आबादी प्रायः घनी होती है।

वर्षा के सबध में अन्य देशो से यहाँ यह विशेषता है कि साल मे दो मौसमी हवाएँ निश्चित रूप से बहती हैं, यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे पहाड़ आदि के कारण उनकी दिशा बदल जाती है। अप्रेल से सितम्बर तक दक्षिण-पश्चिम (समुद्र) की ओर से, और अक्तूबर से मार्च तक उत्तर-पूर्व अर्थात् स्थल की ओर से हवा चलती हैं। इनमे से पहली हवा से ही वर्षा विशेष होती है।

स्थूल रूप से, वर्षा की दृष्टि से भारतवर्ष के चार भाग किये जा सकते हैं :—

(१) अधिक वर्षावाला भाग, साल भर मे सौ इच से ऊपर वर्षा पश्चिमी तट, गगा के डेल्टा, आसाम और सुरमाघाटी मे होती है।

(२) अच्छी वर्षा वाला भाग, चालीस से सौ इच तक वर्षा गगा की घाटी मे इलाहाबाद तक और पूर्वी तट पर होती है।

(३) खुश्क भाग; बीस से चालीस इच तक वर्षा दक्षिण मे, और मध्य भारत के पठार मे होती है।

(४) बहुत खुश्क भाग; एक से बीस इच तक वर्षा अरावली के पश्चिम में पाकिस्तान के सिध और बिलोचिस्तान मे होती है।

साधारण तौर पर यह ख्याल किया जाता है कि भारतवर्ष मे जिस साल कम वर्षा होती है, उसी साल अकाल अधिक पड़ते हैं, परन्तु यह बात पूर्णतः सत्य नही है। अकालो का मुख्य कारण जनता की बढती हुई दरिद्रता भी है। अकालो की अधिकता का उत्तरदायित्व कुछ हद तक सरकारी प्रबध पर भी है। बगाल का सन १९४३ का अकाल इसका उदाहरण है। वर्षा की बहुधा यहाँ कमी नही रहती परन्तु इस देश मे उसका पानी सचित करके नही रक्खा जाता, वह भूमि मे समा जाता है, अथवा नदियो द्वारा समुद्र मे बह जाता है। उसे बड़ी बड़ी झीलो मे इकट्ठा करके उसका वैज्ञानिक उपयोग करने की ज़रूरत है। पुनः यहाँ अत्यधिक वर्षा से या पकी हुई फसल के समय की वर्षा से कई स्थानो मे बड़ी हानि होती है। डा० बालकृष्ण जी ने लिखा है कि पश्चिमी देशो मे

ऐसे अवसर पर बादलो को तोपों से उडा देते है। कुछ वैज्ञानिक इस बात का भी प्रयत्न कर रहे है कि आवश्यकता प्रतीत होने पर, विद्युत् के द्वारा वर्षा कराई जा सके। हिन्दुओ के प्राचीन शास्त्रों मे ऐसे यज्ञों के होने का उल्लेख पाया जाता है, जिनका उद्देश्य वर्षा कराना था। आज-कल एक तो लोगो का हवन, यज्ञ आदि मे विश्वास नही रहा, और दूसरे यह कार्य इतने व्यय-साध्य है कि साधारण व्यक्ति इनको करने मे असमर्थ रहता है। अस्तु, भारतवर्ष मे खेती वर्षा के भरोसे या आबपाशी के सहारे ही की जाती है।

नदियों का आर्थिक प्रभाव—नदियो से व्यापार और कृषि की सिचाई को बडी सहायता मिलती है। उनसे बने हुए डेल्टों और टापुओं की भूमि बहुत उपजाऊ होती है। नदियो की बाढ से बहुधा गॉव नष्ट हो जाते हैं, खेती की उपज, पशु और अन्य माल-असबाब बह जाता है, लेकिन साथ ही उससे यह लाभ भी होता है कि कही-कही भूमि पर उपजाऊ मिट्टी के परत जम जाते है, सूखे और बंजर स्थानो मे तरावट पहुँच जाती है, एव ऊसर और रेह वाली मिट्टी बह जाती है। नदियो द्वारा मैदान मे पहाड़ो से लकडियॉ और बडे बडे लट्ठे बहा लाए जाते हैं, नहरें काटकर अवर्षण-काल मे भी कृषि की जाती है। नदियो मे बॉध बॉध कर बिजली भी उत्पन्न की जाती है। इस बिजली से देश के उद्योग-धन्धो को सहायता मिलती है।

भारतवर्ष मे पजाब की पॉचो नदी उसके अधिकाश भाग को हरा भरा रखती है। गगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, और गोदावरी तथा इनकी शाखाओं से पूर्वी भारत सीचा जाता है, और उनसे देश के कई भाग ऐसे मिले हुए हैं कि खूब व्यापार हो सकता है। गगा मे एक हजार मील तक तथा ब्रह्मपुत्र मे ८०० मील तक बडी नाव या छोटे जहाज आ जा सकते है। गगा १५०० मील लम्बी है। दक्षिण भारत मे नदियॉ छोटी हैं, और माल ढोने या सिचाई करने के लिए बहुत उपयोगी नहीं हैं।

मिट्टी—भारतवर्ष एक विशाल देश है, इसके भिन्न भिन्न भागो मे तरह तरह की मिट्टी पायी जाती है, विशेष उल्लेखनीय मिट्टियॉ निम्नलिखित हैं—

दोमट मिट्टी (Alluvial Soil)—यह नदियॉ द्वारा लायी हुई चिकनी मिट्टी और रेत से मिल कर बनी होती है। यह सबसे अधिक उपजाऊ होती है। यह मिट्टी राजपूताना, पजाब, सयुक्तप्रात और बगाल मे पायी जाती है। दक्षिण मे यह प्रायद्वीप के दोनो तटो पर, तथा गोदावरी

कृष्णा और कावेरी के डेल्टो मे मिलती है। इन मैदानों मे चावल, और गन्ने की फसले खूब होती है।

लाल मिट्टी—यह मिट्टी मदरास, मैसूर, दक्षिण पूर्व बम्बई, हैदराबाद, मध्यप्रात के पूर्व मे तथा छोटा नागपुर, उड़ीसा, बगाल के दक्षिण मे पायी जाती है। यह मिट्टी बहुत प्रकार की चट्टानो से बनी है—यह अपेक्षाकृत कम उपाजाऊ है। हाँ, सिंचाई की सुविधा होने पर चावल, मकई आदि उत्पन्न कर सकती है।

काली मिट्टी—यह बम्बई के अधिकाश भाग, बरार, तथा मध्यप्रात और हैदराबाद के पश्चिम भाग मे मिलती है। बरसात के दिनों मे यह बहुत चिकनी और चिपकनी हो जाती है तथा गर्मी मे इसमे बहुत दरारें पड़ जाती हैं। यह प्राय. बहुत उपजाऊ होती है। इसमे बिना अधिक बरसात या सिंचाई के ही ज्वार तथा कपास खूब पैदा होती है। इसका कारण यह है कि सूखने पर यह इतनी कडी हो जाती है कि सूरज की किरणे इसके अन्दर के पानी को भाफ बना कर नही उड़ा सकती हैं।

कंकरीली मिट्टी- इस तरह की मिट्टी मे ककड़ और मिट्टी दोनों मिली रहती है। इस प्रकार की मिट्टी मध्यप्रात, उड़ीसा, छोटानागपुर, बंगाल तथा युक्तप्रात के कुछ भागों मे पाई जाती है। निचले भागों मे पानी अधिक रहने पर इस मिट्टी मे धान अधिकता से होता है।

भूमि के भेद—उपज की दृष्टि से, भारतीय सघ के प्रातों मे (जिसमे अब बर्मा और पाकिस्तान सम्मिलित नही है) भूमि के निम्नलिखित भेद किए गए हैं और उनका क्षेत्रफल नीचे लिखे अनुसार है।

१—जगल	५	करोड़	एकड
२—परती भूमि	४	”	”
३—कृषि के योग्य, किंतु बजर	७	”	”
४—कृषि के अयोग्य	७	”	”
५—जिसमे फसल बोई जाती है	१७	”	”
योग	४०	”	”

जंगल—अब इसमे से प्रत्येक प्रकार की भूमि का विचार करते हैं, पहले जंगल का विषय लेते हैं। इनका आर्थिक प्रभाव बहुत होता है—

(क) वर्षा के जल को जल्दी बहकर चले जाने से रोकते है, और उसे पृथ्वी मे सचित करके धीरे-धीरे देते रहते है।

(ख) ये पत्तो द्वारा हवा को तरी देकर गरमी (तापमान) कम करते है।

(ग) इनसे पशुओं के चरने के लिये अच्छी चरागाहे प्राप्त होती हैं, तथा इमारतो और ईधन के लिए लकडी मिलती है।

(घ) इनसे कई व्यवसाय सबधी पदार्थ मिलते हैं, जैसे गोद, रबड़, लाख, चपड़ा, रॅगने के लिए पेडो की छाल, तारपीन, मसाले तथा कागज बनाने की घास आदि।

(ङ) जगलो से भूमि पर वर्षा भी अधिक होती है।

(च) जगलो मे पेडो की जडे मिट्टी को बाँधे रहती है। इससे मिट्टी बहने नहीं पाती, और भूमि क्षीण नहीं होती है।

भारतवर्ष मे पश्चिमी घाट, आसाम और हिमालय प्रदेश मे घने-घने जगल अधिक है, जिनकी लकडियाँ मकान बनाने के भी काम मे आती हैं। पश्चिमी घाट के जगल मे, मध्य-प्रात की बडी-बडी नदियो के किनारे, और हिमालय की तलहटी मे साल के पेड़ होते है। सागौन के वृक्ष मालावार मे अधिक होते हैं, इसकी लकडी कड़ी और ठोस होती है तथा दीमक न लगने के कारण बडी टिकाऊ रहती है। देवदार और चीड़ के पेड़ हिमालय मे होते हैं। आबनूस के पेड मैसूर और मालावार के जगलों मे, तथा चदन के पेड़ मैसूर के जगलो मे होते हैं। नारियल के वृक्ष समुद्र के किनारे ही अधिक होते है। भारत के जगलो मे जो बहुमूल्य लकड़ियें हैं उनके सबध मे अभी तक यह खोज नहीं हो पाई है कि कौनसी लकड़ी किस काम की है। सरकार ने देहरादून मे फारेस्ट रिसर्च इस्टिट्यूट की स्थापना की है जहाँ भारतीय विशेषज्ञ जगलो मे पाई जानेवाली लकडियो के सबध मे खोज कर रहे है।

तारपीन का तेल, कागज के लिये घास या लकड़ी की लुब्दी, लाख कत्था, चमड़ा कमाने मे काम आनेवाले पदार्थ, दियासलाई के लिए लकड़ी, रेल के लिए स्लीपर जगलो से ही प्राप्त होते हैं। जगल को आग से बचाने, छोटे-छोटे पेडों को काटने से रोकने इत्यादि के लिए सरकारी जगल-विभाग सन् १८६१ ई० मे स्थापित हुआ था। इस विभाग ने उपयोगी पेड़ो के लगाने का भी प्रबन्ध किया है। मदरास मे कपूर के पेड़ लगाने मे सफलता हुई है। कई प्रातों मे महागनी और युकलिप्टस के वृक्ष लगाने का प्रयत्न हो रहा है। लाख उपजाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है। सरकार को इस विभाग से क्रमशः अधिकाधिक लाभ हो रहा है, लकड़ी तथा जगल की अन्य पैदावार की बिक्री से उसे आमदनी होती है। जगल की उन्नति कर जनता

को बहुत लाभ पहुँचाया जा सकता है। इस विभाग के स्थापित होने से प्रजा को इतनी असुविधा भी हो गई है कि बहुत से स्थाना मे लोगों को पशु चराने के लिये यथेष्ट भूमि नही मिलती, तथा लकड़ी के अभाव मे गोबर के उपले अधिक जलाए जाने के कारण खेतों मे खाद की कमी हो जाती है।

भारत के पराधीनता-काल मे सरकार ने बनों के विकास मे काफी दिलचस्पी नही दिखाई। इसलिए उनकी विशेष उन्नति नही हुई। भूमि मे जब कोई वृक्ष लगाया जाता है तो बहुत वर्ष बाद उसकी, काम मे आने योग्य पकी हुई लकड़ी मिल पाता है। इस ओर यथेष्ट ध्यान न दिए जाने से अब बन-सम्पत्ति जितनी होनी चाहिए थी, नहीं है। बनों की उन्नति के लिए इसका ध्यान रहना चाहिए। इसके अलावा बेकार वृक्षो की जगह उपयोगी वृक्ष लगाए जाने की, और दूर-दूर के तथा सघन जगलो मे जाने के लिए रास्ते बनाने की भी आवश्यकता है। अभी तक वृक्ष ऐसे हा अधिक लगाए गए हैं, जिनकी लकड़ा इमारत के काम में आतो है। हॉ, खेल-कूद के सामान की लकड़ी प्राप्त करने का प्रयत्न हुआ है। ऐसे पेड़ो के लगाए जाने की बहुत जरूरत है, जिनसे बढ़िया, मजबूत, टिकाऊ लकडी मिले, जो इस समय हमे विदेशों से मॅगानी होती हैं। ईंधन और चारे के लिए बन-क्षेत्र निर्धारित किया जाना चाहिए। अब भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है, आशा है, सरकार जनता की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर नवीन बन-नीति निर्धारित करेगी :

अन्य भूमि—परती भूमि का उपयोग किस प्रकार किया जा सकता है तथा बॅजर भूमि की समस्या कैसे हल हो सकती है, इन बातों का विचार आगे खेती के सम्बन्ध मे लिखते हुए किया जायगा। कृषि के अयोग्य भूमि वह होती है जिसमें कोई चीज पैदा नही हो सकती है। इस भूमि पर या तो मकान आदि बने हुए हैं अथवा नदी-नाले सडके है, अथवा उसका कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यो के लिए उपयोग हो रहा है। बोई जाने वाली भूमि के विषय मे खेती के प्रसग मे लिखा जायगा।

खनिज पदार्थ—हम पहले कह आए हैं कि अर्थशास्त्र की दृष्टि से भूमि मे खानो का भा समावेश होता है। अतः अब हम यहॉ इनका विचार करते हैं। प्राचीन समय से यह देश खनिज पदार्थों के लिए प्रसिद्ध रहा है, इसे रत्न-गर्भा भूमि कहते आये हैं। सोने-चॉदी के आभूषण, तॉबे, पीतल, फूल आदि के बर्तन, लोहे के औजार और हथियार यहॉ चिरकाल से बर्ते जा रहे हैं। विविध खनिज पदार्थ यहॉ उपलब्ध हैं। यह भली भॉति सिद्ध

हो गया है कि बाहर से आनेवाले बहुत से पदार्थ भी यहाँ ही मिल सकते हैं। विस्तारभय से हम यहाँ कुछ मुख्य मुख्य पदार्थों का ही उल्लेख करते है।

लोहा—आज कल यत्रो और मशीनों का युग है और ये चीजें अधिकतर लोहे की ही बनती है। इसके अतिरिक्त हमारे घरो के निर्माण मे, तथा सामान बनाने मे भी लोहे का विशेष स्थान है। इस प्रकार, जिस देश मे लोहा नही होता, उसे अपनी एक मुख्य आवश्यकता के लिए परमुखापेक्षी रहना पड़ता है। सौभाग्य से भारतवर्ष मे यह पदार्थ काफी मात्रा मे मिलता है। बगल बिहार अपनी लोहे की खानो के लिए प्रसिद्ध है, जो कोयले की खानों के निकट ही होने से विशेष उपयोगी है, इसके अतिरिक्त मध्यप्रान्त, मैसूर और मदरास मे भी लोहा खासे परिमाण मे मिलता है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि छोटे नागपुर की पहाडियों मे लोहा बहुत अधिक परिमाण मे मिल सकता है, इसका उपयोग किया जाना चाहिये। पाकिस्तान मे लोहे का अभाव है।

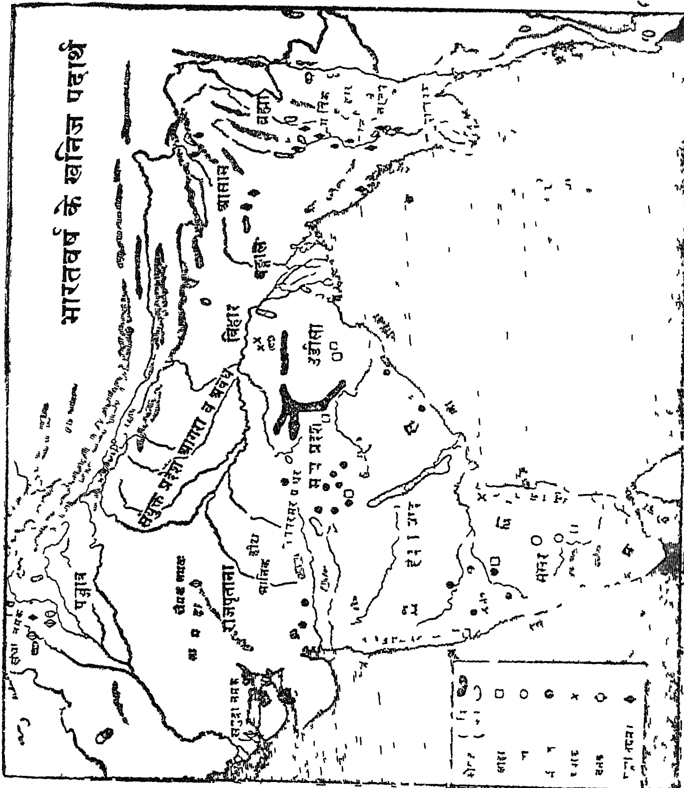
कोयला—आधुनिक औद्योगिक जगत मे कोयले का बड़ा महत्त्व है, जहाँ कोयला निकलता है, वहाँ रेलें, यत्र और कल कारखाने आसानी से जारी हो सकते है। भारतवर्ष का ६० फी सदी कोयला बगाल तथा बिहार से मिलता है, कुल कोयले का आधा भाग झरिया से, एक तिहाई रानीगज से आता है। पजाब, मध्य-प्रान्त, मध्य-भारत, आसाम, हैदराबाद मे छोटी खाने है। पाकिस्तान मे कोयले की बहुत कमी है। भिन्न-भिन्न स्थानों के कोयले के भाव मे काफी अन्तर होता है, इसका कारण कोयले का गुण, उसकी गहराई, काम मे आनेवाली मशीने, मजदूरी आदि के व्यय का अन्तर होता है। भारतवर्ष मे अन्य देशो की अपेक्षा कोयला सतह के पास ही मिलता है। परन्तु जिस रीति से यहाँ खानों से निकाला जाता है, वह बहुत आपत्ति-जनक है, उससे इसका भडार जल्दी समाप्त हो जायगा, अतः उसमे सुधार की आवश्यकता है।

पेट्रोल—भारत मे पेट्रोल की कमी है। बर्मा के अलग हो जाने से इसकी बहुत ही कमी हो गई है। आसाम प्रात से ही अब थोड़ा तेल प्राप्त होता है। पाकिस्तान में रावलपिंडी के पास भी थोड़ा तेल पाया जाता है।

अन्य खनिज पदार्थ—मैंगनीज की खाने मध्य-प्रदेश और मदरास मे हैं। यह इसपात बनाने के काम आती है। यह विदेशों को भी भेजी जाती

है। पाकिस्तान मे नमक की खान झेलम के किनारे से सिंध के पार कुछ दूर तक चली गई है। भारतीय सघ मे साँभर की झील मे तथा समुद्री तटों प खारी पानी से भी नमक बनाया जाता है। शोरा प्रायः उत्तरी बिहार मे मिलता है। सोने की खाने कोलार (मैसूर) मे हैं। अभ्रक की खाने अजमेर, मदरास मे हैं, ससार-भर के खर्च के लिए आधे से अधिक अभ्रक-भारत से ही जाता है। बिजली के कामों मे अभ्रक का उपयोग होता है।

भारतवर्ष की खनिज स्थिति— भारतवर्ष के विस्तार और जन-संख्या को देखते हुए यह कहना भ्रममूलक है कि यहाँ खनिज साधन बहुत



अधिक है, अथवा यह देश औद्योगिक और सामरिक सभी खनिजों मे सम्पन्न और स्वावलम्बी है। भारत-सरकार के, जनवरी १९४७ के विचार-पत्र के अनुसार यहाँ के खनिजों को चार श्रेणियों मे बाटा जा सकता है—

(१) ऐसे खनिज, जो हमारी जरूरत से इतने अधिक हैं कि उनका

निर्यात करके हम दुनिया के बाजारो मे अपना प्रभुत्व कायम कर सकते हैं। जैसे कच्चा लोहा, कच्चा टिटेनियम और अभ्रक आदि।

(२) ऐसे खनिज जो हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के अतिरिक्त पर्याप्त मात्रा मे बाहर भेजे जा सकते हैं—जैसे कच्चा मेगनीज, क्वासाइट, सिल्लिका, खडिया मिट्टी, इमारती पत्थर, ग्रेनाइट और सिमेंट आदि।

(३) ऐसे खनिज जो यहाँ की वर्तमान तथा निकट भविष्य की आवश्यकताओं के लिए ही काफी समझे जाते हैं—जैसे कोयला, कच्चा अल्यूमिनियम, सोना, सोडियम, नमक, क्षार पदार्थ, संगमरमर, स्लेट, उद्योग के काम की मिट्टियाँ, चूना आदि।

(४) ऐसे खनिज जिनके लिए भारत को बहुत-कुछ विदेशी आयात पर निर्भर रहना पडता है—जैसे ताम्बा, चादी, निकल, पेट्रोलियम, गधक, सीसा, जस्ता, टीन, पारा, पोटाश आदि। ये चीजें लगभग आधी ऐसी होती है जो भारत से ही भेजे गए कच्चे माल से तैयार की जाती हैं।

हमारे पराधीनता-काल मे भारतवर्ष की खनिज सम्पत्ति का देशवासियों की दृष्टि से उपयोग नही किया गया। पेट्रोलियम, सोना, और ताम्बे की खानो के स्वामी विदेशी पूँजीपति रहे, उन्होंने ही कोयला और मेगनीज की खानो का नियत्रण किया। उनके खुदाई के ढग ऐसे अवैज्ञानिक रहे कि खनिजो का बहुत सा परिमाण नष्ट हो गया। फिर, उनका ध्यान मुनाफा कमाने की ओर रहा, इस लिए उन्होने खनिज पदार्थों का खूब निर्यात किया। निर्यात के पदार्थ साफ किए बिना ही, बहुत नीची दरो पर भेजे गए, इससे भारतीय आय की बहुत हानि हुई। इसके अलावा हम कोयला, अभ्रक आदि के बडे परिमाण से वञ्चित हो गए। हमारी खानें खाली होने या उनमे 'क्रमागत ह्रास' नियम लगने लगा। इसका अर्थ यह है कि ऐसी सीमा आने लगी कि उसके आगे जिस अनुपात से श्रम और पूँजी बढायी जाय, उस अनुपात से उत्पत्ति न बढ़े। यह बात बहुत चिन्तनीय रही, क्योंकि खानो से जब एक बार पदार्थ निकाल लिए जाते हैं तो वे सदा के लिए खाली हो जाती हैं, धातुएँ फिर पैदा नही की जा सकती।

अब देश स्वाधीन हो गया है। आशा है, खानो की रक्षा का यथेष्ट विचार रखा जायगा। उनसे पदार्थ निकालने के लिए वैज्ञानिक पद्धति का व्यवहार होगा, तथा उन पदार्थों का देश के लिए अधिक-से-अधिक उपयोग होगा। खासकर जो खनिज पदार्थ उद्योगों के लिए तथा सैनिक सामग्री के लिए अत्यावश्यक हैं, उनका प्रबन्ध प्रान्तीय या रियासती सरकारों पर न छोड कर केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जायगा।

शक्ति के स्रोत (Sources of power)—भारतवर्ष मे शक्ति के स्रोत कम नहीं है। आधुनिक उद्योग-धधों और कल कारखानो की जान कोयला और बिजली है। भारतवर्ष मे सचालन-शक्ति के लिए इनका ही उपयोग बहुत किया जाता है। कोयला यहाँ काफी मात्रा मे है, तथापि इसका भडार कम हो रहा है। यहाँ तेलो का भी बहुत उपयोग हो सकता है, परतु उसकी भी एक सीमा है। यहाँ ससार शिरोमणि हिमालय तथा अन्य बड़े-बड़े और ऊँचे ऊँचे पहाड हैं, जिनमे अनेक जलप्रपात हैं। बड़ी-बडी नदियों की भी यहाँ कमी नही। समुद्र तो इस देश को तीन ओर से घेरे हुए है। इस प्रकार यहाँ जल-शक्ति भी खूब विद्यमान है। हाँ, आधुनिक साधनो से उसे बिजली के रूप मे परिणत करके वह कहाँ तक काम मे आने योग्य बनाई गई है, तथा उसे कितना और बढाया जा सकता है, यह विचारणीय है।

यह निश्चित है कि भविष्य मे हाइड्रो-इलेक्ट्रिक अर्थात् जल-विद्युत वाली योजनाओं से अधिकाधिक प्रयोग होने की सभावना है। यह बिजली सस्ती और अच्छी होती है। इसमे कष्ट-प्रद धुआँ भी नहीं होता। बिजली एक स्थान उत्पन्न करके दूर-दूर ले जायी जा सकती है। इससे कारखानो का एक ही स्थान पर एकत्रीकरण आवश्यक नहीं है। ग्रामो मे इसकी सहायता से छोटे-छोटे उद्योग आसानी से चलाए जा सकते हैं। भारतवर्ष मे सबसे पहले मैसूर दरबार ने इस शक्ति से काम लेना शुरू किया था। यहाँ पर कावेरी के जल-प्रपात से यह शक्ति उत्पन्न की जाती है। इसका उपयोग सोने की खानो मे किया जाता है। इस जल-प्रपात से ४०,००० घोड़ा शक्ति की बिजली उत्पन्न की जाती है, जिससे काफी कारखाने चलते हैं। टाटा की कपनियो द्वारा पश्चिमी घाट के जल-प्रपातो से भी बिजली उत्पन्न की जाती है। ये जल-प्रपात कृत्रिम हैं। नदियों का पानी बरसात मे रोक लिया जाता है तथा नहरो द्वारा ले जाकर पहाड़ों पर से गिराया जाता है। इससे बबई के सब कारखाने ट्राम तथा रेले चलाई जाती हैं।

मद्रास मे भी पाईकर नदी के जल-प्रपात से बिजली पैदा की जाती है। काश्मीर मे झेलम नदी द्वारा बिजली उत्पन्न की जाती है। इसी बिजली का काश्मीर के शहरो तथा कारखानो मे प्रयोग किया जाता है। काश्मीर-नरेश ने रामपुर मे एक जल-प्रपात से बिजली निकाली है।

गत वर्षो मे सयुक्त-प्रात मे बिजली की खासी उन्नति हुई है। बड़े बड़े शहरों मे बिजली का प्रबध हो गया है। गगा जी के नहरों के जल से भी बिजली उत्पन्न की जाती है। इस प्रात के पश्चिमी भाग मे, बिजली केवल

बड़े-बड़े नगरों मे ही नही, कुछ छोटे-छोटे नगरों और ग्रामो मे भी पहुँच गई है। उपर्युक्त स्थानों मे उसकी दर सस्ती होने के कारण वहाँ सिचाई के लिए नदियां और 'ट्यूब वेल' से काफी पानी निकालने के लिए बिजली का उपयोग हो रहा है। अब पूर्वी जिलों मे विद्युत्-योजना को सफल करने का प्रयत्न हो रहा है। परतु अभी तक जल-शक्ति का बहुत कम उपयोग हो पाया है।

भारत मे जलविद्युत की नयी योजनाएं—भारत स्वतत्र होने पर केन्द्रीय और प्रातीय सरकारों ने नदियो की जल-शक्ति का अधिक उपयोग करने के लिये कई योजनाए तैयार की है और कुछ योजनाओ के अनुसार तो कार्य भी आरभ हो गया है। इन योजनाओ का मुख्य उद्देश्य भारत की नदियो मे बाध बाधकर नदियो की बाढो को रोकना, बिजली पैदा करके उद्योग धधो को सहायता पहुँचाना और नदियो के जल का सिचाई तथा यातायात के लिये उपयोग करना है। इन योजनाओ के सफल होने पर २० वर्षों के अदर भारत मे बिजली की लाइनो का जाल सा बिछ जायगा और भारत की आर्थिक दशा मे आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जायगा इसमे सदेह नही है। कुछ प्रधान योजनाओं का दिग्दर्शन हम नीचे करते हैं :—

दामोदरघाटी योजना:—इस योजना पर ५५ करोड रुपए व्यय होने का अनुमान है। आठ बाँध बाँधे जायँगे। इससे बाढ-नियन्त्रण के अतिरिक्त लगभग पौने आठ लाख एकड़ क्षेत्र मे सिचाई हो सकेगी, और लगभग ३ लाख किलोवाट बिजली पैदा की जायगी, जिससे अनेक उद्योग-धन्धे आरम्भ हो जांयगे। इसके अतिरिक्त दामोदर नदी बारहो महीने नौका-सचालन के योग्य बनी रहेगी और यातायात के लिए बहुत सुविधा हो जायगी। नहरो और बाँधो के किनारे बहुत से बाजार और मडियाँ बन जायँगी। इस प्रकार बिहार और पश्चिमी बगाल के निवासियों के अनेक अभाव दूर होने मे मदद मिलेगी, और उनके जीवन मे अद्भुत क्रान्ति होगी। कलकत्ता, डालमिया नगर, जमशेदपुर, पटना आदि के कारखाने इस योजना द्वारा प्राप्त बिजली से चल सकेगे। दामोदर घाटी की उन्नति के लिए दामोदर कारपोरेशन स्थापित किया गया है।

हीराकुंड बांध—यह बाँध महानदी पर उडीसा प्रात में सबलपुर के पास बनाया जा रहा है। इस बाध के दोनों ओर से नहरे निकाली जावेंगी, जिससे करीब ११ लाख एकड़ भूमि मे सिंचाई हो सकेगी। इसके द्वारा ३½ लाख किलोवाट बिजली तैयार होगी जिससे उड़ीसा के उद्योग-धधो की उन्नति होगी। महानदी मे समुद्रतट से ३८० मील दूर तक जहाज भी आ सकेंगे।

कोसी बांध—बिहार प्रात मे कोसीनदी की बाढ से प्रतिवर्ष बहुत हानि होती है। इस हानि से बचने के लिए नैपाल राज्य मे वाराह क्षेत्र के पास करीब ७५० फुट ऊँचा बाध बनाया जायगा। यह ससार मे सब से ऊँचा बाध होगा। इस नदी की नहरों से १० लाख एकड़ भूमि नैपाल मे और २० लाख एकड भूमि बिहार मे सींची जा सकेगी। इससे करीब १८ लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी जिससे बिहार और नैपाल के गावो मे बिजली पहुँचाई जायगी और उद्योग-धधो की उन्नति की जायगी।

रिहांड बांध—रिहाड नदी सोन नदी की सहायक है। युक्तप्रात के मिर्जापुर जिले मे पिपरिया गाव के पास इस नदी पर बाध बनाया जा रहा है। इस बाध के बनाने मे करीब १६ करोड़ रुपये खर्च होगे। इससे निकली हुई नहरों से बनारस, आजमगढ, रायबरेली, सुलतानपुर, फैजाबाद और प्रताप गढ जिलों मे करीब ४० लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी। इस बाध के बनने पर २ लाख से अधिक किलोवाट बिजली उत्पन्न होगी जिससे सयुक्त प्रात के पूर्वीय जिलो मे सस्ते दामों पर बिजली पहुँचाई जायगी।

भाकरा बांध—यह बाध पूर्वीय पंजाब मे सतलज नदी पर बनाया जा रहा है। इसके बनने मे करीब १८ करोड़ रुपये खर्च होंगे। इसके द्वारा ४५ लाख एकड भूमि मे सिंचाई होने की आशा की जाती है। इस बाध के बनने पर २ लाख से अधिक किलोवाट बिजली उत्पन्न की जावेगी, जिससे पूर्वी पजाब के हिसार और रोहतक जिलों मे जहाँ अकाल का डर रहता है, खेती और उद्योग धधो की खूब उन्नति होगी।

नर्मदा और ताप्ती घाटी योजना—नर्मदा और ताप्ती नदियों पर बाध बनाकर बिजली उत्पन्न करने और नहरे निकालकर सिचाई करने की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। इससे मध्यप्रात, मध्यभारत और गुजरात प्रात के निवासियो को लाभ होगा।

नर्मदा के दोनों किनारों की भूमि तपोभूमि है। हिंदू शास्त्रों मे आदेश है 'रेवातीरे तप कुर्यात् मरण जान्हवी तटे' रेवा अर्थात नर्मदा के किनारे तप करना चाहिए और मरने के समय गगा किनारे पहुँच जाना चाहिये। आज कल हजारों सत महात्मा नर्मदा की श्रद्धापूर्वक परिक्रमा करते है और गुफाओं और झाड़ियों में तपस्या करते हैं। बाधों के बनाये जाने से तपस्या की सुविधा न रह जायगी। देश की भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक उन्नति होना भी आवश्यक है। दोनों का सामजस्य न बिगडने पावे इसलिये यह आवश्यक है कि भारत की कम से कम एक नदी की पवित्रता और शाति

आध्यात्मिक उन्नति के लिये सुरक्षित रहने दी जाय। इसलिये नर्मदा पर बाध बनाए जाने के हम पक्ष मे नही हैं। ताप्ती नदी पर बाध की योजना का हम भी समर्थन करता है।

अन्य योजनाएँ—निम्नलिखित योजनाओ पर भी विचार किया जा रहा है। मद्रास प्रात मे तुगभद्रा नदी पर बाध, पश्चिमी बगाल मे मोर नदी पर बाध, गुजरात मे साबरमती नदी पर बाध, बस्तर राज्य (मध्य प्रात) मे इद्रावती और साबी नदी पर बाध, आसाम प्रात मे ब्रह्मपुत्र, बारक और सोमेश्वरी नदियो पर बाध, सयुक्त प्रात और बिहार मे सोन नदी पर बाध, सयुक्त प्रात के अल्मोडा जिले मे नैयर बाध, सयुक्त प्रांत मे रामगगा नदी पर बांध, मध्यभारत और राजस्थान मे चबल नदी पर बाध, पटियाला राज्य मे डोची बाध और मद्रास प्रात मे रामपाद सागर योजना इत्यादि। भारत मे इन सब योजनाओ के अनुसार सिचाई के साधन बढ जाने से अनाज की उपज की खूब वृद्धि होगी और हमको अनाज के लिये अन्य देशो का मुँह नही ताकना पडेगा। आज कल करीब ५ लाख किलोवाट बिजली भारतीय सघ मे जल प्रपातों से उत्पन्न की जाती है। उपर्युक्त योजनाओ के पूर्ण हो जाने पर प्रतिवर्ष ६० लाख किलोवाट बिजली उत्पन्न होने लगेगी। इससे उद्योग धधों की भी खूब उन्नति होगी।

शक्ति के अन्य साधन—जल-विद्युत् की सभावनाओ के अतिरिक्त यहाँ वायुशक्ति भी पर्याप्त है, पर उससे काम लेना बहुत लाभदायक नही होता। सन १९४५ मे एटम बम का आविष्कार हुआ जिसका उपयोग जापान के दो नगरों को नष्ट करने और जापान को युद्ध मे हराने मे किया गया। वैज्ञानिको का विश्वास है कि परिमाणुओं की अपरिमित शक्ति को काम मे लाकर मनुष्यहित के कामों मे लगाया जा सकेगा। सूर्य के तेज के उपयोग का भी विचार हो रहा है। अभी इसका प्रयोग महँगा है। क्रमशः विज्ञान द्वारा उसके सस्ते हो जाने की आशा है। कुछ आश्चर्य नही, यदि किसी समय ससार के कल कारखानों का सचालन सूर्य की शक्ति से ही होने लगे। फिर, भारत जैसे गर्म देशों की तो खूब ही बन आएगी।

उत्पत्ति के साधनो मे भूमि का महत्व—पिछले अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि उत्पत्ति के पाँच साधन हैं—भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था और साहस। यह भी कहा जा चुका है कि प्राचीन काल मे जब कि धनोत्पादन कार्य छोटे पैमाने पर होता था तो व्यवस्था और साहस का विशेष प्रश्न ही नही उठता था। अब भी अनेक स्थानो मे बहुत से आदमी धनोत्पत्ति के साधारण कार्य करते हैं तो उनके भूमि, श्रम और पूँजी ये तीन

ही साधन होते है। और कितनी ही दिशाओं मे तो इनमे से भी पूँजी की कुछ विशेष आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि पूँजी से धनोत्पादन मे सहायता मिलती है, तथापि कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं कि पूँजी के बिना भी कुछ धनोत्पत्ति हो सकती है। हाँ, वह बहुत अल्प परिमाण मे होगी। लकड़हारा जगल मे कुछ लकडी चुन कर अपने हाथों मे या सिर पर रख कर ला सकता है, बिना पूँजी अर्थात् रस्सी तथा गधे या भैंसे आदि के भी वह कुछ धन पैदा कर सकता है। एक अच्छे कठ वाला व्यक्ति बिना कुछ शिक्षा पाये और बिना किसी बाजे या सितार के भी अपने स्वर से श्रोताओ को मुग्ध करके अपनी आजीविका के लिये कुछ द्रव्य प्राप्त कर सकता है। इस दशा मे उसे खड़े होने या बैठने क लिये भूमि चाहिये, फिर वह केवल अपने श्रम से, अर्थात् बिना पूँजी के ही धनोत्पत्ति का कार्य कर सकता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण देकर बताया जा सकता है कि उत्पत्ति के साधनो मे भूमि और श्रम की प्रधानता है। निदान यदि मनुष्य धनोत्पादन करना चाहे तो उसे सर्वाधिक आवश्यकता भूमि की है। भूमि के बिना वह किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नही कर सकता। इससे, उत्पत्ति के साधनो मे भूमि का महत्व स्पष्ट है।

कृषि, उद्योग और व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न गुणवाली भूमि की माँग—भूमि की उपयोगिता दो प्रकार के गुणो पर निर्भर होती है, और कृषि, उद्योग तथा व्यापार के लिए इन गुणो की भिन्न-भिन्न परिमाण में आवश्यकता होती है। उपर्युक्त दो गुण ये हैं—भूमि के आन्तरिक गुण, तथा बाह्य परिस्थिति। आन्तरिक गुणो मे वे बाते सम्मिलित है, जिनसे वह उपजाऊ होती है। कहीं की मिट्टी कम उपजाऊ होती है, कही की अधिक। कही-कही भूमि पथरीली या रेतीली, अथवा बहुत ढालू होने से उसमे पैदावार कम होती है। कृषि की दृष्टि से विचार करते समय, भूमि की इन बातों को बडा महत्व दिया जाता है।

किसान चाहता है कि भूमि अधिक से अधिक उत्पादक हो, उसकी मिट्टी इस प्रकार की हो कि पौदो की मुलायम पतली जडे आसानी से नीचे जा सकें, और साथ ही मिट्टी मे यह भी गुण हो कि जड़ों को अच्छी तरह स्थिर रख सके। रेतीली भूमि जल को बहुत नीचे चले जाने देती है और शुष्क बनी रहती है, उसमे जल के अतिरिक्त अन्य आवश्यक तत्व भी ऊपर नहीं रहने पाते, इसलिये वह उत्पादक नही होती। भूमि पथरीली या ककरीली भी नहीं होनी चाहिये, कारण, कि सख्त मिट्टी मे पौदो के लिये जल तथा अन्य आवश्यक तत्व यथेष्ट परिमाण मे प्रवेश नहीं करने पाते, अतः यह भी

बहुत कम उत्पादक होती है। मनुष्य अपने अनुभव और ज्ञान से ऐसी भूमि की उपयोगिता बढाने का कैसा प्रयत्न करता है, इसका विचार अन्यत्र प्रसगानुसार किया गया है।

भूमि की उत्पादकता के अतिरिक्त, किसान यह भी चाहता है कि भूमि 'मौके की' हो, अर्थात् बाह्य परिस्थिति की दृष्टि से भी वह अच्छी हो। उदाहरणवत् यदि उसके पास से रेलवे लाइन निकली हो, या अच्छी सड़कें आदि हो तो उसे अपनी पैदावार दूसरे स्थानो मे भेजने मे सुविधा होगी। इसी प्रकार यदि भूमि के पास नहर या बडा तालाब हो, तो सिंचाई सुगमता से हो सकेगी। और, अगर वह भूमि गाँव के पास ही है तो गाँव से लाकर उसमे खाद देने मे विशेष कठिनाई न होगी। ऐसी भूमि को किसान अवश्य ही उस भूमि की अपेक्षा अधिक चाहेगा, जिसमे ये सुविधाएँ न हो। इस प्रकार कृषि-भूमि मे उसके आन्तरिक गुणों तथा बाह्य परिस्थिति की अनुकूलता दोनों की जरूरत होती है।

खनिज भूमि मे उसके आन्तरिक गुणों का विचार प्रधान रहता है, पर उससे दूसरे दर्जे पर बाह्य परिस्थिति का भी यथेष्ट महत्व है। किसी खान से पदार्थ निकालने के व्यवसाय मे यह देखा जाता है कि इसके निकालने मे जो व्यय होगा, वह उसको बाजार मे ले जाकर बेचने से मिल जायगा या नही। यदि बाजार बहुत दूर है और वहाँ तक खनिज वस्तु ले जाने मे बहुत अधिक खर्च पड़ता है, यहाँ तक कि उस पदार्थ को बेचने मे कुछ नुकसान रहता है, तो कोई उस खान के उपयोग का विचार न करेगा।

व्यापार और कल-कारखानों के लिये भूमि का उपयोग करने मे उसके आन्तरिक गुणों को प्रायः कुछ महत्त्व नही दिया जाता। उसमे प्रधानता देखी जाती है, बाह्य परिस्थिति की। व्यापारी और कारखानेदार इस बात का विचार करते हैं कि उनकी भूमि अच्छे मौके पर हो। इससे उनका कारोबार अधिक चलेगा। यही कारण है कि साधारण ग्रामों की अपेक्षा राजधानियों, तीर्थों तथा दर्शनीय स्थानों मे भूमि का मूल्य अधिक होता है। यहाँ बड़े बडे नगर बस जाते हैं। फिर इन नगरों मे भी मुख्य-मुख्य बाजारो मे छोटी-छोटी सी दुकान का भी बहुत अधिक किराया होता है। सब दूकानदार और व्यापारी चाहते हैं कि उन्हे मौके की जगह मिल जाय, इसलिये वे उसके लिये बहुत अधिक मूल्य देने को तत्पर रहते हैं—यद्यपि यह भूमि उत्पादकता की दृष्टि से कुछ विशेष उपयोगी नही होती।

इस प्रकार किसी कार्य के लिये भूमि के जैसे गुणों की आवश्यकता होती है, इसके लिए वैसे ही गुणों वाली भूमि की माँग होती है।

अभ्यास के प्रश्न

१—अर्थशास्त्र मे भूमि का क्या अर्थ लगाया जाता है ? अर्थ समझाने के लिए उदाहरणों का उपयोग कीजिए। देश की प्राकृतिक सम्पत्ति का हाल सक्षेप मे लिखिए और बतलाइए कि आजकल उनका कहाँ तक उपयोग किया जाता है ? (१६२६)

२—धन की उत्पत्ति मे भूमि का महत्व समझाइये।

३—किसी देश की आर्थिक उन्नति मे संचालन शक्ति का क्या महत्व रहता है ? यू० पी० तथा भारत के अन्य भागो मे जल शक्ति की वृद्धि से कहाँ तक हमारे उद्देश्यों की पूर्ति होगी ? (१६३६)

४—भारत मे सचालन-शक्ति के मुख्य साधन क्या हैं ? हाइड्रो इलेक्ट्रिक शक्ति के विकास का ग्रामीण उद्योग-धधों और कृषि पर क्या प्रभाव पडेगा ? (१६३४)

५—भारत मे सचालन-शक्ति के मुख्य साधन क्या हैं ? किस प्रकार यह शक्ति बढाई तथा अधिक से अधिक सुगमतापूर्वक वितरण की जा सकती है ? (१६२१)

६—भारत की मिट्टी और जलवायु का वर्णन कीजिए और समझाइए कि इनका हमारे देश की आर्थिक उन्नति पर क्या प्रभाव पडता है ? (१६३३)

७—यू० पी० की खास मिट्टी और जलवायु का वर्णन कीजिए। इनका प्रात की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

८—यह बताने के लिए कि भारतवर्ष कहाँ तक औद्योगीकरण के लिए उपयुक्त है, सक्षेप मे भारत की प्राकृतिक सम्पत्ति का वर्णन कीजिए। (११३८)

६—भूमि का अर्थ अर्थशास्त्र की दृष्टि से समझाइये। उत्पत्ति के अन्य साधनों से भूमि किस प्रकार भिन्न है। (यू० पी० १६४२)

१०—भारतवर्ष मे कल-कारखानो के शक्ति की साधन की वर्तमान परिस्थिति क्या है ? देश मे कौन-कौन से शक्ति-साधनों की विशेष उन्नति होने की सभावना है। (यू० पी० १६४३)

११—भारतभूमि स्वर्णभूमि, रत्नगर्भा और अनत शक्ति का स्रोत है, इस कथन का सत्यता सिद्ध कीजिये।

१२—भारत मे जल-विद्युत की नयी योजनाओं का सक्षेप मे वर्णन

कीजिये, उनके द्वारा २० वर्षों के अदर भारतवासियों की आर्थिक दशा मे क्या परिवर्त्तन होगे ?

चौदहवाँ अध्याय

श्रम

श्रम की परिभाषा—पिछले अध्याय मे उत्पत्ति के एक साधन—भूमि के विषय मे विचार किया जा चुका। अब दूसरे साधन, श्रम के सम्बन्ध मे लिखते हैं। स्मरण रहे कि अर्थशास्त्र मे, श्रम के अन्तर्गत, मनुष्य द्वारा किया हुआ केवल वह प्रयत्न माना जाता है जो मनोरजन के लिये न किया जाकर धनोत्पत्ति के लिये किया जाय। इस बात को थोड़ा स्पष्ट करने की आवश्यकता है। धनोत्पत्ति के लिये किये हुए प्रयत्नो मे भी कभी कभी मनुष्य को कुछ मनोरजन होता है। अनेक लेखक, कवि, चित्रकार ही नही, शिल्पी आदि भी जब अपने कार्य मे लगते हैं, तब कभी-कभी उसमे इतने मग्न हो जाते हैं कि उन्हे उसमे कुछ कष्ट का अनुभव न होकर, विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है। परन्तु जब ये लोग अपना कार्य धनोत्पादन के लिये करते हैं तब उनका प्रयत्न श्रम ही कहा जायगा, चाहे इसमे उनका दिलबहलाव भी क्यों न होता हो। कुछ दशाओं मे, ये लोग अपने कार्य को उस समय तक भी जारी रखते हैं, जब वह उनके आनन्द का हेतु न रहकर उससे उनको कुछ कष्ट भी होता है। इसके विपरीत कुश्ती लड़ने वालों या क्रिकेट फुटबाल खेलने वालो को यद्यपि काफी परिश्रम होता है, उनकी क्रिया को अर्थशास्त्र मे श्रम नही माना जाता। हाँ, जब उन लोगों की कोई ऐसी 'टीम' या 'पार्टी' हो, जिसका पेशा ही कुश्ती लडना, या क्रिकेट फुटबाल खेलना हो, और वे इन कार्यों को धनोत्पत्ति के लिये करते हो, तो उनका प्रयत्न श्रम माना जाता है।

इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि अनेक स्थानों मे यथा सम्भव इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि श्रम मे कष्ट का विशेष अनुभव न करना पडे। कुछ स्थानों मे इस विचार से श्रम के घटे कम किये गये हैं, अन्य स्थानो मे कम किये जा रहे हैं। श्रम के घटों के बीच मे विश्राम की व्यवस्था की जाती है, और इस बात का भी थोडा विचार किया जाता है कि श्रमजीवियों को एक काम छोड कर दूसरा काम करने का अवसर दिया जाय, जिससे उनकी नीरसता कम हो। इस प्रकार,

श्रम मे कष्ट का भाव कम करने और उसमे मनोरजन के समावेश का प्रयत्न हो रहा है। तथापि उसका लक्ष्य मनोरजन न होकर धनोत्पत्ति ही होता है।

श्रम के गुण नीचे लिखे अनुसार हैं :—

(१) श्रम धनोपार्जन के लिये बहुत आवश्यक है। बिना श्रम के धन की उत्पत्ति नहीं होती।

(२) श्रम गतिशील है। आवश्यकतानुसार मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकता है।

(३) श्रम की कार्य-क्षमता अभ्यास और शिक्षा द्वारा बढाई जा सकती है।

(४) श्रम यदि उपयोग मे न लाया जाय तो उसकी उत्पादन-शक्ति कम होने लगती है और कभी कभी लुप्त हो जाती है।

(५) श्रम धन ही पैदा नही करता, परतु पैदा किये हुए धन का उपभोग भी करता है।

श्रम और मनुष्य— अब हम यह बतलाते हैं कि श्रम की परिभाषा मे प्रयत्न के साथ 'मनुष्य द्वारा किया हुआ' कहने की क्या आवश्यकता है। बात यह है कि बहुत सी धनोत्पत्ति पशुओं द्वारा अर्थात् उनकी सहायता से की जाती है। पशु हल चलाते हैं, माल ढोते हैं, इसी प्रकार आज कल के जमाने मे मशीनो या यत्रों से भी काम लिया जाता है। यदि ये कार्य पशु तथा यत्र न करें, तो मनुष्य को स्वय करने पड़े। हमने ऐसे निर्धन किसान देखे हैं जिनके पास मशीनो और यत्रो की बात तो दूर रही, खेती करने के लिए बैल भी नही थे, और जो स्वय हल चलाते थे। अस्तु, मनुष्य के ज्ञान की वृद्धि होने पर उसने पहले पशुओं से, और फिर क्रमशः यत्रों से काम लेना आरभ किया। अब, उसके द्वारा किया जाने वाला बहुत-सा काम पशुओं और यत्रो से होता है। तथापि अर्थशास्त्र मे धनोत्पत्ति मे सहायक होने वाले पशु और यत्र आदि, पूँजी मे गिने जाते हैं, जिसका विचार अगले अध्याय मे किया जायगा। श्रम के अतर्गत केवल मनुष्य द्वारा किया हुआ प्रयत्न ही समझा जाता है, और जैसा पहले कहा जा चुका है, वह प्रयत्न ऐसा होना चाहिये जो धनोत्पत्ति मे सहायक हो।

भारतीय जनता—श्रम पर विचार करने के लिए पहले हम भारतवर्ष की जन-सख्या-सम्बन्धी कुछ आवश्यक बातों पर सक्षेप मे प्रकाश डालते हैं।

बर्मा और पाकिस्तान छोड़कर, कुल भारतीय सघ की जनसंख्या, सन् १६४१ ई० की मनुष्य गणना के अनुसार ३२ करोड ९१ लाख है। यह

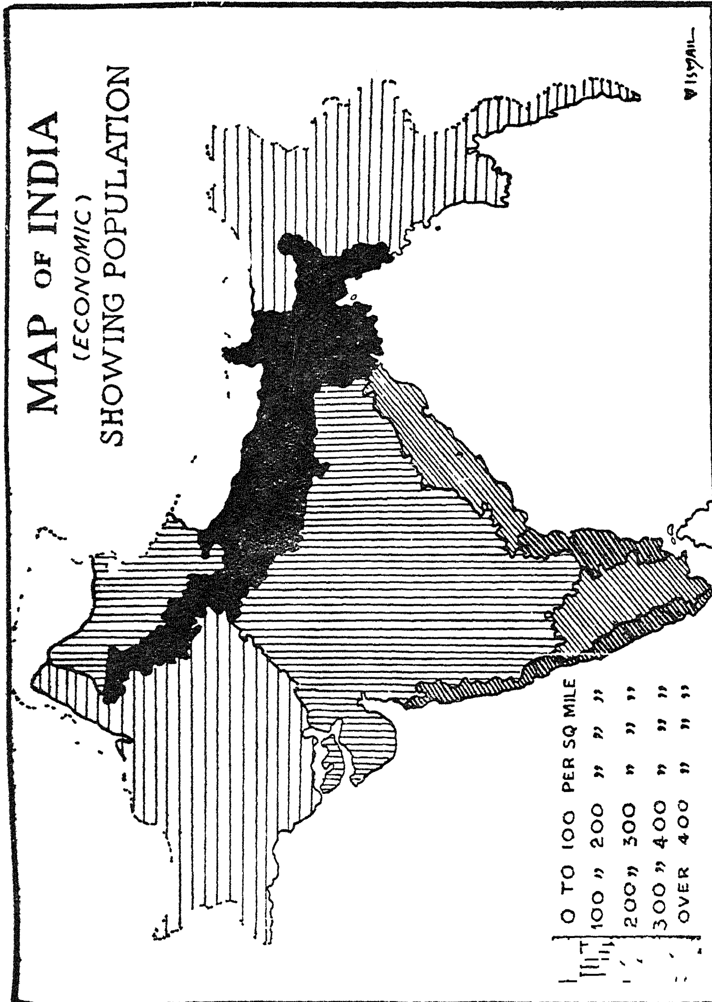
अनुमान लगाया गया है कि सन् १९४९ मे यह सख्या ३६ करोड़ तक पहुँच गई होगी और सन् १९५१ तक वह करीब ३७ करोड़ तक पहुँच जावेगी। सन् १९४१ की मनुष्य-गणना के अनुसार पाकिस्तान की जनसख्या करीब ७ करोड है। उसी मनुष्य गणना के अनुसार भारतीय सघ मे ८७ प्रति सैकड़ा आबादी गावो मे रहती है। सपूर्ण भारतीय सघ में केवल ५० ऐसे नगर हैं जिनकी जनसख्या १ लाख से अधिक है। कुल जन-संख्या की दृष्टि से भारतवर्ष का ससार मे एक विशेष स्थान हैं, समस्त मानव जनता का लगभग छठा भाग भारतीय जनता है।

जन संख्या का घनत्व (Density of Population)—किसी देश की आबादी कितनी घनी है, इसका हिसाब प्रतिवर्ग मील की औसत जनसख्या निकालकर लगाया जाता है। यद्यपि भारतवर्ष की कुल जनसख्या बहुत है, तथापि यह विशेष रूप से घनी नही है। भारतवर्ष की जनसख्या का घनत्व सन् १९४१ की मनुष्यगणना के अनुसार २४६ है। भारतवर्ष घना बसा हुआ नही है कारण कि जापान की औसत आबादी प्रतिवर्ग मील ४७८ है और इग्लैन्ड की ६८६ है।

भारतवर्ष एक विशाल देश है, यहाँ भिन्न-भिन्न भागों की प्राकृतिक तथा अन्य स्थिति मे बहुत अन्तर होने से यहाँ आबादी का घनत्व भी भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे, तथा एक ही प्रान्त के भिन्न-भिन्न नगरों मे पृथक्-पृथक् है। उदाहरणवत् सन् १९४१ मनुष्य-गणना के अनुसार कुछ प्रान्तों मे प्रति वर्ग मील जनसख्या इस प्रकार है - देहली १५९९, सयुक्त प्रान्त ५१८, बिहार ५२७, मदरास ३९१, बम्बई २७२,

यह घनत्व कई बातों पर निर्भर है। विशेषतया कृषि-प्रधान देशों में, जहाँ वर्षा, आबपाशी के साधन और भूमि की उत्पादकता अच्छी होती है, जहाँ जनसख्या का घनत्व भी अधिक होता है। भारतवर्ष मे गगा के मैदान मे आबादी के घने होने का कारण यही है। पजाब मे जब से नहरों का काम बढा है, जनसख्या मे विलक्षण वृद्धि हुई है। इसी प्रकार जलवायु की अनुकूलता भी जनसख्या बढ़ाने मे सहायक होती है। भारतवर्ष मे कितने ही पहाडी स्थान ऐसे हैं जहाँ गर्मियों मे लोगों की खूब चहल-पहल रहती है, जब सर्दियो मे प्रायः सन्नाटा रहता है। आबादी का घनापन आर्थिक विकास पर भी निर्भर होता है, जगली दशा मे किसी भूमि पर थोड़े-से ही आदमी शिकार आदि से निर्वाह कर सकते हैं। परन्तु जब खेती होने लगती है, तो उसी भूमि मे अधिक आदमियों का निर्वाह हो सकने से वहाँ आबादी बढ़ जाती है। पीछे यदि उद्योग-धधों की वृद्धि द्वारा वहाँ और अधिक धनोत्पादन होने

लगता है तो आबादी मे भी वृद्धि हो जाती है। नगरो मे गाँवों की अपेक्षा अधिक आबादी का होना सर्व-विदित है, आसाम और मध्यप्रान्त की पहाड़ी



तथा जगली भूमि मे जन-सख्या कम होने के कारण यही है कि वहाँ अभी अधिक उत्पादक कार्यों का प्रारम्भ नहीं हुआ है।

जनसंख्या का विभाजन, (१) पेशों के अनुसार—अब हम भारतवर्ष की आबादी के विभाजन (Distribution) पर विचार करते

हैं, पहले, कार्य की दृष्टि से लेते है। सन् १९४१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट मे पेशे के अनुसार व्यक्तियो की संख्या नही दी गई है इसलिये सन् १९३१ की मनुष्यगणना की रिपोर्ट के आधार पर ही इस विषय पर विचार किया जाता है। सन् १९३१ ई० की मनुष्य-गणना के हिसाब से (जिसमें बर्मा और पाकिस्तान के अंक भारत से पृथक् नही है) यहाँ प्रति सैकडा ४४ आदमी वास्तविक काय करने वाले थे, और ५६ उनके आश्रित थे, जब इसके पूर्व सन् १९२१ ई० की गणना के अनुसार ये क्रमशः ४६ और ५४ थे। आश्रितों का अनुपात बढने का बहुत कुछ कारण, करने योग्य काम का न मिलना है। पूर्वोक्त प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादकों मे मोटे हिसाब से ३६ व्यक्ति खास काम करते है, और ८ उनके सहायक हैं। इन ३६ कार्य-कर्ताओं मे २८ पुरुष और ८ स्त्रियाँ है, तथा ८ सहायकों मे से २ पुरुष और ६ स्त्रियाँ हैं। इस प्रकार कुल जनसंख्या मे जो प्रति सैकड़ा ४४ उत्पादक हैं, उनमे ३० पुरुष और १४ स्त्रियाँ है। इनमे औसतन चार पुरुष और दो स्त्रियाँ अपने मुख्य पेशा के अतिरिक्त कुछ और भी काम करती हैं। मोटे हिसाब से यहाँ कुल जनता मे ५१ पुरुष और ४९ स्त्रियाँ मानी जा सकती हैं, उपर्युक्त हिसाब से मालूम होता है कि प्रति सैकडा २१ पुरुष और ३५ स्त्रियाँ आश्रित है, ये स्वय कुछ काम नही करती, दूसरों की कमाई खाती है। इन आश्रितों मे बच्चे तथा बूढ़े भी सम्मिलित हैं।

सन् १९३१ की मनुष्य गणना के आधार पर भिन्न-भिन्न पेशो के अनुसार कार्य करने वाले और उनके आश्रित व्यक्तियो के अंक प्रति सैकड़ा इस प्रकार है :—

पेशा	प्रति सैकडा
खेती और पशु-पालन	६७·०
खनिज पदार्थों की निकासी	·१
उद्योग-धंधे	९·७
माल-ढुलाई	१·५
व्यापार	५·४
सेना	·५
सरकारी नौकरी	·७
लिखा-पढी	१·६
घरेलू नौकरी	७·१
अनिश्चित आय वाले	५·१
अनुत्पादक	१·३
योग	१००

उपर्युक्त अकों से स्पष्ट है कि भारतवर्ष की दो तिहाई जनता का एक मात्र आधार कृषि है, जब कि उद्योग-धधों मे केवल दसवॉ भाग ही लगा है। कृषिकार्य वर्षा पर कितना आश्रित है, और अतिवृष्टि या अनावृष्टि की दशा मे उस पर कैसी बीतती है, यह सर्व-विदित ही है। व्यापार, यातायात आदि बहुत-कुछ कृषि पर ही निर्भर है, इस प्रकार उस पर सकट आने से अधिकाश जनता को ही कष्ट भोगना पडता है। आवश्यकता है कि उद्योग धधो मे अधिक आदमी लग जावे जिससे कृषि की अनिश्चित अवस्था का दुष्परिणाम हानिकर न हो।

सेना और सरकारी नौकरियाँ कुल मिला कर केवल १.२ प्रति सैकडा जनता की आजीविका का साधन है। अब स्वराज्य की स्थापना से राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यो की क्रमशः वृद्धि हो रही है, अत. इस अक मे कुछ वृद्ध की सभावना है, पर अन्तत. यह वृद्धि कहॉ तक होगी। बहुत हुआ तो दो फी सदी तक पहुँच जाय। आजीविका के इस परिमित साधन के लिये भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों मे तनातनी होना और उद्योग-वाणिज्य की ओर ध्यान न दिया जाना चिन्तनीय है। यह लिखा-पढी का काम करने वालो को सख्या साधारण ही रह सकती है, जब कि उच्च शिक्षा की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, यद्यपि बेकारो के कारण यहॉ शिक्षितो की सख्या कभी-कभी कुछ अधिक समझी जाती है, देश की कुल जन-सख्या का विचार करते हुए वह अत्यन्त कम है। इसका मुख्य कारण इसका मॅहगापन है। कुछ राष्ट्रीय शिक्षा-सस्थाएँ अल्प व्यय से शिक्षा देने मे प्रयत्नशील है। अब प्रान्तीय सरकारे भी इस ओर ध्यान दे रही हैं। घरेलू नौकरों की बात यह है कि इनकी सख्या गत शताब्दि मे बहुत बढी है, इनमे बहुत से ऐसे व्यक्ति होते हैं जो कृषि या अन्य कोई कार्य करने के साधनो तथा योग्यता से वचित होते हैं और जहॉ जैसी नौकरी मिल जाती है, उसी से अपना काम चलाते हैं। इनमे से कुछ तो अपने निर्वाह के लिए दो-दो तीन घरो मे नौकरी करते हैं। अनिश्चित आय वालों मे बेकारो का बाहुल्य है जो दुर्भाग्य से बहुत बढ़ गये हैं और राज्य तथा समाज-हितैषियों के लिए एक बडी समस्या हैं। अनुत्पादकों की सख्या इतनी होने का दायित्व बहुत कुछ लोगों के सामाजिक तथा धार्मिक विचार हैं, जिनके कारण आवारा फिरने वाले और कुछ भी काम न करने वाले साधु और भिक्षुक सहानुभूति और दया की दृष्टि से देखे जाते हैं और दान तथा भिक्षा पाते हैं।

(२) गॉव और नगरों मे—भारतवर्ष देहातो का देश है। सन् १९४१ की मनुष्य-गणना के अनुसार सपूर्ण भारत मे जिसमे पाकिस्तान भी

सम्मिलित है, ग्राम और नगर निवासी जनता का हिसाब नीचे लिखे अनुसार है :—

ग्राम या नगर	स्थानो की सख्या	कुल जन-सख्या	जन-सख्या प्रतिशत
ग्राम	६, ५५, ८६२	३३ करोड ६३ लाख	८७
नगर	२, ७०३	४ " ६६ "	१३
योग	६, ५८, ५६५	३८ करोड २८ लाख	१००

सन् १६३१ ई० की मनुष्य गणना मे यहाँ नगर-निवासी जनता ११ प्रतिशत थी, इस प्रकार दस वर्षो मे उसमे केवल २ प्रतिशत की वृद्धि हुई है। भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे नगर निवासियों का अनुपात पृथक् पृथक् है—आसाम मे ये केवल ३ प्रतिशत हैं, और बम्बई मे जहाँ इनकी सख्या भारतवर्ष भर मे अधिक है, ये २६ हैं। इसकी तुलना मे कई देशों मे नागरिक जनता बहुत अधिक है, फ्रास मे ४६ प्रतिशत, केनेडा मे ५४ प्रतिशत, सयुक्त राज्य अमरीका मे ५६ प्रतिशत है और इगलैंड मे तो ८० प्रतिशत है।

पूर्वोक्त अकों से यह विदित हो जाता है कि भारतवर्ष मे औद्योगीकरण (industrialisation) बहुत कम हुआ, तथा इसकी प्रगति भी बहुत मन्द है। क्योंकि आजकल शिक्षा और सभ्यता के केन्द्र नगर ही होते हैं, और वहाँ से ही नई विचार-धारा छन-छन कर गाँवो मे पहुँचती है, इस दृष्टि से उपर्युक्त अकों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष बहुत अवनत अवस्था मे है।

मजदूरों का स्वास्थ्य—मजदूरों के स्वास्थ्य का उनके काम पर बहुत असर पड़ता है। सर्व-साधारण जनता का स्वास्थ्य अच्छा नही है, खाने-पीने, विश्राम, औषधि आदि की व्यवस्था नही होने से, वे बहुधा रोग-ग्रस्त रहते हैं और अल्पायु होते है, इससे उनकी कार्यक्षमता बढने नही पाती।

कृषक-जनता अधिकतर गाँवों मे रहती है, और यद्यपि वहाँ नगरों की तरह घनी आबादी अथवा मिलों या कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुएँ की भरमार नहीं होती, फिर भी लोगों का स्वास्थ्य कैसा रहता है

यह पाठको को विदित ही होगा। मलेरिया ज्वर, प्लेग, हैजा, चेचक, खाँसी आदि का शिकायते व्यापक रूप से रहती हैं। वहाँ चिकित्सा की भो व्यवस्था नही सा है, इससे मृत्यु सख्या ता बढती ही है, अनेक आदमी जो इन बीमारियो के शिकार होते हुए जीवित रह जाते हैं बहुधा स्थायी रूप से निर्बल रहते हैं, उनकी कायक्षमता कम हाती है। बीमारियो का मुख्य कारण लोगा की निर्धनता तथा अज्ञान है। कितने ही आदमियो को साधारण समय मे भी अच्छा या पर्याप्त भोजन नही मिल पाता। किसान लोग जो बढिया अन्न, फल या शाक आदि अच्छी वस्तुऍ पैदा करते हैं, वे सब बिकने के वास्ते होती हैं, जिससे वे अपना लगान, तथा ऋण का सूद चुका सके। इनके बच्चों को दूध-घी भी बहुत ही कम मिल पाता है। ये बाते इनकी आथिक हीनता के कुछ उदाहरण मात्र हैं। फिर जब य बाते साधारण अच्छे समझे जाने वाले वर्षों की हैं, तो दुर्भिक्ष के समय की स्थिति का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अस्तु इनके स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिये इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने तथा उनमें शिक्षा-प्रचार करने की अत्यत आवश्यकता है।

जन-संख्या की वृद्धि और जन्म-मृत्यु—किसी देश मे जन्म-मृत्यु का विचार करने के लिये यह देखा जाता है कि प्रति सहस्र व्यक्ति कितने बच्चो का जन्म होता है, तथा कुल कितनी मृत्यु होती है। मृत्यु-सख्या से जन्म-सख्या जितनी अधिक होगी, उतनी ही आबादी की वृद्धि होगी। यद्यपि भारतवर्ष मे मृत्यु-सख्या प्रति सहस्र २५.६ और जन्म सख्या प्रति सहस्र ३५.५ है, दोना ही अनेक सभ्य देशों की अपेक्षा अधिक है। कुल मिलाकर यहाँ जन-सख्या बढती ही जा रही है। सन् १८७१ ई० मे भारत-वर्ष और वर्मा की जन-सख्या २०.६ करोड़ थी, सन् १९४१ मे भारतीय संघ (जिसमे वर्मा और पाकिस्तान सम्मिलित नहीं है) की जन सख्या ३२ २ करोड हो गई है।

आगामी मनुष्य गणना सन् १९५१ ई० मे होगी। यह अनुमान किया जाता है कि उस समय भारतीय सघ की जन-सख्या ३७ करोड होगी। इस प्रकार क्रम जारी रहा तो सन् १९६१ ई० मे जन-सख्या ४२ करोड होगी और सन् २००१ ई० मे तो यह ६० करोड पर पहुँच जायगी। इतने आदमियों का निर्वाह कैसे होगा, आर्थिक एव राजनैतिक परिस्थिति मे कुछ सुधार होने पर भी क्या उपर्युक्त अक हमारे लिए एक विचारणीय समस्या उपस्थित नही कर रहे हैं?

किसी देश की जन सख्या की वृद्धि दो बातो पर निर्भर होती है, (१)

मृत्यु सख्या की अपेक्षा जन्म-सख्या की अधिकता, (२) देश से बाहर जाकर बसने वालो की अपेक्षा, विदेश से आने वालो की अधिकता। भारतवर्ष मे कुछ विदेशियो ने निवास कर रखा है तो यहाँ के भी कुछ आदमी बाहर जाकर बसे हुए हैं और विदेशियों की सख्या यहाँ की जन-सख्या की तुलना मे विशेष महत्व नही रखती, अर्थात् उसका यहाँ की जन-सख्या की वृद्धि मे भाग नही है। यहाँ जन सख्या की वृद्धि का मुख्य कारण, मृत्यु-सख्या की अपेक्षा जन्म-सख्या की अधिकता ही है। इसके अक समय-समय पर बदलते रहते है। प्रायः यह अनुभव मे आया है कि जिन देशो मे जन्म-सख्या अधिक होती है, वहाँ मृत्यु सख्या भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। इससे हम एक बहुत शिक्षाप्रद निष्कर्ष पर पहुँचते है—यदि जन्म-सख्या कम करने के प्रयत्न किये जायँ, तो मृत्यु-सख्या मे स्वय कमी हो जाय, और, इससे माताओं का कष्ट घटे तथा उस राष्ट्रीय व्यय मे भी कमी हो, जो जन्म तथा मरण की अधिकता से होता है।

मालथस के सिद्धान्त—आधुनिक काल मे जन-सख्या के प्रश्न पर विचार करने वालों मे सर्वप्रथम स्थान इगलैंड के पादरी मालथस (१७६६-१८६४) का है। उसने बहुत अध्ययन और अनुसधान करके अठारहवी शताब्दी के अन्त मे अपनी पुस्तक 'जन-सख्या के सिद्धान्त पर निबन्ध' (Essay On The Principle Of Population) मे तीन बातों की स्थापना की :—

(१) यदि कोई अन्य बाधा उपस्थित न हो, तो देश की जन-सख्या वहाँ उत्पन्न होने वाले भोजन के परिमाण की अपेक्षा बहुत शीघ्र बढ़ जाती है। मालथस के अनुसार जन-सख्या ज्योमितिक वृद्धि के अनुसार बढ़ती है। उदाहरणवत् १, २, ४, ८, १६, ३२ और ६४ आदि या १, ३, ६, २७, ८१, २४३, और ७२६ आदि के हिसाब से। उनके मत से खाद्य सामग्री के परिमाण की वृद्धि अकगणित की वृद्धि के अनुसार बढती है, यथा, १, २, ३, ४, ५, ६, ७ आदि, अथवा १, ३, ५, ७, ६, ११ और १३ आदि के हिसाब से। इसलिये एक समय ऐसा आता है जब किसी देश की सपूर्ण जनता के लिये खाद्य सामग्री कम होने लगती है और मृत्यु-संख्या बढ़ने लगती है, अन्त मे उसकी जन-सख्या उस सामग्री के परिमाण के अनुसार परिमित हो जाती है।

(२) जन-संख्या-वृद्धि की प्रवृत्ति प्राकृतिक (Positive) और प्रतिबन्ध (Preventive) इन दो प्रकार के उपायों द्वारा रोकी जाती है। प्राकृतिक उपाय वे हैं जो प्रकृति की ओर से काम मे लाये जाते हैं।

इनके द्वारा बच्चों की बहुत अधिक मृत्यु होने लगती है, प्लेग, इनफ़्लूऐंजा, चेचक, हैजा आदि महामारियों का कोप भयकर रूप से हो जाता है, दुर्भिक्ष द्वारा अनेक प्राणियो का प्राण अपहरण किया जाता है, अथवा लोगा मे युद्ध की प्रवृत्ति बढ जाती है, जिससे हजारो लाखो आदमी बे आयी मौत मर जाते हैं। प्रतिबन्धक उपायो का आशय उन उपायो से है, जिनसे जन्म-सख्या कम होती है, जैसे बडी उम्र मे विवाह करना, सयम और ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करना।

(३) जिन देशो मे जन्म-सख्या कम रहती है, उनमे मृत्यु-सख्या भी कम रहती है। इसलिये मृत्यु सख्या कम करने का एक उत्तम उपाय जन्म-सख्या कम करना है। लोगों को जन्म-सख्या घटाने के प्रतिबन्धक उपाय काम मे लाने चाहिये, जिससे सन्तान कम हो और जन-सख्या वृद्धि से होने वाले कष्ट न भोगने पडे। अगर यह न किया जायगा तो मृत्यु सख्या बढाने वाले नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष, महामारी और युद्ध आदि अपना घातक कार्य करेंगे।

मालथस के विचारों पर इगलैंड और आयरलैंड की तत्कालीन जन-सख्या वृद्धि का बड़ा प्रभाव पड़ा था और, उसकी बाते विशेषतया उस समय की स्थिति के कारण लिखी गयी थी। जिन घटनाओं का उसने निरीक्षण और अध्ययन किया, उन्ही से उसने अपना निष्कर्ष निकाला जो उस देशकाल के विचार से प्रायः ठीक ही था। परन्तु भिन्न भिन्न देशों की परिस्थिति पृथक् पृथक् होती है, तथा मालथस के बाद कुछ वैज्ञानिक और आर्थिक घटनाएँ ऐसी हो गयी हैं कि उनका प्रभाव बहुत कुछ विश्व-व्यापी हुआ है। जहाजों और रेलों के आविष्कार और प्रचार के कारण अब परिस्थिति बहुत बदली हुई है। इस समय यातायात के साधनों की बहुत वृद्धि हो गयी है, नये नये यत्रों से उत्पत्ति मे सहायता ली जाती है और औद्योगिक देश अन्य देशो से खाद्य सामग्री मॅगा सकते हैं। इसलिये मालथस के सिद्धान्तों मे अब पूर्ववत सत्यता नही है और निश्चय ही उसके सिद्धान्त सब देशों और सब समय के लिये ठीक नही है। तथापि उनमे सत्यता का अश है। इस विषय मे निम्नलिखित बाते विचारणीय है :—

(क) धनी और औद्योगिक देशो मे जन-सख्या की वृद्धि तो हुई है, पर वह धन वृद्धि के अनुपात से अधिक नही हुई। इसलिए मालथस का सिद्धान्त उन देशों मे इस समय लागू नही होता, वहाँ अभी जनाधिक्य की आशका नहीं है। तथापि इन देशो मे जन-सख्या की वृद्धि को रोकने के नैसर्गिक तथा मनुष्य-कृत दोनों प्रकार के उपाय काम मे आये हैं,

और सभ्यता तथा रहन-सहन का दर्जा बढने के साथ साथ मालथस के कथनानुसार प्रतिबन्धक उपायों का महत्व अधिकाधिक हो रहा है'।

(ख) भारत और चीन आदि निर्धन और प्राचीन देशों मे प्रायः घनी बस्ती है, और कृषि-जन्य उत्पत्ति मे क्रमागत ह्रास का नियम लग रहा है। व्यवसाय धधो की उत्पत्ति यहाँ कम है। अतः इन देशों मे खाद्य सामग्री की अपेक्षा, जन-सख्या बढने की प्रवृत्ति अधिक होती है। और उसे रोकने के लिए दुर्भिक्ष, महामारी आदि कठोर नैसर्गिक उपाय अपना प्रभाव दिखलाते हैं। इन देशो मे जनाधिक्य की समस्या इस समय ही विद्य-मान है। यहाँ रहन-सहन का दर्जा ऊँचा न होने से जन-सख्या की वृद्धि मे उसके कारण होने वाली रुकावट का भी यहाँ प्रायः अभाव ही है।

(ग) अनेक विद्वानों का मत है कि यद्यपि समस्त ससार की दृष्टि से, इस समय जनाधिक्य का प्रश्न विद्यमान नही है, तथापि वह भविष्य के लिए विचारणीय अवश्य है। इस समय तो यदि कुछ देशो मे या उनके कुछ भागों मे जन-सख्या, खाद्य पदार्थों की उत्पत्ति के अनुपात से अधिक है तो बहुत से भू-भाग ऐसे भी है, जहाँ कृषि अथवा व्यवसाय जन्य पदार्थों की उत्पत्ति इतनी है कि उससे वहाँ की जनता के अतिरिक्त और भी जनता का निर्वाह हो सकता है। परन्तु समस्त ससार की दृष्टि से भी कभी न कभी ऐसा समय आये बिना नही रह सकता, जब जन-सख्या इतनी हो जायगी, जितनी का निर्वाह खाद्य पदार्थों द्वारा न हो सकेगा। उसके बाद जन-सख्या की वृद्धि चिन्तनीय होगी।

उपर्युक्त कथन से जन-सख्या की समस्या जितने अधिक समय मे उप-स्थित होने की है, उसकी अपेक्षा व्यवहार मे वह जल्दी ही सामने आयेगी—कुछ स्थानों मे तो आ ही गई है। कारण, कि सारा ससार एक परिवार नही है, और निकट भविष्य मे उसके ऐसा होने की सम्भावना भी नहीं है।

भारतवर्ष की जन-संख्या और मालथस का नियम—अब तनिक भारतवर्ष की जन-सख्या के सम्बन्ध मे कुछ विशेष विचार करें। यहाँ उष्णता की प्रधानता, अशिक्षा और निर्धनता के अतिरिक्त, सामाजिक रीतियों, और धार्मिक विश्वासो से भी जन-सख्या की वृद्धि मे सहायता मिलती है। प्रायः समस्त हिंदू परिवारों मे कन्या का विवाह करना अनिवार्य माना जाता है। पुत्र-प्राप्ति धार्मिक कृत्य समझा जाता है। सर्वसाधारण मे यह विचार प्रचलित है कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' अर्थात् जिस पुरुष के पुत्र

नही होता उसकी अच्छी गति नही होती, मरने पर स्वर्ग-प्राप्ति नही होती। पुनः कुछ शताब्दियो से यहाँ बालविवाह प्रचलित है, और विवाहित व्यक्ति आजीवन गृहस्थाश्रम मे रहते हैं, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम प्रायः उठ गया है। कितने ही पुरुष एक स्त्री मर जाने पर दूसरा और तीसरा विवाह कर लेते हैं। इससे यहाँ जन-सख्या बढी हुई है, और अधिकतर संतान दुर्बल और रोगी होने के कारण मृत्यु सख्या भी बढी हुई है। अब कुछ समय से इसमे क्रमशः सुधार हो रहा है। भारत मे तथा कुछ देशी राज्यों मे बालविवाह निषेधक कानून बन गए हैं, समाज-सुधारक भी इस दिशा में यथा-शक्ति आन्दोलन कर रहे हैं। हाँ, और भी बहुत कुछ कार्य होने की गुंजायश है। शिक्षा के प्रचार, आर्थिक सघर्ष, कुछ लोगो के रहन सहन का दर्जा ऊँचा होने, स्वच्छद जीवन बिताने की इच्छा आदि से भी जन-सख्या की वृद्धि पर कुछ रुकावट होने लगी है। तथापि वर्तमान अवस्था मे यहाँ जनाधिक्य की समस्या थोडी बहुत विद्यमान है। विविध कारणों से यहाँ के निवासियों को विदेशों मे जाकर रहने की भी सुविधाएँ नहीं हैं। फलतः यहाँ जन-सख्या की वृद्धि मे मालथस का सिद्धात कुछ कुछ लागू हो रहा है, उसे रोकने के लिये नैसर्गिक उपाय—दुर्भिक्ष महामारी आदि का भयकर कोप बना रहता है।

प्रतिबन्धक उपाय—जन-सख्या की वृद्धि को रोकने के लिये प्रतिबन्धक उपायो के प्रयोग का पहले उल्लेख किया गया है। आज कल विविध देशों में बाल-विवाह के विरुद्ध लोक-मत बढता जा रहा है। कई देशो मे इसको रोकने के लिए कानून बन गए हैं। अब विवाह की उम्र क्रमशः अधिक होती जाती है। तथापि अधिकाश मनुष्यों मे प्रायः सर्वत्र सन्तान की लालसा होती है। विशेषतया स्त्रियाँ तो सन्तान-सुख के लिए बहुत ही इच्छुक रहती हैं। भारतवर्ष मे कुछ धनी लोग इसके लिये एक के बाद दूसरा, कई विवाह करते हैं, तथा इस हेतु बहुत सा दान-धर्म भी करते हैं। परन्तु यूरोप और अमेरीका के धनी वर्ग मे रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होने तथा स्वच्छंद जीवन बिताने की इच्छा के कारण, सन्तान यथा सम्भव कम पैदा करने की प्रवृत्ति बढ रही है। यह लहर अन्य देशों में भी आ रही है। भारतवर्ष मे जनता की निर्धनता के विचार को विशेषतया लक्ष्य मे रख कर इस बात का प्रचार किया जा रहा है कि यहाँ जन-संख्या कम होनी चाहिये।

अन्य देशो मे जहाँ सन्तान निग्रह (Birth Control) के कृत्रिम उपायो को स्वतन्त्रतापूर्वक काम मे लाया जाता है, भारतवर्ष में सयम और ब्रह्मचर्य पर ही जोर दिया जाता है। यों तो यहाँ भी कुछ व्यक्ति सार्वजनिक

हित के नाम पर यह उपदेश करते हैं कि सयम और ब्रह्मचर्य सर्वसाधारण के लिये विशेष व्यावहारिक या स्वाभाविक नही है, यह तो बहुत उच्च विचार वालो के ही लिए है, साधारण परिस्थिति के लोगों को कृत्रिम उपायों से सन्तान निग्रह करना चाहिये। तथापि अधिकाश जन-समाज इन बातों को आशका और घृणा की दृष्टि से देखता है।

कुछ प्रतिबन्धक उपाय ऐसे भी हैं, जिनका राज्यों की ओर से अवलम्बन किया जाना उचित समझा जाता है। जिन आदमियों को कोई ऐसी शारीरिक या मानसिक व्याधि हो जो उनकी सन्तान मे आने की आशका हो, या जिन व्यक्तियों के सम्बन्ध मे यह ज्ञात हो कि उनकी सन्तान अत्यन्त दुर्बल तथा रोगी या पागल होगी, उन्हे सन्तान पैदा न करने दिया जाय तो समाज उस आर्थिक तथा नैतिक हानि से बच सकता है, जो उक्त सन्तान होने की दशा मे उसे उठानी पडे। यदि उक्त विकारग्रस्त व्यक्ति स्वय ही विवाह करने या सन्तान पैदा करने से रुके रहे, तब तो बहुत ही उत्तम हो, परन्तु प्रायः, ऐसे आदमियों से इस बात की आशा नही की जा सकती। अतः कहीं राज्य द्वारा उन्हे सन्तानोत्पत्ति-से रोका जाने का मार्ग काम मे लाया जाता है। कुछ समय हुआ जर्मनी मे, बहुत से आदमियों की डाक्टरी परीक्षा करके देखा गया था, उनमे से जो व्यक्ति उपर्युक्त दृष्टि से सुसन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य पाये गये, उन्हे नपुंसक कर दिया गया था।

यह एक विशेष दशा सम्बन्धी विचार है। कुछ विद्वानो का मत है कि योरप और अमेरीका मे जन-सख्या की वृद्धि को रोकने के लिये जो प्रतिबन्धक उपाय साधारणतया काम मे लाये जाते हैं, वे चरम सीमा को पहुँच गये हैं उनसे समाज को नीचे लिखे अनुसार हानि पहुँचती है :—
(क) जनता का आर्थिक और शारीरिक दृष्टि से ह्रास होता है, और
(ख) जन-संख्या की कमी होती है।

प्रतिबन्धक उपायो के कारण धनवानों के बच्चे कम होते है। फिर उनका लालन-पालन इस तरह किया जाता है कि वे बहुत सुकुमार रहते हैं, उनमें साहस तथा धनोत्पत्ति की योग्यता कम होती है। धनवानो के कम सन्तान होने से देश की कुछ जन-सख्या मे शिक्षा और अन्यान्य साधन युक्त जनता के अनुपात मे कमी हो जाती है।

जन-सख्या की कमी का राजनैतिक और सैनिक दृष्टि से जो परिणाम होता है, वह बड़ा गम्भीर है। कितने ही देशों को यह भय लगा हुआ है कि यदि हमारी सख्या कम होगी, रणक्षेत्र के लिये हमारे सैनिक तथा युद्ध-सामग्री पर्याप्त न होगी तो सम्भव है कि दूसरे राज्य हमे हडप करने की चेष्टा

करने लगें। इस आशका के कारण कितने ही राज्य अपने यहाँ जन-सख्या की वृद्धि के लिये विविध प्रोत्साहन देते हैं।

जन-संख्या की अधिकतम सीमा—अब यह विचारणीय है कि भिन्न भिन्न देशों में आर्थिक दृष्टि से कितनी जन-सख्या होनी चाहिये। क्योंकि भिन्न भिन्न वैज्ञानिक आविष्कारों आदि के कारण किसी देश की उत्पत्ति की मात्रा बढती रह सकती है, अथवा विकराल भूकम्प या जल-प्रवाह आदि से घट भी सकती है अतः सदैव के लिये तो यह निश्चय नही किया जा सकता कि अमुक देश में इतनी ही जन सख्या हो, तथापि स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है, कि निर्धारित समय या परिस्थिति मे किसी देश की अधिकतम जन-सख्या (Optimum Population) इतनी होनी चाहिये, जिसके द्वारा देश मे प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति उस समय अधिक से अधिक हो, यदि जन-सख्या उससे कम या अधिक हो तो प्रति व्यक्ति उत्पत्ति का अनुपात घट जाय। इसका अभिप्राय यह है कि जिस सीमा तक यह ज्ञात हो कि जन-सख्या बढ़ने से प्रति व्यक्ति धनोत्पति का परिमाण बढ़ेगा उस सीमा तक हो जन सख्या बढने देना उचित है। नये उपनिवेशों मे, अथवा धनोत्पत्ति की विधि में उन्नति करनेवाले देशों मे जन-सख्या बढ़ना अनुचित नही है। परन्तु जब जन-सख्या इतनी हो जाय कि लोगों की आर्थिक अवस्था खराब होने लगे तो उस समय इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जाना चाहिये कि विविध उपायों द्वारा धनोत्पत्ति मे वृद्धि की जाय, और जन-सख्या की वृद्धि रोकी जाय।

जन-सख्या की अनुचित वृद्धि को रोकने के विविध उपाय नीचे लिखे अनुसार हैं:—(१) जनता मे यह प्रचार किया जाय कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करें। आदमी अच्छे मकान और उत्तम भोजन और वस्त्रों का उपयोग करें और अपनी सन्तान के लिए भी इन चीजों का उत्तम प्रबन्ध करें। पहले कहा जा चुका है कि रहन-सहन का दर्जा ऊँचा रखने वालों मे सन्तानोत्पत्ति की इच्छा अपेक्षाकृत कम होती है। इसके विपरीत, जिन लोगों की आवश्यकताएँ कम होती हैं या थोडे से श्रम से पूरी हो जाती हैं, उनमे यद्यपि कुछ व्यक्ति बहुत सयमी भी होते हैं, साधारणतया सन्तानोत्पत्ति अधिक ही होती है।

(२) बालक बालिकाओं की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, जिससे बडे होने पर वे अपने उत्तरदायित्व को पहिचानें दूरदर्शी बनें और, सन्तानोत्पत्ति की इच्छा का उदय होने पर आगे पीछे की परिस्थिति का सम्यग् विचार करके उसका यथा-सम्भव दमन करें और कई-कई अयोग्य

सन्तान की अपेक्षा एक-एक दो-दो सुयोग्य सन्तान पैदा करने का ही विचार रखें।

(३) बालक-बालिकाओं को सदाचार और सयम की शिक्षा दी जाय, तथा विवाह की उम्र बढाई जाय और एक निर्धारित आयु के बाद किए जाने वाले विवाहो का (कुछ विशेष अपवादो को छोड कर) निषेध किया जाय। इस सम्बन्ध मे हिन्दुओ की आश्रम व्यवस्था बहुत अनु-करणीय है।

(४) निर्बल, दरिद्र वशानुगत रोगी, पागल, या ऐसे शारीरिक या मानसिक विकार वाले व्यक्तियों के विवाह का निषेध होना चाहिए, जिनकी सन्तान सुदृढ़ और सुयोग्य होने की सम्भावना न हो।

(५) विदेशों के उन्हीं आदमियों को उसी दशा मे आकर बसने की अनुमति दी जानी चाहिए, जब वे देश की धन-वृद्धि मे सहायक हों अथवा जब वे देश मे उच्च नैतिक विचारो का प्रचार करने वाले हों।

(६) देश मे उत्पत्ति की मात्रा जोरो से बढाई जाय जिससे उत्पत्ति की वृद्धि जन-सख्या की वृद्धि से अधिक रहे।

इन उपायों का अवलम्बन किए जाने से भारतवर्ष की जन-सख्या की वृद्धि-समस्या बहुत कुछ हल होने की आशा की जा सकती है।

क्या भारतवर्ष मे श्रमजीवियों की कमी है?—हमने ऊपर कहा है कि भारतवर्ष मे जन-सख्या की वृद्धि को यथा-सम्भव मर्यादित करने की आवश्यकता है। परन्तु बहुधा पूँजीपतियो को श्रमजीवियों की कमी की शिकायत होती है। ऐसी दशा मे यह विचारणीय है कि वास्तविक बात क्या है। क्या यहाँ श्रम-जीवियों की सचमुच कमी है?

यह सर्व-विदित है कि भारतवर्ष मे प्लेग, इनफ्लुएजा, मलेरिया, चेचक और हैजा आदि बीमारियाँ बहुत घातक कार्य करती हैं, प्रति वर्ष लाखों आदमी इनकी भेंट हो जाते हैं। इनमे बहुत से श्रमजीवी होते हैं। परन्तु इस बात से ही कि यहाँ अब मजदूर पहली तनख्वाहा पर नही मिलते, यह नही समझा जाना चाहिए कि उनकी कमी है। इस समय विविध ब्रिटिश उपनिवेशो मे बीस लाख से अधिक भारतीय श्रमजीवी काम कर रहे हैं, और प्रति वर्ष हजारो कुली, बहुधा झूठे प्रलोभनो मे फँसकर ठेके पर या स्वतन्त्र रूप से वहाँ जाते हैं। यदि यहाँ उन्हे वर्तमान मँहगी के अनुसार मजदूरी मिले, तो वे यहाँ ही क्यों न काम करें, घर का मोह छोड़ कर विदेशो मे क्यो भटकते फिरें! हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि देश मे बेकारी की कितनी विकट समस्या उपस्थित है। यद्यपि यहाँ सरकारी

तौर से प्रामाणिक अक प्रस्तुत नही हैं, समय-समय पर होने वाली बेकारों की आत्म-हत्या तथा एक साधरण वेतन वाली नौकरी के लिए सैकडों उम्मेदवारो का प्रतियोगिता करना, अनेक उच्च घरानो के व्यक्तियों का निम्न प्रकार के समझे जाने वाले कार्य को करने के लिए तैयार हो जाना, आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिससे बेकारी का विकराल स्वरूप छिपाए नही छिप सकता।

हम यह भी स्मरण रखें कि यहाँ लगभग पाँच करोड आदमी अछूत माने जाते हैं। यदि इनके प्रति मनुष्यत्व के विचारो से भ्रातृ-भाव रक्खा जाय, तो इनमे से बहुत-से आदमी अच्छे अच्छे कामो मे सहायक हो सकते हैं। आज उनकी दशा अच्छी नहीं, वे अशिक्षित हैं, परन्तु उद्योग करने पर इनसे धनोत्पत्ति का अच्छा काम लिया जा सकता है, सुधार आन्दोलन के कारण कुछ अश मे लिया जाने लगा है। जरायम-पेशा जातियो के आदमियों से भी वर्तमान अवस्था मे बहुत कम काम लिया जा रहा है, इनका उद्धार हो जाने पर ये भी श्रमियों की सख्या बढाने मे काफी सहायक हो सकते हैं। कई स्थानो पर किए गए प्रयोगो के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि चोर और डाकू यथेष्ट परिस्थिति मिलने पर भले आदमी और उपयोगी नागरिक बन सकते हैं।

पुनः हमारे फकीरो (बनावटो साधुओं) से भी देश के धनोत्पादन-कार्य मे कुछ योग नही मिल रहा है। बहुत-से आदमी केवल मुफ्त का खाने और मेहनत से बचने के लिए गेरुआ कपडे पहन लेते हैं, अथवा यों ही फकीरी धारण कर लेते हैं। ये लोग साधारण गृहस्थों के लिए भार रूप और देश की आर्थिक उन्नति मे बाधक हैं। हर्ष की बात है कि अब सभा समाजों मे इस प्रश्न पर विचार हो रहा है कि इनका कैसे उत्थान हो और देश की आर्थिक उन्नति मे इनसे कैसे सहायता मिले। आशा है, क्रमशः इस दिशा मे भी सुधार होगा।

अस्तु, वर्तमान अवस्था मे अछूत, जरायम-पेशा, और फकीर काफी सख्या मे हैं, विदेशों मे भी लाखा भारतीय श्रमी काम कर रहे हैं। फिर भी यहाँ इतनी बेकारी है। इससे यह भलो भाँति सिद्ध है कि यहाँ श्रमियों की सख्या कम नही है, हाँ कल कारखाने वाले जितनी कम मजदूरी पर उनसे काम लेना चाहते हैं, उतनी पर काफी श्रमी न मिले तो बात दूसरी है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि जैसे कुशल श्रमी चाहिए, वैसे कम हैं। इसका उपाय यह है कि उनकी योग्यता बढ़ाने के लिए यथोचित शिक्षा आदि की व्यवस्था की जाय, जिसके सम्बन्ध मे आगे लिखा जायगा।

श्रम की कार्य-क्षमता की वृद्धि—अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रम जीवियो की क्षमता बहुत कम है और उसके बढाने की बहुत आवश्यकता है। श्रमजीवियों की क्षमता निम्नलिखित गुणों पर निर्भर रहती है।

जलवायु—कार्य की कुशलता से जलवायु का सम्बन्ध है। साधारण-तया यह माना जाता है कि अधिक गर्मी या अधिक सर्दी मे कार्य कम होता है। कार्य-कुशलता की दृष्टि से समशीतोष्ण जलवायु ही उत्तम है। कुछ लोगों का यह कहना है कि अधिक गर्मी मे काम नही होता बहुत ठीक नहीं मालूम होता, कारण ऐसे भी लोग देखे गये हैं जो गर्मी मे अधिक परिश्रम करते हैं। गरम देश के लोग गर्मी मे काम करने के अभ्यस्त हो जाते हैं और ठडे देश के रहने वाले ठडे मे भी काफी काम करते हैं। फिर भी यह तो मानना ही पड़ता है कि जलवायु का मनुष्य के स्वास्थ्य और कार्य शक्ति पर थोड़ा बहुत अवश्य ही प्रभाव पड़ता है।

जातीयता, रहन-सहन और स्वास्थ्य—कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि एक जाति का श्रमजीवी दूसरी जाति वाले की अपेक्षा अधिक कार्य-कुशल होता है। इसका कारण कुछ अशो मे उसके पूर्वजों का स्वास्थ्य तथा योग्यता होती है। परन्तु इसमे उनका रहन-सहन, उत्तम भोजन, सहायक होता है। कारण कि दरिद्र, भरपेट भोजन न पाने वाले, गदे स्थानों मे रहने वाले व्यक्ति या उनको सन्तान इतना श्रम नही कर सकती जितना पौष्टिक भोजन करने वाले और स्वास्थ्यप्रद स्थानो मे रहने वाले कर सकते है। श्रमजीवियो के रहन-सहन का दर्जा बढाने का प्रयत्न होना चाहिये।

शिक्षा और औद्योगिक कुशलता—धनोत्पत्ति मे श्रमजीवी की मानसिक योग्यता का भो बड़ा भाग होता है, यों सभी कार्यो मे कुछ न कुछ योग्यता होनो चाहिये। पर शिल्प व्यवसाय आदि कुछ कार्यों मे तो इसकी विशेष आवश्यकता होती है। इन कार्यो मे जो व्यक्ति समझने, विचार करने, स्मरण रखने तथा निर्णय करने और अपनी कार्य करने की औद्योगिक कुशलता आदि की अधिक योग्यता रखता है उसका अधिक धनोत्पत्ति करना स्वाभाविक है।

नैतिक गुण—धनोत्पत्ति पर श्रमियो के नैतिक गुणों का भी प्रभाव पड़ता है। जो आदमी अपनी इच्छा से मन लगाकर कार्य करता है वह उस आदमी की अपेक्षा अधिक धनोत्पत्ति करता है जो किसी निरीक्षक के सामने तो अच्छा काम करता है और उसकी अनुपस्थिति मे जैसे तैसे समय व्यतीत

करता है। यदि किसी कार्य मे लगे हुए सब श्रमजीवी अपना कर्तव्य समझकर अपना अपना कार्य भली भाँति करते रहे तो कार्य बहुत जल्दी और शीघ्र होता है।

कार्य करने की स्वतंत्रता—कार्य करने की स्वतत्रता का भी, कुशलता से बडा सम्बन्ध है। जो आदमी बलपूर्वक कार्य करने पर बाध्य किये जाते हैं उससे कार्य बढिया तथा अधिक नही होता।

उन्नति और लाभ की आशा—जिस श्रमी को यह आशा होती है कि धनोत्पादन का अधिक कार्य करने से उसे अधिक लाभ होगा वह अवश्य ही अधिक कार्य करेगा। जो यह जानता हो कि मैं चाहे जितना कार्य करूँ मेरी दशा मे कुछ सुधार नही होना है तो वह कार्य को अच्छी तरह नहीं करता।

कार्य -क्रम की विभिन्नता—दिन प्रतिदिन एक ही प्रकार का कार्य करने से जीवन मे नीरसता आ जाती है। इससे कार्य-कुशलता का ह्रास होता है। यदि कार्य क्रम की विभिन्नता रही तो• कार्य अच्छी तरह होता है।

औद्योगिक शिक्षा—अब हम औद्योगिक शिक्षा के सम्बन्ध मे विशेष रूप से विचार करते हैं। यहाँ क्षमता वृद्धि मे एक मुख्य बाधा लोगो की आर्थिक स्थिति की है। उद्योग करने पर, उनमे विविध प्रकार की शिक्षा का प्रचार करने से उसमे बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। कृषि श्रमजीवियों के लिए वही शिक्षा-पद्धति उपयोगी हो सकती है, जिससे शिक्षा पाकर वे कृषि कार्य को अच्छी तरह करने मे दत्त-चित्त हों, ऐसा न हो कि वे उसे घृणा से देखते हुए दफ्तरों मे क्लर्की आदि करने को उत्सुक होने लगे। उनका पाठ्य-क्रम ऐसा हो जो भविष्य मे उनके काम आवे। उनकी शिक्षा का समय तथा छुट्टी मे भी कृषि की सुविधा का ध्यान रखा जाय। उनके अध्यापक ग्राम-सेवाभिलाषी, सदाचारी और योग्य हों। साथ ही स्त्रियों की शिक्षा की भी आवश्यकता है, उसके वास्ते स्त्री-अध्यापिकाएँ तैयार करने के लिए विशेष उद्योग होना चाहिए। प्रौढ-शिक्षा भी बहुत जरूरी है, और उसके लिए रात्रि-पाठशालाओं और वाचनालयो की स्थापना करने, तथा रेडियो की व्यवस्था यथेष्ट परिमाण में होनी चाहिये। ऐसी कृषि प्रदर्शनियाँ भी बहुत उपयोगी होती हैं, जिनमे, खेती की विकसित पद्धति, अच्छे औजार, बीज, और अच्छी नस्ल के पशु दिखाए जाते हैं, तथा कृषि-सबधी बाते क्रियात्मक ढँग से समझाई जाती हैं।

औद्योगिक शिक्षा के लिए सब से पहली जरूरत यह है कि देश-भर मे

सब श्रेणी के बालकों को इस बात की शिक्षा दी जाय कि परिश्रम करना— हाथों से कमाना— बुरा नही है । प्राथमिक पाठशालाओ मे फूल-पत्तियाँ लगाना सिखलाकर, चित्र कला और नमूने (माडल) बनाने की शिक्षा देकर, परिश्रम और व्यावहारिक शिक्षा के प्रति प्रेम उत्पन्न कराया जाय । इसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि देश मे बडी-बडी प्रयोगशालाएँ खोली जायँ, जहाँ विद्वान् लोग दिन-रात खोज मे लगे रहे । इस 'खोज' से उद्योग-धधों को बडा लाभ पहुँचेगा । स्वतत्र-रूप से बढई, लुहार, चमार आदि दस्तकारो को अपनी आँखो और हाथों से काम लेना होता है । इनकी शिक्षा के लिए हर शहर और बडे बडे देहातो मे ढक्ष मास्टरों वाले स्कूलो की जरूरत है । इन शिक्षार्थियों को हाथ और आँख का इस्तेमाल और सँभाल बतलानी चाहिए, तथा नए नए पैटर्नों (नमूनों) को समझाना और उनके मुताबिक काम करना सिखलाना चाहिए ।

हर्ष का विषय है कि सन् १९४७ मे भारत स्वतन्त्र हो जाने पर सरकार इस ओर विशेष ध्यान देने लगी है । केन्द्रीय सरकार ने पाच वर्षों मे चार बडी बडी औद्योगिक सस्थाएँ स्थापित करने तथा विविध औद्योगिक शिक्षा-सस्थाओ को सुधार और विस्तार करने के लिए सहायता देने का निश्चय किया है । प्रान्तीय सरकारे भी ध्यान दे रही है । देश के नवयुवको को इन सुविधाओं से लाभ उठाना चाहिये ।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों मे जनसख्या के विषम घनत्व और वितरण के कारणों की विवेचना कीजिए ? (१९३८, १९३४, १९३२)

२—भारत के विभिन्न प्रान्तों की जनसख्या का अन्दाजन घनत्व बताइए ? इनमे विभिन्नता होने का क्या कारण है ? (१९२९)

३—"भोजन की वृद्धि के साथ खानेवाले बढ जाते हैं" । तथा "इस देश मे जब कोई नवयुवक अच्छी जगह पाता है तो उससे आशा की जाती है कि वह बहुत से गरीब रिश्तेदारों का पालन पोषण करेगा" । इन कथनों को दृष्टि मे रखते हुए भारत की जन-सख्या सम्बन्धी समस्या पर विचार करें । (१९२६)

४—भारत की बढी हुई बाल मृत्यु के कारणों का विश्लेषण व विवेचना कीजिए । इस बुराई को हटाने के लिए आप क्या प्रबन्ध करेंगे ? (१९३६)

५—इस बात की विवेचना कीजिए कि भारत मे बालक-बालिकाओं की मृत्यु दर क्यों अधिक है ? इस बुराई को रोकने के लिए कौन कौन सी शक्तियाँ काम कर रही हैं ? (१६२६)

६—जन-सख्या सबन्धी मालथस का सिद्धात समझाइये । उसकी अधिकतम जन-सख्या सिद्धात से तुलना कीजिये । वह भारत मे कहाँ तक लागू होता है ?

७—भारत मे मजदूरी की कार्य-क्षमता बढाने के तरीके लिखिये ।

८—जातपात से श्रमजीवियों की गतिशीलता पर क्या प्रभाव पड़ता है । गतिशीलता से श्रम की क्षमता मे कैसी वृद्धि होती है ? बतलाइये । (राजपूतना १६४४)

९—भारतवर्ष मे श्रमियो के निपुणता की कमी के मुख्य कारण क्या है ? इस कमी को दूर करने के उपायो को बतलाइये । (यू० पी० १६४१)

१०—वर्षा और जन-सख्या के घनत्व का क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण सहित समझाइये । पजाब (१६४१)

११—जन-सख्या का घनत्व भारतवर्ष मे कही बहुत ज्यादा तथा कहीं बहुत कम है ? इस विभिन्नता के कारण को बतलाइये । क्या भारतवर्ष की जन-संख्या अधिक हो गई है ? क्या आप इससे सहमत हैं ? अपने उत्तर को कारण सहित स्पष्ट कीजिये । (यू० पी० १६४३)

१२—श्रम की क्षमता पर रहन-सहन के दर्जे का क्या प्रभाव है ? भारतवर्ष के उदाहरणों से अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिये । (राजपूताना १६४२)

पंद्रहवाँ अध्याय

पूँजी

पिछले अध्यायो मे धनोत्पत्ति के दो साधना का (भूमि और श्रम का) वर्णन किया जा चुका है । अब उसक तीसरे साधन अर्थात् पूँजी पर विचार किया जाता है । पहले यह जान लेना चाहिये कि पूँजी किसे कहते हैं ।

पूँजी किसे कहते है—इस पुस्तक के आरम्भ मे बताया जा चुका है कि धन किसे कहते हैं। धन का उपभोग दो तरह होता है, या तो वह हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति के काम मे आता है, अथवा वह और अधिक धन पैदा करने मे सहायक हो सकता है। वह दूसरे प्रकार का धन पूँजी कहलाता है। हाँ, इस धन मे 'भूमि' की गणना नहीं होती, जो प्रकृति-दत्त है, जो मनुष्य को बिना श्रम प्राप्त होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भूमि के अतिरिक्त जो धन और अधिक धन पैदा या तैयार करने मे लगाया जाय, वह पूँजी है। इसे मूलधन भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत विविध वस्तुएँ सम्मिलित हैं, यथा कच्चा पदार्थ, श्रमियों के मकान, कार्यालय या कारखाने, औजार, यत्र, कल, मशीन, श्रमियों को दिया जाने वाला वेतन (वह जिन्स मे हो या नकद), किसानो के हल, बैल, बीज, अन्य पशु आदि जिनका और अधिक धन की उत्पत्ति मे उपयोग हो। पूँजी धन है किंतु सभी धन पूँजी नही है। केवल वही धन पूँजी माना जाता है जो अधिक धन की उत्पत्ति करने मे काम मे आता है।

साधारणतया आदमी पूँजी का अर्थ रुपया समझते है, परन्तु आजकल पूँजी मे नकद रुपये का भाग बहुत कम होता है, अधिकतर उसमे मकान, मशीन आदि अन्य वस्तुएँ होती हैं, हाँ इन सब वस्तुओ का मूल्य रुपये मे आका जाता है।

धनोत्पत्ति मे पूँजी का स्थान—आरम्भ मे धनोत्पत्ति के मुख्य साधन भूमि और श्रम ही होते हैं; पूँजी से धनोत्पादन मे सहायता मिलती है, किन्तु उसके बिना भी धनोत्पन्न होना असम्भव नहीं है, हाँ, वह कम मात्रा मे होगा। उदाहरणवत् एक आदमी जगल मे जाकर लकड़ियाँ सग्रह करता है, कुल्हाड़ी आदि न होने से वह पेड़ से लकड़ियाँ नही काट सकता, उसे उन्हीं पर सन्तोष करना पडता है, जो टूटी हुई पड़ी हैं, या जिन्हे वह अपने हाथ से तोड़ सकता है। फिर, उसके पास उनको बाँधने के लिए रस्सी तथा उनको ढोकर लाने के लिए गाड़ी या गधा आदि न होने से वह उतनी लकड़ी लाता है, जितनी वह अपने हाथों के सहारे ला सकता है। कुल्हाड़ी, रस्सी, गाडी या गधा आदि उसके लिए पूँजी हैं। इस पूँजी के अभाव से उसे धन पैदा करने मे असुविधा होती है, तथा वह बहुत कम परिमाण मे ही धन पैदा कर सकता है। इस उदाहरण मे पूँजी उसकी धनोत्पत्ति में सहायक अवश्य है, परन्तु उत्पत्ति का मूल साधन न होकर गौण साधन है।

यह आरम्भ की बात हुई। क्रमशः धनोत्पत्ति मे पूँजी का महत्व बढता

जाता है। पहले धनोत्पादन छोटी मात्रा मे होता था, श्रमी स्वय अकेला या अपने परिवार वालों की सहायता से काम करता था। उसमे साधारण थोडे से औजारों (पूँजी) की आवश्यकता होती थी। अब धनोत्पत्ति बड़ी मात्रा मे होती है। सहस्रो श्रमजीवी एक ही स्थान पर काम करते हैं, उनके लिए बहुत बडे विशाल कार्यालय की जरूरत होती है जिसके बनाने मे हजारों और कभी कभी लाखों रुपये लगते हैं। पुनः इस कार्यालय मे साधारण औजारों से काम नही चलता, बहुत कीमती मशीनों की जरूरत होती है। काम करने वाले सहस्रा श्रमी अपने तौर से स्वतन्त्र रूप से, श्रम नहीं करते। वे वेतन-भोगी होते हैं। उनके वेतन मे प्रति मास (या प्रति सप्ताह) बहुत सा द्रव्य खर्च होता है। इन कारखानो में कच्चे माल के लिए भी काफी रुपया चाहिए। इस प्रकार बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की भिन्न भिन्न मद्दों मे बहुत द्रव्य की आवश्यकता होती । वही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह यह बड़ी मात्रा की उत्पत्ति कर सकता है, जिसके पास काफी पूँजी हो। यह बात थोड़ी पूँजी वालो के बस की नही है। यदि ये लोग छोटी मात्रा की उत्पत्ति करके वैसा माल तैयार करने का प्रयत्न भी करें तो वह अपेक्षाकृत महँगा होता है, और बड़ी पूँजी वालो द्वारा कारखानों मे तैयार होने वाले माल से प्रतियोगिता नही कर सकता। इससे स्पष्ट है, कि आजकल धनोत्पादन मे पूँजी का महत्व बहुत अधिक है। यही नहीं कि बिना पूँजी के धनोत्पादन नही हो सकता, वरन् जिसके पास पूँजी अधिक है, धनोत्पत्ति के क्षेत्र मे वही सर्वेसर्वा होता है, वह उत्पत्ति के अन्य सब साधनो का स्वामी होता है, और छोटी पूँजी वालों को सहज ही आर्थिक दृष्टि से पराजित कर डालता है।

पूँजी के गुण नीचे लिखे अनुसार है :—

(१) वह धनोत्पत्ति के लिये बहुत सहायक है। पूँजी के न होने पर धन की उत्पत्ति बहुत कम मात्रा मे ही हो सकती है। पूँजी के उपयोग से धन की उत्पत्ति बढ़ने लगती है।

(२) पूँजी मनुष्य कृत है। वह उसके बचत का परिणाम है। इसलिये जिन कारणों से बचत बढती है उनसे ही पूँजी की भी वृद्धि होती है।

(३) पूँजी गतिशील है। आवश्यकतानुसार पूँजी एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से भेजी जा सकती है।

(४) पूँजी विशेषकर मशीनें, उपयोग करने पर घिसने लगती हैं इससे समय बीतने पर उसका मूल्य कम भी हो जाता है।

(५) पूँजी की मात्रा आसानी से बढाई जा सकती है। इससे बड़ी मात्रा मे उत्पत्ति भी आसान हो गई है।

पूँजी के भेद, चल और अचल पूँजी—कुछ पूँजी ऐसी होती है, जो धनोत्पादन मे बहुत समय काम नहीं आती, एक ही बार के उपयोग मे, थोडे ही समय मे, खर्च हो जाती है। उदाहरणार्थ, खेतो मे जो बीज काम मे आता है, वह पूर्णतया खर्च हो जाता है, फिर दूसरी बार उसका उपयोग नही हो सकता। इसी प्रकार मजदूरो को दिये जाने वाले वेतन, कल कारखानो मे काम आने वाले कच्चे माल, तथा कोयले आदि की बात है। यह चल पूँजी (Circulating Capital) है, इसे अस्थायी या जगम पूँजी भी कहते हैं।

इस पूँजी का बदला या प्रतिफल जल्दी और एक साथ ही मिल जाता है। इसलिये इसको लगाने वाला भली भाँति विचार कर लेता है कि प्रतिफल इससे अधिक मूल्य का मिले तभी इसका उपयोग किया जाय। बीज तभी बोया जाता है, जब उससे अधिक पैदावार होने की आशा होती है। मजदूरो को वेतन देते समय इस बात का विचार किया जाता है, कि उनसे जो काम हुआ है, उसका मूल्य उनके वेतन से किसी प्रकार कम न रहे।

जो पूँजी बहुत समय तक काम आती रहती है, एक ही बार के उपयोग मे खर्च नही हो जाती, उसे अचल पूँजी कहते है। किसान के बैल बार-बार कई वर्षों तक खेती के काम मे आते हैं, व्यवसाय-पति कारखाने के लिये जो इमारतें बनवाता है, उनमे चिरकाल तक धनोत्पादन की क्रिया होती रहती है, रेलों की पटरी एक बार लगा दी जाने पर, मुद्दत के लिये उससे निश्चिन्तता हो जाती है। मशीन और जहाजो आदि की भी यही बात है। इस प्रकार की पूँजी, स्थायी पूँजी (Fixed Capital) कहलाती है, इसे अचल, स्थिर या स्थावर पूँजी भी कहते है। स्मरण रहे कि स्थिति-भेद से चल पूँजी अचल हो सकती है। कल्पना करो, एक कारखाने मे आटा पीसने, सूत कातने या कपड़ा बुनने की मशीनें बनती हैं। ये मशीनें उस कारखाने के लिये चल पूँजी हैं, वह इनका उपयोग एक ही बार कर सकता है, उन्हे बेचने पर उन कारखाने वालो को उनकी कीमत मिल जायगी। परन्तु जो व्यक्ति इन मशीनों को मोल लेकर आटा पीसने, या सूत कातने या कपड़ा बुनने का काम करेगा, उसके लिये ये मशीनें बहुत समय तक धनोत्पत्ति का काम करेंगी, अतः उसकी दृष्टि से ये अचल पूँजी होंगी।

अचल पूँजी का बदला देर मे मिलता है। जब तक उसका उपयोग होता रहता है, तब तक धीरे धीरे उसकी लागत तथा उससे होने वाला लाभ वसूल होता है। इस पूँजी के लगाने वाले को लाभ के लिये बहुत समय तक प्रतीक्षा करनी पडती है। इसमे चल पूँजी की अपेक्षा लाभ भी प्रायः अधिक होता है। परन्तु वह बहुत समय मे होता है, इसलिये इस पूँजी को लगाने से पूर्व यह विचार किया जाता है, कि यह पूँजी कितने समय तक काम देगी, और उस समय तक इसमे कितना लाभ होगा।

पूँजी भूमि की तरह एक निष्क्रिय साधन है, उससे श्रम का (एवं भूमि का) सहयोग प्राप्त किये बिना किसी प्रकार की धनोत्पत्ति नही हो सकती। पूँजी प्रकृतिदत्त पदार्थ नही है, जैसे कि भूमि है, वह श्रम का फल है। पूँजी भूमि की तरह अमर नही है, वरन् वह नाशमान है। चल पूँजी का तो ह्रास शीघ्र हो हो जाता है, अचल पूँजी अर्थात् मकान और मशीनों का भो थोड़ा बहुत ह्रास होता ही रहता है, और यदि उनकी बराबर देख-भाल, मरम्मत या सुधार न होता रहे तो वे टूट-फूट, घिसावट या अन्य प्रकार से बेकाम हो जायँ, अग्नि, भूकम्प या बाढ आदि से तो अचल पूँजी भी बहुत जल्दी ही नष्ट हो जाती है।

पूँजी के उपर्युक्त भेदों पर विचार कर चुकने पर अब हम कृषि-पूँजी, व्यवसाय-पूँजी, तथा सरकारी पूँजी के सम्बन्ध मे सक्षेप से लिखते हैं।

कृषि पूँजी—कृषि-प्रधान देशों की अधिकतर पूँजी कृषि-सम्बन्धी ही हुआ करती है। अलग अलग किसानों की पूँजी प्राय. कम ही होती है। हमारे देश मे तो किसानों की नकद पूँजी नही के ही बराबर है। ऋण के वास्ते इन्हे अत्यधिक सूद देना पडता है। तिस पर भी देहातो मे काफी रुपया नही मिलता, क्योंकि देहातों के महाजन भी तो गरीब हैं। किसानों की साधारण पूँजी बैल, हल, फाल, खुरपी, कुदाली, पानी खीचने का चरसा या रहट आदि होती है, किसी-किसी किसान के पास बैलगाडी भी रहती है। फुरसत के दिनो मे वह हल के बैलो को गाडी मे जोतकर बोझ लादने का काम करता है। उक्त वस्तुओ मे बीज, जो किसान खेतो मे बोता है, और खाद, जो खेतो मे डालता है, इनको शामिल कर लेने से किसानों की पूँजी का पूरा योग हो जायगा। बहुधा किसानों के पास खाने से कुछ बच ही नहीं सकता। उन्हे डेवढे या सवाए के करार पर महाजनों से बीज उधार लेना पडता है। ऐसे किसान बहुत कम मिलेंगे, जिनकी सब पूँजी अपनी है, और जो काम-चलाऊ पूँजी के अलावा भावी

आवश्यकता के लिए कुछ जमा भी रख सके। भारतवर्ष मे बीमा कराने की प्रथा अपेक्षाकृत कम है, किसानो मे तो यह मानो आरम्भ ही नही हुई। उनकी जिंदगी का या चारे, फसल, बैल आदि का बोमा नही होता। सुरक्षित पूँजी का प्रायः अभाव रहता है। हाँ, कुछ किसान अच्छी फसल होने की दशा मे, अपनी अन्य आवश्यकताओ को मर्यादित रख कर कभी-कभी विशेषतया स्त्रियो के लिए थोडे बहुत जेवर बनवा देते है, बस, सकट-काल मे इन्ही पर उनकी नजर पड़ती है।

पशु—कृषि-प्रधान भारत के लिए पशुओं का बड़ा महत्व है, कारण, यहाँ खेती मशीनों से न होकर बैल और भैंस आदि से ही होती है। खेती करने के अलावा पशु बोझ ढोते और सवारी ले जाते है। परन्तु अन्य देशो की अपेक्षा भारतवर्ष पशु-धन मे बहुत दरिद्र है। इङ्गलैंड, अमरीका आदि कई पश्चिमी देशों मे, जो कृषि-प्रधान भी नही हैं, प्रति व्यक्ति पशुओं की सख्या अधिक है; साथ ही वहाँ के पशु अधिक बलवान, तथा निरोग हैं, और अधिक दूध देने वाले हैं। सन् १९४१ की गणना के अनुसार भारतवर्ष मे २८ करोड़ २ लाख पशु थे, उनमे से ३ करोड पाकिस्तान के हिस्से मे आ गए, ये नर मादा प्रायः सब अधेड आयु के थे। भारतीय सघ के पशुओ मे से ६ करोड़ ३७ लाख अधेड़ मादा, ५ करोड ८० लाख अधेड नर, और ५ करोड ६० लाख नर मादा दोनों प्रकार के ३ वर्ष से नीचे के बच्चे थे। छ करोड़ पशु दूध दे रहे थे, बैल साढे पाच करोड थे। यहाँ पशुओं की सख्या इतनी कम है, कि न तो देहातों के आदमियो को यथेष्ट दूध मिल सकता है, और न सवारी या माल ढोने आदि का काम पूरा होता है। उत्पादन की बढती हुई माँग, शहर वालों की दूध और घी की माँग किस प्रकार पूरी की जा सकती है। चारा काफी न मिलने और नस्ल अच्छी न होने के कारण पशु निर्बल तथा कम दूध देनेवाले होते हैं। युद्ध काल (१९३९-४५) मे यहाँ इतने पशु कटे, जितने पहले कभी नही कटे थे, और न किसी रोग से मरे थे।

यहाँ के मुख्य पशु हैं—गाय-भैंस जो दूध के लिए रखी जाती हैं, बैल खेती करने, गाड़ी चलाने, माल ढोने और पानी खीचने के काम आते हैं, इन कामो मे, भैंसों से भी सहायता ली जाती है। भेड-बकरियों को ऊन तथा दूध और मांस के लिए पालते हैं। घोडे सवारी के काम, और गधे तथा खच्चर माल ढोने के काम आते हैं। ऊट रेतीली भूमि मे माल ढोने के लिए विशेष उपयोगी है। समुद्रो तथा नदियो के किनारे के स्थानों मे मछलियाँ खाने के काम आती हैं। पशुओं से खाल, हड्डी, चर्बी तथा सीग आदि भी मिलते हैं।

यहाँ पशुओं को प्रायः मैला कुचैला पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे उनकी आयु घट जाती है। उनके श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती। पशुओं की उन्नति के लिए दो सरकारी विभाग हैं। फौजवाले उन पशुओं के पालने तथा नस्ल सुधारने का काम करते हैं, जो फौजी रिसाले मे लिए जाते हैं। सिविल-विभाग साधारणतः बैल, भैंस, घोड़ा, खच्चर आदि पशुओं की उन्नति और चिकित्सा का प्रबंध करता है। कुछ नगरों मे पशु-चिकित्सा की शिक्षा दी जाती है, तथा ऐसी सरकारी प्रयोगशालाएँ हैं, जहाँ पशुओं के रोग और उनकी चिकित्सा का अनुसधान होता है। जिला-बोर्डों की तरफ से सब-डिविजनों मे पशु चिकित्सक रखे जाते हैं। कुछ समय से गाय बैल की नस्ल सुधारने के वास्ते अच्छे साँडों की व्यवस्था की जाने लगी है, परन्तु जबकि पशुओं के चरने के लिए काफी चरागाह नहीं है, तथा किसान इतने निर्धन हैं कि वे पशुओं को पौष्टिक पदार्थ तो क्या अच्छा भोजन भी भर पेट नहीं दे सकते, केवल साँडों की व्यवस्था से क्या लाभ हो सकता है।

पशु-पलान से चारे का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब बहुत से घनी बस्तीवाले स्थानों मे पशुओं के चरागाह तक जोत डाले जाते हैं, और पशुओं को भर-पेट चारा नहीं मिल सकता। यद्यपि प्रत्येक हिन्दू गृहस्थ के लिए एक गाय रखना आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता है, परन्तु वर्त्तमान अवस्था मे यह कार्य बहुत ही कठिन है। बहुत-से आदमी चारे के अभाव मे अपने गाय-बछड़ों को यदि कसाई के हाथ नहीं बेचते, तो उन्हे किसी गोशाला या पिंजरा-पोल मे छोडकर उससे निश्चिन्त हो जाते हैं। वास्तव मे पशु-पालन के लिए चरागाहों की बड़ी आवश्यकता है। जगलों मे बहुत सी घास बरबाद हो जाती है। उसे सरकारी फार्मों की तरह सचय करके रखने का प्रबन्ध होना चाहिए, तथा अन्य चारा को अधिक मात्रा मे पैदा करना और उन्हे आवश्यकता के समय के लिए बचा कर वैज्ञानिक रीति से रखना चाहिए।

भारतवर्ष म गउओं की कमी के मुख्य कारण ये है—(१) चमड़े और मास के लिए लाखों गाएँ प्रति वर्ष मारी जाती है, यहाँ से बहुत सी खालें विदेशों को भी भेजी जाती हैं। (२) बहुत सी अच्छी-अच्छी गउएँ विदेशों को भेज दी जाती हैं। इन बातों को दूर करने की बहुत जरूरत है। पिछले वर्षों मे फौजी गोरों को गो-मास देने के लिए लगभग डेढ लाख पशु प्रति वर्ष मारे जाते रहे हैं। अब भारतवर्ष के स्वाधीन होने पर यह बात नहीं रही। इसी प्रकार पहले यहाँ मुसलमान गाय की कुर्बानी बहुत किया

करते थे, राष्ट्रीय जागृति होने से और अब भारतीय संघ राज्य का निर्माण हो जाने पर यह क्रमशः बन्द हो रहा है। कितनी ही म्युनिसिपैलटियों और जिला-बोर्डों ने गो-वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। प्रान्तीय सरकारें भी ऐसा कर रही हैं। मिसाल के तौर पर बम्बई प्रान्त की व्यवस्थापक सभा ने हाल में एक प्रस्ताव स्वीकार किया है, जिसके अनुसार वहाँ उन गाय, बैल, भैंस व बछड़ों का वध वर्जित किया है, जो दूध, नस्ल या कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिए निरुपयोगी करार न दिए गये हों।

व्यवसाय-पूँजी—प्रत्येक उद्योग-धन्धे और व्यवसाय के लिये पूँजी की आवश्यकता होती है। और जब व्यवसाय करने वाले के पास अपनी पूँजी काफी नहीं होती, वह या तो दूसरे पूँजी वाले को उस काम में साझीदार बनाता है, जिससे उनकी भी पूँजी उक्त व्यवसाय में लग जाय, अथवा जब दूसरा कोई व्यक्ति उस व्यवसाय से होनेवाले हानि-लाभ में भागीदार होने वाला नहीं मिलता, तो भिन्न भिन्न व्यक्तियों से उसे ऋण लेना पड़ता है। आजकल तो व्यवसाय-कार्य बड़े पैमाने पर होता है। आधुनिक कल-कारखानों में पर्याप्त पूँजी लगाना बहुधा एक आदमी के वश का होता ही नहीं। इसलिये बहुत से आदमियों की थोड़ी पूँजी मिला कर, मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ स्थापित की जाती हैं।

अब यह विचार करते हैं कि भारतवर्ष में उद्योग-धन्धों के लिये पूँजी की कैसी स्थिति है। पहले देशी पूँजी की बात लें। हमारे देहातों और साधारण कस्बों में बैंकिंग या महाजनी की कोई संगठित व्यवस्था नहीं है। आदमी डाकखानों के सेविंग बैंकों में, तथा कुछ वर्षों से सहकारी बैंकों में अपनी बचत का रुपया जमा करने लगे हैं। परन्तु साधारणतया स्थानीय आवश्यकताओं के लिए गाँव का महाजन ही पूँजी देता है। वह अपनी पूँजी नए कामों में बहुत कम लगाता है। कहीं-कहीं स्थानीय पूँजी से आटा पीसने की चक्कियाँ, कपास के क्षेत्रों में जीन प्रेस और धान के क्षेत्रों में धान से चावल निकालने की मिलें आदि चलायी जाती हैं। बड़े बड़े ग्रामों या नगरों में उद्योग-पूँजी की दशा कुछ सन्तोषजनक है, परन्तु यहाँ भी कुछ कठिनाइयाँ हैं। वर्तमान बैंकों की पद्धति औद्योगिक दृष्टि से हितकर नहीं है। उद्योग-धंधों के वास्ते जैसी बड़ी अवधि के लिए रुपया चाहिए, उसके मिलने की संगठित व्यवस्था नहीं है। सहकारी बैंक जुलाहों आदि छोटे कारीगरों के लिए ही उपयोगी होते हैं। अस्तु, उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए यथेष्ट पूँजी की व्यवस्था होने की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रत्येक

प्रान्त में वहाँ की परिस्थिति और आवश्यकताओं का विचार करते हुए, अच्छे औद्योगिक बैंक होने चाहिए।

मशीनें और इमारतें—कृषि हो या कोई उद्योग-धधा, सभी मे कुछ आवश्यकता चल पूॅजी की होती है, तो कुछ अचल पूॅजी की। हॉ, औद्योगिक कार्यों मे अचल पूॅजी अधिक लगाने, अथवा चल पूॅजी को सुविधानुसार क्रमशः अचल पूॅजी मे बदलने की प्रवृत्ति बहुत अधिक हो जाती है। पहले एक कार्य या उसके किसी उपविभाग की क्रिया श्रमियों द्वारा होती है, इसमे श्रमियो को दिये जाने वाले वेतन मे चल पूॅजी लगती है। क्रमशः यह विचार किया जाता है कि किस प्रकार उक्त कार्य या उसके उपविभाग की क्रिया मशीन द्वारा होने लगे, उसमे एक बार इकट्ठी ही पूॅजी लग जाय, और श्रमियों की आवश्यकता न रहे अथवा वह बहुत कम हो जाय, जिससे उनके वेतन मे दी जाने वाली पूॅजी या उसका अधिकाश भाग मशीन रूपी अचल पूॅजी मे बदल जाय। इस प्रकार पूॅजी के अन्तर्गत मशीनों का भाग बहुत बढ गया है, तथा बढता जा रहा है। यहॉ तक कि इस युग को मशीनों का युग कहा जाता है। मशीनो के साथ, उद्योग-धन्धों के लिए, बड़ी-बड़ी इमारतों की भी बहुत वृद्धि हो रही है। हमारे बडे-बड़े नगरों मे ही नहीं, कस्बों तक मे कल-कारखानो के लिए बनी हुई खास ढग की इमारते हैं। तथापि आधुनिक उन्नत औद्योगिक देशों से भारतवर्ष बहुत पीछे है, और अभी यहॉ मशीनों एवं इमारतो की उन्नति और वृद्धि की बहुत गुजायश है।

यातायात और सम्वाद-वाहन के साधन—पूॅजी के अन्तर्गत यातायात (Transportation) सम्वाद वाहन (Communication) और सिंचाई के साधन भी सम्मिलित हैं। देश के भीतर यातायात के मुख्य साधन पहले सड़कों के अतिरिक्त नहर या नदी आदि जल मार्ग होते थे। उन्नीसवीं शताब्दी मे क्रमशः रेलो का निर्माण तथा प्रचार हुआ। आधुनिक काल मे आकाश मार्ग द्वारा, हवाई जहाजों से माल भेजने के प्रयत्न आरम्भ हो गये हैं, इनकी अभी शैशव अवस्था कही जा सकती है, परन्तु इनका भविष्य बहुत होनहार मालूम होता है। आशा है कि इनकी उत्तरोत्तर वृद्धि एवं उन्नति होगी, और एक समय ऐसा आ जायगा कि प्रबन्धक को बिक्री का माल इनके द्वारा ही भेजने में किफायत रहेगी, अथवा जब इनसे खर्च कुछ अधिक भी होगा, तो जल्दी के विचार से इनका उपयोग करना अपेक्षाकृत अधिक लाभ-जनक होगा।

विदेशो को माल कही जलमार्ग से भेजा जाता है, कही स्थलमार्ग से। स्थलमार्ग मे यातायात रेल-पथ और सड़को से होती है, और जलमार्ग में भाप से चलने वाले जहाजों का उपयोग होता है। क्रमशः इन सब मे ही उन्नति हो रही है। तथापि जैसा कि पहले कहा गया है, हवाई जहाजो की आधुनिक उन्नति को देखते हुए ऐसा अनुमान होता है कि भविष्य मे उनका स्थान सबसे आगे होगा।

माल मँगाने और भेजने मे पत्र व्यवहार तथा सम्वाद भेजने से बड़ी सहायता मिलती है। प्राचीन काल मे यह कार्य बहुत महँगा, तथा समय-साध्य था—अब इसमे बहुत प्रगति हो गई है, तथा उत्तरोत्तर हो रही है। डाक, तार, टेलीफोन, बेतार का तार आदि साधनों मे खूब उन्नति होती जाती है। डाक से तो निर्धारित वजन तक के पार्सल भी आते जाते हैं। तार से माल के आर्डर ही नही, उसके मूल्य-स्वरूप रुपया भी आता जाता है। बेतार के तार का उपयोग अभी उपर्युक्त प्रकार से सर्वसाधारण के उत्पादन कार्य मे सहायक के रूप मे नही हो रहा है, पर भविष्य मे ऐसा होने का अनुमान है।*

सिचाई के साधन—सिचाई के साधनों की भी पूँजी मे ही गणना होती है, अतः यहाँ इनका विचार किया जाता है। इस खड के दूसरे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भारतवर्ष के कुछ भाग ऐसे है, जिनमे वर्षा बहुत कम होती है, तथा कुछ भागों मे वर्षा काफी होने पर भी अनिश्चित रहती है। फिर, चावल और गन्ने आदि की कुछ फसलें ऐसी हैं, जिन्हे जल काफी और नियमित रूप से मिलना चाहिए, वर्षा से बहुत कम स्थानों में ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त, जन-संख्या की वृद्धि के कारण साल में दूसरी फसल की आवश्यकता होती है, और अधिकाश जन सख्या की आजी-विका का मुख्य आधार कृषि ही है। इन सब कारणो से यहाँ सिचाई की आवश्यकता स्पष्ट है। आजकल भारतीय सघ में सिचाई के सब साधनों से करीब ४ करोड़ ८० लाख एकड भूमि मे प्रति वर्ष सिंचाई होती है।

सिचाई के लिए यहाँ कुएँ और तालाब तो प्राचीन काल से हैं, परन्तु नहरों का उल्लेख विशेषतया मुसलमानों के समय से ही मिलता है। सयुक्त-प्रान्त, पंजाब, मदरास, बम्बई और बिहार मे कुओं से सिंचाई होती है, पजाब, सयुक्त प्रान्त और मदरास मे नहरों से भी बहुत काम लिया जाता है। मैसूर,

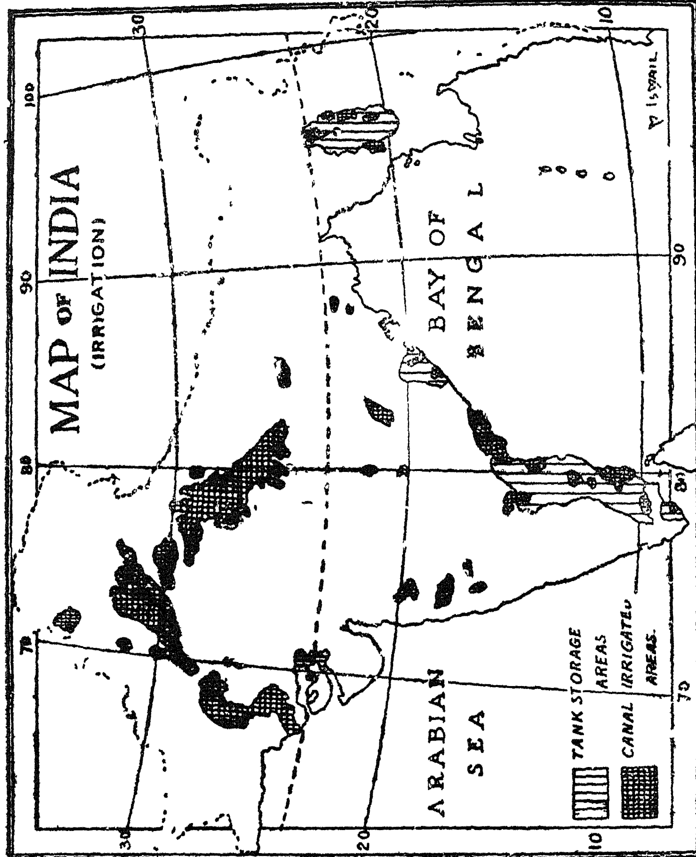
*इस सम्बन्ध मे विशेष बातें आगे 'व्यापार के साधन' शीर्षक एक स्वतन्त्र अध्याय मे लिखी गई हैं।

हैदराबाद, पूर्वी मदरास, राजपूताना और गुजरात मे तालाब सिचाई के काम आते हैं, मदरास के पूर्वी भाग मे कुछ तालाबों का घेरा कई-कई मील है। तालाब जनता तथा सरकार दोनो के ही द्वारा बनवाए गए हैं। कुएँ प्रायः कृषकों के स्वय बनवाए हुए हैं, कही कहीं धनी मानी या परोपकारी सज्जनों ने बनवा दिए हैं, सरकार ने भी कुछ दशाओं मे उनके लिए सहायता दी है।

सयुक्त प्रात और बिहार की सरकारों ने उन जिलों मे जहाँ नहर से उत्पन्न की गई बिजली पहुँचाई गई है ट्यूब वेल बनवाए हैं। इन्हे पाताल फोड़ कुएँ या नल कूप भी कहते हैं। इनकी गहराई बहुत अधिक होती है, जहाँ से पानी का अनत स्रोत मिलता है। इसलिये इन कुओ से सिंचाई के लिये जल की कमी नहीं हो पाती। सयुक्त प्रात मे २१०० नल कूप बन गए हैं और ७५० नए कूपों के बनवाने की योजना तैयार है। बिहार मे १३४ नल कूप बने हे और २५० बनने वाले हैं। केन्द्रीय सरकार ने भारतीय सघ के भिन्न भिन्न भागो मे ५ वर्षों के अदर ६००० नल कूप बनवाने की योजना स्वीकार की है। इन नल कूपों से जल निकालने का काम प्राय. विद्युत् शक्ति से लिया जाता है। इसके सबध मे पहिले ही लिखा जा चुका है। नल कूपो से गाँव वालों को पीने के लिये शुद्ध जल भी मिल जाता है और इन कूपों पर रेडियो लगा देने से गाँव वालों को ससार भर के ताजे समाचार मिल जाते हैं और खेती की उन्नति के सबध मे भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है। समुद्र के निकट-वर्ती स्थानो मे तथा जिन प्रातो मे हवा निरतर चलती है, वहाँ हवा से चलने वाले रहट द्वारा कुओं से जल निकालने की विधि बहुत लाभकारी हो सकती है।

नहरों से सिंचाई—नहरो का बनवाना साधारण आदमियो के बश की बात नहीं, इन्हे तो राजा महाराजा अथवा सरकार ही बनवा सकती है। भारतवर्ष की सरकारी नहरों के दो भेद हैं :—(१) उत्पादक, जिनसे इतनी आय हो जाय कि उनके चलाने का खर्च तथा उनमे लगी हुई पूँजी का सूद आदि निकल सके और कुछ लाभ भी हो जाय, (२) रक्षात्मक, जिनसे ऐसी आय नहीं होती कि आवश्यक खर्च निकालने के बाद उनमे लगी हुई पूँजी का सूद निकल सके। ये कार्य दुर्भिक्ष-निवारण के लिए किए जाते हैं। भारतवर्ष मे नहरों के निर्माण मे विशेष ध्यान इसी शताब्दी में दिया गया है। सन् १९०३ ई० के आबपाशी कमीशन की रिपोर्ट के बाद सरकार ने कई नहरे बनवाई हैं। पजाब मे नहरे निकलने से कई जगह अच्छी सुन्दर नहरी बस्तियाँ या उपनिवेश (कालोनी) हो गए हैं। इनकी पैदावार तथा आबादी पहले से कई गुना बढ गई है। सयुक्त प्रान्त मे गगा और यमुना की

नहरों के अतिरिक्त शारदा नहर निकाली गई है, इससे कई लाख एकड भूमि मे आबपाशी हो रही है।



बगाल मे दामोदर नदी, दक्षिण भारत मे कावेरी, गोदावरी, महानदी और पैरियार नदियों से भी नहरें निकाली गई हैं। भारत स्वतत्र होने के पहिले पंजाब और सिंध में ही नहरें बनवाने का विशेषरूप से ध्यान दिया गया था। सन् १९४७ मे पाकिस्तान के अलग हो जाने से सिध प्रान्त की सब नहरें और पंजाब प्रान्त की आधी से अधिक नहरें पाकिस्तान के हिस्से मे आगईं। इससे भारतीय सघ को बहुत हानि हुई है। अब पूर्वी पजाब प्रान्त में पश्चिमी यमुना नहर, सरहिद नहर और बारीदोआब नहर रह गई हैं। इस प्रांत के भाकरा बाध के तैयार हो जाने पर नहरों की सिचाई मे कुछ वृद्धि

होगी। हम पहिले बतला चुके है कि स्वाधीन भारत सरकार ने भारतीय नदियों का और भी अधिक उपयोग करने के लिये कई बाध बधवाने का कार्य आरम्भ कर दिया है। इन बाधों मे से बगाल मे दामोदर घाटी योजना, उडीसा का हीराकुड बाध और सयुक्त प्रात के रिहाड बाध मुख्य हैं। वर्तमान योजनाओं के अनुसार कार्य पूर्ण होने पर २ करोड ७० लाख एकड नयी भूमि मे इन बाधो की नहरो से सिचाई होने लगेगी। आजकल नहरों से भारतीय सघ मे करीब २½ करोड एकड भूमि सीची जाती है। निकट भविष्य मे ५ करोड एकड भूमि नहरों से आसानी से सीची जा सकेगी।

आबपाशी के साधनों मे लगी हुई पूॅजी सन् १६००-०१ मे ४२ करोड रुपये थी, सन् १६३४-३५ मे यह रकम १५० करोड ८६ लाख रुपये थी। सन् १६४१-४२ मे कुल आय १६,३६ लाख रुपये, और सचालन व्यय ४८१ लाख रुपये था। इस प्रकार विशुद्ध आय ११,५५ लाख रुपये रही। यह कुल पूॅजी पर १०.३४ प्रतिशत के हिसाब से है।

नहरों से लाभ—जितनी नहरे भारतवर्ष मे अभी तक बनी हैं उनसे बहुत फायदा हुआ है। जहाॅ-जहाॅ पर नहरे बन गई हैं वहाॅ पर अकाल कभी नही पडता। जहाॅ पहिले कुछ भी पैदावार नही होती थी वहाॅ पर अब हरे भरे लहलहाते खेत दिखलाई पडते हैं। पहिले, साल मे ज्यादा से ज्यादा दो फसले तैयार हो सकती थी। परन्तु अब उन स्थानो मे तीन फसले तैयार होती हैं। गर्मी के दिनों में भी खेती होती है उसका कारण यह है कि सिचाई हो सकती है। नहरों के बन जाने से गल्ला काफी होने लगा है जिससे कई एक ऊजड़ स्थानों मे घनी आबादी हो गई है। गहरी खेती तो बिना नहरों के हो ही नही सकती। उसमे तो सिचाई की बहुत जरूरत पड़ती है।

नहरों से हानि—नहरों से कुछ नुकसान भी है। नहरों का पानी कुएॅ के पानी की तरह अच्छा नही होता। नहरे बहुधा पक्की नही होती। इससे पानी उनसे निकल कर आसपास के गड्ढों मे भर जाता है जिससे बहुत सी जमीन दलदल बन जाती है। वहाॅ दलदल के कारण खेती भी नही होती और मच्छर पैदा होने से आस पास के स्थानो मे मलेरिया फैल जाता है।

किसान जितना पानी नहरों से उपयोग मे लाता है उसके अनुसार उसमे आबपाशी कर वसूल नही किया जाता। जितनी जमीन सीची जाती है उसके हिसाब से यह कर लिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि किसान

अपने खेतों में अधिक से अधिक पानी लेता है। आवश्यकता से अधिक पानी देने के कारण भी फसल को हानि पहुँचती है। जमीन पर रेह आजाने से वह खराब भी हो जाती है। भविष्य मे पानी के परिमाण के अनुसार ही आब-पाशी कर वसूल करने का प्रबंध होना चाहिये।

विदेशी पूँजी का प्रयोग—भारतवर्ष के पराधीनता-काल में यहाँ उद्योग-धन्धो और बैंको मे जितनी स्वदेशी पूँजी लगी, उसकी अपेक्षा विदेशी पूँजी कही अधिक लगी। फिर, सरकार ने जो रेल, डाक, तार, नहर आदि का कार्य किया, वह अधिकतर विदेशी पूँजी से किया; अकेल रेलो में आठ-नौ अरब रुपए लगा दिए। इससे यहाँ विदेशी पूँजी के विशाल परिमाण मे लगने का अनुमान हो सकता है। विशेष दशाओ मे विदेशी पूँजी से भी धनोत्पत्ति करना बुरा नहीं। परन्तु यहाँ भारतवर्ष में विदेशी पूँजी का प्रयोग हमारी इच्छानुसार नही किया गया। उसके साथ उसे लगाने वाले विदेशी व्यवसायी भी आगए। उन्होंने बहुधा हमारी कारीगरी को नष्ट करके अपना कारबार बढाया। इसके अलावा यहाँ जब कभी कुछ राजनैतिक सुधार होने की बात उठी तो वे भारत-सरकार पर अपना प्रभाव डाल कर हमारे पराधीन बने रहने मे सहायक होते रहे। इस प्रकार विदेशी पूँजी से देश की राजनैतिक पराधीनता भी बढती है। अमरीका के भूतपूर्व राष्ट्रपति विलसन का कथन है कि "जितनी ही विदेशी पूँजी देश मे आकर लगती रहती है, उतना ही विदेशियो का प्रभाव बढता रहता है। इसलिये पूँजी की चाले विजय की चाले है।"

देश की औद्योगिक उन्नति के लिये अभी कुछ समय तक विदेशी पूँजी की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता। हाँ, यह जरूरी है कि हम उसे उचित शर्तों पर ले, शर्तें इस प्रकार सोच विचार कर रखी जानी चाहिएँ कि उनसे लाभ अधिक-से-अधिक और हानि कम से कम हो। सरकार को ऋण कम सूद पर मिल सकता है। उसे चाहिए कि अपने नाम और अपनी जिम्मेवारी से रुपया उधार लेकर भारतीय व्यवसायो की सहायता करे। साथ ही, देश मे जो धन हो उसका भी यथेष्ट उपयोग किए जाने की जरूरत है। हमारा अन्तिम लक्ष्य तो यही होना चाहिए कि देश की नई-नई औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विदेशी पूँजी न लेनी पडे, यथा सम्भव सब काम देशी पूँजी से हो सके। देशी पूँजी की समस्या का वास्तविक हल इसी बात मे है कि देश के पूँजी सम्बन्धी अपने साधनों की यथेष्ट उन्नति की जाय।

अभ्यास के प्रश्न

१—पूँजी की ठीक ठीक परिभाषा दीजिए। सम्पत्ति की उत्पत्ति मे इसका क्या महत्व है ? भारत मे पूँजी के मदे विकास का कारण बताइए ? (१६३५)

२—पूँजी का आप क्या अर्थ लगाते हैं ? इसकी पूर्ति किन शर्तों पर निर्भर रहती है और हमारे गाँवो मे इन शर्तो की कहाँ तक पूर्ति होती है ? (१६२६)

३—अचल पूँजी की परिभाषा दीजिए। पूँजी के उपयोग से श्रम की उत्पादकता कैसे बढ जाती है ? सम्पत्ति की उत्पत्ति मे हमको रेल से क्या सहायता मिलती है ? (१६३६)

४—भारत मे कृत्रिम आबपाशी के मुख्य साधन क्या हैं ? यू० पी० में नहरों द्वारा होने वाली आबपाशी के प्रधान लाभ समझाइए। क्या कारण है कि कुछ नहरों से सरकार को लाभ होता है और कुछ से हानि होते हुए भी चालू रखी जाती हैं ? (१६३५)

५—यू० पी० में आबपाशी को सुगमता और साधनो का वर्णन कीजिए। उनमें कहाँ तक विस्तार किया जा सकता है ? किसान को आबपाशी से क्या लाभ होता है ? (१६३२)

६—भारत को सिंचाई से जो आर्थिक लाभ पहुँचता है उसे यू० पी० व पजाब की कुछ लम्बी नहरों को उदाहरण स्वरूप लेकर समझाइए। (१६२७)

७—ग्रामों मे पशुओं की दशा सुधारने के तरीके लिखिए।

८—भारत मे किसानो की पूँजी की क्या दशा है ? उनकी पूँजी किस प्रकार बढाई जा सकती है ?

६—पूँजी की परिभाषा लिखिये। चल और अचल पूँजी मे क्या भेद है ? निम्नलिखित को क्या आप पूँजी कहते हैं ?
(अ) व्यापार की प्रसिद्धि (ब) एक डाक्टर की कार्य निपुणता (स) कजूस का धन (द) एक मकान (प) एक अध्यापक की बुद्धि। (यू० पी० १६४१)

१०—भारतवर्ष मे कौन-कौन से भिन्न-भिन्न साधनो से सिंचाई की जाती है। नहरों की सिंचाई के गुणों और दोषो को बतलाइये। यू० पी० (१६४२)

११—भूमि, श्रम और पूँजी उत्पत्ति के आवश्यक साधन कहे जाते हैं। इस कथन को समझाइये और आवश्यक आलोचना कीजिये (पंजाब १६२४, ३७)

१२—क्या कारण है कि युक्त प्रांत में कुएँ और दक्षिण भारत में तालाब अधिक हैं? इन दोनों के बारे में जो कुछ जानते हो लिखिये।

१३—पाकिस्तान के अलग होने से नहरों की सिंचाई में जो कमी हुई है उसको पूरी करने के लिये सरकार द्वारा जो प्रयत्न किये जा रहे हैं उनका वर्णन कीजिये।

१४—नल कूपों (ट्यूब वेल) से क्या लाभ है? उनका प्रचार कैसे बढाया जा सकता है?

सोलहवाँ अध्याय

व्यवस्था (Organisation)

प्राक्कथन—उत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम और पूँजी—का विचार हो चुका। परन्तु उत्पादन-कार्य तभी सम्भव है, जब इन तीनों की समुचित व्यवस्था हो। अब तो बहुत धनोत्पादन बडी मात्रा में, तथा कल-कारखानों द्वारा होने से व्यवस्था की आवश्यकता और भी बढ गई है। इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्र में इसे उत्पत्ति का पृथक् साधन माना जाने लगा है। इस अध्याय में व्यवस्था और बडी मात्रा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

व्यवस्था में प्रबन्ध का स्थान—व्यवस्था के अन्तर्गत दो कार्य हैं – प्रबन्ध (Management) और साहस (Enterprise)। कल-कारखानों में पृथक् पृथक् आदमी के श्रम के स्थान पर बहुत से आदमियों को इकट्ठे काम करना पडता है। इस दशा में निरीक्षण या प्रबन्ध करने वाले की बहुत जरूरत पडती है। प्रबन्धक सदैव यह विचारता रहता है कि उत्पादक साधनों से किस प्रकार तथा किस अनुपात में काम लिया जाय कि उत्पत्ति अधिक से अधिक हो। जो रीति या साधन महँगे होंगे, उनके स्थान में वह सस्ते की खोज करके, उन्हें बदल देगा। प्रबन्ध के कार्य निम्नलिखित होते हैं:—

(१) कारखाने मे भिन्न-भिन्न प्रकार की आवश्यक योग्यता वाले मनुष्यों को इकट्ठा करना और उनसे श्रम-विभाग के विकसित सिद्धातो के अनुसार अधिक से अधिक काम लेना।

(२) कारखाने की जायदाद का निरीक्षण करना और अच्छे, बढिया यत्रों और औजारो का इस्तेमाल करना।

(३) उत्पत्ति के भेद, मात्रा तथा समय का निश्चय करना।

(४) आवश्यक कच्चे पदार्थों को समय पर तथा उचित मात्रा मे मोल लेना, तैयार माल को अच्छे मूल्य मे बेचने का प्रबन्ध करना।

(५) व्यापार के उतार-चढाव का पूर्ण ज्ञान रखना और उससे समुचित लाभ उठाना।

साहस—व्यवस्था के अन्तर्गत, प्रबन्ध के अतिरिक्त दूसरा कार्य साहस है। धनोत्पादन के लिए एक चीज बनाने या पैदा करने का विचार पहले किसी के मन मे अवश्य आना चाहिए, और इस विचार को उसे कार्य-रूप मे परिणत करने का साहस करना चाहिए। सम्भव है, दूसरे आदमियों को उसकी सफलता मे सशय हो, साहसी को अपने उत्पादन-कार्य के हानि-लाभ की जोखम उठानी पड़ती है। साहसी का काम पूँजी लगाने वालो के काम से पृथक् है। साहसी पूँजी उधार लेकर, अथवा कम्पनियों की सहायता से, अपना काम चला सकता है, वह उस काम के सचालन और हानि-लाभ आदि की सब जिम्मेदारी उठाता है। बहुत से आदमी बिना जोखम की और निश्चित आमदनी चाहते हैं। वे उससे अधिक नही माँग सकते, और उससे कम भी स्वीकार नही करते। परन्तु साहस का प्रतिफल निर्धारित नही होता, वह सर्वथा अनिश्चित और अस्थायी होता है। वह बहुत अधिक भी हो सकता है, और बहुत कम भी, यहाँ तक कि यह भी सम्भव है, कि किसी उत्पादन कार्य मे हानि रहे, और साहसी को अन्य उत्पादक साधनों का कुछ प्रतिफल स्वय अपने पास से चुकाना पड़े।

अन्य साधनो के स्वामी अपने अपने साधन का प्रतिफल उससे माँगते हैं, भूमि वाला लगान माँगता है, श्रमी वेतन, पूँजी वाला सूद और प्रबन्धक अपना वेतन। परन्तु साहसी अपने साहस का प्रतिफल किसी से न माँग कर, उत्पन्न वस्तु मे से, औरों का हिस्सा चुका कर, ले सकता है। इसलिये वह चाहता है कि अन्य साधनों के लिये होने वाला खर्च उत्पत्ति के अनुपात से, यथा-सम्भव कम रहे। वह समय समय पर उनकी मद्द मे खर्च बढाने को भी तत्पर होता है, परन्तु वह उसी दशा मे ऐसा करता है, जब उसे व्यय के अनुपात से उत्पत्ति अधिक होने की आशा हो। साधारण भाषा में कहा

जा सकता है कि वह कम से कम खर्च करके, अधिक से अधिक उत्पत्ति करने का अभिलाषी रहता है।

उपर्युक्त कथन से यह विदित है कि साहसी ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जो गम्भीर हो, और मजबूत दिल का हो, हानि सहनी पड़े तो चिन्ता-निमग्न न हो जाय, कभी हिम्मत न हार बैठे, सदैव उत्साह-युक्त रहे। वह नयी नयी योजनाओ और विचार का अध्ययन करे, और उन्हे कार्यान्वित करने के लिये कटिबद्ध हो। कल कारखाने के हानि लाभ का उत्तरदायित्व उस पर है, इसलिये पूँजी वाले उसके विचारे हुये कार्य के लिये रुपया उसी दशा मे उधार देंगे, जब वह विश्वसनीय हो। श्रमी और भूमि वाले भी विश्वसनीय व्यक्ति से ही सहयोग करते हैं। अतः साहसी को सबका विश्वास पात्र होना चाहिये।

उत्पत्ति के साधनों का संगठन; ग्रामोद्योग में—प्राचीन काल की तो बात ही क्या, आजकल भी कुछ स्वावलम्बी परिवार तथा छोटे किसान और कारीगर ऐसे मिलते हैं, जो उत्पत्ति के लिये स्वय भूमि, श्रम और पूँजी की व्यवस्था करते है, अपने कार्य का स्वय प्रबन्ध और निरीक्षण करते हैं, तथा उनके हानि लाभ की जोखम उठा लेते हैं, तथापि साधारणतया आधुनिक काल मे व्यवस्था, अर्थात् उत्पादन कार्य से अधिक से अधिक लाभ उठाने का कार्य ऐसा जटिल है कि उसके लिए एक विशेष योग्यता वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, इन्हे व्यवस्थापक कहा जाता है। जब भू स्वामी, श्रमी और पूँजीवाले अलग अलग समुदाय बन जाते हैं तो कोई व्यक्ति ऐसा भी होना चाहिये जो इन सब के साधनो का उत्पादन कार्य के लिये सगठन करे। इस प्रकार कोई ग्रामोद्योग उसके सहयोग बिना अच्छी तरह सचालित नही होता। उदाहरणार्थ खादी की उत्पत्ति का कार्य ले। गॉव मे किसान कपास पैदा करते हैं, उनसे भिन्न भिन्न परिवार कुछ खरीद लेते हैं, उसे ओटते हैं, और रूई धुनने वाले से धुनवाते हैं, पश्चात् प्रायः महिलायें अपने अपने घर मे कातती हैं, और उसका कपडा बुनवाती हैं। इस प्रकार गॉव वाले भिन्न भिन्न प्रयत्नों के फल स्वरूप कपड़ा पाते हैं। व्यवस्थापक देखता है कि गॉव मे इतना कपडा अमुक प्रकार का बनवाया जाता है और खर्च होता है। वह कपास खरीद कर उसे ओटवाता है, अथवा रूई खरीद लेता है, उसे धुनवाता है। फिर उसे कातने वालियों को देकर कतवाता है। इस प्रकार सूत का सग्रह करके उसका कपड़ा बुनवाता है। वह कच्चे माल की कीमत, तथा श्रमियों को मजदूरी अपने पास से देता है, और यदि उसके पास अपनी पूँजी नही होती तो

रुपया उधार लेकर इस काम मे लगाता है, इस दशा मे वह पैसे वाले को सूद भी स्वय देता है। अब इस कार्य मे हानि-लाभ हो उसकी जोखम वह स्वय उठाता है। अस्तु, इस प्रकार विविध साधनों की व्यवस्था होने से खादी उत्पत्ति का कार्य पूर्वापेक्षा अधिक सुचारु रूप से हो जाता है।

कल-कारखानों मे—आजकल बहुत सा उत्पादन कार्य बडे बडे कल-कारखानो मे होता है, उसमे सैकडो हजारों श्रमी अपने अपने घर पर स्वतन्त्र रूप से नही, एक ही स्थान मे वेतन भोगी के रूप मे काम करते है, वे प्रायः कोई वस्तु पूरी नहीं बनाते वरन् उत्पादन-कार्य का कोई भाग ही करते हैं। इस दशा मे इनके निरीक्षण और व्यवस्था की आवश्यकता और भी अधिक होती है। व्यवस्थापक कच्चे माल को खरीदने, श्रमियों से काम लेने, और आवश्यक पूँजी जुटाने का काम तो करता ही है, उसे देखना होता है कि कुल कितना माल तैयार होगा, और कहाँ कहाँ उसकी खपत हो सकेगी। वास्तव मे वह खपत का बहुत कुछ अनुमान पहले ही कर लेता है, और उसके अनुसार माल तैयार कराने के लिये उत्पत्ति के विविध साधनो का सगठन करता है। कल-कारखाना मे माल अधिक तैयार होन से प्रबन्ध कार्य तो पहले की अपेक्षा अधिक करना ही होता है, उसके अतिरिक्त अव वह हानि-लाभ की जोखम भी बहुत उठाता है।

समसीमांत उत्पत्ति नियम—(The Law of equi-marginal Productivity) पहले कहा गया है कि व्यवस्थापक का उद्देश अधिक से अधिक नफा कमाना रहता है। बड़े पैमाने के कार्य मे तो उसे विशेष रूप से यह सोचना होता है कि उत्पत्ति के किस साधन की मात्रा को कुछ घटाने और किस की मात्रा को बढाने से अधिकतम लाभ होगा। दूसरे शब्दो मे वह इस बात का प्रयत्न करता है कि सब साधनों की सीमान्त उत्पत्ति लगभग समान रहे, अर्थात् प्रत्येक साधन पर खर्च की जाने वाली अन्तिम एकाई (उदाहरणवत् दस रुपये, या सौ रुपये) का प्रतिफल बराबर हो। जैसे-जैसे लगान, वेतन या सूद की दर बढती है, व्यवस्थापक की, भूमि, श्रम या पूँजो की माँग क्रमशः कम हो जाती है। इसी प्रकार जो साधन कुछ सस्ता हो जाता है उसे अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे लगाने का विचार किया जाता है। उसकी दृष्टि व्यावहारिक अर्थात् आर्थिक होनी है। उसे भावनावश किसी साधन विशेष का पक्ष नही होता। उदाहरणवत् यदि उसे कुछ मजदूरों को हटा कर उनकी जगह मशीन से काम लेने मे लाभ प्रतीत हो, तो वह यह नहीं सोचेगा कि ऐसा करने से मजदूरों को असुविधा होगी, कम से कम, अस्थायी रूप से उनकी बेकारी बढ़ेगी। प्रबन्धक को इस बात

से क्या मतलब ? वह तो प्रत्येक वस्तु को उसकी अधिक या कम उपयोगिता के अनुसार ग्रहण करता है या उसका परित्याग करता है। जो रीति या साधन कम उत्पादक होगा, उसकी जगह वह अधिक उत्पादक रीति या साधन को काम मे लायेगा।

प्रबन्धक उत्पत्ति के विविध साधनो मे इस प्रकार व्यय करता है कि प्रत्येक साधन मे व्यय होने वाला रकम की अतिम एकाई का प्रतिफल दूसरे किसी भी साधन मे व्यय होने वाली रकम की अतिम एकाई के प्रतिफल के समान हो। जब तक ऐसा न हो, वह अधिक मात्रा वाले साधन की मात्रा को आवश्यकतानुसार घटा कर उसको जगह दूसरे साधन की मात्रा कुछ बढाता रहता है। इसे 'समसीमान्त उत्पत्ति-नियम' या 'प्रतिस्थापन सिद्धान्त' (Principle of Substitution) कहते हैं।

इस सिद्धान्त का उपयोग—इस सिद्धान्त का उपयोग दो प्रकार से होता है :—(१) उत्पत्ति के एक साधन की जगह दूसरे साधन को काम मे लाने से, और (२) किसी साधन के एक भेद को जगह उसी साधन के दूसरे भेद को काम मे लाने से। प्रथम प्रकार के उदाहरण के तौर पर कल्पना करो कि व्यवस्थापक को यह ज्ञात होता है कि कारखाने के किसी विभाग मे, मजदूरी की मद मे दस हजार रुपया खर्च करने की अपेक्षा यह अधिक लाभदायक होगा कि उसमे पाँच हजार रुपया ही खर्च किया जाय और पाँच हजार से कोई मशीन लेकर लगा दी जाय। इस पर वह मजदूरा की सख्या कम करके (उनका मजदूरी मे दी जाने वाली रकम को घटा कर) एक मशीन बढा लेगा। इसी प्रकार जब वह भूमि की मात्रा कम करके थोड़ी भूमि मे ही अधिक पूँजी या अधिक श्रम लगाने मे लाभ समझेगा, तो वह ऐसा करने मे सकोच न करेगा। स्मरण रहे कि उत्पत्ति के एक साधन को कम करके उसको जगह दूसरे साधन से काम लेने की क्रिया को एक सीमा है। भूमि, श्रम या पूँजी मे से किसी को सर्वथा हटाया नहीं जा सकता, उसकी मात्रा हो कुछ कम-ज्यादा की जा सकती है।

अब प्रतिस्थापन सिद्धान्त के दूसरे प्रकार के प्रयोग का उदाहरण देते हैं। व्यवस्थापक यह देखता है कि कारखाने मे बीस साधारण श्रमी जो काम एक रुपया रोज लेकर कर रहे हैं, उस काम को आठ कुशल श्रमी दो रुपया रोज लेकर कर सकते हैं। इसमे २०) का काम १६) मे हो जाता है। अब व्यवस्थापक बीस साधारण श्रमियों को हटा कर उनकी जगह आठ कुशल श्रमियों को नियुक्त करेगा। यह भी सम्भव है कि बीस साधारण श्रमियों का काम दस कुशल श्रमियों से होने पर, अर्थात् प्रत्यक्ष मे कुछ भी लाभ न

होने पर, व्यवस्थापक को यही उचित जँचे कि वह साधारण श्रमियों को हटा दे, और उनकी जगह कुशल श्रमियों को नियुक्त करे, क्योंकि ऐसा करने से मशीन या औजारों की आवश्यकता कम होगी, और कच्चा माल खराब होने का मौका कम आवेगा, इससे व्यवस्थापक को परोक्ष रूप से लाभ होगा। इस उदाहरण मे व्यवस्थापक साधन को नही बदल रहा है, वह श्रम को ही काम मे ला रहा है, परन्तु वह उसके भेद को बदल रहा है। इसी प्रकार यातायात, विज्ञापन, भूमि आदि के उदाहरण लिये जा सकते हैं। कल्पना करो कि कोई माल पाँच सौ मील के फासले पर भेजना है, और वह नाव से, बैलगाडी से तथा रेल से भेजा जा सकता है। वह माल जल्दी खराब होने वाला भी नही है। इसमे देखना होगा कि किसके द्वारा भेजने से कुल मिला कर होने वाला व्यय, अपेक्षाकृत कम होगा। जिस प्रकार व्यय कम होगा, उसी मार्ग का अवलम्बन किया जायगा। प्रतिस्थापन सिद्धान्त का सम्यक उपयोग द्वारा व्यवस्थापक इस बात का प्रयत्न करता है कि उत्पादन-व्यय यथा-सम्भव कम हो और उत्पत्ति अधिक से अधिक हो।

व्यवस्था के भेद; एकाकी उत्पादक प्रणाली—पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन काल मे प्रत्येक उत्पादन-कार्य मे उत्पादक प्रायः एक ही व्यक्ति (या परिवार) होता था। उसकी अपनी ही भूमि होती थी, और अपने परिवार के श्रम से काम करता था; अथवा आवश्यकता होने पर वह दूसरों से पूँजी उधार ले लेता और अन्य श्रमियों को मजदूरी पर रख लेता था। आवश्यक कच्चा माल खरीदने आदि का काम वह स्वय ही करता था। उत्पादन-कार्य की देख-रेख या प्रबन्ध के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की आवश्यकता न होती थी। वह अपने कार्य का स्वय ही व्यवस्थापक था। जो धन उत्पन्न होता, उस पर उसी का स्वामित्व होता, उसको बेचने का कार्य उसे ही करना होता था। जितना लाभ होता, वह सब उसी का होता; यदि दैवयोग से अतिवृष्टि, अनावृष्टि, फसल मे कीड़ा लगने या अन्य किसी कारण से खेती मे नुकसान होता तो वह भी उसको सहन करना पड़ता था।

इस पद्धति मे लाभ यह था कि उत्पादक स्वय अपना काम करता था, इस अपनेपन के भाव के कारण वह खूब जी लगा कर कार्य करता था। फिर, वह जो धन उत्पन्न करता अथवा वस्तु बनाता, वह निकटवर्ती उपभोक्ताओं के लिए ही होती थी, जिनकी आवश्यकताएँ वह भली भाँति जानता था, और जिनकी माँग का अनुमान वह सहज ही कर सकता था।

इस पद्धति के प्रयोग की सीमाएँ तथा हानियाँ स्पष्ट हैं। ज्यों ज्यों याता-

यात के साधनों की वृद्धि, और बाजार का बिस्तार होता है, अधिकाधिक उपभोक्ताओ के लिए वस्तुएँ उत्पन्न करने की आवश्यकता होती है। इसके वास्ते पूँजी बहुत चाहिये, और साधारणतया एक व्यक्ति के पास पूँजी की मात्रा परिमित ही होती है, और उसे उधार भी कम ही मिल सकता है। फिर, बडे काम मे यदि हानि भी अधिक हो जाय तो उसे सहन करना प्रायः अकेले आदमी के बस की बात नही होती। और अकेले आदमी मे ऐसी योग्यता तथा कुशलता दुर्लभ होती है कि वह किसी बड़े और पेचीदा व्यवसाय के सब विभागो का निरीक्षण तथा सचालन अच्छी तरह कर सके। इन कारणो से यह पद्धति अधिकतर छोटी मात्रा की उत्पत्ति के कार्यो—खेती और फुटकर बिक्री आदि—मे ही विशेष उपयोगी होती है। एकाकी उत्पादक का व्यापार व्यवसाय प्रायः उसकी सन्तान को ही मिलता है।

साझेदारी (Partnership)—पूर्वोक्त व्यवस्था की हानियों से बचने के लिए साझेदारी प्रथा का आविष्कार हुआ। साझे के उद्योग-धधे, व्यवसाय या व्यापार का प्रबन्ध और नियत्रण दो या अधिक साझेदार करते हैं। प्रत्येक साझेदार उनका व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से उत्तरदायी होता है। साझेदारी के व्यवसाय मे प्रत्येक साझेदार का उत्तरदायित्व प्रायः अपरिमित रहता है, यदि उस कार्य मे दूसरो से उधार लेकर रुपया लगाया जाता है, तो ऋणदाता कानूनी तौर से अपनी तमाम रकम एक ही साझेदार से भी प्राप्त करने का अधिकारी होता है।

साझेदारी की व्यवस्था ऐसे व्यवसायों के लिए बहुत उपयुक्त होती है, जिनमे विविध प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता हो, अर्थात् जिनके प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य का विभाजन हो सकता हो। उदाहरणवत् कारखाने में एक आदमी कच्चा माल खरीदने मे रहे, दूसरा कारखाने का प्रबन्ध करे, तीसरा तैयार माल बेचने का काम करे, ये कार्य भिन्न भिन्न साझेदारों की विशेष योग्यतानुसार बाँट लिए जाते हैं। साझेदारी की व्यवस्था से उन व्यवसायों को चलाने मे सुविधा होती है, जिनके लिए आवश्यक पूँजी एक आदमी न लगा सके, उसे इस कार्य के वास्ते दूसरे साझेदार की आवश्यकता हो। कभी कभी तो ऐसा होता है कि एक आदमी मे केवल व्यावसायिक बुद्धि होती है, पर पूँजी के अभाव से वह कोई कार्य आरम्भ नही कर सकता। फलतः वह किसी ऐसे आदमी को साझेदार बना लेता है, जिसके पास पूँजी हो। इस प्रकार दोनो के साझे से कार्य आरम्भ हो जाता है। एकाकी उत्पादक प्रणाली में, व्यवस्थापक के बाद उसका व्यवसाय उसके पुत्रों अथवा निकट-सम्बन्धियों के सुपुर्द हो जाता है, चाहे वे उसके

सम्भालने योग्य न भी हों। इससे बहुधा व्यवसाय के शीघ्र ही चौपट होने की नौबत आ जाती है। साझेदारी मे ऐसा प्रसग नही आता। साझेदारी की प्रथा बहुत प्राचीन है, इस समय भिन्न भिन्न देशों मे इसका बडा भाग है।

साझेदारी की प्रथा के जो लाभ ऊपर बताये गये हैं, ये यथेष्ट महत्व के हैं, किन्तु ये उसी दशा मे होते हैं जब सब साझेदार मिल कर अच्छी तरह कार्य सम्पादन करें। यदि साझेदारी मे घोर मतभेद रहे, वे मिल कर कार्य न करें, तो व्यवसाय के बिगडने मे कोई शका नहीं रहती। साझेदारी मे एक मुख्य हानि यह है कि इसमे प्रत्येक साझेदार का अपरिमित उत्तर-दायित्व रहता है, किसी एक व्यक्ति की त्रुटि से दूसरे साझेदार को अपनी जायदाद से हाथ धोना पड सकता है। बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो व्यवसाय मे थोडी सी पूँजी तो लगा देना चाहते हैं, पर वे उसके प्रबन्ध आदि मे कुछ भाग नहीं ले सकते, और न उसके लाभ-हानि की जोखम ही उठाना चाहते है। साझेदारी का प्रथा उनके लिये उपयोगी नही होती। साझेदारी मे यही पर्याप्त नही है कि दो या अधिक व्यक्ति मिल कर काम करने मे सहमत हो जायँ। उनके पास व्यवसाय के लिये यथेष्ट पूँजी भी चाहिये, इसके अभाव मे कोई काम नही चल सकता। इसलिये एक अन्य प्रकार की व्यवस्था का चलन हुआ, उसका नाम है, मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ।

मिश्रित पूँजी की कम्पनी (Joint Stock Company)—आज कल बहुधा जब किसी उत्पादन कार्य के लिये बहुत पूँजी की आवश्यकता होती है, तो उसक सौ सौ या पाँच पाँच सौ या कम ज्यादा रुपये के, बराबर बराबर रकम के हिस्से 'शेयर' निर्धारित कर दिये जाते है, प्रत्येक हिस्सेदार एक या अधिक हिस्सा खरीद लेता है। उक्त कम्पनी मिश्रित पूँजी की कम्पनी कहलाती है। हिस्सेदार प्रति वर्ष एक सचालक समिति (Board of Directors) के सदस्यों का निर्वाचन करते हैं—इस समिति को व्यवसाय के प्रबन्ध आदि का सब अधिकार रहता है। यह समिति अपने सदस्यों मे एक को प्रधान सचालक (Managing Director) नियत करती है, जो अपना सब समय इस व्यवसाय के लिये लगाता है और आवश्यकतानुसार सचालकों की सभा आदि की व्यवस्था करता है।

इन कम्पनियों की स्थापना पहले इगलैंड आदि योरोपीय देशों मे हुई, पश्चात् जब भारतवर्ष में बडी मात्रा मे उत्पत्ति का उत्पादन होने लगा तो यहाँ भी इनकी क्रमशः वृद्धि होने लगी, इन कम्पनियों की वृद्धि का एक मुख्य

कारण इनमे प्रायः परिमित देनदारी के सिद्धान्त का व्यवहार है, जिससे हिस्सेदारों की जोखम, हिस्से मे लिखी हुई रकम तक ही सीमित रहती है। उदाहरणवत्, एक हिस्सेदार ने कम्पनी का सौ रुपये का हिस्सा लिया और उसने पच्चीस पच्चीस रुपये की तीन किश्तो मे पछत्तर रुपये चुका दिये। अब उसे केवल पच्चीस रुपये देने शेष है। इस बीच मे कम्पनी का दिवाला निकल गया और उसे अपने ऋण दाताओं का पॉच हजार रुपया देना है, तो ये ऋणदाता उक्त हिस्सेदार पर पॉच हजार का दावा नही कर सकते, वे उससे केवल पच्चीस रुपये ही लेने के अधिकारी है। इसके विपरीत, यदि कम्पनी अपरिमित देनदारी की हो, और अगर उसके हिस्सेदारों मे से अन्य व्यक्तियों की स्थिति अच्छी न हो, केवल उक्त एक हिस्सेदार ही ऐसा हो जिससे ऋणदाताओं को अपना रुपया वसूल होने की आशा हो, तो ऋणदाता उक्त एक हिस्सेदार पर ही पॉच हजार का दावा कर सकते हैं, चाहे इस हिस्सेदार को अपने हिस्से के केवल पच्चीस रुपये ही कम्पनी के देने रहे हों।

कम्पनियों से लाभ—इन कम्पनियों से अनेक लाभ हैं। परिमित देनदारी रहने से हिस्सेदार की जोखम घट जाती है। बहुत से आदमी हिस्सेदार बनने को प्रेरित होते हैं, इस प्रकार वे कुछ दशाओ मे अपने उस धन को भी उत्पादन कार्य मे लगाते हैं, जिससे सम्भवतः कुछ उत्पत्ति न होती, वह यो ही पडा रहता। यदि हिस्सेदार को उस रुपये की जरूरत हो, जो उसने कम्पनी मे लगाया है तो वह अपने हिस्से को बाजार मे बेच सकता है, यदि उसे मालूम हो कि कम्पनी का कारोबार अच्छो तरह नहीं चल रहा है, उसमें हानि होने की आशका है, अथवा किसी दूसरे कारोबार मे रुपया लगाना अपेक्षाकृत अधिक लाभदायक होगा तो भी वह अपने हिस्से को बेच सकता है। कम्पनियों के हिस्से बेचने का काम दलाल किया करते हैं, और इन हिस्सो की बाजार दर समय समय पर बदलती रहती है, जितना किसी कम्पनी का काम अधिक लाभप्रद होता है, उतनी ही उसकी दर चढ जाती है, यहॉ तक कि कभी कभी सौ रुपये के हिस्से की कीमत चार सौ पॉच सौ रुपये तक हो जाती है। अस्तु, इस विषय मे, विस्तार मे जानने की आवश्यकता नही। वक्तव्य केवल यह है कि कम्पनी-पद्धति मे, हिस्सेदारो को उसके पृथक् होने अथवा सम्बन्ध विच्छेद करने की स्वतत्रता है, इसी प्रकार नये आदमियो को समय समय पर कम्पनी के हिस्से खरीद कर उसका हिस्सेदार बनने का अधिकार रहता है। यह बात साझेदारी पद्धति अथवा एकाकी उत्पादक पद्धति मे नही होती है।

अनेक दशाओं मे एकाकी उत्पादक का कार्य उसके जीवन तक ही चलता है, और उसकी मृत्यु के साथ, उसके कारोबार का भी अन्त हो जाता है। साझेदारी पद्धति का व्यवसाय भी बहुधा अल्पायु होता है, साझेदारों मे किसी बात पर मतभेद सहज ही इस सीमा तक बढ सकता है, जिससे साझेदारी टूट जाय। परन्तु मिश्रित पूँजी की कम्पनियाँ प्रबन्ध ठीक रहने की दशा मे, चिरकाल तक बनी रहती हैं। इन्हे सुयोग्य और विशेषज्ञ संचालको के बहुमूल्य परामर्श का लाभ मिलता है, जो साझेदारी प्रथा में सम्भव नहीं होता। अगर सचालन उचित रीति से न हो तो हिस्सेदार वार्षिक चुनाव के अवसर पर पुराने सचालको और प्रधान सचालक को बदल कर उनकी जगह नवीन कार्यकर्त्ता नियुक्त कर सकते हैं। कम्पनियों द्वारा चलने वाले व्यवसायों मे मैनेजर आदि के रूप मे उन आदमियो की शक्ति और योग्यता का उपयोग हो सकता है, जिनके पास पूँजी नही होती, पर व्यवसाय बुद्धि तथा अन्य प्रकार की कुशलता यथेष्ट होती है। कम्पनी-पद्धति न होने की दशा मे ऐसी योग्यता की माँग नहीं होती, और फल-स्वरूप लोगो मे इसे प्राप्त करने की प्रेरणा भी नहीं होती।

कम्पनी-पद्धति मे बहुत से आदमियों के, थोडी थोड़ी पूँजी के लगा देने से एक बडी रकम इकट्ठी हो जाती है, और उससे ऐसा कारोबार चलता है, जो अकेले आदमी से नही चलाया जा सकता। चीजे सस्ती बनती हैं, तथा सस्ते भाव से बेची जाती हैं, और उनका उपयोग बढ जाता है। रेल, जहाज, बड़ी बड़ी नहरे और बडे बडे पुलों को बनाने का काम ऐसो कम्पनियों द्वारा ही होता है।

कम्पनियों से हानि—कम्पनियों से कोरे लाभ ही लाभ हों, सो बात नही, इनसे हानियाँ भी हैं। परिमित देनदारी के कारण कभी कभी हिस्सेदारों मे असावधानी हो जाती है, और सचालक अनाप-शनाप खर्च के कार्य कर डालते हैं। पुनः कम्पनियों का काम हिस्सेदारो, सचालको और प्रबन्धको मे बटा होने से, कोई व्यक्ति विशेष रूप से अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नही करता, इससे कारोबार को धक्का पहुँचता है।

"मिश्रितपूँजी कम्पनी-पद्धति" मे श्रमियो और पूँजीपति (हिस्सेदारो) में बहुत अन्तर हो जाता है। उनका कुछ पारस्परिक सम्पर्क नही रहता। हिस्सेदारों को श्रमियों के सुख दुख का कुछ परिचय नही होता, बहुधा वे कम्पनी से, कारखानों के स्थान से काफी दूरी पर रहने वाले होते हैं। इस प्रकार स्वामी और नौकर की पूर्वकालीन घनिष्टता का लोप होकर पूँजी और श्रम के सघर्ष की वृद्धि होती है। अमरीका आदि कुछ देशों मे तो बड़ी बड़ी

कम्पनियाँ, राज्य-कर्मचारियों और प्रभावशाली व्यक्तियों को अनैतिक उपायों द्वारा अपने पक्ष मे करके, मनचाहे कानून बनवाने में भी सफल हो जाती हैं।

कही कही कम्पनियाँ यथेष्ट शक्तिशाली बन कर अपने प्रतिद्वन्दियों को परास्त करके व्यवसाय क्षेत्र से हटा देती हैं, फिर पदार्थों को घटिया बना कर, या महँगे बेच कर खूब मुनाफा लेने की चिन्ता में रहने लगती हैं। इससे सर्वसाधारण उपभोक्ताओं को बहुत नुकसान पहुँचता है।

एकाकी उत्पादको, तथा साझेदारों का जो आचार-विचार तथा नैतिक आदर्श होता है वह कम्पनियो मे नहीं रहता। हिस्सेदार प्रायः अनुभव शून्य होते है और सचालकों तथा प्रबन्धकों को मनमानी करने का अवसर मिलता है। ये सचालक प्रायः अपने मित्रों तथा रिश्तेदारों को बड़े बड़े वेतन पर नियुक्त कर देते है, अपने मिलने वालों से कच्चा माल महँगे दामो मे लाकर कम्पनी के हिसाब मे लिखा देते हैं। वे बनावटी हिसाब के द्वारा मुनाफा अधिक दिखा देते हैं, और इस प्रकार हिस्सों की कीमत बढ जाने पर अपने हिस्से बेच कर लाभ उठाते हैं, और पीछे कम्पनी से पृथक् हो जाते हैं। इससे हिस्सेदारो को हानि बहुत पहुँचती है। समय समय पर अनेक कम्पनियों के 'फेल' होने के समाचार मिलते हैं, इसका एक मुख्य कारण स्वयं सचालको की बेईमानी तथा छल-कपट है। उनके अनैतिक व्यवहार से सर्वसाधारण को बहुत धोखा होता है, समाज को भयकर आर्थिक क्षति सहन करनी पडती है।

कम्पनियों का नियंत्रण—इसे रोकने के लिये, राज्य के कानून द्वारा यथा-सम्भव प्रयत्न किया जाता है। हर एक कम्पनी की रजिस्टरी कराने का नियम रहता है। जब सस्थापक यह निश्चय कर लेते हैं कि इतनी पूँजी से अमुक कार्य चलाया जाय, तथा इसे बराबर बराबर रकमों के इतने हिस्सों में विभक्त किया जाय, और अमुक व्यक्ति कम्पनी के सचालक हो, तब कम्पनी की रजिस्टरी की जाती है। रजिस्टरी होने से पूर्व कम्पनी का विवरण पत्र या 'प्रासपेक्टस' प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जब निर्धारित परिमाण मे हिस्से बिक चुकते हैं, तब कम्पनी का कारोबार आरम्भ किया जाता है। कम्पनी को अपने वार्षिक हिसाब की 'आडीटर' अर्थात् लेखा-परीक्षक से नियमानुसार जाँच करानी होती है, जो इस बात को भी देखता है कि कम्पनी के पास वास्तव मे इतना रुपया है या नही, जितना हिसाब में दिखाया गया है, तथा सचालकों ने तो कोई ऋण नही ले रखा है। आडीटर की जाँच के बाद कम्पनी का हिसाब सर्वसाधारण के लिये प्रकाशित

किया जाता है, जिससे सब उसकी आर्थिक स्थिति को भली प्रकार जान सकें ।

इतना होने पर भी कुछ सचालक जनता को धोखा दे ही देते हैं । वे कानून से बचने या उसका उल्लंघन करने के लिये नये नये उपाय निकाल लेते हैं । उदाहरणवत् हिसाब मे यह दिखाने के लिए कि सचालकों के नाम कोई ऋण नहीं है, ये ऋण लेकर उसे अपने मित्रो या सम्बन्धियों आदि के नाम लिख देते हैं । पुनः जब वे देखते हैं कि कम्पनी को मुनाफा अधिक होने से दूसरी कम्पनियों द्वारा उसकी प्रतियोगिता होने, और इस प्रकार उसका लाभ घटने को सम्भावना है तो वे कभी कभी कृत्रिम रूप से हिस्सेदारों के हिस्से बढा देते हैं, जिससे प्रतिशत मुनाफा कम मालूम पडे । तथापि सरकारी कानून द्वारा, चालाक और बेईमान सचालको के व्यवहार से जनता की, बहुत कुछ रक्षा हो सकती है । सर्वसाधारण तथा हिस्सेदारों को भी चाहिये कि सतर्क रहे, केवल सचालको के नाम देख कर ही उनके हाथ मे सब कारोबार सौप कर निश्चिन्त न हो जायें ।

कम्पनियों सम्बन्धी निष्कर्ष—कम्पनियों से धनोत्पत्ति मे बहुत सहायता मिलती है, इसे हिस्सेदारों के अतिरिक्त समाज का भी हित-साधन होता है । हाँ, जैसा ऊपर कहा गया है, उनसे कई हानियाँ भी हैं जिनसे बचने की आवश्यकता है । साधारणतया यह कहा जा सकता है कि मिश्रित पूँजी-कम्पनी-पद्धति, एकाकी उत्पादक पद्धति तथा साझेदारी पद्धति की अपेक्षा, निम्नलिखित प्रकार के व्यवसायो के लिए अधिक उपयोगी है :— (१) रेल, जहाज, नहर, बडे पुल आदि बडी उत्पत्ति के उन कार्यों के लिए, जिनमे बहुत बडी पूँजी चाहिए, (२) उन व्यवसायो के संचालन के लिए जिनमे बहुत जोखम उठानी पडती है, और विविध प्रयोगा की परीक्षा या अन्वेषण आदि मे बहुत व्यय करना होता है । जिन कामो मे साधारण पूँजी की आवश्यकता हो, और जिनमे परिस्थितियाँ जल्दी जल्दी बदलती हों और शीघ्र निर्णय करने की आवश्यकता हो, साझेदारी अधिक उपयुक्त होती है ।

किसी कम्पनी का क्षेत्र बहुत बढ जाने पर, अथवा उसके साथ एक या अधिक कम्पनियों के मिल जाने पर, उसके उत्पादन में एकाधिकार प्राप्त करने की प्रवृति होती है । एकाधिकार से उपभोक्ताओं को प्रायः हानि होती है । इसलिये सरकार द्वारा उसका नियन्त्रण किया जाता है ।

एकाधिकार (Monopoly) कैसे होता है ?—जब किसी एक ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह के हाथ मे किसी वस्तु के उत्पादन अथवा बेचने का

अधिकार आ जाता है, तो उसका यह अधिकार एकाधिकार कहलाता है। एक उदाहरण द्वारा हम यह बतलाते हैं कि साधारण एकाधिकार किस तरह प्राप्त किया जाता है। मान लीजिये कि सतना और रीवाँ के बीज रेल न होने से मोटर से मनुष्य यात्रा करते हैं। वहाँ पर तीन भिन्न कम्पनियो की मोटर चलती है। परन्तु यात्रियो की सख्या तो सीमित ही रहती है। इसलिये मोटर वालों मे प्रतियोगिता होती है। जिसके परिणाम स्वरूप वे अपनी दर बहुत कम कर देते हैं। इससे मालिकों को नुकसान होता है। कुछ समय तक तो ऐसा होता है। परन्तु अन्त मे तीन मे से दो मालिक मोटर चलाना ही बन्द कर देते हैं। ऐसी दशा मे जो कम्पनी रह जाती है उसे एकाधिकार प्राप्त हो जाता है। फिर वह मनमाना दर वसूल करना शुरू करती है। यदि दोनों कम्पनियो ने अपना काम बन्द न किया तो कुछ समय पश्चात् वे तीनो मिलकर एक कम्पनी बनाकर अपना एकाधिकार कर लेते हैं। ऐसी दशा मे भी वे दर को निश्चित कर लेते हैं। निश्चित दर पर ही वे अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं।

एकाधिकार के प्रकार—ऊपर हमने प्रतियोगिता को दूर करके एकाधिकार कैसे स्थापित होता है बतलाया है। ऐसे एकाधिकार को व्यक्तिगत एकाधिकार कहते है। एकाधिकार के कई प्रकार होते हैं। वे निम्न-लिखित हैं :—

(१) जब एकाधिकार का क्षेत्र थोडे से ही क्षेत्रफल अथवा किसी विशेष स्थान तक ही परिमित रहता है तो यह स्थानीय एकाधिकार कहलाता है। उदाहरण के लिये मान लीजिये कि एक ही गोशाला सम्पूर्ण प्रयाग की दूध की माँग की पूर्ति करती है तो यह कहा जायगा कि गोशाला का स्थानीय एकाधिकार है।

(२) जब एकाधिकार का क्षेत्र एक राष्ट्र तक परिमिति रहता है तो राष्ट्रीय एकाधिकार कहलाता है। यह एकाधिकार प्राय: सरकार द्वारा दिया हुआ रहता है। जैसे जब कोई पुस्तक लिखता है तो कानून द्वारा उसे उस पुस्तक को प्रकाशित करने का एकाधिकार मिल जाता है।

(३) जो एकाधिकार किसी प्राकृतिक कमी से अथवा उसके एक ही स्थान में पाये जाने के कारण होता है उसे प्राकृतिक एकाधिकार कहते हैं। जैसे बगाल का जूट का एकाधिकार।

(४) जिस एकाधिकार का मालिक अथवा प्रतिबन्धक स्वय सरकार हो या म्यूनिसिपलिटि आदि कोई सस्था हो तो वह सार्वजनिक एकाधिकार कहलाता है।

एकाधिकार से लाभ—(१) एकाधिकार के होने से वस्तु का उत्पादन मॉग के अनुसार होता है। एकाधिकारी बाजार की मॉग को जानता है, इसलिये उसके अनुसार ही वह उत्पादन करता है। इसके विपरीत भिन्न-भिन्न कम्पनियॉ खूब उत्पादन करती हैं और जब मॉग कम हो जाती तो वे कम्पनियॉ बेकार हो जाती हैं। परन्तु एकाधिकार मे यह नही होता।

(२) एकाधिकार मे प्रतियोगिता नही रहती इसलिये लाभ निश्चित रहता है।

(३) एकाधिकार के द्वारा अन्वेषण अथवा अनुसधान को प्रोत्साहन मिलता है। एकाधिकार के द्वारा उसके अन्वेषक को उसके पूरे लाभ की आशा रहती है। इससे उनको अपने कार्य मे बहुत प्रोत्साहन मिलता है।

एकाधिकार से हानियॉ—(१) एकाधिकारी अधिक से अधिक लाभ चाहता है। वह उपभोक्ताओं का ध्यान न रखकर वस्तु की कीमत बढा देता है। अवश्य ही एक सीमा ऐसी है कि उसके आगे कीमत बढाने से उसके लाभ का परिणाम कम होने लगता है। परन्तु वह इस सीमा तक तो बढ़ाता ही है। यदि जीवन रक्षक पदार्थों का एकाधिकार एकाधिकारी के हाथ मे आ जाता है तो उसकी कीमत बहुत बढ जाती है। इससे उपभोक्ताओं को बहुत नुकसान होता है।

(२) एकाधिकारी अपने लाभ का परिमाण बढाने के लिये अपनी वस्तु के बाजार का क्षेत्र बढाने को उत्सुक रहता है। इसलिये वह कभी कभी विदेशो मे उसको बहुत सस्ता बेचता है चाहे इससे उसको आरम्भ मे कुछ समय तक हानि ही क्यों न हो। इस नीति से विदेशी उत्पत्ति करने वाले को हानि होती है और उसका उद्योग चौपट हो जाता है।

(३) एकाधिकार से तीसरी और सबसे बड़ी हानि यह है कि एकाधिकारी के पास द्रव्य की ऐसी और इतनी बडी शक्ति होती है कि वह उसके बल पर देश मे कानून बनाने वालो तथा विविध अधिकारियों पर अपना प्रभाव डाल सकता है। लोभ, लालच, रिश्वत, या भेंट आदि के नाना प्रकार के उपायो को काम मे लाकर वह उन्हे अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करता है। उसका विरोध करने का किसी का सामर्थ्य नही होता। इससे देश की राजनीति कलुषित हो जाती है।

इन हानियों से बचने के लिये एकाधिकार पर सरकार द्वारा नियंत्रण होना आवश्यक है। सरकार प्रायः ऐसी कीमत निश्चित कर देती है कि जिससे अधिक कीमत पर वस्तु को बेचने का अधिकार एकाधिकारी को नही होता।

सहकारिता (Co-operation)—मिश्रित पूॅजी की कम्पनियों तथा

एकाकी उत्पादक द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने की दशा में श्रमियों पर कभी कभी बहुत सख्ती होती है, उनका वेतन घटाया जाता है, और उनकी विविध शिकायतों पर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। इसके अतिरिक्त छोटे छोटे उत्पादकों से अनुचित प्रतियोगिता की जाती है, उपभोक्ताओं से कीमत बहुत ली जाती है, और ऋण लेने वालों से भारी सूद लिया जाता है। उपर्युक्त विविध वर्गों के मनुष्यों ने अपनी रक्षा का उपाय यह सोचा है कि मिल कर काम करें, और सहकारिता द्वारा शक्तिशाली बनें, जिससे कोई उन पर अत्याचार या ज्यादती न कर सके। सहकारिता द्वारा किये जाने वाले भिन्न भिन्न कार्यों की दृष्टि से उसके कई भेद हो सकते है। अर्थशास्त्र मे उसके मुख्य तीन भेद हैं :—

(१) उत्पादको की सहकारिता (या सहकारी उत्पादकता)

(२) उपभोक्ताओ की सहकारिता या सहकारी क्रय। इसे वितरण मूलक सहकारिता भी कहा जाता है।

(३) सहकारी साख, अर्थात् सहकारी महाजनी, जिसके अन्तर्गत उधार लेना और उधार देना, दोनो कार्यों का समावेश होता है।

इस अध्याय मे हम केवल उत्पादको की सहकारिता या सहकारी उत्पा-कता पर ही विचार करते हैं।

सहकारी उत्पादकता—इसका उल्लेख पूँजी और श्रम के हित विरोध को दूर करने के उपायों मे किया जा चुका है, इसमे श्रमी ही अपने स्वामी होते हैं, वे ही समस्त व्यवसाय का प्रबन्ध करते और जोखम उठाते हैं, वे व्यवस्था और श्रम दोनों कार्य करते हैं। इस पद्धति मे निम्नलिखित लाभ हैं :—

१—श्रमजीवी खूब मन लगा कर काम करते हैं, किसी चीज को खराब नहीं जाने देते, उन्हे निरीक्षक की आवश्यकता नही होती, यन्त्रों और औजारों की सार-संभार अच्छी तरह की जाती है। इस प्रकार कई तरह की बचत होती है।

२—जैसा पहले कहा जा चुका है, इसमें श्रम और पूँजी का हित-विरोध नहीं होता, अर्थात् हडताल या द्वारावरोध आदि की चिन्तनीय घटनाओ का अवसर नहीं आता, जो आधुनिक औद्योगिक ससार मे किसी भी समय उपस्थित हो सकने वाली बाते हैं। अस्तु, इस प्रकार श्रमियो को लगातार और अच्छी परिस्थितियो मे काम करने के प्रयत्न मे सफलता मिलती है।

३—जो श्रमी इस प्रकार की व्यवस्था की जोखम उठाते हैं, वे इस विषय मे भली प्रकार विचार और निर्णय कर सकते हैं कि प्रबन्ध कार्य योग्यता तथा ईमानदारी से हो रहा है या नहीं। इस प्रकार उत्पत्ति की इस विधि मे उनकी कार्य-क्षमता की वृद्धि होती है।

४—श्रमियों को, श्रमियों की हैसियत से, वेतन तो मिलता ही है, उसके अतिरिक्त उन्हे व्यवस्थापक की हैसियत से मुनाफा और मिलता है।

ये लाभ महत्वपूर्ण हैं। परन्तु हम इस पद्धति के व्यवहार मे उपस्थित होने वाली कठिनाइयो या बाधाओ की भी अवहेलना नही कर सकते। उनमे मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(क) श्रमी-प्रबन्धकों पर अन्य श्रमी वहुधा बहुत अधिक और प्रायः बिना सोचे समझे नियन्त्रण या आलोचना करते हैं। इससे कार्य क्षमता कम होती है।

(ख) अच्छे प्रबन्धक कम मिलते हैं, कारण कि अन्य श्रमी उनके मासिक कार्य का यथेष्ट महत्व नही मानते और इसलिये उन्हे यथेष्ट वेतन आदि देने को तैयार नहीं होते।

यद्यपि उपर्युक्त कठिनाइयों और बाधाओं के कारण अभी तक सहकारी उत्पादकता मे बहुत कम सफलता मिली है, इसका भविष्य अच्छा मालूम होता है। कठिनाइयों के दूर करने का उपाय किया जा रहा है, और क्रमशः उन पर विजय प्राप्त की जायगी, ऐसी आशा है। सहकारिता के सिद्धान्तों का प्रचार बढ रहा है, कितने ही व्यक्ति इन सिद्धान्तो के प्रति अनुराग रखने के कारण, सहकारी व्यवसायों मे कम प्रतिफल लेकर भी सेवा करने को तैयार रहते हैं, श्रमियो का व्यवसायो तथा व्यवस्था सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव बढ रहा है। यदि उनमें पूँजी एकत्र करने की यथेष्ट क्षमता रहे और पूँजीपतियों को ऐसा अवसर न मिले कि वे उत्पादक के रूप मे, व्यवसाय मे भाग लेकर श्रमियों पर नियन्त्रण करने लग जायँ तो ऐसी उत्पादन-विधि मे सफलता अवश्य ही कुछ अधिक हो। ये बातें केवल कल्पित नही हैं। रूस मे, सहकारिता द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति सफलता-पूर्वक होना इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अभ्यास के प्रश्न

१—आजकल के उद्योग-धन्धों मे साहसी के कौन कौन से कर्तव्य होते हैं? भारतीय ग्रामीण कारीगर इनमे से किनको करता है? (१६३२)

२—निम्नलिखित मे उत्पत्ति के साधनो के सगठन और व्यवस्था का वर्णन और तुलना कीजिये .—

(अ) गॉव के जुलाहे या कुम्हार के काम मे ।
(ब) मुरादाबाद या बनारस के पीतल के धधे मे ।
(स) रुई कातने की मिल में । (१६३७)

३—समसीमात उत्पत्ति-नियम की परिभाषा दीजिये । उत्पत्ति में इसके उपयोग पर सोदाहरण सक्षिप्त विवरण लिखिये ।

४—मिश्रित पूॅजी वाली कम्पनियों से होने वाले लाभ और हानि बताते हुए कम्पनियों के नियत्रण की आवश्यकता समझाइए ।

५—सहकारिता से आप क्या समझते हैं ? कम्पनियो के कारण उत्पत्ति कार्य मे होने वाली किन बुराइयों को सहकारिता से दूर किया जा सकता है ?

६—वर्तमान उत्पत्ति मे व्यवस्था और साहस के स्थान को पूर्ण रूप से स्पष्ट कीजिये। (राजपुताना १६४४)

७ व्यवस्था के अर्थ को समझाइये । मान लीजिये कि आपको हाथ से कपड़ा बुनने के एक उद्योग की व्यवस्था करने को कहा गया । आप इसे किस प्रकार करेंगे (यू० पी० १६४४)

सतरहवॉं अध्याय

उत्पत्ति के साधनों की क्षमता

उत्पत्ति के किसी साधन की क्षमता (Efficiency) का आशय यह है कि वह धन की उत्पत्ति मे कहाँ तक सहायक होता है। यदि भूमि के दो समान टुकडो मे बीज और सिंचाई आदि की समानता होते हुए एक की पैदावार दूसरे की अपेक्षा अधिक है तो उसकी क्षमता दूसरे की अपेक्षा अधिक कही जाती है। इसी प्रकार यदि एक श्रमजीवी निर्धारित समय मे एक ही प्रकार का कार्य दूसरे से अधिक करता है, तो यह कहा जायगा कि उसकी क्षमता दूसरे की अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार पूॅजी और व्यवस्था की क्षमता समझी जा सकती है। बहुधा एक साधन की क्षमता की कमी-वेशी का प्रभाव दूसरे साधनो की क्षमता पर भी पड़ता है। उदाहरणार्थ खराब

औजार से भूमि या श्रम की क्षमता घट जाती है। उत्पत्ति के समस्त साधन अच्छी क्षमता वाले हों, इनकी व्यवस्था करना व्यवस्थापक का कार्य है। अच्छी व्यवस्था से साधनों को क्षमता बढती है।

भूमि की क्षमता—खेती के काम आनेवाली भूमि की क्षमता उसकी उत्पादकता से जानी जाती है, और भूमि के उपजाऊपन पर उसकी मिट्टी, जलवायु, और परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, साथ ही मनुष्य की बुद्धि और परिश्रम से उसकी बहुत कुछ उन्नति भी हो सकती है। इस प्रकार वैज्ञानिक खेती, फसलों के हेर-फेर, आबपाशी, चकबन्दी और यातायात की वृद्धि आदि से भूमि की क्षमता बढती है।

जनता के निवास, या व्यापारिक कार्य मे आनेवाली भूमि की क्षमता —उसकी मितव्ययिता पर निर्भर होती है। बड़े बडे नगरों मे भूमि की आवश्यकता बढ़ जाने से आदमी कई कई मंजिलों का मकान बनाने लगे हैं। कहीं कहीं जमीन के नीचे गोदाम वा रेलवे लाइन आदि बनाकर निर्धारित परिमाण की भूमि की क्षमता बढ़ायी जाती है।

श्रम की क्षमता—श्रम विभाग—श्रम के अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि श्रमियों की क्षमता जलवायु, स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्य करने की स्वतन्त्रता, उन्नति और लाभ की आशा, तथा कार्यक्रम को विभिन्नता आदि पर निर्भर है। और इस क्षमता को बढ़ाने का उपाय उनकी शिक्षा है। श्रम की क्षमता का यथेष्ट उपयोग श्रम विभाग मे देखने मे आता है। अतः इसके सम्बन्ध मे यहाँ कुछ विशेष विचार करना आवश्यक है। पहले कहा गया है कि आरम्भ मे मनुष्य की आवश्यकताएँ कम होती हैं और उन सब की पूर्ति वह स्वयं अपने परिश्रम से ही कर लेता है। धीरे धीरे उसकी आवश्यकताएँ बढ़ जाने पर, उसका काम केवल अपनी बनाई हुई वस्तुओं से नहीं चलता। इस पर वह एक ही प्रकार का कार्य करने लगता है और अपने बनाये पदार्थ विविध व्यक्तियों को देकर उनसे उनकी बनाई वस्तुएँ अपनी आवश्यकतानुसार ले लेता है। उदाहरणार्थ गाँव का एक आदमी केवल अन्न पैदा करता है, एक केवल लकड़ी लाता है, एक केवल कपड़ा तैयार करता है, इत्यादि। इस प्रकार गाँव के कृषक, लकड़हारे और जुलाहे आदि का काम पृथक् पृथक् हो जाता है। समाज मे क्रमशः भिन्न भिन्न पेशों की वृद्धि होती रहती है। पीछे एक एक पेशे के कई कई भाग होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, कपडे तैयार करने के लिये एक आदमी केवल कपास पैदा करता है, दूसरा कपास लेकर केवल उसे ओटता है, अर्थात् उसमे से रुई और बिनौले पृथक् पृथक् करता है, तीसरा केवल रुई का सूत कातता

है; चौथा केवल कपड़ा बुनने का ही कार्य करता है। इसमे प्रत्येक व्यक्ति एक कार्य के एक एक भाग का काम करता है, यह एक एक भाग स्वतः पूर्ण है और उसके परिणाम-स्वरूप तैयार होने वाली चीज दूसरे व्यक्ति के लिये कच्चे माल का काम दे देती है, जिससे वह उससे आगे की क्रिया करने लगता है।

अब श्रम-विभाग (Division of Labour) का स्वरूप आगे बढता है। एक कार्य के विविध भागो मे से प्रत्येक कई कई सूक्ष्म उपविभाग किये जाते हैं और एक व्यक्ति ही नही, व्यक्ति-समूह उक्त उपविभाग का कार्य करता है। प्रत्येक उपविभाग अपूर्ण होता है और एक के बाद दूसरे, बहुत से उपविभागों का कार्य हो चुकने पर अत्यतः अभीष्ट वस्तु बनती है। आधुनिक काल मे कल-कारखानो मे बडे पैमाने की उत्पत्ति होती है। उसमे श्रम-विभाग बहुत सूक्ष्म होता है। कपडा बुनने की क्रिया लगभग अस्सी उपविभागो मे विभक्त है। पिन या सूई जैसी जरा जरा सी वस्तु को बनाने के लिये उसके कार्य को दर्जनो विविध उप-विभागों मे बाँटा जाता है।

अस्तु, श्रम-विभाग का अर्थ है कार्य को बहुत से उपविभागों मे बाँटना और प्रत्येक उपविभाग का विविध व्यक्ति-समूहो द्वारा किया जाना। साधारण-तया, जैसा ऊपर के उदाहरणों से विदित है, श्रम-विभाग के तीन रूप होते हैं:—

१—भिन्न भिन्न पेशो का पृथक् पृथक् होना।

२—एक एक पेशे के कई कई ऐसे विभाग होना, जिनमे से प्रत्येक अपने तौर से पूर्ण हो।

३—एक एक पेशे के एक एक विभाग के अनेक उपविभाग होना, जिनमे से प्रत्येक अपूर्ण हो।

अब श्रम विभाग के लाभ-हानि पर विचार करे। पहले कहा जा चुका है कि आधुनिक कल-कारखानों मे यह बहुत सूक्ष्म अवस्था को पहुँच गया है। अस्तु, इस सूक्ष्म श्रम विभाग के लाभों के सम्बन्ध मे विचार करते हुए प्रथम तो यही बात सामने आती है कि एक खास क्रिया को बारम्बार करते रहने से मनुष्य की शारीरिक तथा मानसिक शक्ति उस विशेष क्रिया के लिये ऐसी बढ जाती है कि उसके करने मे उसे कुछ जोर नही लगाना पड़ता, वह मानों अपने आप ही होती रहती है। किसी छापेखाने मे एक कम्पोजिटर को देखिये, वह 'केस' के खानों मे से कैसी जल्दी जल्दी बिना देखे ही अक्षर उठाता है, जिसकी उसे कम्पोज करने के लिये आवश्यकता है। उसे

यह नही सोचना पड़ता कि अमुक अक्षर का खाना कौन सा है। उसका हाथ स्वयमेव उपयुक्त खाने मे जाता रहता है। बहुधा वह दूसरे आदमी से बातचीत करता हुआ भी अपना काम मानो यत्र की तरह फुर्ती से करता रहता है।

पुनः यदि एक आदमी को भिन्न भिन्न कार्य अथवा एक कार्य के भिन्न भिन्न भागों की कई कई क्रियाएँ करनी पड़े तो उनके लिये सम्भव है कि भिन्न भिन्न औजारो की आवश्यकता हो। उन्हे उठाने मे, और उनका कार्य पूरा हो जाने पर उन्हे रखने तथा दूसरो को उठाने मे समय लगेगा। इसके विपरीत, जब उसे एक ही कार्य अथवा उसके किसी एक ही भाग की कोई क्रिया करनी होगी तो उसे औजारों को उठाने धरने की तथा अपना ध्यान एक यत्र से हटा कर दूसरे में लगाने की आवश्यकता बहुत कम होगी। और, इसके परिणाम स्वरूप उसका बहुत सा समय बचेगा। इसी प्रकार जब एक व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले भिन्न भिन्न कार्य अथवा एक कार्य की भिन्न क्रियाओं को करने का स्थान पृथक् पृथक् कुछ दूरी पर हो, अथवा एक मकान की भिन्न भिन्न मजिलो मे हो, तो उन्हे करने वाले के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने मे भी बहुत समय लगता है। इसमे भी श्रम विभाग द्वारा समय की बचत होती है।

श्रम विभाग द्वारा एक कार्य को बहुत से उपविभागों मे विभक्त कर दिया जाता है, जिनमें से प्रत्येक उपविभाग मे की जाने वाली क्रिया बहुत सरल होती है। ऐसा होने पर उक्त उपविभागों की क्रिया को करने के लिए श्रमियों की जगह मशीनो का उपयोग सहज ही हो जाता है, इससे कार्य बहुत जल्दी तथा कम श्रम से सम्पादन होता है, और जहाज तथा रेल आदि का बहुत सा, बडे परिमाण का, कार्य तो ऐसा हो जाता है, जो अन्यथा हो ही नही सकता। मशीनों के बारे मे विशेष आगे लिखा जायगा।

श्रम विभाग में श्रमी एक बहुत साधारण और सरल क्रिया करता है। निरन्तर इसे करते करते उसे इसकी कोई और अधिक सुगम विधि मालूम हो सकती है। इसका यह आविष्कार अन्य अनेक श्रमियों के लिए बहुत लाभ-प्रद होता है। वैज्ञानिक या यान्त्रिक आविष्कारो का यथेष्ट उपयोग भी तभी हो सकता है, जब श्रम विभाग द्वारा काम किया जाय।

प्रायः श्रमियों की कार्य-कुशलता भिन्न भिन्न होती है। किसी मे शारीरिक शक्ति अधिक होती है, किसी मे मानसिक। पुनः किसी की कोई कर्मेंद्रिय तेज होती है, किसी की कोई। श्रमियों मे पुरुष, स्त्री, बच्चे, बूढ़े, बलवान, दुर्बल, अधा, लगड़ा आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं। श्रम-विभाग

द्वारा ही यह सम्भव है कि इनमे से प्रत्येक को उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम दिया जा सके। यदि प्रत्येक आदमी को सभी कार्य करना हो, तो इनमे से बहुत का उपयोग ही न हो सकेगा। कुशल श्रमजीवी को अपना समय ऐसे कार्य में भी लगाना पड़ेगा, जिसे साधारण योग्यतावाला व्यक्ति भी कर सकता है, इसमे उसकी कार्य-कुशलता से पूरा लाभ नही होगा।

अभी यह बताया जा चुका है कि श्रम विभाग द्वारा श्रमियों की निपुणता बढ़ती है, तथा प्रत्येक श्रमी की कार्य-कुशलता का यथेष्ट उपयोग होता है। इन बातो से धनोत्पत्ति मे खर्च कम होना स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त श्रम विभाग की दशा मे प्रत्येक व्यक्ति को केवल थोड़े से ही औजारों की आवश्यकता है, इस प्रकार धनोत्पादन की इस मद मे बचत होती है। श्रम विभाग के लाभों का इतना उल्लेख करके अब इसकी हानियो पर विचार करते हैं।

श्रम विभाग मे बहुत से श्रमियों को किसी कार्य के एक उपविभाग की क्रिया सम्पादन करने मे लगा रहना पडता है। उदाहरणवत् पिन बनाने के कारखाने मे सैकड़ो आदमी अपना समय केवल पिन की नोक ठीक करने मे व्यतीत करते हैं, वे यत्र की भाँति काम करते हैं, और उनका कार्य बहुत नीरस होता है।

प्रत्येक श्रमी को एक कार्य के छोटे से उपविभाग का ही कार्य करना पडता है, उसे उसी का अभ्यास होता है। यदि किसी कारण से उसका निर्धारित कार्य छूट जाय तो, उसकी कार्य-क्षमता एक परिमित क्षेत्र तक ही परिमित होने से, उसे अन्यत्र काम मिलना सहज नही होता। इससे बेकारी की विकराल समस्या उपस्थित होती है, जो आधुनिक व्यावसायिक जगत का एक विशेष चिन्तनीय अभिशाप है। परन्तु एक कार्य के भिन्न भिन्न उपविभागो का भेद इतना कम है और प्रत्येक उपविभाग का कार्य इतना सरल है कि एक उपविभाग मे कार्य करने वाला श्रमी दूसरे उपविभाग का कार्य जल्दी ही सीख सकता है। प्रत्येक कार्य के उपविभागों की क्रियाएँ इतनी सरल हो गई हैं, कि उनको करने के लिये विशेष बुद्धि या निपुणता की आवश्यकता नही रहती। अधिकतर कार्य अकुशल श्रमियों द्वारा हो जाता है, कुशल या निपुण श्रमियो का कार्यक्षेत्र घटता जाता है।

पूँजी की क्षमता— पूँजी एक निष्क्रिय वस्तु है, उसकी क्षमता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि उसका उपयोग किस प्रकार किया जाता है, और अभीष्ट-सिद्धि के लिए वह कहाँ तक अनुकूल है। कुशल श्रमी ही यह

जानता है कि किस काम के लिए कौनसी मशीन, औजार या कच्चा पदार्थ अधिकतर उपयोगी है तथा उसे किस तरह मितव्ययिता-पूर्वक काम मे लाना चाहिये, इसके विपरीत अकुशल श्रमी मशीन बिगाड देता है तथा बहुत सा कच्चा माल नष्ट कर देता है। आजकल पूँजी के अन्तर्गत मशीनों का भाग बहुत बढ गया है, तथा बढता जा रहा है, अत. इस प्रसंग मे मशीनों के लाभ-हानि का विचार कर लेना उचित होगा। पहले लाभो को लीजिये।

मशीनों से हानि-लाभ - सक्षेप मे मशीनों से होने वाले लाभ निम्न-लिखित हैं :—(१) अब अनेक कठिन श्रम के कार्य मशीनो द्वारा हो जाते हैं। पहले अधिक श्रम करने से श्रमी की शक्ति बहुत क्षीण होती थी, उसका स्वास्थ्य बिगड़ता था, और इससे उसकी आयु कम होती थी। अब मशीनो के प्रयोग से यह बात नहीं रही, मनुष्य को शारीरिक श्रम कम करना पड़ता है।

(२) मशीनों से बहुत से ऐसे काम हो सकते हैं, जो पहले या तो होते ही नही थे, या अत्यन्त कठिनाई से हो सकते थे। उदाहरणवत् आजकल के बडी बड़ी नदियों और नहरो के पुल तथा एक एक नगर के अनेक विशाल गगन-चुम्बी भवन आदि प्राचीन काल मे आश्चर्यजनक दृष्टि से देखे जाते। इसी प्रकार जेबी या कलाई की घड़ियो के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुर्जे इतने बड़े परिमाण में मशीनों के बिना बनने असम्भव ही थे। इन पुर्जो के हाथ से बनाने में मनुष्यों की आँखों पर कितना जोर पड़ता, बहुतों की तो नजर ह खराब हो जाती।

(३) मशीनों द्वारा श्रम-विभाग के लाभ (जो पहले बताये जा चुके हैं) चरम सीमा तक मिलते हैं। उत्पत्ति बढ़ जाती है। माल सस्ता होता है, सर्वसाधारण भी उन वस्तुओं को खरीद सकते हैं, जो मशीनों के अभाव में केवल कुछ धनी लोगों के ही काम आती। आजकल पोस्टमेन, विद्यार्थियो, और कार्यालयों के कर्मचारियो और चपरासियो आदि के पास घर घर साइकल मौजूद हैं, कुछ अच्छी स्थिति वाले लोग तो मोटर रखने लगे हैं, यह मशीनों का ही प्रताप है।

(४) मशीनो द्वारा ही यह सम्भव है कि एक ही नमूने की और पूर्ण-तया एक ही आकार की सैकडो वस्तुएँ बनायी जायँ। हाथ से बनायी जाने-वाली बहुधा दो वस्तुएँ भी पूर्णतया समान नहीं होती। आजकल भिन्न भिन्न मशीनो मे जो सूक्ष्म तथा पेचोदा पुर्जे लगते हैं, वे एक ही साँचे के होते हैं, और बने बनाये चाहे जिस नगर मे तैयार मिल सकते हैं।

(५) कितने कार्य जो बहुत नीरस है, अब मशीनो के द्वारा सुभीते से किये जा सकते हैं—उदाहरणयत् नालियाँ साफ करना, कूड़ा, कचरा ढोना, लकड़ी चीरना, रन्दा करना आदि। ये सब काय अब मशीन से होते हैं, मनुष्य को केवल थोडी सी देख-भाल आदि का साधारण कार्य करना होता है।

(६) मशीनों की सहायता से अब समय और दूरी की समस्या बहुत कुछ हल हो गयी है। महीनो का कार्य केवल कुछ दिनों मे, और दिनो का काम केवल कुछ घटो मे पूरा हो जाता है। सैकडों हजारों माल दूर रहने वाले व्यक्ति एक दूसरे से आसानी से सलाह-मशविरा कर सकते हैं। अमरीका और इगलैंड के वक्ताओ के भाषण भारतवासी उनके ही स्वर मे घर बैठे रेडियो द्वारा सुन सकते हैं।

मशीनों से लाभ के साथ साथ हानियाँ भी हैं और यद्यपि उन्हे कम करने के लिये निरन्तर प्रयत्न हो रहा है और उसमे कुछ सफलता भी मिल रही है, तथापि हानियाँ विचारणीय हैं।

१—मशीनों से दो चार आदमी दर्जनों श्रमियो का काम कर लेते हैं, इस प्रकार बहुत से आदमी बेकार हो जाते है, हाँ, जब वस्तु सस्ती बनती है तो उसकी माँग बढने से कुछ और आदमियों को भी काम मिल जाता है, तथापि एक तो इसमे समय लगता है, दूसरे जितने आदमी खाली होते हैं, उन सब को काम नही मिलता। पदार्थों के सस्ते होने से आदमियो को नयी आवश्यकताएँ होने लगती हैं, इनकी पूर्ति के प्रयत्न मे भी कुछ आदमियो को काम मिलता है। तथापि, बेकारों की सख्या क्रमशः बढ़ती ही जाती है।

२—मशीनो से कारीगरी को बड़ा धक्का पहुँचता है। यद्यपि हाथों द्वारा बनाया हुआ माल कभी कभी अधिक मजबूत तथा बढिया होता है, पर वह महँगा पड़ने के कारण सर्वसाधारण मे उसकी माँग न होकर केवल सम्पन्न या धनी व्यक्ति ही उसे खरीदते हैं। इस प्रकार प्रायः स्वतन्त्र कारीगरों का निर्वाह नही होता, उन्हे पराधीन श्रमजीवियों का जीवन बिताना पड़ता है।

३—मशीनों से माल जल्दी और अधिक परिमाण मे बन जाने से उस सब की उस देश मे खपत नहीं हो पाती। माल रुका रहने से उसमे लगे रुपये के सूद की हानि होती है, तथा माल खराब होने की आशका होती है। अतः उसे अनौद्योगिक देशो के सिर मढने का प्रयत्न किया जाता है। इससे भिन्न भिन्न औद्योगिक देशों मे पारस्परिक सघर्ष, द्वेष और युद्ध की

वृद्धि होती है। इस प्रकार आधुनिक अशान्ति और रक्तपात का मशीनों के प्रयोग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कभी कभी माल न बिकने की दशा में, आगे होने वाली उत्पत्ति में कमी करने का विचार किया जाता है, और इस हेतु श्रमजीवियों की संख्या तथा काम करने के घंटे कम किये जाते हैं। परन्तु इससे भी उक्त समस्या पूर्णरूप से हल नहीं होती तथा कुछ अंश में मजदूरों के वेतन में कमी, अथवा उनकी बेकारी की समस्या आ जाती है।

४—मशीनों का अधिक उपयोग करने वाले देशों में प्रायः पूँजी और मजदूरी का झगड़ा, और हड़ताल होती है, घनी बस्तियाँ स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकर होती हैं, तथा स्त्री-पुरुषों का सदाचार ठीक नहीं रहता, परन्तु इन बातों का मशीनों के प्रयोग से प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, और इसका क्रमशः सुधार भी हो रहा है।

व्यवस्था की क्षमता—व्यवस्था की क्षमता उत्पत्ति के अन्तिम परिणाम से जानी जाती है। व्यवस्थापक का लक्ष्य यह रहता है कि भूमि, श्रम और पूँजी का इतने परिमाण में तथा ऐसी विधि से उपयोग करे कि कम से कम खर्च होकर, अधिक से अधिक उत्पत्ति हो, अर्थात् लाभ अधिक से अधिक हो, जहाँ तक वह इसमें सफल होता है, उस सीमा तक उसके कार्य अर्थात् व्यवस्था की क्षमता अधिक मानी जाती है। उक्त साधनों की क्षमता के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। व्यवस्थापक उस क्षमता को निरंतर बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह बड़े पैमाने की उत्पत्ति करता है, जिसमें बाह्य तथा आन्तरिक बचत होती है, इसके सम्बन्ध में अगले अध्याय में लिखा जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

१—आधुनिक कल कारखानों में होने वाले श्रम विभाग से आप क्या समझते हैं? इससे होने वाले आर्थिक तथा सामाजिक परिणाम की विवेचना कीजिए (१९३८)।

२—कल-कारखानों में श्रम की क्षमता किन किन बातों पर निर्भर रहती है? भारतीय परिस्थितियों पर विचार करके बताइए कि यहाँ के श्रम की क्षमता क्यों कम है। (१९३७)

३ "श्रम विभाग" को सावधानी पूर्वक समझाइए। किस प्रकार इसका विकास होता है? इससे क्या लाभ हैं? उदाहरण दीजिए। (१९३४)

४—उत्पत्ति के किसी साधन की क्षमता से आप क्या समझते हैं? क्या भारतीय श्रम की क्षमता ठीक है? यदि नहीं, तो इसे अधिक क्षमता पूर्ण बनाने के लिए आप क्या उपाय कीजिएगा? (१९३३)

५—भारतीय श्रम की क्षमता क्यों कम है? समझाइए कि कैसे और कहाँ तक इस श्रम की क्षमता बढ़ाई जा सकती है। (१९३२)

६—श्रम की क्षमता किस प्रकार की पढ़ाई से किस प्रकार बढ़ जाती है :—
(अ) प्राइमरी शिक्षा (ब) शिल्प-शिक्षा (१९२६)

७—श्रम की क्षमता किन बातों पर निर्भर है? हमारे औद्योगिक केन्द्रों में ये बातें कहाँ तक पाई जाती हैं? (१९३०)

८—मशीनों के प्रयोग से क्या हानि-लाभ होते हैं? उदाहरणों सहित लिखिए।

९—श्रम विभाग के गुणों और दोषों का वर्णन कीजिये। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से इसका क्या सम्बन्ध है? (दिल्ली १९३०)

१०—मशीन के गुणों और दोषों को बतलाइये। (यू० पी० १९४१)

११—श्रम विभाग के अर्थ को समझाइये और इसके गुणों और दोषों को बतलाइये। (यू० पी० १९४२)

अठारहवाँ अध्याय

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति

पिछले अध्यायों में उत्पत्ति के साधनों का विचार कर चुकने पर अब इस अध्याय में इस बात का विवेचन करना है कि उत्पत्ति की मात्रा का उत्पादन कार्य पर क्या प्रभाव पड़ता है, यदि छोटी मात्रा में उत्पत्ति की जाय तो उसमें क्या लाभ-हानि है, और यदि बड़ी मात्रा में की जाय तो क्या सुविधाएँ या असुविधाएँ होंगी।

प्राचीन काल में, छोटी मात्रा की उत्पत्ति होती थी, जैसा पिछले अध्याय में बताया जा चुका है, बहुधा एक ही आदमी अपनी भूमि पर, अपने श्रम और पूँजी से उत्पत्ति करता था, वह आवश्यकतानुसार अपने परिवार के व्यक्तियों से सहायता ले लेता था। क्रमशः कुछ कुछ आदमियों

ने मिलकर कार्य करना आरम्भ किया, अब तो बहुत-सा उत्पादन कार्य बडी बड़ी पूँजी से कल-कारखानो मे मशीनो द्वारा होता है। एक एक जगह सैकडों हजारो आदमियों के सहयोग से, श्रम विभाग के विकसित सिद्धान्तो के अनुसार, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है। हाँ, इसमे छोटो मात्रा की उत्पत्ति सर्वथा बन्द नही हुई है, वरन् जैसा आगे मालूम होगा, कुछ दशाओं मे अब छोटी मात्रा की उत्पत्ति को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त हो गई हैं, जो पहले प्राप्त नही थी।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति (Large-scale Production) **से बचत**— अब हम यह विचार करते हैं कि बडी मात्रा की उत्पत्ति से क्या लाभ-हानि है। पहले यह उल्लेखनीय है कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति मे कई प्रकार की बचत होती है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका कि बड़ी मात्रा की उत्पत्ति अधिकतर कल-कारखानों मे होती है। बडे कल-कारखानो में यन्त्रो के सुधार और मरम्मत के लिये अपनी व्यवस्था होती है, इसके लिये उन्हे बाहर वालों की सहायता लेनी नहीं पडती। इससे बचत होना स्वाभाविक ही है। फिर बढिया यन्त्रो के कारण बिजली और कोयले आदि की सचालन शक्ति का प्रति वस्तु व्यय भो कम होता है।

बड़े कारखाने वालों को, छोटी मात्रा की उत्पत्ति वालो की अपेक्षा, कच्चा माल अधिक परिमाण मे, थोक खरीदना होता है इससे उन्हे यह सस्ता मिल जाता है और उसकी ढुलाई आदि का खर्चा भी औसतन कम लगता है। इन्हे पूँजी भी कम सूद पर मिल जाती है। इन्हे अपना माल बेचने मे भी बचत होती है, कारण, इनके पास अनेक प्रकार का काफी सामान रहने से ये ग्राहको की विभिन्न रुचि के अनुसार वस्तुएँ दे सकते हैं। इन्हे अपने यहाँ तैयार माल भी औसतन कम रखना होता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति मे, भूमि को आवश्यकता औसतन कम होती है, अर्थात् किसी छोटी मात्रा के एक कार्य के लिये जितनी भूमि चाहिये, उससे सौ गुना उत्पादन करने वाले कारखाने के लिये सौ गुना भूमि नहीं चाहिये, सम्भव है, बीस-पच्चीस गुणा भूमि से ही काम चल जाय। इससे लगान का खर्च औसतन कम लगता है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति मे कुछ पदार्थ अवशिष्ट रह जाते हैं, प्रायः इनका कुछ उपयोग नही हो पाता, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में इन अवशिष्ट पदार्थों का यथासम्भव व्यर्थ नही जाने दिया जाता, इससे अन्य पदार्थ बनाये जाते हैं। यहाँ तक कि कोयले की राख आदि का भी उपयोग होता है, अथवा उसे बेचकर काफी दाम बसूल किये जाते हैं!

माल बेचने मे विज्ञापन का कितना भाग होता है, यह सर्व-विदित है, और इस सम्बन्ध मे कुछ अन्यत्र लिखा भी गया है। अस्तु, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वाले जितने अधिक परिमाण मे तथा जितने कम मूल्य मे अपनी वस्तुओं का विज्ञापन कर सकते हैं, छोटी मात्रा वाले नही करा सकते। इन्हे एजेन्ट, दलाल या प्रचारक भी औसतन कम रखने होते हैं। इसका अर्थ यह है कि बड़ी मात्रा वालों के बिक्री-खर्च के इन अशों मे काफी बचत होती है।

ऊपर जो भिन्न भिन्न प्रकार की बचत बतायी गयी है, इसके मुख्य दो भेद किये जा सकते हैं :—(१) वाह्य, और (२) आभ्यन्तरिक। वाह्य बचत (External Economies) मे वे बचत गिनी जाती हैं, जो किसी उद्योग-धन्धे की व्यापक रूप से होने वाली उन्नति के कारण होती हो, उस उद्योग-धन्धे के किसी विशेष कारखाने की व्यवस्था आदि के कारण नही। उदाहरणवत् जब कोई व्यवसाय किसी विशेष स्थान पर केन्द्रीभूत हो जाता है, तो उसके कारखानों को उसकी मशीनें, औजार तथा कच्चा माल मँगाने, और तैयार माल बाहर भेजने की बड़ी किफायत होने लगती है, यातायात की सुविधाएँ हो जाती हैं तथा उस व्यवसाय सम्बन्धी विविध उपयोगी बातों का ज्ञान सहज ही होने लगता है। इन सब बातों से व्यवसाय सम्बन्धी खर्च मे बचत होती है।

आभ्यन्तरिक बचत (Internal Economies) मे वे बचते समझी जाती हैं, जो किसी व्यवसाय के एक विशेष कार्यालय की व्यवस्था आदि के कारण हो। उदाहरणवत् श्रम विभाग और अच्छी तरह करने, बढिया मशीनों के उपयोग करने, सचालन शक्ति (भाफ या बिजली आदि) के उपयोग मे मितव्ययिता होने, आदि से बहुत बचत हो सकती है। सुयोग्य प्रबन्धक ऐसी बहुत सी बाते सोच सकता है और उन्हे सुविधानुसार कार्यान्वित कर सकता है।

अन्य लाभ—उपर्युक्त बचत के परिमाण स्वरूप, बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में लागत खर्च कम होता है। इससे समष्टि रूप से समाज को बड़ा लाभ होता है। सर्वसाधारण उपभोक्ताओं को फायदा है, कारण कि इससे वस्तुओ का मूल्य प्रायः कम हो जाता है, उपभोक्ता पदार्थों का अधिक परिमाण में, या अधिक सख्या मे उपभोग कर सकते हैं। कुछ दशाओं मे, छोटी मात्रा की उत्पत्ति की अपेक्षा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वाले श्रमजीवियों को अधिक वेतन तथा कार्य करने में अधिक सुविधाएँ दे सकते हैं। प्रत्येक आदमी को उसकी योग्यता के अनुसार काम मिलता है, साधारण कार्य

के लिए साधारण कुशलता के आदमी रहते हैं, और विशेष कार्यों के वास्ते उच्च वेतन और अधिक योग्यता वाले वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों की नियुक्ति की जा सकती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के कामों मे नये बढिया से बढिया यन्त्रों का उपयोग हो सकता है, और यन्त्रों और आविष्कारों सम्बन्धी विविध प्रयोग और परीक्षण किये जा सकते हैं। इससे उत्पत्ति की वृद्धि होती है। बहु-व्यय साध्य होने के कारण ये बाते छोटी मात्रा की उत्पत्ति वाले कार्य मे सम्भव नहीं हैं। बड़े बडे कल-कारखानों मे ही इनके लिये हजारों लाखों रुपये खर्च किये जा सकते हैं। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वालों का बाजार बहुत विस्तृत होता है, वे विविध स्थानों मे होने वाले कीमत के उतार-चढाव मे परिचित रहते हैं। यदि एक स्थान पर उन्हे कच्चा माल महँगा मिलता है, या उनके तैयार माल की बिक्री कम होती है, तो उनके लिये दूसरे अनेक स्थानो का क्षेत्र खुला रहता है।

कुछ विरोधक बातें—एक सीमा के बाद, ज्यों ज्यों कोई व्यवसाय बढता है, उसका प्रबन्ध एक व्यक्ति द्वारा योग्यता तथा मितव्ययिता पूर्वक होना कठिन हो जाता है, क्रमशः बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली बचत मे कमी होने लगती है. और औसत खर्च बढने लगता है। अन्ततः व्यवसाय की और अधिक वृद्धि हानिकर होती देखकर, उसे रोक देना पड़ता है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति मे व्यवस्थापक अर्थात् प्रबन्धक और साहसी विशेष कार्य-कुशल होने चाहिये, उनके आवश्यक गुण हर किसी मे नही होते। अतः साधारण आदमी को उसमे सफलता नही मिलती। विफलता की आशका से अनेक आदमी उसका उत्तरदायित्व नहीं लेते। इसके विपरीत, उन्हे छोटी मात्रा की उत्पत्ति के कार्य मे सफलता की बहुत आशा होती है, और इसलिये वे उसी की ओर आकर्षित होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति से छोटी छोटी परन्तु खूब काम करने वाली मशीनें तथा बिजली आदि की सचालन शक्ति घर घर पहुँच सकने से अब अनेक स्वाधीनता प्रेमी व्यक्ति अपनी स्वतत्रता की रक्षा करते हुये (कारखानो के श्रमियों की तरह किसी की अधीनता मे न रहते हुए) उत्पादन कार्य करना पसन्द करते हैं, चाहे इसमे उन्हे अपने परिश्रम का फल कुछ कम ही मिले। फिर,, आजकल शिक्षा, साहित्य, समाचार-पत्रों तथा तार, टेलीफोन और बेतार के तार आदि सम्वाद-वाहक यन्त्रों के अधिकाधिक प्रचार के कारण छोटे छोटे व्यवस्थापक भी बाजार भाव से सहज परिचित रह

सकते हैं, उनसे कोई बात छुपी नहीं रहती। इससे छोटी मात्रा की उत्पत्ति को एक बाधा दूर होकर, उसको ओर प्रवृत्ति बढने मे सहायता मिल रही है।

छोटी मात्रा की उत्पत्ति करने वालो मे सहकारिता की भावना बढने पर, उन्हे कुछ बचत हो सकती है। कच्चे माल, औजार और यन्त्र खरीदने मे, तैयार माल को बेचने और अवशिष्ट माल का उपयोग करने मे, एव आवश्यक रुपया उधार लेने मे सहकारिता द्वारा छोटे उत्पादको को भी बहुत लाभ हो सकता है। यह भी बडी मात्रा की उत्पत्ति के विरुद्ध, और छोटी मात्रा की उत्पत्ति के पक्ष की बात है।

कुछ आदमी मशीन के बने हुये माल की अपेक्षा हाथ से बना हुआ ही अधिक पसन्द करते हैं, और उसके लिये अपेक्षाकृत कुछ अधिक मूल्य भी देने को तत्पर रहते हैं। ऐसा माल छोटी मात्रा मे ही तैयार हो सकता है, उदाहरणवत् शाल-दुशाले, कालीन, हाथ के कते हुए सूत का हाथ से बुना बढ़िया कपड़ा, धातु या लकडी का बारीक काम। जो काम बहुत मोटा होता है, जिसमे निपुणता की आवश्यकता नहीं होती, जिसमे कच्चा माल बहुत चाहिये वह भी छोटी मात्रा मे ही उत्पन्न हो सकता है, यथा मोटा खद्दर, मिट्टी की ईटे। मशीनों तथा उनसे बनी हुई कल पुर्जों वाली चीजे, जैसे मोटर, बाइसिकल, घडी आदि को सुधारने का काम बड़ी मात्रा में नहीं हो सकता, इसके लिये छोटी मात्रा की उत्पत्ति के ही कार्यो की आवश्यकता होती है।

बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से हानियाँ—अब हम बडी मात्रा की उत्पत्ति से होने वाली हानियों का विचार करते है। स्मरण रहे कि अधिकाश हानियाँ पूँजीवाद-पद्धति में ही होती है, जब साम्यवाद मे, सरकार द्वारा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है, तो वे हानियाँ नहीं होती। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति करने वालों के बहुधा 'ट्रस्ट' बन जाते हैं, जो बाजार के एक बडे भाग पर एकाधिकार-सा प्राप्त कर लेते हैं। इनकी प्रतियोगिता मे छोटे उत्पादक और दुकानदार टिक नहीं सकते, उन्हे प्रायः बडे बडे कारखानो में श्रमजीवी बनने की नौबत आ जाती है, जिनकी आर्थिक स्थिति व्यवस्थापको की तुलना में अत्यन्त चिन्तनीय होती है। अस्तु, उपर्युक्त एकाधिकारी ट्रस्ट अन्य उत्पादको को क्षेत्र से हटा कर, पदार्थों की कीमत बढा देते हैं, और उन्हे घटिया बनाने लगते हैं। ये क्रमशः अन्य देशों के बाजार को भी हथियाने की तरकीबें सोचते हैं, अनुकूल अवसर पाकर वहाँ अपना माल सस्ता बेचकर वहाँ के कारखानो को बन्द करा देते हैं। एकाधिकार के सम्बन्ध मे विशेष विचार आगे एक स्वतंत्र अध्याय मे किया जायगा।

बडी मात्रा की उत्पत्ति का, जब वह श्रमजीवियों या राज्य के नियत्रण मे न होकर, कुछ पूँजीपतियों द्वारा हो, एक परिणाम देश के धन का असमान वितरण होता है। मुट्ठी भर आदमियों का, देश के अधिकाश धन पर अधिकार हो जाता है, वे क्रमश: लखपति और करोडपति ही नही, अरबपति और खरबपति बन जाते हैं, और बृहत् जन समुदाय के हिस्से मे धन की शेष थोड़ी सी मात्रा आती है। इससे असतोष क्रान्ति और अनाचार की बृद्धि होती है। पुनः व्यवस्थापक सोचते हैं कि हम अपने तैयार माल को विज्ञापन, या प्रचार आदि के बल पर खपा देंगे, उसके लिये नये नये बाजारों की खोज करके उन पर अधिकार प्राप्त कर लेगे। यह भावना सभी व्यवसायियों में होती है, इसलिये एक देश के व्यवसायियों में परस्पर विरोध होता है, और एक देश के व्यवसायियों का दूसरे देश के व्यवसायियों से झगडा रहता है। और, क्योंकि प्रायः प्रत्येक देश की राष्ट्रीय सरकार अपने यहाँ के व्यवसायियों के पक्ष का समर्थन करती है और उन्हे आवश्यक सुविधाएँ और सहायता देती है, इसलिये विविध देशों की सरकारों का आपस मे मनोमालिन्य हो जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप थोडे बहुत समय मे परस्पर विरुद्ध स्वार्थ वाले देशो का युद्ध होता है। भिन्न भिन्न राष्ट्रो के गुट बनने या दलबन्दी होने से तो राष्ट्रों का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय महायुद्ध का रूप धारण कर लेता है। आजकल महायुद्ध की आशका हर समय बनी रहती है, इसका मूल बहुत कुछ आर्थिक स्वार्थों का सघर्ष, और बडी मात्रा की उत्पत्ति है।

बड़े बड़े कारखाने—अब हम भारतवर्ष के बडे बडे कारखानो के सम्बन्ध में कुछ विचार करते हैं। सन् १६४३ ई० में ब्रिटिश भारत मे (जिसमें बर्मा सम्मिलित नही है) कुल मिला कर १३,२०६ कारखाने थे, सन् १६४५ में कुल कारखानों में प्रतिदिन औसतन ३०½ लाख आदमी काम करते थे, जिनमें से २३ लाख व्यक्ति निरतर साल भर चलनेवाले कारखानो में काम करते थे, और शेष व्यक्ति मौसमी कारखानों में। महायुद्ध के पहिले सन् १६३८-३६ में कुल कारखानों की सख्या ११,११४ थी। प्रातो की दृष्टि से सबसे अधिक कारखाने क्रमश. बबई, बगाल और मदरास में थे, इनमे से प्रत्येक प्रात के कारखानों की सख्या दो हजार से अधिक, और तीनों को मिला कर ६०७८ थी। इस प्रकार देश भर के कुल कारखानों के आधे से अधिक इन्हीं तीन प्रातो मे थे। इन तीनों प्रान्तों के श्रम जीवियों की सख्या १२ लाख (कुल श्रमजीवियों की सख्या की लगभग ६७ फी-सैकडे) थी। सयुक्त प्रात मे कारखानों और उनमे कार्य करने वाले श्रमियो की सख्या क्रमशः ५३० और १ लाख ५५ हजार थी।

भारत के उपर्युक्त कुल कारखानों मे से ३६१ सरकारी तथा स्थानीय स्वराज्य-सस्थाओं के थे, (३२४ निरतर काम करने वाले, और ३७ मौसमी)। कारखाने विशेषतया खाद्य पदार्थों, रूई (कातने बुनने), जूट, कागज, इजिनियरिंग, खनिज द्रव्यों, रासायनिक द्रव्यों और रगों, जीन, प्रेस, चमडे, शीशे, लकडी और पत्थर के थे। देशी रियासतों मे सन् १९३२ ई० मे कुल १,६४६ कारखाने थे, जिनमे से ६६ तो राज्यो के थे, और शेष, जनता के। इनमे कुल मिलाकर प्रति दिन औसतन लगभग दो लाख व्यक्ति काम करते थे। इस प्रकार भारत पाकिस्तान और देशी रियासतों मे, कुल कारखानों मे काम करनेवाले व्यक्तियो की सख्या ३५ लाख से अधिक नही है। इससे स्पष्ट है, कि समस्त जनसख्या का विचार करते हुए इनका अनुपात बहुत साधारण ही है।

पिछले सात-आठ वर्षों मे यहॉ नए कारखाने बहुत कम खुले हैं, कारण (१) विदेशों से बड़ी बड़ा मशीनें आदि नही मिलीं। (२) पूँजीपतियों और रुपया लगानेवालो की सरकार की टेक्स-नीति के कारण मनचाहा लाभ नही हुआ। (३) समाजवाद की लहर के कारण उन्हे कल-कारखानों का भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है। (४) पाकिस्तान बन जाने से जूट, रूई आदि पैदा करने वाले भाग भारतीय सघ से अलग होगए, इससे यहॉ कच्चे माल की प्राप्ति मे बडी कठिनाई है।

कारखानों में मजदूरों का जीवन—कारखानों मे काम करने वालों का जीवन इतना स्वतत्र नहीं हो सकता, जितना गॉव वालों का अथवा घरू उद्योग-धधों का काम करने वाले बढई, लुहार आदि कारीगरो का, होता है। यद्यपि हमारे देहात प्राय. मैले-कुचैले है, फिर भी वहॉ खुली हवा और रोशनी का लाभ अधिक है। कारखानो मे हरदम शोर मचानेवाली मशीन के पास घटो काम करते रहने से श्रमजीवियो के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। श्रमजीवियों पर कारखानो के जीवन से, सामाजिक और नैतिक प्रभाव भी बहुत बुरा होता है, खासकर इसलिए कि वहॉ औरतें भी काम करती हैं। घर पर छोडे हुए बच्चो की देख-भाल नहीं होती।

भारतवर्ष की बहुत सी मिलों मे ठेकेदार मजदूरों को भरती कराते हैं। इसके लिए उन्हे पुरस्कार मिलता है। इस पद्धति से मिलो के सचालक, श्रम-जीवी एकत्र करने की चिन्ता मे मुक्त रहते हैं, परन्तु श्रमजीवी प्रायः एक लोभी आदमी के अधीन हो जाते हैं।

सन् १९४८ का कारखानों का कानून—स्वतत्र भारत मे, सन् १९४८ में नया कारखाना-कानून कारखानो के दोष दूर करने के लिये बनाया गया

है । इसे तैयार करने मे काफी समय लगा है, और इसके लिए कई बडे बड़े देशो के कारखाना-कानूनो का अध्ययन किया गया है।

इस कानून से ३५,००,००० मजदूरों को सुविधाऍ मिल गई हैं। प्रान्तों के अतिरिक्त यह उन रियासतो मे भी लागू हो गया है जिन्होने केन्द्रीय सरकार का प्रभुत्व मान लिया है। यह उन सभी कारखानों मे अमल मे लाया गया है, जहॉ दस या इससे अधिक मजदूर काम करते हो और बिजली की शक्ति से काम लिया जाता हो, अथवा बीस या इससे अधिक व्यक्ति काम करते हों, चाहे शक्ति का प्रयोग होता हो या न होता हो।

मालिकों को श्रमजीवियों के स्वास्थ्य के लिए ठीक प्रबन्ध करना होता है। हरेक मजदूर को नए कारखाने मे कम-से-कम ५०० घन फुट और पुराने में ३५० घन फुट जगह देनी पड़ती है। उनके पीने के लिए ठडे पानी का प्रबन्ध करना होता है।

मालिकों को ऐसी व्यवस्था करनी होती है कि कारखाने आदमियों के रहने योग्य हो। उनमे प्रकृति की देन—धूप, रोशनी और हवा— का यथेष्ट प्रबन्ध हो। मजदूरों की पूरी रक्षा हो, उन्हे गन्दगी और छूत की बीमारियो और कारखाने की जोखिमों से सुरक्षित रखा जाय। उनके आराम करने और खाना खाने के कमरों की व्यवस्था की जाय।

जवान व्यक्ति प्रति सप्ताह ४८ घटे काम करेंगे परन्तु बालकों से प्रतिदिन साढ़े चार घटे से अधिक काम नहीं लिया जायगा, और उनकी उम्र १३ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिये। जवान मजदूर को २० दिन, और बालक को १५ दिन, काम करने पर एक दिन की वेतन सहित छुट्टी मिलेगी।

इस कानून को तोडने वालों को कडी सजा दी जायगी, जुर्माने के अलावा कैद की सजा दी जाने की भी व्यवस्था है।

भारतीय श्रम-मत्री श्री जगजीवनराम की इस कानून के बनवाने के लिए, व्यवस्थापक सभा के सभी सदस्यों ने प्रशसा की। इस कानून को 'मजदूरों का अधिकार-पत्र' कहा गया है। श्रम-मत्री ने कहा कि मजदूर अपने अधिकारों के साथ कर्तव्यों को भी समझे। उद्योगपतियों को चेतावनी देते हुए उन्होने कहा कि यदि उन्होंने मजदूरों को अपने जैसा ही मनुष्य समझना शुरू नहीं किया तो वे अपने सर्वनाश को आमत्रित करेंगे। यह स्पष्ट हा है कि इस कानून से मजदूरों को यथेष्ट लाभ तभी पहुँचेगा, जब कारखानों के इन्सपेक्टर अपने कर्तव्य का टीक इमानदारी से पालन करेंगे।

खान और उनमे काम करने वाले मजदूर—सन् १६३६ मे भारतवर्ष मे ऐसी खाने, जिन पर खानों का कानून लगता था, १८६४ थीं, और

उनमे ३,६४,६४८ आदमी काम करते थे। सन् १९४४ में कुल खान-मजदूरो मे से लगभग दो-तिहाई कोयले की खानो मे हैं। अधिकतर खानों मे मजदूरो को जमीन के अदर, तथा बहुत नीचे काम करना होता है। कोयले की खानों में आग लगने की बहुत आशका रहती है। पिछले दिनो ऐसी दुर्घटनाएँ विशेष हुई हैं। कुछ खानों मे किनारे पर पानी निकलता है, और इससे वहाँ बहुत सील रहती है। बडी खानो मे ताजी हवा जाने-आने का प्रबन्ध किया हुआ रहता है, पर छोटी खानों में यह बात नहीं होती। सूर्य का प्रकाश तो खानो में जा ही नहीं पाता। अत इनमें मजदूरों का स्वास्थ्य जल्दी बिगड़ जाता है। फिर, मजदूरों को शराब पीने की आदत पड़ जाती है, (दुर्भाग्य से कितने ही स्थानो मे शराब, खानों के पास ही मिलने की व्यवस्था है,) उससे वे अपनी कमाई —जो मामूली होती है बहुत-कुछ उसमे उडा देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अपने भरण-पोषण के लिए भी उनके पास काफी पैसा नहीं रहता, फिर, दूध आदि की तो बात ही क्या ! अधिकाश मजदूर कर्ज में फसे रहते हैं, साहूकार उनसे खूब व्याज वसूल करता है। इससे उनकी आमदनी में और भी कमी हो जाती है। ऐसी दशा मे उनके पास स्वास्थ्यप्रद मकान होने की आशा नही की जा सकती, प्रायः वे बहुत तग, नमी वाले और अधेरे स्थानों मे गुजर करते हैं, और विविध बीमारियों के शिकार बनते हैं।

खानों का कानून—कानून द्वारा कुछ बातो का सुधार होने में सहायता मिलती है। सन् १९३५ ई० के कानून की, जो १९२३ के कानून का सशोधित स्वरूप है, कुछ मुख्य-मुख्य बाते निम्नलिखित हैं :—

(१) कोई मजदूर सप्ताह में छ दिन से अधिक काम मे नही लगाया जा सकता।

(२) श्रमजीवी जमीन के ऊपर एक सप्ताह मे ५४ घटे, और एक दिन मे दस घटे से अधिक काम नहीं कर सकता।

(३) जो श्रमी जमीन के अन्दर काम करते हैं, उनका समय, जमीन के अन्दर जाना आरभ करने से, लौट कर ऊपर आने तक गिना जाता है। यह सब समय नौ घटे से अधिक नहीं होना चाहिए।

(४) पन्दरह वर्ष से कम उम्र वालों से खानों में काम नहीं लिया जा सकता। स्त्रियों से जमीन के अन्दर काम लेने का निषेध है।*

* महायुद्ध (१९३९-४५) के समय स्त्रियों से जमीन के अन्दर खानों मे काम लिया गया था; इसका जनता ने बहुत विरोध किया था।

इन मजदूरो की उन्नति के सम्बन्ध मे भी बहुत कुछ वे ही बाते हैं जो कारखानो के मजदूरों के विषय में पहले बतायी जा चुकी हैं।

कोयला-खान-मजदूर सम्बन्धी कानून—स्वतन्त्रता के पहले इन मजदूरों की दशा बहुत शोचनीय थी। इनका असन्तोष, बढ जाने पर गतवर्ष सरकार ने इनकी जॉच करने के लिए एक समझौता-बोर्ड नियुक्त किया था। उसकी खासकर मजदूरी और महॅगाई सम्बन्धी कितनी ही सिफारिशें मानली गई और लागू करदी गई थीं। प्रोविडेंट फड और बोनस सम्बन्धी सिफारिश पर कार्रवाई होना बाकी था। इस विषय की योजना के सिद्धान्तों पर कोयला-खान-औद्योगिक समिति ने विचार करके उन्हे स्वीकार किया। इस समिति मे सरकार, खान मालिक और मजदूर तीनों के प्रतिनिधि भाग लेते हैं। इस योजना को शीघ्र लागू करने के लिए सरकार ने पहले एक आर्डिनेंस जारी किया था। अब (सन् १९४८) एक कानून बना दिया गया है।

इस कानून की मुख्य बातें ये हैं—प्रोवीडेंट फड कोयले की सब खानो मे काम करने वालो के लिए अनिवार्य होगा। मजदूर और खान मालिक दोनों इस फड मे बराबर बराबर रुपया देंगे। शुरू में इस फड के लिए मजदूर के वेतन में से फी रुपया एक आना काटा जायगा। बोनस उत्पादन और हाजरी के हिसाब से मिलेगा। यदि कोई मजदूर एक खान छोडकर दूसरी खान मे काम करेगा तो उसका उसके प्रोविडेंट फड पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस योजना से अपनी नौकरी छोड़ने या बुढापे के समय में मजदूरों को एक खासी रकम मिल जायगी, जो उन्हे भूख और भीखमगी से बचाएगी।

पूँजी और श्रम का संघर्ष; हड़ताल और द्वारावरोध—कल-कारखानों में यद्यपि श्रम और पूँजी दोनों सहायक होते हैं, परन्तु प्राय; श्रम-जीवियो में आपस मे विरोध रहता है। प्रत्येक अपने स्वार्थ को देखता है। आधुनिक औद्योगिक ससार में यह सघर्ष बढता ही रहा है। भारतवर्ष मे सन १९२५ मे औद्योगिक झगडे १३४ हुए, और सन् १९३३ ई० मे १४६। सन् १९३९ में तो इनकी सख्या ४०६ हो गई। इन झगडों मे ४ लाख ९८ हजार आदमी लगे हुए थे। और, इनके कारण इतने काम की क्षति हुई, जितना एक लाख आदमी मिलकर पचास दिन मे कर सकते हैं।

कल-कारखानों के मालिक मजदूरो से वेतन और छुट्टी आदि की शर्तें मनवाने के लिए कभी कभी उनका काम पर आना रोक देते हैं—द्वारावरोध या तालाबन्दी करते हैं। इसी प्रकार असतुष्ट मजदूर सम्मिलित रूप से अपना काम बन्द करके हडताल कर देते हैं।

हड़तालों के मुख्य कारण ये है . (क) जीवन निर्वाह के पदार्थों की महँगाई । मजदूरी या बोनस कम मिलना या समय पर न मिलना । (ख) कुछ मजदूरों को काम पर से हटा देना, और उनके सगठन को अस्वीकार करना । (ग) मजदूरों की बरखास्तगी तथा अन्त असुविधाएँ (घ) अधिक समय (घन्टे) तक काम लेना । (ङ) अफसरो तथा फोर-मैनो का दुर्व्यवहार । (च) काम करने की जगह का स्वास्थ्यप्रद न होना, और रहने के स्थान का यथेष्ट प्रबन्ध न हाना । द्वारावरोध हो, या हडताल, इनसे मालिक और मजदूर दोनों का ही नुकसान है । जनता के भी दुःखो का अन्त नहीं, धनोत्पत्ति मे भी ये बहुत बाधक हैं । इनसे बचने के लिए पूँजी और श्रम के पारस्परिक सघर्ष को दूर किया जाना चाहिए । इसे रोकने के उपाय ये हैं:— (१) कारखाने से होने वाले लाभ का काफी अश मजदूरों मे बाँट दिया जाय । (२) मजदूर अपनी थोडी-थोड़ी आमदनी इकट्ठी करके कारखानों मे लगाएँ और इस प्रकार कारखाने वालों से होने वाले लाभ मे हिस्सा लें, (३) सब मजदूर एकमात्र अपनी ही पूँजी से (और अपने ही श्रम से) कारखाने को चलाएँ । इस दशा मे कारखाना उनका ही होगा, दूसरा पक्ष होगा ही नही और इसलिए विरोध की बात भी न रहेगी ।

समझौते की व्यवस्था—भारत सरकार ने सन् १९२९ ई० मे एक कानून बनाया था, १९३८ मे इसमे सशोधन किया गया। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि जब मालिक और मजदूर दोनों पार्टियाँ चाहे, तो सरकार तटस्थ आदमियो की जाँच अदालत या समझौता-बोर्ड, स्थापित करे । इसकी रिपोर्ट प्रकाशित की जाया करे। रेल, डाक, तार, टेलीफोन, ट्राम या पानी के नल आदि सार्वजानिक उपयोगिता के कामों मे मासिक वेतन पर लगे हुए मजदूर हड़ताल करने से निर्धारित समय पूर्व सूचना दिया करें, मालिक भी पहले से सूचना देकर द्वारावरोध किया करें । जिस हड़ताल या द्वारावरोध का उद्देश्य औद्योगिक झगडे को अपने निर्धारित क्षेत्र से अधिक बढाने का हो, अथवा जिससे जनता को बहुत कष्ट हो, उसे गैर-कानूनी ठहराया जाता है ।

प्रान्तो मे, इस विषय की कानूनी व्यवस्था खासकर बम्बई में हुई थी । साधारणतया मजदूर उससे असन्तुष्ट ही रहे । उन्हे यह शिकायत रही कि कानून में मजदूरों के हितो का यथेष्ट सरक्षण नही किया गया । भारतवर्ष के स्वतत्र होने पर यहाँ सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान दिया । दिसम्बर १९४७ में दिल्ली में औद्योगिक सम्मेलन हुआ, उसमे यह समझौता करने का विचार किया गया कि औद्योगिक क्षेत्रो मे अभी कम-से-कम तीन साल शान्ति

बनाई रखी जाय। उस सिलसिले मे एक केन्द्रीय श्रम-सलाहकार समिति तथा प्रान्तो मे प्रान्तीय समितियाँ नियुक्त करने का निश्चय किया गया। ये समितियाँ उद्योग और श्रम सम्बन्धी मुख्य मुख्य प्रश्नो—यथा मजदूरों का उचित पारिश्रमिक, उन्हे मिलने योग्य सुविधाएँ और मुनाफे मे हिस्सा आदि—पर विचार करेंगी। ऐसी समितियाँ निष्पक्ष और विचारपूर्ण निर्णय दे, और उन निर्णयो को सचाई और लगन के साथ अमल मे लाया जाता रहे तो श्रमजीवी और पूँजीपतियो का आपसी विरोध हटने और औद्योगिक विकास होने मे बहुत सहायता मिले। इस समय उत्पादन बढाने की बहुत ही आवश्यकता है, इसलिए मजदूरो की हडताले, सरकार द्वारा अवैध घोषित की हुई हैं।

श्रमजीवियों की उन्नति के कार्य—हर्ष का विषय है कि भारतवर्ष के स्वतत्र होने पर यहाँ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारे श्रमजीवियों के हित की ओर अधिकाधिक ध्यान दे रही हैं। पुराने कारखाना-कानूनों मे सशोधन तथा नए कानूनो का निर्माण किया जा रहा है, यह पहले बताया जा चुका है। तथापि अभी कई सुधारो की आवश्यकता है। उदाहरणवत् मजदूरो के स्वास्थ्य, और रहने के लिए मकान आदि का उचित प्रबन्ध करना आवश्यक है। जहाँ मिले नगर के बाहर हो और स्थान काफी हो, वहाँ उनके लिए एक मजिल के सादे मकानो की सहज व्यवस्था हो सकती है। इस काम के लिए मिलों के निकट भूमि प्राप्त करने मे सरकार को पूँजीपतियों की सहायता करनी चाहिए, और कुछ नियमों के अनुसार श्रमजीवियों की बस्तियाँ बनाने की आज्ञा देनी चाहिए। बहुत से मजदूरों को ऋण लेने की बुरी आदत पड़ जाती है। महाजन इससे अनुचित लाभ उठाते हैं। उनसे इनकी रक्षा की जाने की आवश्यकता है। कारखानों के मालिकों को चाहिए कि किसी खास महाजन को श्रमजीवियो के लिए आवश्यक और अच्छी वस्तु, साधारण दर से देने का ठेका दे दे। सहकारी समितियों से उनका बड़ा उपकार हो सकता है। मजदूरों के दिल-बहलाव और खेल कूद का, तथा उन्हे शराब और जुए आदि की बुरी आदतो से बचाए रखने का भी प्रबन्ध होना चाहिये।

मज़दूरों को मुनाफे मे साझा—पहले कहा गया है कि पूँजी और श्रम के सघर्ष का एक उपाय यह है कि कारखाने मे जो लाभ हो, उसमे मजदूरों का भी काफी हिस्सा रहे। पिछले दिनों इस प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की गई थी। उसकी कुछ सिफारशे इस प्रकार हैं—सूती कपडा, जूट, लोहा और इस्पात, सिगरेट, सीमेट और टायर ये छ ऐसे उद्योग हैं, जिनमे अलग-अलग मुनाफे में साझे की योजना परीक्षार्थ पाँच साल के लिये काम मे लाई जाय। जिन कारखानों को मुनाफा न हो,

वे अपने श्रमियों को कुछ न दें। व्यवसाय के लिये प्राप्त पूँजी पर छ प्रतिशत मुनाफे से पहले, निकाल लिया जाय, और यह रकम अलग जमा होती रहे। बची हुई रकम से २० से ३० प्रतिशत भाग रक्षित धन मे ले जाया जाय, और इसके बाद जो बचे वह मालिकों और श्रमिजीवियों मे बराबर-बराबर हिस्से बाँटा जाय। बम्बई, अहमदाबाद और शोलापुर में से, प्रत्येक की सब सूती मिलों के मुनाफे के आधार पर, हिस्से का निश्चय किया जाय। जिन कारखानों को ज्यादा मुनाफा हो, वे श्रमियों को ज्यादा रकम दें। शर्त यह रहे कि बढती का केवल एक चौथाई भाग नकद दिया जाय, और बाकी हिस्सा प्रोविडेन्ट फंड मे जमा कर दिया जाय।

बीमा योजना—कुछ समय से मजदूरों का बीमारी-बीमा विचाराधीन था। योजना यह थी कि कुछ रकम सरकार दे, कुछ रकम कारखानो के मालिक, और कुछ स्वयं मजदूर लोग। इस प्रकार बनाए हुए कोष से मजदूरो को बीमारी के समय सहायता दी जाय, जिससे उन्हे उस समय आर्थिक कठिनाइयाँ विशेष न हों। अक्तूबर १९४८ में भारत के गवर्नर जनरल श्री राजगोपालचारी ने मजदूरों के लिये सरकारी-बीमा-कारपोरेशन का उद्घाटन किया। इस योजना से कम से कम बीस लाख मजदूर लाभ उठाएँगे। इसके अन्तर्गत मजदूरी की सब तरह की जोखिमे नही आती और न इनका सम्बध समस्त मजदूरो से है। अभी केवल संगठित उद्योगों मे काम करने वालो मे स्वास्थ्य और चिकित्सा का ही आयोजन किया गया है। धीरे धीरे इसका क्षेत्र बढाया जायगा। आशा है, इसे कुछ समय में राष्ट्रीय सुरक्षा योजना के रूप मे परिणत कर दिया जायगा। मालिकों की ओर से इसे यथेष्ट सहयोग प्रदान करने का आश्वासन दिया गया है।

श्रमजीवी-संघ—कल कारखानों मे काम करने वाले मजदूरों को क्रमशः यह अनुभव हुआ है कि यदि हम बिना संगठन के अलग अलग रहेंगे, और कम मजदूरी स्वीकार करने के सम्बन्ध मे आपस में प्रतियोगिता करेंगे, तो कारखाने का मालिक हमारी फूट से लाभ उठायेगा और मजदूरी कम से कम देगा, इसलिये हमें मिलकर काम करना चाहिये।। इस विचार से अब मजदूर अपना एक संगठित संघ बनाते हैं। संघ के सभासद नियमानुसार चन्दा देकर एक कोष स्थापित कर लेते हैं। जब कोई सभासद बीमार पड़ जाता है, या किसी दुर्घटना अथवा हडताल आदि के कारण काम करने योग्य नहीं रहता, तो उसे इस कोष से सहायता दी जाती है। यदि किसी के व्यवसायोपयोगी औजार आदि नष्ट हो जाते हैं, तो वे खरीद दिये जाते हैं। वह संघ मजदूरों के सुधार, शिक्षा, मनोरंजन और स्वास्थ्य आदि के विषय

में यथाशक्ति ध्यान देता रहता है। मजदूरी की दर ऊँची रखने के लिए कभी कभी कुछ श्रमजीवी-सघ यह भी कोशिश करते हैं कि उनके क्षेत्र में काम करने वालों की सख्या परिमित रहे। ये बाहर से आए हुए नये मजदूरों को, वह काम नहीं करने देते, जिसे ये खुद करते हैं। इन संघों का बहुधा यह काम भी रहता है कि वे निर्बल मजदूरों को समर्थ पूजीपतियों का सामना करने की शक्ति प्रदान करें।

भारतवर्ष मे पहले ट्रेड-यूनियन या मजदूर-संघ का सूत्रपात सन् १८६० से हुआ। पहले महायुद्ध के पश्चात् क्रमशः इनकी वृद्धि होती गई; बम्बई और बगाल मे विशेष प्रगति हुई, अब तो भारतवर्ष के सभी मुख्य औद्योगिक स्थानों मे मजदूर-सघ कार्य कर रहे हैं। सन् १६३८-३६ मे भारतवर्ष के प्रान्तों मे रजिस्टर्ड मजदूर संघ, ५५४ थे। इनमे से ३६४ का हिसाब प्रकाशित हुआ, उनके लगभग चार लाख सदस्य थे, जिनमे से करीब ११ हजार स्त्रियाँ थीं। उनकी आय लगभग नौ लाख रुपये थी। अधिकतर स्थानों में उनका सगठन या आर्थिक स्थिति अच्छी नही है। मज़दूर-सघ कानून सन् १६२६ मे बना। सघों का प्रबन्ध प्रान्तवार है। जिस प्रान्त मे किसी सघ का प्रधान कार्यालय होता है, उसमे सघ के सात या अधिक सदस्य उसकी रजिस्टरी करा सकते हैं। पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के आदमी रजिस्टर्ड संघ के सदस्य नही हो सकते।

भारतवर्ष मे अहमदाबाद आदि कुछ स्थानों मे मजदूर-सघ बहुत कुछ म० गाँधी के आदेशानुसार काम करते रहे हैं। बम्बई मे वे प्रायः कम्युनिष्ट तथा दूसरे लोगों के नेतृत्व में थे। और, कानपुर आदि कुछ स्थानों मे दोनो ही तरह के सघ थे। जहाँ एक जगह दोनों तरह के सघ थे, वहाँ उनमे अकसर आपस मे ही विरोध और सघर्ष होता था। सन् १६४६ मे सरकारी तौर पर मजदूरो की केन्द्रीय सस्था 'अखिल राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस' की स्थापना हुई। इसे मजदूरों सम्बन्धी विविध विषयों का समझौता करने-न-करने का अधिकार है।

अन्य औद्योगिक देशों की तुलना मे, भारतवर्ष में मजदूरों के संगठन बहुत कम हैं। यहाँ जो कुछ सगठन है, वह प्रायः शहरों मे रहने वाले, तथा कारखानों मे काम करने वाले मजदूरों का है। परन्तु देश मे खासी बड़ी संख्या उन लोगो की भी है, जो खेती पर काम करते हैं, और गाँवों मे रहते हैं। इनका मजदूर-सघ आदि के रूप मे कोई सगठन नहीं है। इनकी जातिगत पचायतें अवश्य हैं, पर वे केवल सामाजिक विषयों का विचार करती हैं, और जिन्हे अपराधी समझती हैं, उन्हे दण्ड देती हैं। वे मजदूरों की आर्थिक

दशा सुधारने की ओर ध्यान नही देती। इन मजदूरों की भिन्न भिन्न जातियों की पचायतों मे परस्पर कोई सहयोग नही होता। इस प्रकार देहाती मजदूरो की शिकायते दूर करने का सगठित प्रयत्न प्राय. कुछ नही हो रहा है। इस ओर बहुत ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है।

स्मरण रहे कि हम मजदूरों के इन सघो की स्थापना को एक सामयिक युक्तिमात्र समझते हैं, यह हमारा आदर्श नही। परमात्मा करे, औद्योगिक ससार के लिए वह समय शीघ्र आ जाय, जब पूँजोपतियो और मजदूरो को एक दूसरे के विरुद्ध दलबन्दो करने की जरूरत ही न रहे, दोनो पक्ष पारस्परिक हितों का यथेष्ट ध्यान रखे।

औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता—कुछ वर्षों से भारतवर्ष की औद्योगिक उन्नति हो रही है, परतु सरकारी तथा गैर-सरकारी सब विचारशील सज्जन यह स्वीकार करते हैं कि उन्नति, इस देश की जनसख्या और क्षेत्रफल को देखते हुए जैसी होनी चाहिए थी, नही हुई है, तथा यहाँ इसकी बहुत आवश्यकता है, इससे कई लाभ होगे :—

(१) कृषि पर निर्वाह करनेवालों की सख्या घटेगी, और फसल खराब होने की दशा मे आर्थिक सकट विशेष न होगा। (२) राष्ट्रीय आय की वृद्धि होगी, और लोगों का रहन-सहन का दर्जा ऊँचा होगा। इससे उनकी कार्य-क्षमता और उत्पादन शक्ति बढ़ेगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पुनः जनता की आय बढ़ेगी। इस प्रकार पारस्परिक लाभदायक क्रिया प्रतिक्रिया होती रहेगी। (३) सरकार तथा म्युनिसिपैलिटियों आदि स्थानीय सस्थाओं की आय बढ़ेगी और वे सार्वजनिक उपयोगिता के अधिकाधिक कार्य कर सकेंगी। (४) अनेक आदमियों को रोजगार मिलेगा, और उनकी बेकारी दूर होने मे सहायता मिलेगी। (५) देश स्वावलम्बी होगा। आवश्यक वस्तुएँ यहाँ ही बनाई जा सकेंगी, उनके लिए विदेशों को रुपया भेजना, तथा उनके आश्रित रहना न होगा। (६) लोगो को, धन गाड़ कर रखने, या उसे जेवर आदि अनुत्पादक कार्यो मे लगाने की प्रवृत्ति मे सुधार होगा। मिश्रित पूँजी की व्यवस्था मे लोगों की बचत की छोटी-छोटी रकमों का भी उपयोग हो सकता है, जो अन्यथा बेकार पड़ी रहती हैं। (७) लोगों के विचारों की संकीर्णता दूर होगी, उनका दृष्टि-कोण उदार होगा। वे परम्परा के अध-भक्त न रहेगे, हानिकर रूढ़ियों को तोड़ते हुए समाज सुधार मे अधिक अग्रसर होंगे। (८) कृषि को भी लाभ होगा। देश मे धन अधिक होने से, कृषि की उन्नति के लिए आवश्यक पूँजी मिलना सुगम होगा।

औद्योगिक उन्नति पर यातायात के साधनों का प्रभाव, उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण (Localisation of Industries)-बहुधा यह देखने मे आता है कि उद्योग-धन्धे के कारखाने कुछ खास खास स्थानों पर विशेष रूप से चलने लगते हैं, कुछ स्थान किसी खास व्यवसाय के केन्द्र बन जाते हैं। इसे उद्योग-धन्धो का स्थानीयकरण कहते हैं, उदाहरण-स्वरूप भारतवर्ष मे कलकत्ता जूट के कारखानो का, और अहमदाबाद और बम्बई कपडे की मिलों के केन्द्र हैं। इसी प्रकार इगलैंड मे लकेशायर और मेनचेस्टर कपडे की मिलो के लिये प्रसिद्ध है। इन स्थानों मे तैयार किये जाने वाले पदार्थ केवल अपने नगर मे ही पर्याप्त नही होते, वरन् दूर दूर के, सैकडो हजारों मील के फासले पर रहने वाले आदमियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। किसी उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण के कई कारण होते हैं, कभी कभी दो या अधिक कारणों का एक साथ भी प्रभाव पड़ता है, कुछ दशाओं मे प्राकृतिक कारण बहुत महत्वपूर्ण होते हैं तथापि यातायात के साधनों का इस पर बड़ा प्रभाव पडता है।

जिन स्थानों मे रेल, जहाज आदि से यातायात का सुविधा होती है, वहाँ अन्य स्थानो की अपेक्षा, स्थानीयकरण की प्रवृत्ति अधिक होती है। बगाल मे कलकत्ता और बम्बई प्रान्त मे बम्बई नगर की विशेषता बहुत कुछ इस दृष्टि से भी है। दूर दूर से कच्चा माल मँगाने, तथा तैयार माल को दूर दूर तक भेजने मे यातायात सम्बन्धी मितव्ययिता का ध्यान रखना आवश्यक होता है, अतः अन्य बातें समान होने की दशा में जिस स्थान मे यातायात की सुविधाएँ अधिक होंगी, और खर्च कम पडेगा, वहाँ उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण अधिक होगा। कुछ दशाओं मे यातायात की उन्नति का उलटा परिणाम भी होता है। अब यातायात का खर्च तथा उसमे लगने वाला समय कम हो गया है, इसलिये कारखानो को कच्चे माल के उत्पत्ति-स्थान, मडी, या बन्दरगाह से दूर स्थापित करने की असुविधा तथा हानि घट गयी है। उद्योग-धन्धे को एक ही स्थान पर केन्द्रित की जाने की अब उतनी जरूरत नही रही।

उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से लाभ—किसी उद्योग-धन्धे के बहुत से कारखाने एक ही स्थान पर स्थापित होने से वहाँ के अनेक श्रमी उसी काम मे लगे रहते हैं, फलस्वरूप वहाँ की जनता के एक खासे भाग को उसके विषय मे जानकारी हो जाती है, विशेषतः श्रमियों की सन्तान को उस विषय का शिक्षण प्राप्त करना बहुत सुगम हो जाता है। अन्य श्रमी भी वहाँ अधिकतर ऐसे ही आते हैं, जिन्हे उस विशेष व्यवसाय का अच्छा

ज्ञान होता है। इस प्रकार वह जगह उस विशेष प्रकार के श्रमियो का केन्द्र बन जाती है। इससे श्रमियो के अतिरिक्त, उस उद्योग-धन्धे का नया कारखाना खोलने वालो को भी सुविधा होती है।

जब किसी उद्योग-धन्धे के कई कारखाने एक ही स्थान पर होते हैं, तो एक कारखाने के मालिक, प्रबन्धक, और इजिनियर आदि को दूसरे कारखाने वालो से मिलने और विचार-विनिमय करने का खूब अवसर मिलता है। वे यत्रो तथा कार्य-पद्धति आदि के सम्बन्ध मे सोच-विचार करते हैं। इससे एक कारखाने मे जो प्रयोग या उन्नति होती है, उसकी वहाँ के दूसरे कारखाने वालो को भी जानकारी हो जाती है। इस प्रकार सब कारखाने वालो को उससे लाभ होता है।

जब कोई उद्योग-धन्धा किसी विशेष क्षेत्र मे केन्द्रित हो जाता है, तो उसके लिये वह स्थान दूर दूर तक प्रसिद्ध हो जाता है, और वहाँ उसके वास्ते आवश्यक कच्चा माल लाने, तथा उसका तैयार माल दूर दूर के बाजारों मे ले जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है, इसके सम्बन्ध मे पहले लिखा जा चुका है।

एक उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से उसके अवशिष्ट पदार्थों के व्यर्थ जाने की बात नही रहती। जब कारखाने पृथक् पृथक् क्षेत्रों में होते हैं तो उनमे प्रत्येक का अवशिष्ट पदार्थ कम मात्रा मे होने से, उनका यथेष्ट उपयोग नहीं किया जाता, ऐसा करने में विशेष लाभ भी नही होता। किन्तु कई कारखाने एक ही स्थान मे होने की दशा में, उनका अवशिष्ट पदार्थ काफी मात्रा मे इकट्ठा हो जाता है, उसका उपयोग करने के लिये अर्थात् उससे अन्य उपयोगी पदार्थ बनाने के लिये अच्छे बढिया यत्र मँगाने और बडा कारखाना स्थापित करने का विचार किया जा सकता है, इसमे काफी लाभ की भी आशा रहती है। इस प्रकार उद्योग-धन्धे के स्थानीयकरण से कुछ गौण उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति होने लगती है। इन गौण पदार्थों के कारखानों से यातायात, महाजनी, बैंकिंग कार्य आदि की जो वृद्धि होती है, उसका लाभ मुख्य उद्योग-धन्धे को मिलता है।

कुछ उद्योग-धन्धो के स्थानीयकरण से दूसरे पूरक उद्योग-धन्धे की स्थापन्ना मे सहायता मिलती है। उदाहरणवत् लोहे के कारखानों मे हृष्ट पुष्ट श्रमियो की आवश्यकता होती है। उन कारखाने वालो को उन्हे अपेक्षाकृत अधिक वेतन देना होता है, पर उक्त श्रमियो की स्त्रियों तथा बालकों को वहाँ काम न मिलने से उन्हे परिवार की दृष्टि से वह

वेतन कम ही मालूम होता है। इसलिये जब तक उन्हे काफी वेतन की प्राप्ति न हो, वे वहाँ काम करने को तैयार नहीं होते। अब यदि लोहे के कारखाने के पास कपडे की मिले स्थापित हो जाय तो उक्त श्रमियों की बेकार स्त्रियों और बालकों को उसमे उपयुक्त काम मिल सकता है। जब उन्हें वेतन-प्राप्ति होने लगती है तो उक्त श्रमी लोहे के कारखाने में अपेक्षाकृत कुछ कम वेतन पर भी काम करने लगते हैं। इस विचार से कुछ स्थानों मे लोहे के कारखानों के पास कपड़े के कारखाने स्थापित किये गये हैं, और किये जाते हैं। इस प्रकार मुख्य और पृथक् उद्योग-धन्धे दोनों एक दूसरे की सहायता करते हैं।

स्थानीयकरण से हानियाँ और उनसे बचने के उपाय—यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि जब किसी उद्योग-धन्धे मे एक विशेष प्रकार के ही श्रमियों की, उदाहरणवत् केवल मनुष्यों की आवश्यकता हो, तो उससे बड़ी असुविधा और हानि होती है। उसका उपाय यही है कि वहाँ कोई पूरक व्यवसाय भी स्थापित किया जाय, जिसमें अन्य प्रकार के श्रमियों की, जैसे उपर्युक्त उदाहरण मे स्त्रियों और लड़कों की, आवश्यकता हो।

स्थानीयकरण की दूसरी हानि यह है कि जब किसी ऐसे क्षेत्र मे जो विशेषतया एक ही उद्योग-धन्धे के आश्रित हो, वहाँ तैयार होने वाले विशेष माल की माँग किसी कारण से कम हो जाय, या उसके लिये आवश्यक कच्चा माल मिलने में कठिनाई हो जाय, तो उस समस्त क्षेत्र मे आर्थिक सकट उपस्थित हो जाता है—श्रमियों का वेतन कम हो जाता है, उनमें बेकारी बढ जाती है, व्यापार मदा हो जाता है। इससे बचने का उपाय यही है कि उपर्युक्त क्षेत्र मे दूसरे भी उद्योग-धन्धे हों, यदि एक उद्योग-धन्धे को किसी कारण धक्का लगे तो दूसरे उद्योग-धन्धों द्वारा आर्थिक सकट कम होने में सहायता मिले।

सभी उद्योग-धन्धे ऐसे नहीं है कि उनका स्थानीयकरण हो सके। वही उद्योग-धन्धा केन्द्रित हो सकता है, जिसकी वस्तु की माँग स्थिर हो, तथा काफी परिमाण मे हो, जिसका बाजार विस्तृत हो, जो दूर दूर तक सुगमता-पूर्वक ले जाकर बेची जा सके। इससे स्पष्ट है कि जो वस्तुएँ जल्दी खराब होने वाली हैं, जो अपने परिमाण की दृष्टि से बहुत भारी होने के कारण दूर दूर तक ले जायी जाने में बहुत व्यय-साध्य होती हैं, जिनका बाजार (माँग कम या अस्थिर होने के कारण) परिमित होता है; उनके उद्योग-धन्धे का स्थानीयकरण बहुत अधिक नहीं होता। पुनः किसी स्थान में एक ही उद्योग-धन्धा न रहना चाहिये, उसमें या उसके

निकट ऐसे अन्य उद्योग-धन्धों की स्थापना होनी चाहिये, जिनमे गौण पदार्थ तैयार किये जायँ या जो मुख्य धन्धे के लिये श्रमियों की दृष्टि से पूरक उद्योग-धन्धे का काम करें, अर्थात् जिनमे स्त्रियाँ और लड़के काम करें। इससे श्रमियो को साधारण समय मे कार्य-विविधता, और मंदी के समय मे कुछ आर्थिक सहायता प्राप्त होगी। यह बात श्रमियों के अतिरिक्त कारखाने वालों के लिये भी उपयोगी है।

अभ्यास के प्रश्न

१—बडी मात्रा की उत्पत्ति के गुण-दोष विस्तार पूर्वक समझाइए। ऐसी उत्पत्ति किस हद तक वाछनीय है ? उदाहरण सहित समझाइए। (१६२६)

२—बडी और छोटी मात्रा पर की जाने वाली उत्पत्ति के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। आप अपने देश के लिए किसकी उन्नति चाहेंगे और क्यों ? (१६३३)

३—यातायात के साधनों का भारतीय ग्रामीण उद्योग-धन्धों और कृषि पर क्या आर्थिक प्रभाव पड़ता है ? विस्तारपूर्वक समझाइए। (१६३७, १६३५)

४—भारत मे प्रचलित यातायात के भिन्न भिन्न साधनों को बताइए। उनके प्रचलन और उन्नति से भारत की राष्ट्रीय हलचलो पर क्या प्रभाव पडा है ? (१६३३)

५—कारखाने के मजदूरो की दशा का वर्णन कीजिये। सन् १६४८ के कारखाना कानून द्वारा उनकी दशा सुधारने के क्या उपाय किये गए हैं ?

६—खानों मे काम करने वाले मजदूरों की दशा का वर्णन कीजिये। उनकी दशा कैसे सुधारी जा सकती है ?

७—आपने किसी बड़ी मात्रा या छोटी मात्रा के किसी उद्योग-धन्धे का निरीक्षण किया हो तो उसका वर्णन कीजिये। (यू० पी० १६४५)

८—सयुक्त प्रान्त मे कौन कौन से बड़ी मात्रा के उत्पत्ति करने वाले धन्धे लाभदायक हो सकते हैं (यू० पी० १६४५)

६—बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ इतने अधिक हैं कि सम्पूर्ण आर्थिक जगत मे छोटी मात्रा की उत्पत्ति का अस्तित्व ही न रह जायगा। परन्तु ऐसा नहीं होता। स्पष्ट कीजिये। (पजाब १६३६)

१०—बडी मात्रा के उत्पत्ति के लाभों को बतलाइये। किन दशाओं मे वह सीमित हो जाती है? (यू० पी० १६३६)

११—आभ्यतरिक एव वाह्य बचत के भेद को बतलाइये। बडी मात्रा के उत्पत्ति के धन्धे मे ये किस प्रकार सहायक होती है। (यू० पी० १६४०)

१२—पूँजी और श्रम का हित विरोध कैसे दूर किया जा सकता है?

१३—श्रमजीवी सघो की भारत मे क्या दशा है? उनके द्वारा अभी तक क्या उन्नति हुई है?

उन्नीसवाँ अध्याय

खेती

भारतवर्ष मे खेती की उपज—जैसा पहले बताया जा चुका है, भारतीय सघ मे १७ करोड़ एकड भूमि जोती जाती है। यहाँ के भिन्न-भिन्न भागों की जलवायु, उष्णता, तथा तरी आदि विविध प्रकार की होने से यहाँ प्रायः सब प्रकार के खाद्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

भारत मे नीचे लिखी मुख्य फसले पैदा की जाती हैं:— गेहूँ, चावल, जौ, जुआर, बाजरा, चना, मकई, दाले, तरकारी और फल, गन्ना, चाय, कहवा, कपास, और तेलहन। इनके सम्बन्ध में आवश्यक बातें आगे दी जाती हैं।

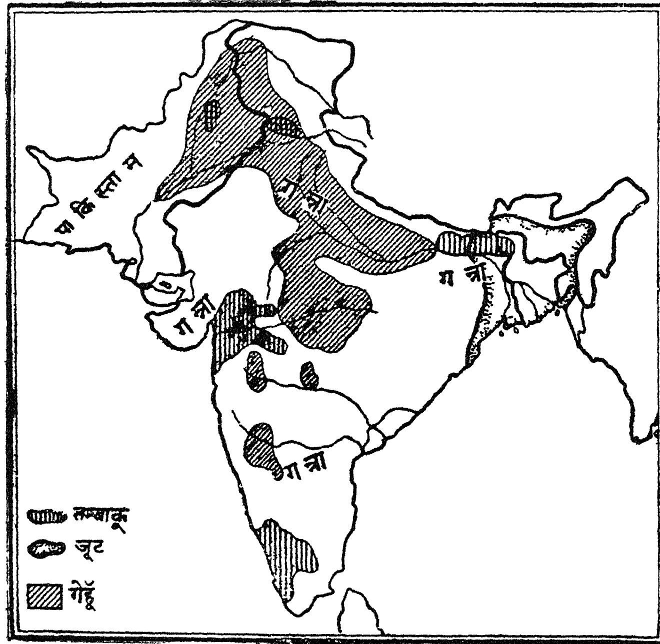
गेहूँ—ससार मे अनाजो मे गेहूँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जनता का बहुत बडा भाग गेहूँ हो खाता है और गेहूँ अत्यन्त प्राचीन काल से उत्पन्न किया जाता है। यही कारण है कि गेहूँ को बहुत प्रकार के जलवायु मे उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया है।

गेहूँ मटियार भूमि में खूब उत्पन्न होता है, परन्तु अधिक कठोर भूमि इसके लिये हानिकारक सिद्ध होती है। गेहूँ के लिये नरम मटियार भूमि ही सबसे उत्तम मानी जाती है। इस अनाज के बोने के समय सर्दी और नमी होना आवश्यक है। परन्तु फसल पकने के समय तेज धूप भी उतनी ही आवश्यक है। यदि पकते समय गरमी न पडे, अथवा वायु मे किसी कारण से भी नमी आ जावे तो गेहूँ को हानि पहुँच जाती है। यह अनाज उन देशों मे भी उत्पन्न हो सकता है जहाँ शीत अधिक पडती है। किन्तु पकने के समय

गरमी और सूखी हवा आवश्यक है। बीज बोने के समय अथवा जब पौधा छोटा हो साधारण वर्षा लाभदायक है परन्तु फसल कटने के समय वर्षा होना अत्यन्त हानिकारक है।

भारतवर्ष मे गेहूँ रबी की मुख्य फसल है। देश का कोई ऐसा भाग नही है जिसमे यह थोडा बहुत पैदा न होता हो किन्तु पूर्वी पजाब, सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, तथा मध्य भारत मे इसकी पैदावार होती है। पजाब की कैनाल-कालोनी तथा सक्खर बाँध से निकाली हुई नहरों द्वारा सीचे हुए सिंध के प्रदेश मे जो अब पाकिस्तान मे सम्मिलित हैं गेहूँ बहुतायत से पैदा होता है।

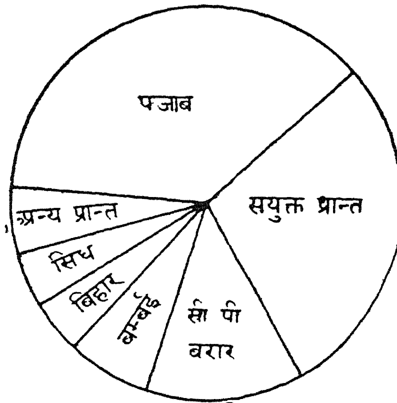
नवम्बर में गेहूँ बोया जाता है। उसकी तीन या चार बार सिंचाई होती है, और एप्रिल तथा मई मे जब अनाज खूब पक जाता है फसल काट ली जाती है।



हिन्दोस्तान में दो तरह का गेहूँ होता है—एक कड़ा और दूसरा नरम। कड़ा गेहूँ सूजी बनाने के और नरम गेहूँ आटा बनाने के काम आता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे भिन्न जाति का गेहूँ उत्पन्न किया जाता है किन्तु

अब तो पूर्वी पजाब, सयुक्त प्रान्त तथा मध्य प्रान्त में पूसा रिसर्च इंस्टिट्यूट द्वारा उत्पन्न किए गए अच्छे बीजों का खूब प्रचार हो गया है और किसान अधिकतर उत्तम बीज ही बोते हैं।

ससार मे भारतवर्ष गेहूँ उत्पन्न करने वाले प्रमुख देशों मे से है। अभी तक वह नियमित रूप से प्रतिवर्ष बहुत सा गेहूँ ब्रिटेन को भेजता रहा है। किन्तु पिछले वर्षों मे गेहूँ का बाहर भेजा जाना अनिश्चित हो गया है। जिस वर्ष फसल अच्छी होती है उस वर्ष गेहूँ विदेशों को भेजा जाता है नही तो किसी किसी वर्ष केवल नाम मात्र को ही बाहर जाता है। देश मे फसल खराब हो जाने पर गेहूँ बाहर से मँगाया भी जाता है।



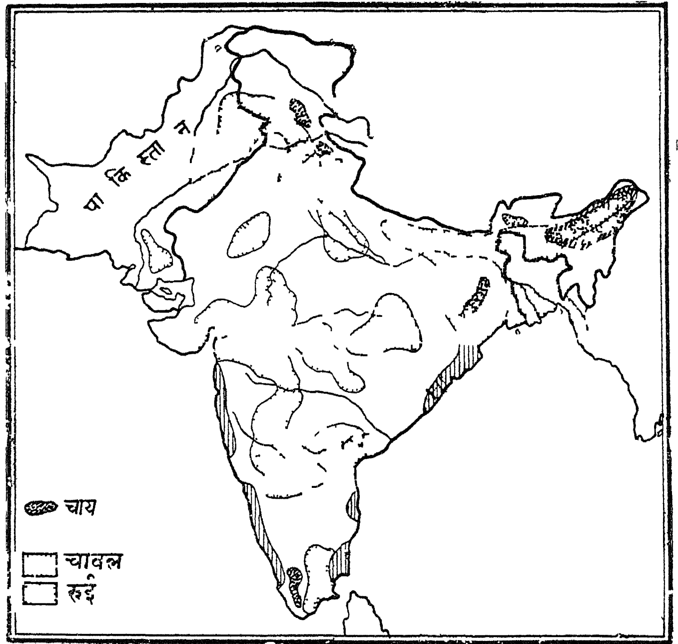
भारत में गेहूँ की पैदावार (प्रान्तों की पैदावार)

भारतवर्ष मे गेहूँ बाहर भेजने वाला मुख्य बन्दरगाह करॉंची है, क्योंकि वह पजाब और सिंध जो मुख्यतः गेहूँ उत्पन्न करने वाले प्रान्त हैं उनके समीप है। जितने क्षेत्रफल में गेहूँ बोया जाता है उसका ३० प्रति सैकड़ा भाग पाकिस्तान मे चला गया है। इससे भारत मे गेहूँ की और भी कमी हो गई है।

चावल (Rice)

चावल उष्ण कटिबन्ध की पैदावार है। एशिया के पूर्वीय देशों मे जहाँ मानसून से वर्षा होती है यह अत्यधिक उत्पन्न होता है। ससार मे चावल पर निर्वाह करने वालों की सख्या सबसे अधिक है। एशिया के पूर्वीय देशों का तो यह मुख्य भोजन ही है।

चावल की फसल के लिए उर्वरा भूमि आवश्यक है। यही कारण है कि चावल अधिकतर नदियों के डेल्टों तथा उनकी घाटियों और मैदानो मे उत्पन्न किया जाता है। क्योकि नदियाँ प्रति वर्ष नई मिट्टी लाकर उन खेतो मे जमा कर देती हैं जिससे खेतो की उपज बढ जाती है। अच्छी भूमि के साथ साथ चावल के लिए पानी और गरमी की खूब आवश्यकता होती है। यदि चावल के पौधे आरम्भ मे पानी मे डूबे रहे तो पैदावार अच्छी होती है। जिन प्रदेशों में वर्षा ६०" के लगभग रहता हो वह प्रदेश चावल की खेती के योग्य है। एक ही खेत से एक वर्ष में चावल की दो या तीन फसलें तक पैदा की जा सकती हैं। चावल की खेती दो प्रकार से होती है—एक बीज बोकर और दूसरा पौधे लगा कर। छोटी क्यारियों मे चावल बो दिया जाता है और जब पौधा कुछ बडा हो जाता है तो उसे जड सहित उखाड कर खेत मे रख देते हैं। चावल पहाडों पर भी उत्पन्न हो सकता है, किन्तु गरमी और वर्षा नितान्त आवश्यक है।



चावल उत्पन्न करने वाले देश बहुधा घने आबाद हैं। क्योकि चावल की पैदावार प्रति एकड और अनाजा से अधिक होती है। चीन तथा अन्य

पूर्वीय देशो मे असख्य जनसख्या केवल चावल और कढी पर ही निर्वाह करती है। किन्तु चावल गेहूँ की भाँति पुष्टिकर नहीं है।

भूसा सहित चावल धान कहलाता है। धान को साफ करने मे बहुत परिश्रम पड़ता है। गाँव मे किसान हाथ से ही कूट कर धान साफ कर लेते हैं। किन्तु बगाल, आसाम, तथा बर्मा मे धान साफ करने और उन पर पालिस करने के लिये बहुत सी मिलें खुल गई हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि हाथ का कुटा हुआ चावल पालिश किए हुए मिल के चावल से अधिक पौष्टिक होता है। किन्तु शहरों मे अधिकतर पालिश किया हुआ चावल ही खाया जाता है।

भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्तों मे चावल अधिक उत्पन्न होता है तथा वहाँ के निवासियों का यह मुख्य भोजन है। बगाल, आसाम, बर्मा, मद्रास तथा पश्चिमीय घाट चावल अधिक उत्पन्न करते हैं। इनके अतिरिक्त सिध का डेल्टा भी चावल उत्पन्न करने के लिए उपयुक्त है। यों तो सयुक्त प्रान्त, बिहार, बम्बई, पजाब, मध्य प्रान्त तथा अन्य प्रान्तो मे भी थोडा चावल उत्पन्न होता है किन्तु वहाँ की यह मुख्य पैदावार नहीं है। जितने क्षेत्रफल मे चावल बोया जाता है उसका २७·५ प्रतिशत भाग पाकिस्तान मे चला गया है। इससे भारत मे चावल की बहुत कमी हो गई है।

जौ (Barley)

जौ गेहूँ की ही जाति का अनाज है। किन्तु यह और अनाजों से अधिक कठोर होता है। साधारण भूमि पर भी जौ की अच्छी फसल उत्पन्न हो सकती है। जौ गरमी और सरदी खूब सहन कर सकता है। जौ की कुछ जातियाँ ऐसी हैं जो उत्तरी ध्रुव के समीप भी उत्पन्न हो सकती हैं और कुछ जातियाँ गरम देशों में भी उत्पन्न होती हैं। वैसे भूमध्य सागर (Mediterranean) की जलवायु मे जौ खूब पैदा होता है, पकने के समय वर्षा जौ के लिए हानिकर है।

हिन्दोस्तान मे जौ की खेती अधिकतर पजाब, सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त तथा मध्य भारत मे होती है। गेहूँ के साथ ही जौ की भी फसल पैदा की जाती है। जौ ग्रामो मे निर्धन जनता का मुख्य भोज्य पदार्थ है। यहाँ अधिकतर जौ का उपयोग खाने के लिए ही होता है न कि शराब बनाने मे। हिन्दोस्तान से बहुत कम जौ विदेशों को भेजा जाता है।

जुआर (Millet)

हिन्दोस्तान के उन हिस्सों की जहाँ पानी कम बरसता है यह मुख्य

फसल है। किसी-किसी प्रदेश मे किसानों के लिए जुआर गेहूँ से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। जुआर की फसल अनाज के अतिरिक्त किसानों के पशुओं को चारा भी देती है। पूर्वीय प्रान्तो को छोडकर जुआर सभी प्रान्तों मे उत्पन्न होती है। जुआर कमजोर जमीन पर भी पैदा होती है। इसकी फसल को अधिक पानी की आवश्यकता नही होती। किन्तु रेगिस्तान मे यह अच्छी तरह पैदा नही हो सकतो। चावल पैदा करने वाले प्रान्तों को छोड़ कर जुआर अन्य प्रान्तो के निर्धन किसानों का मुख्य भोजन है।

बाजरा

हिन्दोस्तान के अत्यत सूखे प्रदेशों का बाजरा मुख्य आधार है। बाजरा के लिए रेतीली भूमि चाहिये। बाजरे की फसल को सिंचाई की आवश्यकता नही होती, इस कारण पजाब, राजपूताना तथा मध्य भारत के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है। इन प्रान्तों के अतिरिक्त सयुक्त प्रान्त के पश्चिमी भाग तथा मध्यप्रान्त मे भी बाजरा खूब पैदा होता है।

चना (Gram)

चना रबी की फसल है और गेहूँ, जौ और सरसों के साथ भी बोया जाता है। चने के लिए सिंचाई की आवश्यकता नही होती किन्तु बोते समय भूमि में नमी होना आवश्यक है। चने के लिए मटियार भूमि उपयोगी है। यह सयुक्त प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रान्त तथा दक्षिण में उत्पन्न होता है।

मकई (Maize)

मकई की फसल के लिए लम्बी गरमी तथा कई बार वर्षा आवश्यक है। मकई की अच्छी पैदावार के लिए रेत मिली हुई मटियार भूमि की आवश्यकता होती है। एक साथ अधिक वर्षा मकई के छोटे पौधे को हानि पहुँचाती है परन्तु पौधे के बडे होने पर अधिक वर्षा से उसे हानि नहीं पहुँचती। संसार में सबसे अधिक मकई उत्पन्न करने वाले सयुक्त राज्य अमेरिका में मकई का उपयोग पशुओं को खिलाकर मोटा करने के लिए होता है क्योंकि वहाँ मास का धन्धा बहुत उन्नति कर गया है। किन्तु हिन्दोस्तान में तो वह केवल निर्धनों का मुख्य भोजन है।

दालें (Pulses)

भोज्य पदार्थों में दालों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में दाल भोजन का एक आवश्यक अग है। अरहर, चना, मटर, मसूर, मूँग तथा उर्द

मुख्य दालें अधिकतर ऊष्ण कटिबन्ध तथा शीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होती हैं। दालों को पैदा करने से खेतो की मिट्टी अधिक उपजाऊ हो जाती है क्योंकि दालों के पौधे मिट्टी में नाइट्रोजन जमा कर देते हैं।

तरकारी और फल (Vegetables and Fruits)

हिन्दोस्तान में अधिकतर हिन्दू शाकाहारी हैं और जो लोग मास खाते भी हैं उन्हें भी मास कम ही मिलता है। इस कारण हिन्दोस्तान मे तरकारी और फल अत्यत आवश्यक भोज्य पदार्थ हैं। प्रत्येक, भारतीय घर मे तरकारी (शाक) किसी न किसी रूप मे प्रति दिन खाई जाती है।

तरकारियों को उत्पन्न करने के लिये बहुत उर्वरा भूमि, यथेष्ट खाद और जल की आवश्यकता होती है। किन्तु तरकारियो के शीघ्र ही खराब हो जाने के कारण शहर तथा समीपवर्ती कस्बों के लिए ही तरकारियाँ उत्पन्न की जाती हैं। क्योंकि भारतवर्ष मे शीत-भण्डार (Cold Storage) की सुविधाये नही हैं और रेलें भी तरकारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान भेजने के लिए कुछ विशेष प्रबन्ध नही करती। सयुक्त राज्य अमेरिका मे तरकारियों और फलों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल फल और तरकारी की एक्सप्रेस ट्रेन दौडती है। यही कारण है कि भारत मे तरकारियों की पैदावार शहरों के आस पास ही होती है। जैसे जैसे गमनागमन के साधन अधिक उपलब्ध होते जावेंगे, वैसे ही तरकारी का व्यापार बढ़ता जावेगा और जहाँ की मिट्टी और जलवायु तरकारी उत्पन्न करने के उपयुक्त है वहाँ इसकी पैदावार बढती जावेगी।

फलों को उत्पन्न करने का धधा भारतवर्ष मे अभी उन्नत दशा में नहीं है। यदि प्रयत्न किया जावे और फलों की माँग बढ जावे तो लगभग सब प्रकार के फल इस देश मे उत्पन्न किए जा सकते हैं, क्योंकि यहाँ सब तरह की भूमि मौजूद है और गरम और सरद जलवायु भी पाई जाती है। यही कारण है कि हिन्दोस्तान मे जहाँ आम और केला इत्यादि ऊष्ण कटिबध के फल उत्पन्न होते हैं वहाँ सेव, अगूर, इत्यादि शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate zone) के भी फल उत्पन्न होते हैं।

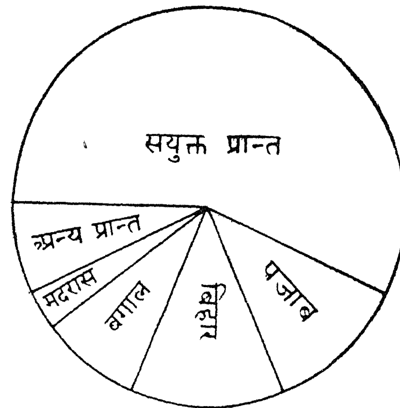
हिन्दोस्तान में कुछ ऐसे स्थान हैं जहाँ फलों की पैदावार वैज्ञानिक ढग से बडी मात्रा में की जाती है। पेशावर के समीप का प्रदेश, क्वेटा, चमन, तथा बिलोचिस्तान के अन्य भाग, पजाब की कूलू और कागडा की घाटियाँ, सयुक्त प्रान्त का कुमायूं पहाडी प्रदेश, मध्य प्रान्त तथा आसाम के वह भाग जहाँ नारगियाँ और सतरे उत्पन्न होते हैं और बम्बई का कोणकण प्रदेश जो

कि आम बहुतायत से पैदा करता है फल उत्पन्न करने मे मुख्य हैं। आम तथा बेर देश के बहुत बडे भाग मे पाये जाते हैं।

गन्ना

गन्ने से शक्कर तैयार होती है। प्रति वर्ष फूलने के पहिले ही गन्ना काट लिया जाता है परन्तु जड़ छोड दी जाती है। उसी जड़ से दूसरे वर्ष भी फसल तैयार हो सकती है। इस प्रकार एक बार गन्ना बोने से वह तीन वर्ष तक फसल दे सकता है। परन्तु पेड़ी से तैयार की गई फसल कमजोर होती जाती है, इस कारण दूसरे या तीसरे वर्ष फिर नया गन्ना बोया जाता है। कही प्रति वर्ष नई फसल बोई जाती है। बीज की जगह गन्ने के छोटे छोटे टुकडे करके खेत मे रख दिए जाते हैं।

गन्ने की फसल के लिये गरमी की बहुत आवश्यकता है। लम्बी गरमियाँ गन्ने की फसल के लिये लाभदायक होती हैं। केवल गरमी ही से फसल अच्छी नही हो सकती इसके लिए जल की भी आवश्यकता बहुत होती है। कम से कम ६० इंच वर्षा तो इसके लिये आवश्यक है, जहॉ वर्षा ६० इंच से कम होती है वहॉ सिचाई करनी पड़ती है।



गन्ना मार्च और एप्रिल मे बोया जाता है और फरवरी मे काटा जाता है। अब शक्कर की मिलें बहुत खुल जाने से दो प्रकार की फसलें तैयार की जाती हैं। एक तो जल्दी पकने वाला गन्ना जो नवम्बर और दिसम्बर में तैयार हो जाता है, दूसरा जो फरवरी, मार्च और एप्रिल मे तैयार होता है। संसार मे भारतवर्ष सब से अधिक गन्ना उत्पन्न करता है। १६२६

मे जब से विदेशों से आने वाली शक्कर पर संरक्षण कर लग गया है तब से भारतवर्ष मे सैकड़ों शक्कर के कारखाने खुल गए और गन्ने की पैदावार भी बहुत बढ गई ।

गन्ना सयुक्त प्रान्त और बिहार मे बहुत उत्पन्न होता है । इनके अतिरिक्त बगाल , पजाब , मध्य प्रान्त और मध्य भारत मे भी गन्ने की पैदावार होती है ।

चाय (Tea)

चाय एक प्रकार की झाड़ी की सूखी पत्ती है । सम्भवतः इसका मूल निवास स्थान चीन है । चीन मे तो चाय का प्रचार बहुत पुराने समय से था किन्तु योरोप मे इसका प्रवेश अट्ठारहवीं सदी मे हुआ और तब से इसकी माँग बराबर बढ़ती जा रही है ।

चाय का वृक्ष उष्ण कटिबन्ध मे ही उत्पन्न हो सकता है । इसकी पैदावार के लिये गरमी और जल की बहुत आवश्यकता है परन्तु यदि जल वृक्ष की जड के पास देर तक रहे तो वृक्ष को हानि पहुँच जाती है । इस कारण चाय ढालू पृथ्वी पर ही अच्छी तरह पैदा हो सकती है । पहाड़ी प्रदेश की ढालू भूमि जहाँ वर्षा खूब होती हो चाय की पैदावार के लिए उपयुक्त है । अच्छी पैदावार के लिए ६० इच वर्षा ठीक है परन्तु यदि ढाल अच्छा हो तो अधिक वर्षा भी लाभदायक हो सकती है । चाय की खेती के लिये केवल जलवायु और भूमि ही महत्वपूर्ण नहीं है, कुलियों की समस्या इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण है । कारण यह है , कि चाय की पत्तियाँ केवल हाथों से ही तोड़ी जा सकती हैं । इस कारण चाय की खेती मे बड़ी सख्या मे कुलियों की आवश्यकता होती है । जिन देशो मे कुली सस्ते दामों पर नहीं मिल सकते वहाँ जलवायु के अनुकूल होने पर भी चाय की खेती नहीं हो सकती ।

चाय की झाड़ी लगभग पाच वर्षो मे चाय उत्पन्न करने योग्य हो जाती है और ३० वर्ष तक पत्तियाँ देती रहती हैं । झाड़ की ऊँचाई लगभग आठ फुट होती है । कोहरा और ठडक पत्तियों को हानि पहुँचाती हैं परन्तु वृक्ष नष्ट नही हो सकता । चाय के लिये वनों को साफ करके निकाली हुई भूमि, जिसमे .बनस्पति का अधिक अश मिला हो, उपयोगी है ।

चाय बहुत तरह की होती है । भिन्नता केवल पत्तियों के छाँटने और चाय तैयार करने के ढग पर निर्भर है । भिन्न-भिन्न जाति के झाड़ों की

पत्ती की लम्बाई भिन्न होती है। लुशाई और कछार की पत्ती एक फुट लम्बी होती है और आसाम की केवल ६ इच लम्बी होती है।

वर्ष मे पत्तियॉ कई बार तोड़ी जाती हैं। चाय का अच्छा और बुरा होना पत्ती को तोड़ने के समय पर निर्भर है। बरसात के मौसम मे तोड़ी हुई पत्ती की चाय सबसे खराब होती है। पत्तियॉ बड़ी सावधानी से तोड़ी जाती हैं जिससे मुलायम पत्तियॉ दब कर खराब न हो जावें। यही कारण है कि पत्तियों को तोड़ने के लिये विशेषकर स्त्रियों को रक्खा जाता है।

हिन्दोस्तान और सीलोन ससार की ६० प्रतिशत चाय उत्पन्न करते हैं। आसाम, बगाल और दक्षिण भारत मे चाय बहुतायत से पैदा होती है। बर्मा भी बहुत चाय उत्पन्न करता है। सयुक्तप्रान्त मे भी चाय उत्पन्न होती है। ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने हिन्दोस्तान मे सारे चाय के बागों को अपने हाथ मे ले लिया। आज भी चाय का धधा विदेशी पूँजीपतियों के ही हाथ मे है। हिन्दोस्तान प्रतिवर्ष लगभग पच्चीस करोड रुपये से अधिक की चाय विदेशो को मुख्यतः ब्रिटेन को भेजता है। कुछ वर्षो से चाय की धधे की हालत अच्छी नही है और चाय के उत्पन्न करने वालों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है कि हिन्दोस्तान मे ही चाय की खपत बढाई जावे। यही कारण है कि टी-सेस-कमेटी कुछ वर्षों से हिन्दोस्तानियों को चाय पीना सिखाने के लिये खूब प्रचार कर रही हैं।

चाय की उत्पत्ति

प्रान्त	कुल उत्पत्ति का प्रतिशत
आसाम	५८%
बगाल	२५%
ट्रावकोर	८%
मदरास	७·५%
अन्य प्रान्त	१·५%

कहवा (Coffee)

कहवा एक झाड़ी के फल से तैयार होता है। कहवे के लिये बहुत उपजाऊ भूमि की आवश्यकता होती है। कहवे का वृक्ष गर्मी और अधिक जल चाहता है। किन्तु कहवे का पौधा जब वह छोटा होता है सूर्य की तेज धूप को सहन नही कर सकता है। इस कारण उसको बड़े बड़े पेड़ों की छाया मे उत्पन्न किया जाता है। कहवे का पेड़ कोहरा पड़ने से नष्ट हो

जाता है है इस कारण वह ठंडे देशों में उत्पन्न नहीं हो सकता। पहाडों की ढाल पर ही कहवे की पैदावार होती है। एक हजार से पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर पैदा किया जाता है और चालीस वर्ष तक फल देता रहता है। कहवे का पौधा जब नरसरी मे एक वर्ष का हो जाता है तब उसको बाग मे लगाया जाता है। एक वर्ष और बीत जाने पर उसको उपर से छाट देते हैं जिसमे कि वह अधिक न बढे। इसके उपरात वृक्ष में फल लगते हैं और प्रति वर्ष अक्टूबर से जनवरी तक फल इकट्ठे किये जाते हैं।

कहवे के फल (जिसे "चेरी" कहते हैं) मे गूदे के अन्दर दो बीज होते है। इन बीजो का कहवा बनता है। सब से पहिले मशीन की सहायता से गूदा हटा दिया जाता है और बीज निकाल लिए जाते हैं। गूदा अलग हो जाने पर उन बीजो को भूना जाता है जिससे कि उनके ऊपर वाला एक ऐसा पदार्थ नष्ट हो जाता है जो बीज को सूखने नही देता। फिर बीज को तलावो मे साफ किया जाता है और सूर्य की तेज धूप मे सुखाने के लिये डाल दिया जाता है। एक सप्ताह तक सूख चुकने के उपरात बीज की भूसी मशीन के द्वारा साफ करदी जाती है। भूसी साफ करने के उपरात बीजो को फिर सुखाया या गरम किया जाता है और अन्त मे उनको मिल मे पीसा जाता है। पिसे हुए कहवे को साफ करके बाजार मे बिकने के लिये भेज दिया जाता है।

दक्षिण के नीलगिरी पहाडी प्रदेश मे कहवा खूब पैदा होता है। मैसूर, कुर्ग, मदरास, कोचीन तथा ट्रावन्कोर मे मुख्यतया यह उत्पन्न होता है। अधिकतर भारतवर्ष मे कहवा ब्रिटेन को जाता है। पहले अग्रेज व्यवसायियों ने सीलोन मे बहुत से कहवे के बाग लगाये थे किन्तु कहवे के वृक्षो मे कीडा लग गया और सारे बाग नष्ट हो गये। तब से सीलोन मे कहवे के स्थान पर चाय के बाग लगाये जाने लगे।

कपास (Cotton)

कपास एक पौधे का फूल है जिसके रेशे से सूत तैयार होता है। मनुष्य कपास का जितना उपयोग अपने कपड़ो के तैयार करने मे करता है, शायद उतना उपयोग किसी दूसरी चीज का नहीं करता।

कपास ऊष्ण कटिबन्ध (Tropics) की पैदावार है। कपास की पैदावार के लिए गरमी और धूप की बहुत जरूरत होती है, परन्तु अधिक गरमी उसके लिए हानिकारक है। गरमी के दिनो मे साधारण वर्षा की आवश्यकता होती है। किन्तु अधिक वर्षा पैदावार कम करती है। पाला कपास को नष्ट कर देता है। कपास के लिए हलकी मटियार भूमि जिसमे चूना हो उप-

युक्त है। जिन देशों मे समय पर वर्षा नही होती वहाँ सिंचाई के द्वारा फसल उत्पन्न की जाती है। संसार मे सयुक्तराज्य अमेरिका, भारतवर्ष और मिस्र कपास उत्पन्न करने वालों मे मुख्य हैं।

हिन्दोस्तान की कपास अच्छी जाति की नहीं होती। इसका फूल बहुत छोटा होता है जिससे बारीक सूत तैयार नही हो सकता। अब हिन्दोस्तान मे भी अच्छी कपास (भडौच, सूरत इत्यादि जिलो मे) उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि यहाँ अच्छी कपास उत्पन्न होने लगे तो बढ़िया कपडा अधिक तैयार होने लगे।

कपास उत्पन्न करने वाले प्रान्तों मे बरार, खानदेश, मध्य भारत, मध्य प्रान्त, गुजरात तथा बम्बई का उत्तरी-पश्चिमी भाग मुख्य है। सयुक्तप्रान्त और पजाब मे भी कपास पैदा होती है। अखड भारत मे जितने क्षेत्रफल में कपास पैदा होता है उसका १३ प्रतिशत भाग पाकिस्तान में है।

कपास की उत्पत्ति

प्रान्त	कुल उत्पत्ति का प्रतिशत
बम्बई	३६%
पजाब (पूर्वी और पश्चिमी)	२३%
मध्य प्रान्त बरार	१४%
हैदराबाद (निजाम)	१०%
मदरास	८%
अन्य प्रान्त (सयुक्त प्रान्त सिंध, इत्यादि)	१६%

जूट (Jute)

जूट एक प्रकार के लम्बे पौधे का छिलका होता है। इस रेशेदार छिलके को कातकर सूत तैयार करते हैं और इसी के सूत से कैनवैस और टाट बुने जाते हैं। अनाज भरने के बोरे जूट के ही बने होते हैं।

जूट की खेती ससार मे केवल भारत और पाकिस्तान मे ही होती है। जितने क्षेत्रफल मे जूट बोया जाता है उसका ७३ प्रतिशत भाग पाकिस्तान में है। जूट की खेती के लिए बहुत ज्यादा पानी और गरमी की जरूरत होती है। जूट की खेती से भूमि बहुत जल्द कमजोर हो जाती है। इस कारण जूट की खेती उन्ही स्थानों पर की जा सकती है कि जहा हर साल नदियाँ उपजाऊ मिट्टी लाकर खेतों पर जमा कर देती हों। जो भूमि हर साल प्रकृति की सहायता से उपजाऊ मिट्टी पा जाती है वही जूट की खेती के लिए उपयुक्त है।

बगाल में गगा की बाढ से खेतों पर नई मिट्टी बिछ जाती है। यही कारण है कि बगाल ही अधिकतर जूट उत्पन्न करता है। पिछले वर्षों मे जूट की पैदावार बगाल मे इतनी बढ गई कि उसका मूल्य गिर गया और फिर भी जूट की खपत नहीं हो पाती थी। जूट के मूल्य गिरने तथा खपत न होने का एक कारण यह भी है कि अमेरिका, जर्मनो, जापान आदि देशों मे कागज तथा एक प्रकार के बनावटी जूट के बोरे का उपयोग जोर पकडता जा रहा है। अब पूर्वी बगाल के कृषि-विभाग ने जूट की खेती को कम करवाने का प्रयत्न किया है।

दो तिहाई जूट बगाल की जूट मिलों मे ही खप जाता है और शेष डडी (स्काटलैंड), जर्मनी और बेल्जियम को जाता है।

तिलहन (Oil Seeds)

भारतवर्ष ससार मे तिलहन उत्पन्न करने वाले देशो मे मुख्य है और प्रतिवर्ष करोड़ो रुपयो का तिलहन यह विदेशों को मुख्यतः फ्रास को भेजता है। तिलहन की मुख्य फसलें निम्नलिखित हैं:—सरसों, लाही, सन का बीज, बिनौला, तिल, अडी और मूँगफली, इनके अतिरिक्त नारियल और महुआ के फलों से भी तेल तैयार होता है।

रबर के बाग

भारतवर्ष ससार की दो प्रतिशत रबर उत्पन्न करता है। रबर दक्षिण भारत में उत्पन्न होती है। मदरास, कुर्ग, मैसूर, ट्रावकोर और कोचीन में रबर उत्पन्न होती है।

ट्रावकोर सबसे अधिक रबर उत्पन्न करता है। भारत मे उत्पन्न होने वाली रबर यूनाइटैड किगडम, सीलौन, हालैंड, स्ट्रेट सैटिलमैट को भेजी जाती है। कोचीन रबर को बाहर भेजने वाला मुख्य बन्दरगाह है। द्वितीय महायुद्ध के फल स्वरूप हिन्दोस्तान मे रबर की उत्पत्ति बहुत बढ गई है।

कृषि सम्बन्धी बाधाएँ—भारत मे प्रति एकड फसलो की उपज अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। कृषि विभाग के अफसर जमीन पर नए तरीकों से खेती करके दुगनी उपज पैदा कर लेते हैं। किसानों की असुविधाएँ दूर करने से फसल बहुत बढाई जा सकती है। भारतवर्ष मे कृषि-सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बाधाएँ ये हैं :—

१—किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। उन्हे व्याज बहुत देना होता है। गैर-मौरूसी, और शिकमी दर-शिकमी काश्तकारों से लगान बहुत लिया जाता है।

२—उनकी जमीन बहुत छोटे-टुकड़ों में विभक्त है, जो बहुधा दूर-दूर भी हैं।

३—बहुत सी भूमि बजर है, या परती छोड़ दी जाती है।

४—देश के कई भागों मे सिचाई के साधन नहीं हैं।

५—उत्तम बैल, बीज, खाद और औजारो की कमी है।

६—यहाँ बढिया और नई किस्म की चीजे पैदा नही की जाती।

किसानों की निर्धनता और निरक्षरता—अब हम उपर्युक्त बाधाओ के निवारण के सम्बन्ध मे क्रमशः विचार करते हैं। किसानों की निर्धनता अधिक है। उनकी आय का बडा भाग लगान और सूद में चला जाता है। इन दोनों मद्दो मे कमी होनी चाहिए। इस विषय मे सविस्तार आगे प्रसगानुसार लिखा जायगा। इसके अतिरिक्त, वर्तमान अवस्था में किसान अपनी शेष आय का खासा भाग मुकदमेबाजी, या विवाह-शादी और मृतक भोज आदि सामाजिक कार्यो मे खर्च कर डालते हैं, इसे भी कम करने की आवश्यकता है। इसमे विशेष सफलता, किसानों मे ज्ञान का प्रसार होने पर मिलेगी। उनकी शिक्षा कैसी हो, यह पहले बताया जा चुका है।

खेतों के छोटे-छोटे और दूर दूर होने को रोकने के उपाय—भारतवर्ष मे बहुत से खेतों का क्षेत्रफल एक एक, दो दो एकड भी नहीं है। कितने ही खेतो का विस्तार तो केवल आधा-आधा एकड ही है, अथवा इससे भी कम। इसके अतिरिक्त अनेक किसानों के पास एक से अधिक खेत हैं, जो प्रायः एक दूसरे से दूर-दूर पर हैं। इससे काश्तकारों को बहुत नुकसान होता है—आने जाने मे उनका बहुत सा समय नष्ट हो जाता है, उन्हे वैज्ञानिक यत्र इत्यादि का उपयोग करने मे बहुत असुविधा होती है तथा वे उससे यथेष्ट लाभ नही उठा सकते, रखवाली करने मे बहुत दिक्कत होती है, उन खेतों की मेड़, तथा उनमे जाने के लिए रास्ता बनाने मे और उनमे नहर से पानी ले जाने मे बड़ी अडचन पडती है, और काश्तकारों का पारस्परिक झगडा भी बढता है। इन हानियो का मिटाना आवश्यक है, और उसका एक मात्र साधन यह है कि प्रत्येक किसान की जोत के खेत एक स्थान मे एक में—एक चक मे—हो जायें और भविष्य मे उनका छोटे छोटे टुकड़ों मे बाँटा जाना कानूनन रोक दिया जाय। इसकी विधि यह है कि जिस गॉव के किसान चकबदी के लाभ समझ जाते हैं वहाँ चकबदी सहकारी समिति सब किसानों से प्रायः चार वर्ष तक के लिए त्याग-पत्र लिखा लेती है। फिर, सब जमीन के चक बनाकर वे किसानों में उचित परिमाण मे इस तरह बॉट दिये जाते हैं कि प्रत्येक किसान की भूमि

एक ही स्थान मे हो जाय। और, हर एक किसान को दी जानेवाली भूमि का मूल्य उतना ही हो, जितना पहले उस किसान की जमीन के विविध टुकडों का था। इस भूमि विभाजन मे सहकारी समिति के दो तिहाई सदस्यो का सहमत होना आवश्यक है। चार वर्ष के बाद, यदि किसी किसान का विरोध न हो (और, प्रायः विरोध नहीं होता) तो उक्त भूमि विभाजन की व्यवस्था स्थाई कर दी जाती है।

आजकल खेतों के बटवारे का मुख्य कारण हिन्दू और मुसलमानो का दाय विभाग कानून है। इस कानून मे ऐसा परिवर्तन हो जाना चाहिए कि किसी हकदार को खेत के उतने भाग से कम मिलना नाजायज समझा जाय जितने से उसके परिवार का पोषण हो सके।* और, जब कोई ऐसा प्रसग आए, तो पूरा खेत सब हकदारों मे ही नीलाम कर दिया जाय। जो उनके लिए सब से ज्यादा रुपए देने को तैयार हो, उसी को वह खेत मिले और दूसरे हकदारों को उनके हिस्से के अनुसार रुपया दिला दिया जाय। हम सारी जमीन बडे लडके को दिए जाने के पक्ष मे नही हैं। ऐसा करना हिन्दू और मुसलमान, दोनो के धर्म-शास्त्रो के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा। उपर्युक्त थोडे-से परिवर्तन से ही अभीष्ट सिद्धि हो सकती है।

बंजर भूमि—भारतीय सघ मे फी सैकडे लगभग १८ भूमि ऐसी है जो कृषि योग्य, किन्तु बजर है। यह आसाम, मध्य प्रात, पजाब, मद्रास, सयुक्त प्रात आदि विविध प्रातो मे है। विज्ञान की सहायता से इस भूमि की समस्या बहुत कुछ हल हो सकती है। मिट्टी का परीक्षण और विश्लेषण करके यह मालूम किया जाता है कि इसमें कौन कौन से तत्व किस परिमाण में विद्यमान हैं, कृषि को दृष्टि से उसका कौन सा तत्व अधिक है, और कौन-सा कम। पश्चात् उसमे ऐसा कृत्रिम तथा रासायनिक खाद दिया जाता है, जिसमे विविध तत्वों का अनुपात ऐसी मात्रा मे हो जाय कि उस मिट्टी मे कोई उपयोगी फसल भली भाँति पैदा हो सके। जर्मनी आदि देशो मे यह कार्य बहुत सफलतापूर्वक किया गया है। भारतवर्ष मे भी इसके प्रयोग की बहुत आवश्यकता है। यहाँ कुछ स्थानों मे यह अनुभव किया गया है, कि जिस भूमि मे खार अधिक हो, उसमे गुड के शीरे का खाद

*देश के भिन्न-भिन्न भागों की भूमि की उत्पादकता पृथक् पृथक् होने से प्रत्येक किसान के लिए समान भूमि निर्धारित करना उचित नही हो सकती है। एक जगह चार पॉच एकड भूमि की उपज इतनी हो सकती है जितनी अन्य स्थान की दस बारह या इससे भी अधिक एकड भूमि की।

देने से वह काफी उपजाऊ हो सकती है। युक्त प्रात की तराई और गगा खादर मे हजारों बीघा जमीन ट्रेक्टरो के उपयोग से खेती करने लायक बनाई जा रही है। बुदेल खड और मध्य प्रात के कुछ जिलों मे हजारो बीघा जमीन कास के कारण खेती लायक नही रह गई है। ट्रेक्टरों द्वारा ये कास उखाडे जा रहे हैं और जमीन सरकारी प्रयत्नो से खेती के लायक बनाई जा रही है।

परती भूमि का उपयोग—यहाँ प्रति वर्ष लगभग १० फी सैकडे भूमि ऐसी होती है, जिस पर एक फसल बोकर बाद मे उसे परती छोड़ दिया जाता है जिसमे वह आराम करले और उसके जो-जो तत्व फसल बोने से चले गए हैं, वे वायुमडल द्वारा उसमे आ जायें। विचार पूर्वक फसलों को हेर फेर से बोने का सिद्धात काम मे लाने से परती भूमि पर फिर खेती की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि मे एक फसल के बाद दूसरी ऐसी फसल बोई जाय, जो उन तत्वो को लेनेवाली हो, जो पहली फसल के तैयार होने के बाद शेष हो। इस बीच मे वायुमडल द्वारा अन्य तत्वों की पूर्ति हो जायगी। उदाहरणार्थ मकई, नील या सन के बाद गेहूँ, ज्वार के बाद चावल और ज्वार-बाजरे या गेहूँ के साथ साथ दालें या तेलहन बोए जा सकते हैं। इस प्रकार भूमि सारे वर्ष जोती जा सकती है, और निरर्थक परती छोडनी नहीं पडती।

गहरी (Intensive) और विस्तृत (Extensive) खेती—कृषि के सम्बन्ध मे एक प्रश्न प्रायः विचारणीय होता है। कल्पना करो कि एक किसान के पास पाँच एकड़ भूमि है, उसमे वह अपने लकड़ी के हल तथा एक जोड़ी बैलो से खेती करता है और उसमे निर्धारित परिमाण मे अन्न की उत्पत्ति होती है। अब, यदि किसी कारण से अन्न की माँग बढ जाय तो किसान के सामने दो मार्ग होते हैं, (क) वह अधिक भूमि मे खेती करे, श्रम और पूँजी का परिमाण पहले की भाँति ही रखे। इसे विस्तृत खेती कहते हैं। (ख) यह सम्भव है कि उसे अधिक भूमि न मिल सके, अथवा अधिक भूमि का उपयोग करना उसे लाभप्रद न हो और वह उसी भूमि मे खेती करे, परन्तु श्रम और पूँजी की मात्रा बढा दे। वह लोहे के बढिया हल का उपयोग करे, जिनमे बैल भी एक जोडी की अपेक्षा दो जोड़ी लगें, साथ ही वह अपनी सहायता के लिए एक और भी श्रमजीवी को रखले। और इस प्रकार विस्तृत खेती की जगह गहरी खेती करने लगे।

(१) आस्ट्रेलिया जैसे नये देशो मे जहाँ भूमि खूब होती है, खेत प्रायः बड़े होते हैं। इसके विपरीत, भारतवर्ष या चीन जैसे प्राचीन देशों

मे वे छोटे होते हैं। पुनः पहाड़ी भूमि की अपेक्षा समतल मैदानों में बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सम्भावना अधिक होती है।

(२) बगीचे आदि का काम ऐसा है कि उसके लिए खेत छोटा होने मे सुविधा होती है, जिससे उस पर यथेष्ट ध्यान दिया जा सके। इसके विपरीत गन्ने या कपास की फसल के लिए बडे बडे क्षेत्रों की आवश्यकता होती है।

(३) जलवायु तथा आबपाशी का भी खेतो के आकार पर बडा प्रभाव पड़ता है। जहाँ आबपाशी कुएँ या तालाब से होती है, वहाँ खेत छोटे छोटे ही होगे।

(४) उत्तराधिकार के कानून का असर भी इस प्रसग मे विचारणीय है। भारतवर्ष मे पैत्रिक सम्पत्ति का सब पुत्रों मे बॅट जाने से खेत कैसे छोटे-छोटे टुकडो मे बट गए हैं, हम इसी अध्याय मे चकबन्दी के प्रसग में उल्लेख कर चुके हैं।

बडे खेतो मे वैसी बचत और लाभ होता है, जैसा बड़ी मात्रा की उत्पत्ति मे पहले बताया जा चुका है। पूजी सुगमता से, कम व्याज पर मिल सकती है, श्रम विभाग का अधिक उपयोग किया जा सकता है, अच्छे बढिया यत्रों का उपयोग, फसलो के हेर-फेर, वैज्ञानिक खेती, विक्रय की सुविधा भी इसमें विशेष होती है। हॉ, खेतों के आकार बढने की एक सीमा है, बड़े क्षेत्र का निरीक्षण अच्छी तरह नही हो सकता। फिर, क्योकि खेती का काम बारहों महीने नहीं होता, खास खास ऋतुओं और महीनो मे होता है, अतः श्रम-विभाग का इतना उपयोग नहीं हो सकता जितना कल-कारखानों में होता है। बडे बडे खेतों की पद्धति मे कुछ सामाजिक दोषो को सम्भावना रहती है, जमीदार अपनी भूमि से दूर रहता है, वह उसकी उन्नति की ओर यथेष्ट ध्यान नही देता, धन का वितरण असमान रूप से होता है, और किसानो मे असन्तोष बढता है।

अब छोटे छोटे खेतो की बात लोजिये। छोटा काश्तकार अपनी काम की ओर स्वय ध्यान देता है। भूमि बहुत से व्यक्तियों मे बॅटने से, सम्पति के वितरण की असमानता विशेष नही होती। हॉ, किसान, प्रायः पुराने विचारो के हुआ करते हैं, इस प्रकार छोटे खेतों की पद्धति से देश मे पुरातनवादी, दाकियानूसी, भाग्यवादी व्यक्तियो की अधिकता होती है। अगर किसान लोग सहकारिता से काम करे, तो उन्हे खेतो के छोटे होते हुए भी बडी मात्रा की उत्पत्ति के कई लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

खेती के पशुओं आदि का सुधार—भारतवर्ष मे खेती पशुओं और विशेषतया बैलों द्वारा होती है। यहाँ इनकी दशा कैसी है, यह पहले बताया जा चुका है। इनकी नस्ल सुधारने, इनके लिये चरागाहों का प्रबन्ध होने और स्वय किसानो की आर्थिक दशा ऐसी होने की आवश्यकता है कि वे इन्हे भली भाँति पुष्टिकर भोजन दे सके, स्वास्थ्यप्रद वातावरण मे रख सके और आवश्यकता होने पर उनकी चिकित्सा आदि की समुचित व्यवस्था कर सके।

वर्तमान अवस्था मे बहुत कम किसान अच्छे बढिया बीज, खाद और औजारों का उपयोग करते हैं। सहकारी समितियों, तथा सरकारी कृषि विभाग से इस विषय मे यथेष्ट सहायता मिलनी चाहिए।

बढ़िया तथा नई किस्म की चीजों की उत्पत्ति—हमारे किसान जैसे तैसे पैदावार का परिमाण बढाने की तो फिक्र करते हैं, परन्तु उसे बढिया तरीके से करने की ओर प्रयत्नशील नहीं होते। अन्य अनेक देशों मे कई खाद्य पदार्थ तथा अन्य कृषि-जन्य पदार्थो का रूप रग और आकार आदि बदल कर उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ा दी गई है, और दूसरे पदार्थों के सम्बन्ध मे ऐसा प्रयत्न किया जा रहा है। भारतवर्ष में ऐसा सफल प्रयत्न विशेषतया रुई मे हुआ है। अब यहाँ मिश्र की तरह की रुई पैदा की जाने लगी है, जिसका सूत बहुत महीन होता है। सरकारी फार्मो मे कुछ अन्य पदार्थों के प्रयोग हुए हैं, पर अभी जनता मे उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ।

भारतीय कृषक अपने रोजमर्रा के काम और चिन्ताओं मे ही व्यस्त रहते हैं, वे यह नही सोचते-विचारते कि उनके खेत मे कोई ऐसी नई वस्तु भी पैदा हो सकती है जो उनकी आय को बढाने के साथ जनता के लिए भी बहुत उपयोगी हो। कुछ समय से ग्राम-उद्योग-सघ, जिसके सम्बन्ध मे अगले परिच्छेद मे लिखा जायगा, ऐसे प्रयोग कर रहा है। पिछले दिनो उसने 'सोयाबीन' के गुणों की परीक्षा की, और किसानों को उसकी खेती के लिए प्रोत्साहित किया। इस दिशा मे कार्य करने के वास्ते बहुत क्षेत्र पड़ा है। उत्साही व्यक्तियों को पारस्परिक सहयोग पूर्वक उद्योग करना चाहिये।

कृषि और सरकार—भारतवर्ष मे यह बात अति प्राचीन काल से मानी जाती है कि राज्य को कृषि की उन्नति और कृषकों के उत्थान मे यथेष्ट भाग लेना चाहिये। हिन्दू राजा तो इस ओर अपना महान् कर्तव्य पालन करते ही थे, मुसलमान शासकों ने भी देश की आर्थिक उन्नति के लिए इस

दिशा में समुचित प्रयत्न किया। अंग्रेजी शासन मे एक विशेष सरकारी विभाग द्वारा कृषि की उन्नति करने का विचार सर्वप्रथम सन् १८६६ ई० में, उड़ीसा मे अकाल पड़ने के अवसर पर हुआ। सन् १८८० के दुर्भिक्ष-कमीशन ने भी इस विषय की सिफारिश की। फल-स्वरूप विविध प्रांतों मे कृषि-विभाग स्थापित किए गए, परन्तु बहुत समय तक इनसे विशेष कार्य न हुआ। सन् १६०५ ई० में इन विभागों के सगठन तथा आर्थिक स्थिति मे सुधार किया गया, और एक केन्द्रीय कृषि विभाग (बोर्ड) स्थापित किया गया। इस विभाग के प्रयत्नों से, विशेषतया भिन्न भिन्न प्रकार की जमीनो मे उचित खादों का उपयोग, अच्छे बीज, पौदो के रोग और उनके निवारण, नई तरह के औजारों के उपयोग, पशु-चिकित्सा और नए तरीको से खेती करने के सम्बन्ध में कई उत्तम बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है, परन्तु जनता मे उनका यथेष्ट प्रचार नहीं हो पाया है। बात यह है कि इस विभाग के कार्यक्रम का ढग बहुत ही खर्चीला और आडबरपूर्ण है, और वह यहाँ की कृषक-जनता के लिए यथेष्ट उपयोगी नहीं। यदि कृषि विभाग जनता के प्रति उत्तरदायी होकर अपना उचित कर्तव्य पालन करे, तो उसकी उपयोगिता बढ़ सकती है।

सन् १६२६ ई० मे यहाँ एक शाही कृषि कमीशन नियत हुआ था। उसने अपनी रिपोर्ट में कृषि सम्बन्धी उन्नति, अनुसधानो, भूमि-विभाजन, कृषि-प्रदर्शनियों (नुमायशों), पशु-चिकित्सा, आबपाशी, देहाती जीवन, कृषि शिक्षा, सहकारी-साख सभाओं और कृषि-सम्बन्धी नौकरियो पर अपने विचार प्रगट किए थे। इस रिपोर्ट के आधार पर एक कृषि-कौंसिल बनाई गई है, जिसका कर्तव्य कृषि की उन्नति का विचार करना है। सन् १६३५ ई० से भारत सरकार ग्रामोन्नति के लिए कुछ कार्य करने लगी। सन् १६३७ ई० से प्रान्तों मे नये विधान के अनुसार बहुत कुछ उत्तरदायी शासन की स्थापना हो जाने पर, प्रान्तीय सरकारें अपने परिमित साधनों के अनुसार इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं। अब महायुद्ध समाप्त हो जाने से यह आशा की जाती है कि प्रान्तीय सरकारें खेती की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देंगी और ग्रामवासियों की दशा सुधरेगी।

भूमि-सुधार—भारत के स्वतन्त्र होने के बाद इस बात की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है कि अधिक-से-अधिक भूमि मे खेती की जाय, जो भूमि कुछ सुधार करने से खेती के योग्य हो सके, उसमे सुधार किया जाय। इस विषय पर प्रान्तीय सरकारें अपने अपने प्रान्त की भूमि के भेद के अनु-सार विचार कर रही हैं। उदाहरण के लिए बम्बई प्रान्त मे खार-भूमि की

रक्षा और उन्नति, तथा ज्वार-भाटा वाली भूमि का निर्माण तथा मरम्मत करने का निश्चय किया गया है। इस कार्य के लिए एक उत्तरदायी समिति बना दी गई है। इस प्रकार वहाँ उस सैकड़ों एकड़ भूमि का खेती के लिए उपयोग हो सकेगा, जो इस समय जमीदारों और किसानों की उपेक्षा से बेकार पड़ी है। इसी प्रकार के प्रयत्न अन्य प्रान्तों मे चल रहे है।

ट्रेक्टरों का उपयोग—देश के विविध भागों मे बड़े-बडे ट्रेक्टरों और हलों द्वारा बडे परिमाण मे भूमि सुधार किया जाने लगा है। इस प्रकार की योजनाएँ सयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त और मत्स्य सघ मे जारी की गई हैं। अब तक प्रान्तो को लगभग ४५,००० एकड़ भूमि के सुधार करने मे सहायता दी गई है। किन्तु ऐसा अनुमान है कि आवश्यक मशीनरी और अन्य सामान प्राप्त करने मे कठिनाइयाँ होने के कारण आगामी पाँच-छः वर्षो मे ६० लाख एकड से अधिक भूमि का सुधार करना सम्भव न होगा, इसके लिए भी १०० और मशीनें खरीदनी होंगी। ससार की उत्पादन और माँग की वर्तमान स्थिति मे १८ मास की समाप्ति पर ३००, और उसके बाद प्रति वर्ष ३००, से अधिक मशीनें प्राप्त करने की आशा नही है। इन मशीनो के साथ भूमि-सुधार के आवश्यक भारी हलों को भारत मे बनाना सम्भव है, किन्तु उसके कुछ हिस्सों को फिर भी बाहर से मँगवाना होगा।

कृषि-यन्त्रीकरण और बैल—कितने ही कृषि-विशेषज्ञो और सस्थाओं का मत है कि भारतवर्ष मे कृषि मे ट्रेक्टर और हारवेस्टर मशीनों का उपयोग किया जाय। परन्तु क्या भारतवर्ष मे, मशीनें बैलो का स्थान ले सकती हैं। मशीनों के विदेशों से आने की कठिनाई का उल्लेख पहले किया गया है। फिर, उन्हे चलाने के लिए पेट्रोल की आवश्यकता होती है। उसके लिए भी हमे दूसरे देशों के आश्रित रहना पडता है। पेट्रोल की जगह कोयले, या बिजली शक्ति का प्रयोग व्यावहारिक नही है। यह भी विचारणीय है कि पच्चीस से तीस घोड़ों की शक्ति वाले ट्रेक्टर का उपयोग करने के लिए, डेढ़ सौ से दो सौ एकड तक भूमि होनी चाहिए: और इस भूमि मे फसलों का परिवर्त्तन-क्रम इस प्रकार होना चाहिए कि वर्ष मे कम-से-कम अट्ठारह सौ घण्टे ट्रेक्टर का उपयोग हो सके। इसके लिए आवश्यक है कि भूमि की पूरी सिंचाई हो, और उसमे दो फसलें हों। वर्तमान अवस्था में यह व्यावहारिक नही है।

हमारे देश में इगलैंड, अमरीका की तरह मनुष्य शक्ति की कमी नहीं है, यहाँ तो मनुष्य-शक्ति का यथेष्ट उपयोग करने की ही समस्या बनी हुई है।

हमे घरेलू उद्योग-धन्धों की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति को काम मिल सके। ट्रैक्टर आदि से तो बेकारी बढती है।

इस प्रकार भारतीय-कृषि मे ट्रैक्टर आदि यन्त्रों को विशेष स्थान नही दिया जा सकता। कुछ खास दशाओं मे, और बहुत परिमित सीमा तक ही इनका उपयोग किया जाना चाहिए। निस्सदेह यहाँ कुछ उन्नत एव आधुनिक यत्रों का उपयोग होना आवश्यक है, परन्तु हमे सदैव स्मरण रखना चाहिए कि वे यत्र ऐसे ही हो जो मनुष्य-शक्ति के उपयोग मे बाधक न हो, यहाँ बेकारी न बढावे। इन यत्रो की मरम्मत की व्यवस्था स्थान स्थान पर होनी चाहिए, और कुछ समय मे तो ये यत्र ही यहाँ बनने लगे, ऐसी योजना होनी चाहिए। निदान, हमे बैलों की नस्ल सुधारने और उनकी सख्या बढाने की बहुत आवश्यकता है। उसके साथ ही हमे उनके लिए अच्छा चारा उगाने की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिए। स्मरण रहे कि अच्छे बैलो की सख्या बढने से कोई हानि नही है, वरन् लाभ ही है, जैसा कि एक अँग्रेज कृषि-विशेषज्ञ का कथन है, अधिक चारे की उत्पत्ति सम्भवत. कृषि की उपज में उन्नति एव वृद्धि करेगी। अधिक चारे का अर्थ हुआ अधिक खाद और भूमि की अधिक उत्पादन शक्ति।

खाद्य उत्पादन बढ़ाने की योजनाएँ—स्वतत्र भारत की सरकार को खाद्य उत्पादन बढाने की बहुत चिन्ता है। इसका विचार करने के लिए उसने खासकर निम्नलिखित समितियाँ बनाई हैं। 'खाद्य-उत्पादन समिति' अधिक खाद्य उत्पन्न करने और उत्पादन मे होने वाली बाधाओं को दूर करने का विचार करेगी। दूसरी समिति खेती की पैदावार के मूल्य मे स्थिरता रखने का विचार करेगी। तीसरी समिति कृषि सम्बन्धी आँकडे तैयार करने के लिए बनी है। चौथी समिति का उद्देश्य भारत सरकार की वन-नीति पर विचार करना है।

प्रान्तीय सरकारे अपने-अपने क्षेत्रो मे विविध योजनाओ को अमल मे लाने का प्रयत्न कर रही हैं। उदाहरण के लिए मध्य प्रान्त की सरकार ने जो योजनाएँ तैयार की हैं, उनमे से कुछ ये हैं :—(१) सन की हरी खाद को योजना। (२) खली की खाद की योजना। (३) रासायनिक खाद की योजना। (४) कचरे, कूडे और मैले से (कम्पोस्ट) खाद तैयार करके उसके वितरण की योजना। (५) नई तोड़ी हुई पड़ती जमीन मे चने की फसल पैदा करने की योजना। (६) गेहू, चना, धान, मूँगफली और आलू आदि फसलो के लिए बीज के वितरण की योजना। (७) तरकारी, भाजी आदि के वितरण की योजना। (८) सिचाई के लिए पुराने कुओं की मर-

स्मत की योजना। (९) जमीन को फसली बनाने के लिए बॉध बॉधने की योजना। (१०) सिचाई के लिए छोटे-छोटे तालाबों को खोदने की योजना।

सयुक्त प्रान्त की सरकार ने गत वर्ष खासकर निम्नलिखित तीन आन्दोलन चलाए :—(१) खाद (कम्पोस्ट) निर्माण आन्दोलन (२) तालाबो को गहरा करने का आन्दोलन (३) वृक्षारोपण का आन्दोलन।

इसी प्रकार अन्य प्रान्तों की सरकारें भी खेती की उपज बढाने के लिए प्रयत्नशील हैं। यथेष्ट खाद्य प्राप्त करने का प्रश्न इतने महत्व का है कि उसमे सरकार और जनता को पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए। इस दृष्टि से एक सुझाव यह भी है कि देश भर के डाक-बँगले, शिक्षा सस्थाएँ, मौसमी कारखाने, न्यायालय, रेलवे स्टेशन आदि की वह सब भूमि जिसमे आसानी से खाद्यान्न उत्पन्न हो सकता हो, इस काम में लाई जानी चाहिये। आशा है स्वतत्र भारत शीघ्र ही अपने खाद्य पदार्थों के लिए ही नही, खेती की अन्य पैदावार के वास्ते भी स्वावलम्बी होगा। हमारा आदर्श तो यह है कि हम यथा-सम्भव अन्य देशो की भी सहायता करे, हमे स्वय दूसरो की सहायता का आसरा ताकना तो कदापि शोभा नही देता।

कृषि की व्यवस्था—कृषि के सम्बन्ध मे, उत्पत्ति के अन्य साधनो भूमि, श्रम, और पूँजी के विषय मे पहले कहा जा चुका है। व्यवस्था के सम्बन्ध मे यहाँ कुछ विशेष उल्लेखनीय है। जब बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होती है, और औद्योगिक व्यवस्था बढती जाती है, तथा यातायात के साधनो की उन्नति होने लगती है तो फसलो का व्यापारिककरण बढता जाता है अर्थात् फसलो की पैदावार का लक्ष्य खाद्य वस्तु की उन्नति की अपेक्षा व्यापार होने लगता है। ऐसी चीजे पैदा करने की ओर ध्यान अधिक दिया जाने लगता है, जिनसे आय अधिक हो, चाहे उन्हे दूर दूर भेज कर बेचना हो। भारतवर्ष मे अभी किसानों को ऐसा ज्ञान तथा अनुभव नही हुआ है कि वह अपनी जोती जाने वाली भूमि का बाजार की बदली हुई आवश्यकता के अनुसार फसलो मे उचित विभाजन करे। उदाहरणार्थ सयुक्त प्रान्त मे चीनी के कारखाने बढ जाने से किसानो को खेतो मे गन्ने की काश्त करना लाभदायक होने लगा। इस पर किसानों ने इसकी खेती बढाने मे बहुत जल्दाबाजी से काम लिया, इसका परिणाम यह हुआ कि गन्ना इतना पैदा होने लगा कि कारखानो में उसका उपयोग न हो सका। यदि सरकार द्वारा गन्ने की कीमत निर्धारित न की जाती तो गन्ने की खेती करने वालो की दशा बहुत दयनीय हो जाती।

अभ्यास के प्रश्न

१—गहरी खेती से आप क्या समझते हैं ? यू० पी० मे किस हद्द तक गहरी खेती की जाती है, तथा इसकी उन्नति की क्या सभावना है ? (१६३३)

२—यह बताइये कि विस्तृत खेती किसे कहते हैं ? भारत मे विस्तृत खेती का कितना उपयोग होता है, और इस उपयोग के बीच क्या अडचनें पडती हैं ? (१६२६)

३—कृषि सम्बन्धी प्रधान बाधाओं का वर्णन कीजिये और उनके दूर करने के उपाय सक्षेप मे बताइये ।

४—खेतों की चकबन्दी की एक व्यावहारिक योजना लिखिये ।

५—युक्त प्रान्त की सरकार किसानो की दशा सुधारने के जो प्रयत्न कर रही है उनका वर्णन कीजिये ।

६—पूर्णरूप से समझाइये और बतलाइये कि भिन्न भिन्न परिस्थितियों मे खेती मे किस प्रकार सुधार किया जा सकता है ?

७—पूँजी और श्रम प्रधान (Intensive) तथा भूमि प्रधान (Extensive) खेती करने मे क्रमागत ह्रास नियम किस प्रकार लागू होता है ? खेती मे श्रम और पूँजी के सीमान्त मात्रा को समझाइये । (राजपूताना १६३८)

८—गेहूँ और चावल की पैदावार भारत के किन किन भागों मे होती है । उसकी कमी के मुख्य कारण क्या हैं ?

बीसवाँ अध्याय

घरेलू उद्योग-धन्धे

पिछले अध्याय मे खेती का विचार किया गया । किन्तु, केवल कृषि-जन्य वस्तुओं से ही हमारा काम नहीं चल जाता, हमें अनेक प्रकार के तैयार माल की भी जरूरत होती है, इसलिए उसकी उत्पत्ति की जाती है । दस्तकारियों और उद्योग धन्धों का, खेती से घनिष्ठ सबध है, कारण कि इनके लिए जो कच्चा माल आवश्यक होता है, वह खेती से ही मिलता है । कृषि-सबध मे विचार कर चुकने पर अब हम घरेलू उद्योग-धन्धो पर विचार करते हैं । बडे उद्योग-धन्धों का विचार पहिले ही हो चुका है ।

भारतवर्ष में छोटी दस्तकारियों की विशेषता—भारतवासी अधिकाश तैयार पदार्थ अब विदेशों से मॅगाते हैं। वह जमाना गया, जब यहाँ की बनी चीजें दूर दूर तक आदर, आश्चर्य और ईर्षा की दृष्टि से देखी जाती थी। किस प्रकार कम्पनी के समय ने हमारे उद्योग धन्धो का ह्रास हुआ, और हमारी जगत्-विख्यात कारीगरियाँ नष्ट की गई। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यहाँ की औद्योगिक जागृति को किस प्रकार कटकाकीर्ण किया गया, यह इतिहास का विषय है। अस्तु, धीरे-धीरे अनेक बाधाओं का सामना करते हुए यहाँ कुछ बडे बडे कारखाने खुले है, परन्तु अधिकाश देश मे छोटी दस्तकारियों की ही विपुलता है। इसके कुछ विशेष कारण ये है।

(१) जाति-प्रथा के कारण जुलाहे, कुम्हार आदि अपने पूर्वजो के ही काम करते हैं। स्थान-परिवर्तन या आजीविका के नए साधन प्राप्त करने मे उन्हे बहुधा सामाजिक पार्थक्य सहन करना पडता है।

(२) बहुधा मनुष्यो को स्वेच्छानुसार काम करने की आदत पडी हुई है, वे कारखानों मे निश्चित घटे काम करना अथवा अन्य कायदे कानून का बन्धन पसंद नही करते।

(३) कारखानों मे मिलने वाली मजदूरी इतनी अधिक नही हुई कि गॉव से लोग सहसा नगर मे रहने की असुविधाएँ और खर्च सहन करने लगें। वे भूख से विशेष पीडित तथा ऋणग्रस्त होने पर ही, लाचार होकर, घर या कुटुब का मोह छोड़ते हैं।

(४) परदे की प्रथा के कारण अनेक औरतें बाहर जाकर काम नहीं कर सकती, उनके लिए घरू धन्धे ही हित कर हैं।

(५) कृषकों को चार से छः महीने तक बेकार रहना पड़ता है और इस समय के लिये अन्य महीनों की आय मे से उनके पास प्रायः कुछ बचा नही रहता, अतः उन्हे घरू उद्योग-धन्धों की बहुत आवश्यकता है।

घरेलू उद्योग-धन्धे—अब हम कुछ मुख्य मुख्य घरेलू उद्योग-धन्धों का विचार करते हैं। इन धन्धो के दो भेद किये जा सकते हैं :—(१) ऐसे धन्धे जो खेती में सहायक हो सकते हैं, जिन्हे किसान अपने अवकाश के समय कर सकते हैं, जैसे पशु-पालन, दूध, मक्खन का काम, चटाई या टाट-पट्टी बुनना, टोकरी बनाना, गुड़ बनाना, सूत कातना, कपड़े बुनना आदि। (२) ऐसे धन्धे जिन्हे गॉव या कस्बे वाले एक स्वतत्र धन्धे के रूप में करें। जैसे चमड़ा कमाना, जूता बनाना, तेल निकालना, दरी, कालीन बुनना, लकड़ी, लोहे, पीतल आदि की चीजें बनाना, धान कूटने या आटा पीसने की मिल चलाना, साबुन बनाना, चूड़ियाँ आदि बनाना।

कृषि सहायक धन्धेः पशु पालन—अब ऐसे कुछ धन्धों के विषय में कुछ मुख्य मुख्य बातें बतलायी जाती हैं। पहले पशु-पालन की बात लें। यह कहा जा चुका है कि कृषि प्रधान भारतवर्ष के लिए पशु-धन कितना बहुमूल्य है। खेतों के विविध कामों के लिए किसानों को विशेषतया बैलों की जरूरत होती है, परन्तु वे अन्य पशुओं की भाँति इनका भी अच्छी तरह पालन नहीं करते। यहाँ पशुओं को प्रायः अस्वच्छ पानी तथा घटिया दर्जे का और कम चारा दिया जाता है, इससे उनकी आयु कम हो जाती है; उनके श्रम तथा रोग की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता, उनके रहने की जगह अच्छी नहीं होती और उनकी नस्ल उन्नत करने का उपाय भी बहुत कम किया जाता है। यदि बछड़ों का ठीक तरह से पालन पोषण हो तो वे अच्छे बैल बन कर खेती के लिए बहुत अधिक उपयोगी हों। दूध देने वाले पशुओं के पालन से किसान को दूध या घी की बिक्री से आय हो सकती है और उसके बच्चों को यदि दूध नहीं तो मट्ठा तो मिल ही सकता है। गाय-भैंस का गोबर, खाद के लिये बहुत उपयोगी होता है, यहाँ उसका खासा बड़ा भाग कंडों (उपली) के रूप में जलाने के काम में ले आया जाता है।

दूध-घी का काम—प्रायः यह काम काफी सफाई और ईमानदारी से नहीं किया जाता, दूध दुहते समय हाथों तथा गाय के थनों को धोया नहीं जाता, दूध का बर्त्तन साफ नहीं किया जाता। दूध में पानी मिला दिया जाता है। अनेक स्थानों में कच्चे दूध में से ही मक्खन निकालकर मखनियाँ दूध बेचा जाता है। बहुत से आदमी, रोगी गाय भैंस के दूध को भी दूसरे दूध के साथ मिला देते हैं। प्रायः मक्खन का घी बनाते समय उसे काफी गर्म नहीं करते, इससे घी अच्छा नहीं होता और जल्दी बिगड़ जाता है। फिर, आजकल तो घी में तरह तरह का मिलावट करदी जाती है। वनस्पति घी का भी बहुत उपयोग हो रहा है। इस प्रकार शुद्ध घी मिलना ही बहुत कठिन होगया है। आवश्यकता है कि इस धन्धे को करने वाले इन दोषों से बचें, और सरकार बनस्पति घी का रंगा जाना अनिवार्य करदे, जिससे वह साफ पहचाना जा सके।

गुड़ बनाना—मनुष्य के शरीर के पोषण के लिए अन्न और दूध-घी की तरह गुड़ भी बहुत उपयोगी है। किसान गन्ना पैदा करते ही हैं। वे आसानी से ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि गन्ने के रस से गुड़ बनालें। हाँ, जो गुड़ बनाया जाय, वह अच्छा साफ होना चाहिए। वर्तमान अवस्था में रस में से तिनके और पत्तियाँ आदि पूरी तरह से नहीं निकाली जाती, और

रस को उबालते समय उसका सारा मैल भी नही निकाला जाता। इससे बहुत-सा गुड़ घटिया होता है। यदि गुड़ अच्छा बढिया बनाया जाय, जैसा सयुक्त प्रान्त मे मेरठ, बरेली और शाहजहापुर आदि मे होता है, तो गुड की माँग भी बढ सकती है। जो लोग चीनी का उपयोग करते हैं, उनमे से कुछ गुड़ का ही उपयोग करने लगें, क्योंकि गुड मे पोषक तत्व अधिक होते हैं। भारतवर्ष मे प्रति व्यक्ति गुड और चीनी का खर्च २६ पौंड है जब कि आवश्यकता कम से कम ४६ पौड की है। इस प्रकार गुड और चीनी का मौजूदा पैदावार दुगनी बढने की आवश्यकता है। इससे इस उद्योग-धन्धे का भविष्य कितना उज्वल है, यह स्पष्ट है।

बगिया लगाना—खेती के साथ एक छोटा-सा बगीचा मामूली खर्च से सहज ही लगाया जा सकता है, जिसमे स्थानीय परिस्थिति तथा आवश्य कता के अनुसार भाँति-भाँति के फल, सब्जी (तरकारी), या फूल लगाए जायँ। इसमे यह विचार रखा जाय कि प्रत्येक ऋतु मे उसके अनुकूल पदार्थ उत्पन्न किए जायँ, जिससे बारहो महीने कुछ-न कुछ आमदनी होती रहे। अगर फल आदि के बेचने की व्यवस्था किसान खुद न कर सके तो बगीचा ठेके पर उठाया जा सकता है। जो जमीन खेती के योग्य न हो, उस पर पेड लगा देने से बढिया लकडी बेचने के, और मामूली लकडी जलाने के, काम मे आ सकती है।

किसान रस्से बटने, टोकरी बनाने, रगने, छापने आदि का काम भी बखूबी कर सकते हैं।

हाथ की कताई-बुनाई –किसानो के लिए सब से महत्वपूर्ण धधा हाथ की कताई बुनाई का है, कारण, भोजन के अलावा कपडे की जरूरत सब को होती है। बहुत से किसानो के पास कपास होती ही है, उसे ओट कर रुई तैयार की जा सकती है। किसान की स्त्री घर का काम करने के साथ साथ थोडे समय ही कात लेने से अपने तमाम घर वालो के लिये ओढने-पहिनने के कपडे बना सकती है। किसानो के लिए यह धधा खास महत्त्व का इस-लिए है कि साल मे कुल मिलाकर चार छः महीने उन्हे बेकार रहना पड़ता है, और यह धधा ऐसा है, जिसे आदमी आसानी से कर सकते हैं। इसे सीखने मे समय तथा इसे चलाने मे अधिक पूँजी की विशेष आवश्यकता नही होती। इसके अलावा इससे जो वस्तु तैयार होती है, वह मनुष्य की प्रमुख आवश्य-कताओं मे से होने के कारण, कुछ तो उत्पादक के ही काम आ सकती है, और जो शेष बचे, वह आसानी से आस-पास ही खप सकती है।

भारतवर्ष मे कुल मिला कर लगभग छः सौ करोड गज कपडे की खपत है। हाथ की खड्डियाँ हर साल करीब डेढ सौ करोड़ गज कपडा तैयार करती हैं, जो बगैर किसी सरकारी अथवा जनता की सहायता के बिक जाता है। यह कपडा मिल के सूत और हाथ के सूत दोनों का होता है। कुछ कपडा तो केवल मिल के ही सूत का होता है। अगर इस धन्धे को अपनी खोई हुई बपौती फिर से प्राप्त करनी है, तो इसे मशीनों के सूत पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। मिल का सूत यद्यपि पूरा इकसार होता है तो भी हाथ के सूत के मुकाबले में मजबूत नहीं होता। पिछले सालों मे चर्खा-सघ ने सूत में बहुत-कुछ सुधार किया है। अगर हाथ की खड्डियाँ, मिल के सूत की जगह, केवल हाथ काता सूत काम मे लावें, तो किसानों की दरिद्रता बहुत हद तक कम हो सकती है।

अखिल भारतीय चर्खा संघ—राष्ट्रीय जागृति के समय हाथ की कताई-बुनाई के धन्धे की उन्नति की ओर नेताओ का ध्यान जाना स्वाभाविक था। इसका सगठित प्रयत्न सन् १९२५ से हुआ, जब कि महात्मा गाधी की प्रेरणा से यहाँ अ० भा० चर्खा सघ की स्थापना हुई। इसका कार्य दृढतापूर्वक और सुव्यवस्थित रूप से होता रहा है। सन् १९३८ मे जब कई प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने तो वे खादी के काम को यथाशक्ति मदद देने को तैयार थे। सघ ने भी उनकी सहायता से इस काम को बढ़ाने और फैलाने की योजनाओं पर अमल किया। परन्तु यह सुअवसर बहुत समय तक न रहा। अगले वर्ष कांग्रेस मत्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिए, और अगस्त १९४२ में तो देश में राष्ट्रीय-आन्दोलन का जो भयकर दमन हुआ, उससे कई प्रान्तों मे चर्खा सघ पर कठोर प्रहार हुआ। छोटे-बडे बहुत से कार्यकर्ता जेलों में बन्द रहे इसलिए सघ का काम व्यवस्थित रूप से न चल सका। इससे म० गाँधी को अनुभव हुआ कि खादी के काम की दृष्टि मे परिवर्तन होना आवश्यक है। बिक्री के लिए खादी बनाने से वह व्यापक नहीं हो सकती। सर्वसाधारण गरीब लोगों के लिए वह बहुत मँहगी रहती है, और केवल भावना से उसे कितने आदमी खरीद सकते हैं! फिर, सार्वजनिक सहायता या दान के भरोसे उसका काम कब तक चलाया जा सकता है। इसलिए महात्मा जी ने लोगों को अपने लिए स्वयं खादी तैयार करने अर्थात् वस्त्र-स्वावलम्बन की प्रेरणा की। उन्होंने "कातें, वे पहिनें, और पहिनें, वे कातें।" का सूत्र चलाया।

खादी का विकेन्द्रीकरण—खादी के विकेन्द्रीकरण की बात विशेष रूप से १९४४ के बाद काम में आई। देश भर के लिए किसी एक केन्द्र

से, या प्रान्त भर के लिये किसी एक प्रान्तीय सगठन से, काम चलाने मे वस्त्र-स्वावलम्बन का उद्देश्य सिद्ध नही हो सकता। म० गाँधी ने 'हरिजन' मे लिखा, "अब वक्त आ गया है जब सूबे इसके लिए बिल्कुल स्वतत्र या आजाद होना चाहे तो हो जॉय, सूबे न हों या न हो सकें तो जिले; जिले न हो सकें, तो ताल्लुके, और ताल्लुके न हो सकें तो गॉव के छोटे-छोटे समूह, और वे भी न हो सकें तो गाँव स्वतन्त्र हो जॉय। हर एक व्यक्ति तो इसके लिए स्वतन्त्र है ही"। आखिर, बिहार और उसके बाद सयुक्त प्रान्त की शाखा अखिल भारत चर्खा सघ से स्वतन्त्र हो गई, वैसे वे चर्खा सघ की नीति के अनुसार काम करती रहीं।

खादी की शिक्षा—कार्यकर्ताओं को कताई के सब अगों मे निपुण बनाने के हेतु एक खादी की परीक्षा का सिलसिला चल रहा है। सन् १९४६-४७ की क्रियात्मक परीक्षाओं मे १९०१ परीक्षार्थी बैठे, जिनमे से ५७३ परीक्षार्थी उतीर्ण हुए। लिखित परीक्षा मे बैठनेवाले ६४७ थे, इनमे से २१७ उत्तीर्ण हुए। इन परीक्षाओं के कारण कार्यकर्त्ताओं की धुनाई-कताई आदि की जानकारी बढ़ी है। पास होने वालों की संख्या कुछ कम दीखने का कारण यह है कि कुछ कार्यकर्त्ता सभी विषयों मे पास नही हो सके हैं।

इस वर्ष चर्खासघ की शिक्षा समिति के अभ्यास-क्रम चलानेवाले आठ विद्यालय थे। उनमे शिक्षा पानेवाले और उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों की सख्या क्रमशः ३८६ और ५० थी।

चर्खा-संघ का वर्तमान क्षेत्र—अब सघ की दृष्टि उत्पत्ति-बिक्री और बाँटी गई मजदूरी पर उतनी नही है जितनी पहले थी। इनके स्थान पर, सघ वस्त्र-स्वावलम्बन, खादी-शिक्षा, और खादी-विचार के प्रचार पर अधिक शक्ति लगा रहा है। इसके लिए सरजाम बनाने की ओर भी अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

चर्खा-सघ के प्रारम्भ अर्थात् सन् १९२४—२५ से सन् १९४७ तक संघ तथा उससे प्रमाणित सस्थाओं की ओर से लगभग साढ़े सात करोड़ रुपया देश के गरीब जनता मे दिया गया। इसमे से तीन करोड़ साठ लाख रु० कत्तिनों को, २ करोड़ ९० लाख रुपए जुलाहों को, और ९० लाख रुपये अन्य कारीगरों को मिले। जिन क्षेत्रों में काम हुआ, वहाँ के देहातों की कुल संख्या इस वर्ष लगभग दस हजार रही। चर्खा-सघ और उससे प्रमाणित सस्थाओं के उत्पत्ति-केन्द्र ६२२ और बिक्री-केन्द्र ३०९ थे। सघ के कुल कार्यकर्ताओं की सख्या का अन्दाज़ १९०० है। भारतवर्ष के विशाल क्षेत्र और जन-

संख्या को देखते हुए ये अक बहुत कम हैं। यद्यपि उनका अपना महत्व है, यह स्पष्ट है कि अभी इस कार्य को बहुत अधिक बढाने की आवश्यकता है।

सरकार और खादी—भारतवर्ष मे कपड़े की तगी होना स्पष्ट है। जैसा आगे बताया गया है, मिले हमारी कपड़े की समस्या को हल करने मे असमर्थ हैं। इसके अलावा, लगभग पचास लाख शरणार्थी पाकिस्तान से भारतीय-सघ मे आए हुए हैं। इन्हे आजीविका का साधन देना है, और इनमें से बहुतसों को खादी का काम आसानी से दिया जा सकता है। इस प्रकार सरकार को खादी के उत्पादन और प्रचार मे सहायक होना आवश्यक है। सौभाग्य से भारतवर्ष अब स्वतन्त्र है, और यहाँ शासन-सत्ता उस वर्ग के हाथों मे है, जिसने अपने अल्पकालीन शासन (१९३८-३९) मे खादी को यथेष्ट सहायता दी थी। अब यह स्वाभाविक ही है कि प्रान्तीय सरकारें इस ओर कदम उठावे। अस्तु, पश्चिम बगाल, बम्बई, तथा उडीसा प्रान्त की सरकारे इस दिशा मे क्रियात्मक कार्य कर रही हैं, जैसे कुछ ग्राम-केन्द्र स्थापित करना, जिनमे लोगों को कातने बुनने, धुनने आदि की शिक्षा दी जाय, चर्खे कपास तथा अन्य सरजाम आसानी से मिल सकने की व्यवस्था करना, आदि। पाकिस्तान की सरकार भी इस ओर झुक रही है। वहाँ सन् १९४८ के अन्त मे ९ लाख ५१ हजार चर्खे चलाने की योजना बनाई गई है। आशा है, भारतवर्ष के सभी भागों की सरकारे इस गृह उद्योग को यथेष्ट सहायता देगी।

जनता मे कताई के प्रति रुचि और प्रेम पैदा करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उच्चपदाधिकारी इस कार्य को करने लगे, जिससे सामान्य जनता उनका अनुकरण कर इस कार्य को अपनावे। उदाहरण के लिए श्री० कैलाशनाथ जी काटजू ने, जब वे उड़ीसा के गवर्नर थे, कटक मे अपनी कोठी पर कताई क्लब स्थापित किया था, जिसमे वे स्वय तथा अन्य ३० ४० स्त्री-पुरुष हर रोज कातते थे। उनकी प्रेरणा से कटक मे ४-५ कताई-क्लब स्थापित हुए। उड़ीसा मे शहरों या देहातों मे, जहाँ वे गए, उन्होंने सामूहिक-कताई का कार्य-क्रम रखा। इस समय श्री० काटजू पश्चिम बगाल के गवर्नर हैं। वे यह आग्रह करने लगे हैं कि उन्हे जहाँ सार्वजनिक उत्सवो मे निमत्रित किया जाय, वहाँ के कार्य-क्रम में सामूहिक कताई का कार्यक्रम अवश्य रहे। वे खुद ऐसी कताई में भाग लेते हैं। ऐसे उदाहरणों का यथेष्ट प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

स्वतंत्र रूप से किए जानेवाले धंधे—अब तक ऐसे घरू धधों का विचार किया गया है, जिन्हे किसान खेती के साथ साथ कर सकते हैं। अब

हम कुछ ऐसे उद्योग-धधों के विषय मे विचार कर सकते हैं, जो उन लोगों के लिए उपयोगी हैं, जो खेती नही करते। इन धन्धों का कार्य स्वतत्र रूप से किया जा सकता है। पहले लकडी और लोहे के काम की बात लेते हैं।

लकड़ी और लोहे का काम—लकड़ी और लोहे की अनेक चीजों की किसानों तथा साधारण आदमियों को भी आवश्यकता होती है, जैसे हल, जुआ, चारपाई, पीढा, खिड़की, दरवाजा, खुरपा, कुल्हाडी, बसूला तथा गाडी और छकडा आदि। वर्तमान अवस्था मे कोई आदमी इन चीजो को अच्छी बढिया बनाने का विचार नही करता। यह ठीक है, कि अच्छी बढिया चीजों की माँग भी कम है। तथापि यदि ये चीजें बढिया बनाई जाने लगे तो इनकी माँग भी बढने लगे। कही-कही दरवाजों, खिड़कियों आदि की लकड़ी पर बेल-बूटे का काम होता है, लकड़ी के खिलौने बनाकर उन पर चित्रकारी, वार्निश और रगाई की जाती है। इन कार्यो की बहुत उन्नति की जा सकती है।

तेल पेरने का काम—अधिकाश जनता के लिए तेल एक रोजमर्रा की जरूरतो मे से है। कुछ तेल खाने के काम आता है, और कुछ जलाने के। यह सरसों, तिल्ली, अलसी, मूँगफली, महुआ आदि कितने ही पदार्थों के पेरने से निकाला जाता है। अब आयल (तेल) - एजिनों के चलने से तेल पेरने का काम सस्ता होने के कारण इसके घरू-धन्धे का ह्रास होता जा रहा है, परन्तु मशीन से तेल निकाले जाने पर जो खली बचती है वह पशुओं के लिए उतनी उपयोगी नही होती, जितनी कोल्हू आदि से तेल निकालने की दशा मे बची हुई खली होती है। इस उद्योग की तरफ देशवासियों को ध्यान देना चाहिए।

चमड़े का काम—यद्यपि बहुत से आदमी गरीबी के कारण जूते नहीं पहिनते, तथापि देश मे उनकी खपत काफी है। नगरो मे ही नही, गाँव-गाव मे उनकी जरूरत रहती है। आजकल देशी जूता बनानेवाले प्रायः घटिया माल तैयार करते हैं। कारखानों मे बननेवाले विलायती ढग के जूते (बूट या स्लीपर) की खपत बढती जा रही है, जिसके लिए बहुत सी गायों को मारा जाता है। हमारे कारीगरों को चाहिये कि वे मुर्दा-खाल (स्वय मरे हुए पशुओं की खाल) से ही अच्छा बढिया और मजबूत सामान तैयार करें। बहुत से आदमी चमडे के काम को घटिया समझते हैं और इसे करने से परहेज करते हैं। यह ठीक नही है, जो चीज समाज के काम आती है और मनुष्यों के लिए हितकर है, उसे बनाने का श्रम सदैव आदरणीय है।

अ० भा० ग्राम-उद्योग-संघ—ऊपर थोड़े से ही उद्योग-धन्धों के विषय

मे कुछ मुख्य-मुख्य बाते लिखी गई हैं। देश मे अनेक उद्योग-धन्धे ऐसे हैं जिनकी उन्नति और विचार की बहुत आवश्यकता है। इसके वास्ते पहले जरूरत इस बात की होती है कि प्रत्येक उद्योग-धन्धे के बारे मे यथेष्ट जानकारी हासिल की जाय, और इस जानकारी को ऐसे आदमियों के पास पहुँचाया जाय, जो वैसे ही उद्योग-धन्धों मे लगे हुए हों। काग्रेस ने आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के बाद अक्तूबर सन् १९३४ ई० मे औद्योगिक उन्नति के कार्य को आगे बढाने का निश्चय किया।

इस वर्ष के अन्त में वर्धा (मध्य प्रान्त) में 'अखिल भारत ग्राम उद्योग-संघ' की स्थापना, एक स्वतत्र सस्था के रूप मे हुई। इसका उद्देश्य है—ग्रामों का पुनःसगठन, ग्रामोद्योगों को प्रोत्साहित करना, उनमे आवश्यक सुधार करना; और ग्राम-निवासी जनता की नैतिक और शारीरिक उन्नति करने की चेष्टा करना। सघ का सचालन एक मडल के अधीन है, जो समय-समय पर ग्राम सुधार अथवा ग्राम-रचना सम्बन्धी अपना कार्यक्रम निर्धारित करता है; भिन्न-भिन्न केन्द्रों मे जिन पद्धतियों अथवा नीति से काम लिया जायगा, उनका समन्वय और सुधार करता है, ग्रामवासियों की आर्थिक, नैतिक और शारीरिक अवस्था सम्बन्धी एवं ग्रामो के पिछड़े हुए तथा विकासशील उद्योग-धन्धों की वास्तविक स्थिति सम्बन्धी खबरे, कार्यकर्ताओं और प्रतिनिधियों से प्राप्त कर, उनका वर्गीकरण कर, उन्हे सर्वत्र फैलाता है, विशेषज्ञों की सहायता से खोज का काम करता है, तथा स्थानीय ग्रामवासियों की जरूरतो को पूरा करने के बाद बचे हुए तैयार माल के लिए बाजार ढूँढ़ता है, या पैदा करता है।

इस सघ की सरक्षता में निम्नलिखित ग्रामोद्योग या उनके प्रयोग चल रहे हैं :—१—धान से चावल निकालना, २—आटा पीसना, ३—गुड़ बनाना, ४—तेल निकालना, ५—मूँगफली छीलना, ६—शहद की मक्खियाँ पालना, ७—मछली पालना, ८—दूध शाला, ९—नमक बनाना, १०—कपास लुढ़ाई, ११—कम्बल बनाना, १२—रेशम और टसर का माल बनाना, १३—सन की कताई और बुनाई, १४—कालीन बनाना, १५—कागज बनाना, १६—चटाई बुनना, १७—कघियाँ बनाना, १८—चाकू कैंची आदि बनाना, १९—साबुन बनाना, २०—पत्थर की कारीगरी, २१—मरे हुए जानवरों की लाशों का उपयोग करना, और चमड़ा तैयार करके उसकी विविध वस्तुएँ बनाना।

आशा है, सघ उत्तरोत्तर उन्नति करेगा। कार्य करने के लिए क्षेत्र

विशाल है। आवश्यकता इस बात की है कि सब देश-प्रेमी सज्जन अपनी शक्ति भर इसको सहयोग प्रदान करें।*

अभ्यास के प्रश्न

१—सयुक्तप्रात के मुख्य घरेलू उद्योग-धन्धो को गिनाइये। उनके ह्रास का क्या कारण है ? इन धन्धों की वृद्धि करने के उपाय बताइए। (१९३७)

२-—ग्रामीण उद्योग-धन्धों की व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले समस्याओं की विवेचना कीजिए। (१९३६)

३—ग्रामीण उद्योग-धधों की वृद्धि के लिए आप मुख्यतः क्या क्या उपाय बतावेंगे? (१९३०)

४—यदि आपको ५००) दे दिया जाय तो आप उसे अपने गॉव के किन घरेलू-धधों को सुधारने के लिए किस प्रकार खर्च करेंगे ?

५—युक्तप्रात मे गुड़ किस प्रकार बनाया जाता है ? इस प्रॉत मे गुड़ कहॉ अच्छा व सस्ता बनता है ?

६—जुलाहो की आर्थिक दशा का वर्णन करते हुए उसके सुधारने के उपाय बताइये।

७—आर्थिक दृष्टि से खद्दर प्रचार की आवश्यकता बताइए।

८—घरेलू उद्योग धन्धों से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण से स्पष्ट कीजिये। भारतवर्ष के नाना प्रकार के उद्योग-धंधों की उन्नति के लिये उपाय बतलाइये (यू० पी० १९४१)

९—निम्नलिखित उद्योग-धन्धों में उत्पत्ति के साधन किस प्रकार प्राप्त होते हैं:—

क—गाँव मे कपड़े की बुनाई अथवा मिट्टी के बर्तन। ख—बनारस अथवा मुरादाबाद के ताँबे के बर्तन और कपास बुनने के कारखाने। (यू० पी० १९२७)

---

*इस विषय में विशेष जानने के लिए पाठक ग्राम-उद्योग-सघ, वर्धा, का विवरण तथा सघ द्वारा प्रकाशित साहित्य अवलोकन करें।

इक्कीसवाँ अध्याय

उत्पत्ति के नियम

- उत्पत्ति के साधनों का विचार पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। अब हम इस बात का विचार करते हैं कि उन साधनों के सहयोग से जो उत्पत्ति होती है उसके क्या नियम हैं और वे किस प्रकार कहाँ तक लागू होते हैं। नियम पर विचार करने के पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि लागत-खर्च का हिसाब कैसे लगाया जाता है। उदाहरण के लिए हम एक किसान परिवार के महायुद्ध के पहिले के लागत खर्च का हिसाब नीचे देते हैं।

शीतल एक किसान है। उसकी स्त्री जीवित है। उसका लड़का दस साल का है। परिवार मे तीन साल की छोटी लड़की को लेकर कुल चार प्राणी हैं। शीतल के पास पाँच एकड़ जमीन है, जिसका वह ३०) सालाना लगान देता है। महायुद्ध के पहिले खरीफ के शुरू में उसने दो पैसा रुपया माहवार पर ५०) कर्ज लिया था। वैसे बाजार में सूद की दर १२% सालाना है। उस रकम से उसने बैल खरीद कर करीब पंद्रह साल की छुट्टी पाई। शीतल के पास ५०) के लागत के औजार हैं। आम तौर पर ये दस साल चलते हैं। हर साल शीतल खेत में जितनी खाद लगाता है उसे बेचने पर पाँच रुपए वसूल किए जा सकते हैं। छोटी लड़की को छोड़ कर घर के सब व्यक्ति खेत में काम करते हैं। यदि ये मजदूरी करें तो शीतल ≡), उसकी औरत =)॥ और लड़का =) रोज पैदा कर लें। इस साल उन्होंने खेत में १५० दिन सिंचाई, निराई, कटाई, मड़ाई आदि में काम किया था। अपने परिवार के मनुष्यों के अतिरिक्त मजदूरों को उसने कुल मिलाकर ४०) दिए। इस चैत में शीतल ने गेहूँ काटा है। पिछली फसल पर बाजरा हुआ था। बोने के लिए फी एकड़ दो मन गेहूँ या साढ़े बारह सेर बाजरा की उसे जरूरत पड़ी। भूसा और कर्बी से शीतल को कुल २०) मिले। एकड़ पीछे शीतल ने १० मन गेहूँ व ७ मन बाजरा पैदा किया था। सन् १६३८ में गेहूँ १४ सेर का बिका और बाजरा बीस सेर का। अब यदि शीतल का उत्पत्ति-बजट बनाना हो तो वह निम्न प्रकार से बनेगा।

१—बीज व खाद :—

दो मन फी एकड़ के हिसाब से शीतल ने कुल १० मन गेहूँ बोया। और १२½ सेर फी एकड के हिसाब ६२½ सेर बाजरा।

नाम	मात्रा	दर फी रुपया	रु०	आ०	पा०
गेहूँ	१७ मन	१४ सेर	२८	६	—
बाजरा	६२½ सेर	२० सेर	३	२	—
खाद			५	—	—
		कुल	३६	११	—

२—लगान—शीतल साल भर मे तीस रुपया लगान देता है।

३—मजदूरी—यदि शीतल, उसकी स्त्री और उसका लडका अन्य जगह मजदूरी करते तो ।≈)॥ रोज कमा लेते। उन्होंने अन्य मजदूरों के साथ अपने खेत मे जोताई, निराई, सिंचाई, कटाई, इत्यादि मे १५० दिन काम किया।

नाम	दर फी दिन	दिन	रु०	आ०	पा०
शीतल का परिवार	।≈)॥	१५०	७१	५	—
अन्य मजदूर			४०	—	—
		कुल	१११	५	—

४—सूद—शीतल की पूँजी बैल और औजार हैं। प्रत्येक मे ५०) फँसे हैं। बैलो के खरीदने मे जो पूँजी लगी है, उस पर दो पैसा रुपया माहवार सूद है और औजारों पर १२% सालाना का सूद लगाया गया है।

पूँजी का रूप	पूँजी	सूद की दर	रु०	आ०	पा०
बैल	५०)	)॥ रुपया माहवार	१८	१२	—
औजार	५०)	१२% सालाना	६	—	—
		कुल	२४	१२	—

५—घिसावट—

सामान	कीमत	अनुमानित जिंदगी	रु०	आ०	पा०
बैल	५०)	१५ साल	३	५	—
औजार	५०)	१० साल	५	—	—
		कुल	८	५	—

६—बिक्री खर्च—उपज को बेचने के लिए बाजार मे जाने का खर्च इस प्रकार है :—

	रु०	आ०	पा०
किराया गाडी	३	८	०
चुगी	३	०	०
बयाई (कमीशन)	२	१२	०
फुटकर	०	१०	०
कुल	६	१४	०

७—उपज की बिक्री से आमदनी—

१० मन फी एकड़ के हिसाब से खेत मे ५० मन गेहूँ हुआ और ७ मन फी एकड़ से ३५ मन बाजरा हुआ।

नाम	मात्रा	दर फी रुपया	कीमत		
			रु०	आ०	पा०
गेहूँ	५० मन	१४ सेर	१४२	१३	—
बाजरा	३५ मन	२० सेर	७०	—	—
भूसा और कर्बी			२०	—	—
		कुल	२३२	१३	—

शीतल का नफा नुकसान खाता निम्न प्रकार मे है .—

नफा नुकसान खाता

आय	रु०	आ०	पा०	व्यय	रु०	आ०	पा०
गेहूँ	१४२	१३	—	बीज व खाद	३६	११	—
बाजरा	७०	—	—	लगान	३०	—	—
भूसा } कर्बी }	२०	—	—	मजदूरी	१११	५	—
				सूद	२४	१२	—
				घिसावट	८	५	—
				बिक्री	६	१४	—
				मुनाफा	११	१४	—
	२३२	१३	—		२३२	१३	—

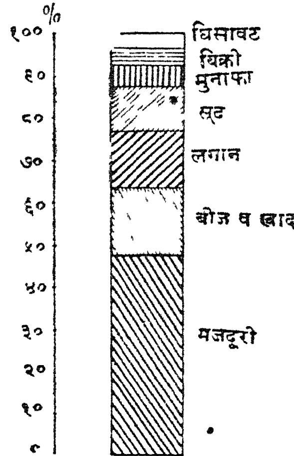
उत्पादन व्यय का संक्षिप्त विवरण

नीचे लिखे अनुसार है :—

	रु० आ०	प्रतिशत
बीज व खाद	३६—११	१५·८
लगान	३०—०	१२·६
मजदूरी	१११—५	४७·८
सूद	२४—१२	१०·६
घिसावट	८—५	३·६
बिक्री	६—१४	४·२
मुनाफा	११—१४	५·१
मीजान	२३२—१३	१००·०

उपर्युक्त खर्च की मदे नीचे दिये हुए चित्र मे दिखलाई जाती हैं।

किसान का प्रतिशत लागत खर्च



उत्पति-वृद्धि-नियम—(The Law of Increasing Retuins) खेती के लागत खर्च की भिन्न भिन्न मदे जान लेने पर अब हम उत्पत्ति-वृद्धि-नियम पर विचार करते हैं। किसी खेत पर या किसी कारखाने में जैसे जैसे लागत खर्च बढ़ाया जाता है वैसे वैसे उत्पत्ति में भो वृद्धि होती जाती है। परन्तु एक सीमा के बाद जिस अनुपात से लागत-खर्च में वृद्धि होती है उस अनुपात से उत्पत्ति में वृद्धि नही होती। जैसे जैसे लागत-खर्च बढता जाता है वैसे वैसे एक सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति बराबर बढती जाती है। उस सीमा के बाद अधिक लागत खर्च लगाने पर फिर एक दूसरी सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति पहले के बराबर ही रहती है, और फिर और भी अधिक लागत-खर्च बढाने पर सीमान्त उत्पत्ति घटने लगती है। जिस सीमा तक लागत-खर्च बढाने पर सीमान्त उत्पत्ति बढती जाती है उस सीमा तक क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि-नियम लागू होता है। फिर उस सीमा से जिस सीमा तक सीमान्त उत्पत्ति एक सी रहती है, क्रमागत उत्पत्ति-समता-नियम लागू होता है। और उस सीमा से जिससे सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है, क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास नियम होता है। प्रत्येक वस्तु के उत्पन्न करने में—चाहे वे खेती द्वारा पैदा की जायँ या किसी कारखाने मे तैयार की

जायँ—लागत-खर्च क्रमशः बढाने से उपर्युक्त तीनो नियम क्रमशः लागू होते हैं। खेती मे क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम शीघ्र लागू होने लगता है, और कारखानों मे लागत खर्च बढाने मे बडी देर तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि-नियम लागू होता है। परन्तु कारखाने मे भी एक सीमा के बाद क्रमागत उत्पत्ति ह्रास-नियम अवश्य लागू होने लगता है। उदाहरणों द्वारा हम इन नियमों को समझाने का प्रयत्न करते हैं।

खेती का उदाहरण—नीचे लिखे कोष्ठक मे किसी एक खेत पर किये हुए लागत-खर्च और उत्पत्ति का परिणाम दिया जाता है।

लागत खर्च रुपयो मे	उत्पत्ति का परिमाण (मन मे)	सीमान्त उत्पत्ति (मन मे)
२५	१०	१०
५०	२२	१२
७५	३६	१४
१००	५१	१५
१२५	६६	१५
१५०	८०	१४
१७५	९३	१३
२००	१०५	१२
२२५	११५	१०
२५०	१२३	८

इस कोष्ठक मे सीमान्त उत्पत्ति के अक, उत्पत्ति के परिमाण (दूसरा कालम) के अकों से निकाले गये हैं। ५० रुपये लागत खर्च लगाने पर सम्पूर्ण उत्पत्ति २२ मन होती है, २५ रुपये लगाने पर केवल दस मन। इस प्रकार दूसरे २५ रुपये लगाने पर उत्पत्ति मे १२ मन की वृद्धि हुई। यह बारह मन ५० रुपया लागत-खर्च की सीमान्त उत्पत्ति समझी जाती है। इसी प्रकार अन्य लागत-खर्च की सीमान्त उत्पत्ति का हिसाब लगाया जा सकता है।

इस कोष्ठक के देखने से मालूम होता है कि इस खेत पर १०० रुपयो तक लागत-खर्च बढ़ाते जाने पर सीमान्त उत्पत्ति बढती जाती है, १०० रुपया लागत खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन है। २५ रुपया और लागत खर्च बढाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन ही रह जाती है। सीमान्त उत्पत्ति मे वृद्धि यहाँ रुक जाती है। इसलिये हम यह कह सकते हैं

कि इस खेत मे १०० रुपया लागत खर्च लगाने तक क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है। इसके बाद १२५ रुपये की लागत खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति समता-नियम लागू होता है। इसके बाद लागत खर्च बढाने पर सीमान्त उत्पत्ति कम होने लगती है। १५० रुपया लागत खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति १५ मन से घट कर १४ मन ही रह जाती है। इसलिए इस खेत पर १२५ रुपया लागत-खर्च लगाने के बाद क्रमागत उत्पत्ति ह्रास-नियम लागू होने लगा है।

इन नियमों के सम्बन्ध मे एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि इनका सम्बन्ध उत्पत्ति के परिमाण मे है, वस्तु के मूल्य से नही। जब तक निर्दिष्ट लागत-खर्च लगाने से उत्पत्ति के परिमाण मे कोई अन्तर नहीं पडता, जो नियम जिस सीमा से लागू हो रहा है उसी सीमा से लागू होता रहेगा—चाहे फिर वस्तु के मूल्य मे कितना ही घट बढ होता जाय। दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि जिस सीमा से क्रमागत उत्पत्ति ह्रास-नियम आरभ होता है, उसी सीमा पर उत्पादक को हानि होना आरम्भ नही हो जाता और न वह उसी सीमा पर अधिक लागत खर्च लगाना बन्द ही कर देता है। लागत-खर्च किसी खेत मे किस सीमा तक लगाया जाता है, यह वस्तु के मूल्य पर निर्भर है।

कारखाने का उदाहरण—अब हम इन नियमो के समझाने के लिये किसी कारखाने का उदाहरण लेते हैं। निम्नलिखित कोष्ठक मे किसी सूती कपड़े के कारखाने के लागत खर्च और उत्पत्ति का परिमाण दिया जाता है:—

लागत खर्च	सम्पूर्ण उत्पत्ति	सीमान्त उत्पत्ति
१ हजार रुपये	२ हजार गज	२ हजार गज
२ ,, ,,	४½ ,, ,,	२½ ,, ,,
३ ,, ,,	७½ ,, ,,	३ ,, ,,
४ ,, ,,	११ ,, ,,	३½ ,, ,,
५ ,, ,,	१५ ,, ,,	४ ,, ,,
६ ,, ,,	१९½ ,, ,,	४½ ,, ,,
७ ,, ,,	२४½ ,, ,,	५ ,, ,,
८ ,, ,,	३० ,, ,,	५½ ,, ,,
९ ,, ,,	३६ ,, ,,	६ ,, ,,
१० ,, ,,	४२½ ,, ,,	६½ ,, ,,

११ ,, ,,	४६½ ,, ,,	७ ,, ,,
१२ ,, ,,	५७ ,, ,,	७½ ,, ,,
१३ ,, ,,	६५ ,, ,,	८ ,, ,,
१४ ,, ,,	७३ ,, ,,	८ ,, ,,
१५ ,, ,,	८०½ ,, ,,	७½ ,, ,,
१६ ,, ,,	८७½ ,, ,,	७ ,, ,,

उपर्युक्त उदाहरण मे, लागत-खर्च मे जमीन का लगान, मजदूरी, पूँजी का सूद, मशोनों की घिसाई, मुनाफा, कमीशन, विज्ञापन, कच्चे माल तथा भाफ, बिजली इत्यादि का खर्च सम्मिलित है। इस कोष्ठक मे भी सीमान्त उत्पत्ति के अक, सम्पूर्ण उत्पत्ति के अको से निकाले गये हैं। इसका तरीका पिछले उदाहरण मे समझाया जा चुका है।

इस कोष्ठक को देखने से मालूम होता है कि जैसे जैसे इस कारखाने पर लागत-खर्च बढता जाता है, सीमान्त उत्पत्ति १३ हजार रुपये के लागत-खर्च तक बढ़ती जाती है। इसलिए इस कारखाने मे १३ हजार रुपये के लागत खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-वृद्धि-नियम लागू होता है। १४ हजार रुपये लागत-खर्च लगाने पर सीमान्त उत्पत्ति पहिले के बराबर (आठ हजार गज) ही रहती है। इसलिये १३ हजार रु० लागत खर्च से १४ हजार रुपये लागत खर्च तक क्रमागत उत्पत्ति-समता-नियम लागू होता है और १४ हजार रुपये की लागत के बाद क्रमागत ह्रास-नियम लागू होता है। परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि कारखाने का मालिक इसी सीमा के बाद लागत-खर्च लगाना बन्द नही कर देता है। जैसा हम पिछले उदाहरण मे कह चुके हैं, यह सीमा वस्तु के मूल्य पर निर्भर रहती है।

नियम-सम्बन्धी निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :—

(१) किसी खेत या कारखाने मे जैसे जैसे लागत खर्च बढ़ता जाता है, सीमान्त उत्पत्ति पहले बढती जाती है, पश्चात् कुछ सीमा तक बराबर रहती है, और अन्त मे एक सीमा के बाद कम होने लगती है।

(२) खेती मे क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम जल्दी लागू होने लगता है और कारखाने में यह नियम देर से लागू होता है।

(३) जिस सीमा पर क्रमागत उत्पत्ति-ह्रास-नियम का लागू होना आरम्भ होता है, वस्तुओं की कीमत के घट-बढ़ का उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

उत्पत्ति की किस सीमा पर अधिक लागत खर्च लगना बन्द हो जाता है, इसका विचार आगे विनिमय के खड मे किया जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

१—लागत खर्च मे कौन सी मदे रहती हैं? एक जुलाहा और एक हलवाई के लागत खर्च का बजट बनाइये।

२—समझाइये कि श्रम विभाग और मशीनों के उपयोग के कारण बड़ी मात्रा की उत्पत्ति में माल मँगाने और भेजने मे उत्पत्ति वृद्धि-नियम लागू होता है?

३—क्रमागत ह्रास-नियम की विवेचना कीजिये। क्या यह (अ) खान (ब) नदी मे मछली मारने और (स) कुम्हार के काम पर लागू होता है?

४—उत्पत्ति के कौन कौन से नियम हैं? उदाहरण सहित सब का हाल लिखिये।

५—"उत्पत्ति के प्रत्येक कार्य मे उत्पत्ति का प्रत्येक नियम बराबर लागू होता है।" इसकी अलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

६—क्या कारण है कि खेती मे क्रमागत ह्रास और कल कारखानों में क्रमागत वृद्धि-नियम लागू होता है? समझाकर लिखिए।

७—उत्पत्ति वृद्धि नियम माल तैयार करने वाले कारखानो में किस प्रकार लागू होता है? बड़ी मात्रा उत्पत्ति से क्या किफायत होती है। (यू० पी० १६४३)

८—क्रमागत उत्पत्ति नियम को समझाइये और यह बतलाइये कि उससे क्रमागत लागत ह्रास नियम किस प्रकार निकलता है। (राजपूताना १६४४)

६—नये देश, भूमि प्रधान खेती, क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि नियम, पुराने देश, गहरी खेती, क्रमागत ह्रास नियम मे सम्बन्ध स्पष्ट कीजिये। (दिल्ली १६३५)

—:*:—

बाईसवाँ अध्याय

उत्पत्ति और सरकार

प्राक्कथन—पिछले अध्याय मे इस बात का विचार किया जा चुका है कि उत्पत्ति के नियम क्या हैं। उसके पहले कई अध्यायों मे उत्पत्ति के विविध साधनों का विचार किया गया है और यह भी बतलाया गया है कि उनमे से प्रत्येक की उपयोगिता किस प्रकार बढायी जा सकती है। आशा है, इस ज्ञान को प्राप्त करने से उत्पत्ति की मात्रा अधिक से अधिक करने मे सहायता मिलेगी। इस अध्याय मे हम यह बतलाते हैं कि उत्पत्ति का सरकार से क्या सम्बन्ध रहता है।

सरकार और उत्पत्ति—किसी देश मे होने वाली उत्पत्ति बहुत कुछ वहाँ की शान्ति और सुव्यवस्था पर निर्भर रहती है। यदि राज्य मे चोरी-डाके का हर दम खटका लगा रहे 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' हो तो उत्पत्ति बहुत कम होती है। सरकार, जेल, पुलिस, और न्याय की व्यवस्था करके इस बात का प्रबन्ध करती है कि राज्य मे बलवान निर्बलों को न सतायें, कोई दूसरे के माल का अपहरण न करे, सब के जान माल को समुचित रक्षा हो। विदेशी आक्रमण होने की दशा मे उनसे यथेष्ट उत्पत्ति का कार्य कैसे हो सकता है? विदेशी आक्रमण से रक्षा करने के लिये सरकार सेना रखती है। इससे स्पष्ट है कि उत्पत्ति के लिये सरकार की सहायता अनिवार्य है। सरकार का उत्पत्ति से निम्नलिखित प्रकार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो सकता है।

(१) नियत्रण द्वारा
(२) सहायता द्वारा
(३) स्वय उत्पत्ति करके

(१) सरकारी नियंत्रण—नियत्रण की आवश्यकता विशेषतया उस दशा में होती है जब पूँजीपति अपनी ओर से उत्पत्ति तो यथेष्ट करते हैं परतु उनकी कार्य-विधि से देश या समाज को हानि होने की सम्भावना रहती है। यदि उत्पादक व्यवसाय मे छल-कपट और बेईमानी का व्यवहार करें तो देश या जाति की औद्योगिक उन्नति मे विशेष रूप से हानि हो सकती है। अतः ऐसे दुर्व्यवहार को रोकने के लिये सरकार नाना प्रकार के कानून बनाती है। श्रमजीवियों, किसानों और कर्जदारों को शोषण से बचाने के लिये

सरकार को कानून बनाना पडता है। उन्ही के आधार पर पूँजीपति, जमींदार और साहूकार के कार्यों का नियन्त्रण किया जाता है। इस प्रकार सरकार विविध वस्तुओं की उत्पत्ति के एकाधिकार को नियन्त्रण करके एकाधिकार से होने वाली हानियों को भी रोकने का प्रयत्न करती है।

(२) **सरकारी सहायता**—कृषि, उद्योग तथा भिन्न-भिन्न व्यवसायों की शिक्षा से उत्पत्ति मे बडा लाभ होता है। और शिक्षा के प्रचार मे सहायक होकर अनेक देशो म सरकार अप्रत्यक्ष रूप से उत्पत्ति बढाने मे बहुत सहायक होती है। आधुनिक आर्थिक जगत मे मुद्रा का एक विशेष स्थान और उपयोगिता है। इसके निर्माण मे उचित मात्रा तथा प्रामाणिकता का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। बहुत से देशों मे सरकार ही इस कार्य को करती है। परन्तु उत्पत्ति मे सरकारी सहायता दो प्रकार से होती है, प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रत्यक्ष—कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी नये उद्योग-धन्धे को आरम्भ करते हुए आदमियों को यह आशका होती है कि कही इसमे लगाई हुई पूँजी से साधारण लाभ या सूद आदि भी न मिले। ऐसी दशा मे उसका कार्य चल ही कैसे सकता है? ऐसे उद्योग-धन्धो को सरकार जब उपयोगी समझती है तो वह कई प्रकार से सहायता प्रदान कर सकती है। सरकार न्यूनतम लाभ का जिम्मा ले सकती है, अथवा किसी उद्योग-धन्धे में लगने वाली पूँजी के साधारण सूद का जिम्मा सरकार ले लेती है।

परोक्ष—जब कोई व्यक्ति कोई नई चीज तैयार करता है तो वह कुछ फीस देकर उसे कानून द्वारा पेटेन्ट करा सकता है, जिससे उस वस्तु को अन्य कोई पुरुष अथवा कम्पनी तैयार नहीं कर सकती। इस प्रकार उसे अपने आविष्कार पर पूर्ण लाभ उठाने का अवसर प्राप्त होता है। परोक्ष नीति मे एक व्यापार संरक्षण नीति है इसके अनुसार विदेशों से आने वाली वस्तुओं पर कर लगा दिया जाता है जिससे उनकी खरीद न हो या बहुत कम हो। और इस प्रकार स्वदेशी उद्योग-धन्धो का उत्पत्ति में सहायता मिलती है। कुछ समय के बाद यह वस्तु यहॉ सस्ती पड़ने लगती है, और विदेशी वस्तु की प्रतियोगिता मे ठहरने योग्य हो जाती है। भारतवर्ष मे सरकार ने प्रथम महायुद्ध से पहले उद्योग-धन्धो का सरक्षण नही किया। उस महायुद्ध के समय, तथा उसके बाद उसकी नीति मे कुछ परिवर्तन हुआ। सन् १९१६ ई० मे यहॉ की औद्योगिक परिस्थिति की जॉच करने के लिए कमीशन बैठाया गया। पश्चात् सन् १९२१ ई० मे एक आर्थिक जॉच समिति नियुक्त हुई। इसने सिफारिश की कि भारतीय उद्योग की रक्षा के लिए बाहर से

आने वाले माल पर विशेष कर लगाना चाहिए। उसके बाद यहाँ 'टेरिफबोर्ड' कायम किया गया और उसकी सिफारिश के अनुसार विदेशी लोहे, फौलाद के सामान, कागज, कपडे, सीमेंट और चीनी की आयात पर क्रमशः ऐसा कर लगाया गया कि वे यहाँ की बनी उन चीजो से कुछ मँहगी हो गई। इससे इन वस्तुओं के स्वदेशी उद्योग-धन्धे को प्रोत्साहन मिला। अस्तु, संरक्षण नीति से स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति होती है। परन्तु यह कोई स्थायी या एकमात्र उपाय नही है।

(३) **सरकार द्वारा उत्पत्ति**—कुछ उद्योग-धन्धे ऐसे होते हैं कि उनका केन्द्रीभूत प्रबन्ध करने से अधिक मितव्ययिता हो सकती है। यदि ये काम व्यक्तियों के एकाधिकार मे रहे तो उन्हे अच्छी तरह तथा मितव्ययिता पूर्वक कराने के लिये, उनका नियन्त्रण करना बहुत आवश्यक हो जाता है। इनके यथेष्ट नियन्त्रण की कठिनाई का अनुभव करके बहुत से देशों मे डाक, तार, रेल आदि का कार्य सरकार द्वारा होता है। प्रायः मनुष्य जब व्यक्तिगत उत्पादन करते हैं तब वे जनता के हित का ध्यान नही रखते। इसलिये ऐसा विचार किया जाता है कि जब दूरवर्ती हितों का प्रश्न हो तो सरकार द्वारा उत्पादन होना अच्छा है। कुछ कार्य से खर्च भी नहीं निकलता परन्तु वे जनता के हित के लिये अत्यन्त आवश्यक होते है, जैसे पुल तथा सडकें। ऐसे कार्य सरकार स्वयं करती है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जो विशेषतया आर्थिक नहीं होते। जैसे सैनिक अस्त्र-शस्त्र का निर्माण। ये कार्य पूर्णतया व्यक्तियों के भरोसे नहीं छोड़े जा सकते। अतएव प्रायः इनका उत्पादन सरकार ही करती है। कभी-कभी सरकार आय की दृष्टि से भी उत्पादन कार्य स्वय करती है। जैसे भारत मे नमक का उत्पादन। आपतकाल मे सरकार को सैनिक सामग्री की आवश्यकता होने के कारण वह उत्पादन के सब साधनों पर अपना नियन्त्रण कर लेती है तथा उसकी पूर्ति पर भी नियन्त्रण कर जनता मे उचित रीति से वस्तु का वितरण करती है।

रूस मे वर्तमान समय में प्रायः प्रत्येक वस्तु का उत्पादन सरकार स्वय करती है। सरकार जनता के मॉग की सारिणी तैयार कर उसके अनुसार नियत समय में उस मॉग को पूरा करने का प्रबन्ध करती है। उत्पत्ति के प्रायः सभी साधन उसी के अधीन है। इसलिये पूँजी की कमी नही हो पाती और उत्पत्ति की मात्रा भी सबसे अधिक कम खर्च मे होती है। धन का वितरण भी सम्पूर्ण जनता मे प्रायः बराबर होता है। दस

बीस वर्षों मे ही रूस ने जो आर्थिक उन्नति करली है वह दूसरे देशो के लिये अनुकरणीय है।

उद्योग-धंधों की राष्ट्रीयकरण—उत्पादन-कार्य दो प्रकार मे होता है। एक तो यह कि उत्पादक को उसे चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, राज्य की ओर से उसमे कोई हस्तक्षेप न हो। इसे व्यक्तिवाद कहते हैं। दूसरा प्रकार यह है कि उत्पत्ति के साधनों का स्वामित्व राष्ट्रीय सरकार के हाथ मे हो। प्रारम्भ मे बहुत समय तक पहले मार्ग का अनुसरण हुआ, उससे पूँजीवाद की वृद्धि हुई, जिसका परिणाम हुआ मजदूर तथा पूँजीपतियो का सघर्ष। इस पर ऐसे कानून बने जिनसे उत्पादन तथा वितरण सम्वन्धी समस्याओं मे सरकार को पर्याप्त अधिकार मिले। आजकल प्रायः इसी नीति का अनुसरण किया जा रहा है। अब प्रत्येक देश मे, यहाँ तक कि ब्रिटेन जैसे पूँजी वाले देशों मे भी, राष्ट्रीयकरण की माँग बढती जा रही है। श्रमजीवियो के हितों की रक्षार्थ कानून बनाना, उनको सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना, धधों की वाह्य प्रतियोगिता से रक्षा करना, अनुसन्धान सम्बन्धी सामग्री प्रदान करना तथा आर्थिक सहायता देना—ये सब बाते उद्योग-धधों को राष्ट्रीयकरण की ओर ले जा रही हैं।

राष्ट्रीयकरण के मुख्य दो रूप हैं। एक तो यह है कि सरकार ही उद्योग-धधों का प्रबन्ध तथा सचालन करे और उसमे लगाने के लिए आवश्यक पूँजी भी जुटाए। दूसरा यह है कि उत्पादन-कार्य का सचालन तथा प्रबन्ध व्यक्तियों के हाथ में हो और वे ही मुनाफे के अधिकारी हों परन्तु उनका नियत्रण या कन्ट्रोल सरकार करे।

आर्थिक बातों मे देश-काल तथा परिस्थिति के अनुसार ही परिवर्त्तन हुआ करते हैं और होने भी चाहिए। साधारणतया रेल, सडकें और अन्य मुख्य यातायात के साधनों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए, इनमे बहुत सी बातें ऐसी हैं, जिनकी ठीक-ठीक व्यवस्था राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही हो सकती है। बहुत से आधारभूत धधे ऐसे हैं जिनका उचित सचालन सरकार द्वारा अच्छी तरह हो सकता हैं। भारी रासायनिक द्रव्य और मशीन बनाने के कारखानों का भी राष्ट्रीयकरण होना उचित है, उनमे पर्याप्त पूँजी का जुटाना तथा देश-हित के उद्देश्य से उन्हे चलाने का कार्य राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही सुगमता से हो सकता है। छोटे पैमाने के व्यवसायों का सचालन राष्ट्र के हाथ मे देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा धन-वितरण की बहुत असमानता नही होती। हाँ, इनके सचालन के साधनों के लिये सरकार को सचालकों की उचित सहायता करनी चाहिए।

आर्थिक योजना—(Economic Planning) अभी हम यह बता चुके है कि उत्पत्ति के कार्य मे सरकार का भाग प्रायः सब देशों मे बराबर बढता जा रहा है। सरकार को इस कार्य मे तभी सफलता मिल सकती है जब अपना सब कार्य निश्चित योजना के अनुसार करे। इसलिये अपना कार्य आरम्भ करने के पहिले प्रत्येक सरकार आर्थिक योजना तैयार करती है। भारत मे भी आर्थिक योजना तैयार करने का कार्य आरम्भ हो गया है। भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना कर दी है। भारत के कुछ उद्योगपतियों ने एक आर्थिक योजना बनाई है जो बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध है। काग्रेस ने भी प० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व मे एक समिति राष्ट्रीय दृष्टि से आर्थिक योजना तैयार करने के लिये स्थापित की है। इसकी कुछ रिपोर्टें प्रकाशित भी हो गई हैं। आर्थिक योजना के अनुसार देश को सबसे अधिक लाभ तभी हो सकता है जब देश की सरकार राष्ट्रीय हो। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाने से हम आशा करते हैं कि वह ऐसी आर्थिक योजना को कार्यान्वित करने मे सफल होगी जिससे दस पन्द्रह वर्ष के अन्दर भारत मे इतनी उत्पत्ति होने लगेगी कि कोई भी मनुष्य अन्न-वस्त्र की कमी के कारण कष्ट न भोगेगा, दरिद्रता हमेशा के लिये दूर हो जायगी और देश भर मे सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जायगा।

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

अप्रेल सन् १९४८ मे भारत सरकार ने जिस औद्योगिक नीति की घोषणा की है उसकी मुख्य बाते नीचे दी जाती हैं :—

(१) शस्त्र और गोला बारूद का उत्पादन, परमाणु शक्ति का उत्पादन और रेलवे यातायात पर सरकार का अधिकार होगा।

(२) कोयला, लोहा, इस्पात, वायुयान निर्माण, जहाज निर्माण, रेडियो सेट, टेलीफोन यत्र और खनिज तेल पर सरकार का आवश्यक नियत्रण रहेगा। यद्यपि सरकार का इन उद्योगों के कारखानों पर कब्जा करने का सदा ही अधिकार रहेगा, १० वर्ष तक इन उद्योगों को पूँजीपतियो द्वारा ही पनपने का अवसर दिया जायगा।

(३) सब आधारभूत उद्योग-धधे केन्द्रीय सरकार द्वारा सयोजित या नियमित होंगे।

शेष औद्योगिक क्षेत्र में साधारणतः व्यक्तिगत और सामुहिक उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

१—धन की उत्पत्ति में सरकार की सहायता की कब और किस प्रकार आवश्यकता होती है ?

२—धन की उत्पत्ति में सरकार का नियंत्रण किन किन दशाओं मे किस सीमा तक आवश्यक होता है ?

३—सरकार द्वारा उत्पत्ति किन दशाओं मे आवश्यक है ? किन उद्योग धधों का राष्ट्रीयकरण इस समय भारत मे होना चाहिये ?

४—भारत सरकार की औद्योगिक नीति को समझाइये और उसकी आलोचना कीजिये ।

५—आर्थिक योजना की आवश्यकता समझाइये । इस सबध मे सरकार का क्या कर्तव्य है ?

तेईसवाँ अध्याय

उत्पत्ति की वृद्धि और आदर्श

पिछले अध्यायो मे भारतवर्ष मे होनेवाली उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विविध बातो का विचार किया जा चुका है । अब हमे यह सोचना है कि क्या यहाँ उत्पत्ति बढाने की आवश्यकता है ? तथा उत्पत्ति के विषय मे हमारा आदर्श क्या रहना चाहिए ? आदर्श-हीन तो कोई कार्य उचित नही है ।

उत्पत्ति की वृद्धिः स्वावलम्बन की आवश्यकता—हम पहले बता चुके हैं कि भारतवर्ष में यहाँ की जनसख्या को देखते हुए उत्पत्ति का परिमाण बहुत कम है, और इसलिए लोगों की आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है । उपज की मात्रा कम होने के कारणों पर प्रसगानुसार विचार किया जा चुका है । एक मुख्य कारण यह है कि अनेक आदमी यहाँ ऐसे हैं, जो उत्पादन मे भाग नही लेते । जब कि प्रत्येक व्यक्ति भोजन-वस्त्र आदि की विविध वस्तुओं का उपभोग करता है, अथवा अपने बच्चों को खिलाता पहिनाता है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह अपनी सामर्थ्य और सुविधानुसार उन चीजों की वृद्धि करे । किसी व्यक्ति का निठल्ला या निरुद्यमी रहना अनुचित है, यह एक अपराध है, पाप है । इस दृष्टि से वे सब बडे सेठ-साहुकार, पूँजीपति, जमीदार आदि दोषी हैं, जो कुछ विशेष काम नही करते और ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करते हैं । फिर, उन आदमियो के दोषी होने में तो

कोई सन्देह ही नही है, जो समर्थ होते हुए भी समाज के लिए कुछ भी सेवा या उपकार नही करते, और भिक्षा, या दान-वृत्ति आदि से अपनी गुजर करते हैं। जनता की श्रद्धा या धार्मिक भावनाओं का इस प्रकार लाभ उठाया जाना निंदनीय है। हाँ, जो व्यक्ति अपने किसी शारीरिक या मानसिक विकार के कारण कुछ उत्पादन-कार्य नही कर सकते, उनका दूसरों के आश्रित रहना बुरा नहीं। बच्चो, लगडे-लूले, अपाहिजों या रोगियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था करना उनके परिवारवालों तथा समाज का कर्त्तव्य है। अस्तु, यदि इन बातो का ध्यान रखा जाय, और श्रम करने योग्य हरेक आदमी स्वावलम्बी हो तो देश मे उत्पत्ति यथेष्ट हो जाय, कुछ कमी न रहे, यह स्पष्ट ही है।

कैसी चीज़ों की उत्पत्ति की जानी चाहिए ?—अच्छा, क्या ऐसी प्रत्येक चीज बना ली जाया करे, जो विनिमय-साध्य हो ? हम पहले बता चुके है कि कई प्रकार की वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनके बनाने का श्रम व्यक्तिगत दृष्टि से उत्पादक माना जाने पर भी सामाजिक दृष्टि से उत्पादक नही होता। उदाहरण के तौर पर एक आदमी मादक वस्तुएँ बनाता है, अथवा, आतिशबाजी या विलासिता की चीजे बनाता है। समाज की मौजूदा हालत मे उस आदमी को उन चीजों की कीमत मिल जाती है, और वह अपने आपको उत्पादक कह सकता है। परन्तु उसके समय या शक्ति से समाज की कुछ भलाई न होकर, हानि ही होती है। यदि यह आदमी अन्न-वस्त्र आदि बनाता, कृषि के लिए उपयोगी औजार बनाता, दूध देनेवाले पशुओं के भरण-पोषण का काम करता, अथवा किसी उद्योग-धन्धे मे लगता तो उसको लाभ होने के साथ-साथ उससे समाज का भी बहुत हित-साधन होता। इसलिए हमे ऐसी ही चीजो की उत्पत्ति करनी चाहिए, जो केवल हमारे लिए कुछ आमदनी का साधन न हों, वरन् उनसे समाज की भी भलाई हो।

यही नही समाज की सुरक्षा और विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि कुछ आदमी अपने निजी स्वार्थ को त्याग कर अपने श्रम का लाभ जाति और देश को पहुँचाएँ, वे ऐसी चीजे बनाएँ, ऐसे आविष्कार या अनुसधान करे, जिनसे समाज की मौजूदा समस्याओं का हल हो। वे ऐसी सेवाएँ करे, जिनसे चाहे उन्हे विशेष आमदनी न हो पर समाज का हित अवश्य हो। भारतवर्ष मे बहुत से साधु-सत, महात्मा, कथावाचक, लेखक, कवि, चिकित्सक आदि समय-समय पर अपना जीवन समाज के लिए अर्पण करते रहे हैं। इस समय भी स्वार्थ त्याग करनेवाले परोपकारी नेताओ और कार्यकर्ताओ का अभाव नहीं है। हाँ, राष्ट्र की वर्त्तमान अवस्था मे ऐसे आदमी काफी अधिक सख्या मे होने चाहिएँ।

उत्पत्ति का आदर्श स्वार्थवाद या पूँजीवाद—प्रायः प्रत्येक देश मे कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो धन कमाना ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे किसी भी साधन से, ईमानदारी से अथवा बेईमानी से, जायज तरीके से, अथवा नाजायज तरीके से, सदैव धन प्राप्त करने की धुन मे लगे रहते हैं। इस स्वार्थवाद का चरम स्वरूप आजकल के पूँजीवादियों मे दिखाई देता है। इसके मुख्य दो लक्षण होते हैं :—

(क) पूँजीपति उत्पादन के सब साधनों के स्वामी होते हैं। अनेक किसान उस जमीन के भी मालिक नहीं होते, जिसे वे जोतते हैं। खेती का बीज, औजार या मशीनें भी उनकी नहीं होतीं। फलतः जो पैदावार होती है, वह भी सब उनकी नही होती। पूँजीपतियों के आश्रित मजदूरों का सा जीवन बिताते हैं। अब मजदूरों की बात लीजिये। उनका कल-कारखानों पर कुछ अधिकार नही होता, वे जब चाहे कारखाने से निकाले और काम करने से रोक जा सकते हैं। निदान, पूँजीवादी की दशा मे मुट्ठी भर आदमी लखपति या करोड़पति होते हैं तो लाखों व्यक्ति निर्धन और अनेक तो अपने जीवन-निर्वाह की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति मे भी असमर्थ, भूखे और नगे रहते हैं।

(ख) पूँजीवादी उसी उत्पादन को सफल समझता है, जिससे उसको नफा हो। अन्य पैदावार को वह व्यर्थ मानता है, इसलिए अनेक बार हजारों और लाखों आदमियों के भूखे नगे रहते हुए भी वस्तुओं का भाव बढाने के लिये भोजन वस्त्र की विपुल सामग्री समुद्र या अग्नि की भेट कर दी जाती है, अथवा देश की बहुत सी शक्ति विलासिता की, या युद्धोपयोगी वस्तुएँ बनाने में लगायी जाती है, जिससे धन-जन की अपार क्षति होती है।

पूँजीवादी प्रथा मे धन तो पैदा होता है, परन्तु जनता को अभीष्ट सुख की प्राप्ति नहीं होती। जनता दो भागों मे विभक्त हो जाती है। इन दोनों मे परस्पर कलह और ईर्षा रहती है। पूँजीपतियों को अधिकाधिक धन की तृष्णा लगी रहती है, अथवा उन्हे यह चिन्ता सताती है, कि इस दिन दूनी, रात चौगुनी बढनेवाली सम्पत्ति का क्या किया जाय। श्रमजीवी वर्ग अपने जीवन-निर्वाह की आवश्यकताओं के अभाव से होने वाले दुःख का अनुभव करता है, और अपनी आहों से पूँजीपतियों का और पूँजीवाद के युग का अन्त करना चाहता है। इससे स्वय पूँजीपतियों की भी अपार हानि होती है। उन्हे चैन या शान्ति नही मिलती। पुनः यदि वे अपने लिये सब प्रकार से स्वास्थ्यप्रद भवन भी बनवा लें तो जब उनके चहुँओर निर्धन श्रमजीवियों का निवास है, जो तग और गन्दी झोपडियों में रहने, घटिया भोजन खाने और मैले

वस्त्र पहिनने से आये दिन बीमार रहते हैं, तो विविध रोगों के कीटाणुओं से परिपूर्ण ऐसे वातावरण मे पूँजीपति भी स्वस्थ और निरोग नही रह सकते। यही कारण है कि कुछ पूँजीपति, स्वय अपने स्वार्थ की दृष्टि से भी श्रमजीवियों के लिये स्वास्थ्य-नियमों के अनुसार अच्छे मकान बनवाते हैं, तथा उनके खान-पान आदि की भी व्यवस्था करने की ओर ध्यान देते हैं। तथापि जैसा ऊपर कहा गया है, अधिकाश पूँजीपतियों का दृष्टिकोण स्वार्थमय रहने के कारण वे उक्त कार्य बड़ी कृपणता से करते हैं। वे मजदूरों को आखिर मजदूर ही रखना चाहते हैं, उन्हे अपनी बराबरी का तो बनाने से रहे। निदान, पूँजीवाद मे दो श्रेणी रहनी अनिवार्य हैं, पूँजीपति और मजदूर अथवा मालिक और नौकर। और, यह भेद समाज के लिये कभी हितकर नही होता।

ससार की रचना इस प्रकार की है कि यदि कोई व्यक्ति या वर्ग चाहे कि सर्वत्र नरक-यातनाएँ बनी रहे और केवल उसके लिए स्वर्गीय सुख उपलब्ध हो तो यह हो नही सकता। औरों के कष्ट मे रहते हुए हमे अभीष्ट सुख नही मिल सकता। हम सुख चाहते हैं तो हमे दूसरों के लिये भी त्याग करके उदारता पूर्वक सुख की सृष्टि करनी चाहिये।

परमार्थवाद—उत्पत्ति के ध्येय की एक सीमा पूँजीवाद है, तो दूसरी सीमा परमार्थ है। इसके कई दर्जे या भेद हैं। (१) कुछ आदमी वस्तुओं की उत्पत्ति मे ही परमार्थ या परोपकार का भाव रखते हैं, (२) अपनी सेवाएँ त्याग-भाव से करते हैं, (३) कुछ अपने उपार्जित धन को दूसरों के हितार्थ लगाते हैं। कुछ उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा।

कुछ आदमी या सस्थाएँ बहुत रुपया लगाकर गीता, रामायण, बाइबल आदि धार्मिक पुस्तको की हजारों लाखो प्रतियाँ छपाते हैं, या कोई धार्मिक पत्र-पत्रिका प्रकाशित करते हैं, और उसे बिना मूल्य या नाम मात्र के मूल्य पर सर्व साधारण में वितरित कराते हैं। कितने ही धनी मानी सज्जन धर्मशाला, कुआँ, तालाब, पाठशाला, अनाथालय, औषधालय, प्रसूत-गृह, विधवाश्रम आदि बनवाते हैं तथा उनके प्रबन्ध के लिए रुपया इसलिए लगाते हैं कि उससे दूसरों का हित हो। इनमे से बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जो स्वयं अपने लिए भी काफी उत्पत्ति करते हैं, और इस प्रकार उन्हे अपने खान-पान या रहन सहन मे विशेष कष्ट या असुविधा नही होती। तथापि कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो अपनी उत्पत्ति का प्रधान लक्ष्य परोपकार रखते हैं। अनेक साधु महात्मा अपने लिए कुछ दान-दक्षिणा ग्रहण नहीं करते, रूखे-सूखे भोजन और नाम-मात्र के वस्त्र से सन्तोष करते हैं, परन्तु इस बात का

उद्योग करते रहते हैं कि स्थान-स्थान पर कुएँ, बावड़ी, बाग, प्याऊ या धर्मशाला आदि बन जायँ, जिनसे सर्वसाधारण को लाभ हो।

परमार्थ की दृष्टि से सेवा करने वालों की थोड़ी-बहुत सख्या सभी देशों मे होती है। भारतवर्ष मे कितने ही आदमी अपना बहुमूल्य समय राष्ट्रीय कार्य, साहित्य सेवा, या शिक्षा-प्रचार आदि मे लगाते हैं, जिसका प्रतिफल वे सामान्य भोजन वस्त्र के अतिरिक्त और कुछ नहीं लेते। यदि ये चाहे तो अपनी शक्ति और योग्यता का उपयोग ऐसे उत्पादन कार्य मे कर सकते हैं, जिससे इन्हे प्रति मास सैकड़ों रुपयों की आमदनी हो, परन्तु ये उस आमदनी को त्याग कर अपनी सेवा देश और समाजहित मे लगाने का ही ध्येय रखते हैं।

कितने ही आदमी अपना उपार्जित धन दूसरों को भोगने देते हैं, तदुपरान्त यदि कुछ शेष रहे, तो जो कुछ भी उन्हे मिलता है, उसी मे वे सन्तोष कर लेते हैं और यदि कुछ शेष न रहे तो भी उन्हे कुछ चिन्ता नहीं होती। भारतीय इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे हैं, कि एक व्यक्ति के पास केवल उसकी ही आवश्यकता की पूर्ति के लिये भोजन था, पर अनायास कोई अतिथि आ गया, उसने भोजन उसे दे दिया और स्वय भूखा रह गया और स्वेच्छानुसार भूखा रहने मे ही उसने परमानन्द का अनुभव किया। कितने ही महान् आत्माओं ने घोर शीतकाल मे अपना एक मात्र वस्त्र उतार कर दूसरे को दे दिया, जिसमे उसे ठड न लगे। ये महापुरुष दूसरों की आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक महत्व देते हैं। इनकी नीति 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' होती है। समस्त विश्व ही इनका परिवार होता है।

मध्यम मार्ग—सर्वसाधारण इन महानुभावों को श्रद्धाजलि चढाते हैं, और इनका गुण-गान करते हैं। तथापि इनका मार्ग कुछ थोडे से व्यक्तियों का ही होता है, और हो सकता है साधारण आदमी इनका अनुकरण नहीं कर सकते, ऐसा करना उनके लिये व्यावहारिक नहीं है। सर्वसाधारण के लिए उत्पत्ति का ध्येय न परम स्वार्थवाद होता है, और न विशुद्ध परमार्थवाद ही। उनका लक्ष्य 'जीओ और जीने दो', का होता है। यह बतलाता है कि हमे आत्म-रक्षा करनी चाहिये, अपना भरण-पोषण करना चाहिये, पर दूसरों को कष्ट देकर या दूसरों का शोषण करके नहीं, वरन् उनका भी हित साधन करते हुए ही। भारत का, विशेषत. हिन्दुओं का धनोत्पत्ति सम्बन्धी आदर्श यही है।

उत्पत्ति का आदर्श—उत्पत्ति के तीन ध्येय ऊपर बताए गये है, इनमे पूँजीवाद तो आदर्श योग्य है ही नही, उससे कितना अनर्थ होता है, यह पहले बताया जा चुका है। परमार्थवाद से समार का बडा कल्याण हो सकता है, उसमे सब कष्टो का अन्त हो कर जन-समाज के लिये स्वर्गीय सुख की प्राप्ति हो सकती है। इसलिए वह आदर्श के सर्वथा योग्य है, यही एक ऐसा आदर्श है जिसे विचारवान और विवेकशील व्यक्ति प्राप्त करने के इच्छुक हो। कुछ आदमियों को इस आदर्श की प्राप्ति मे थोड़ी बहुत सफलता भी मिल सकती है। परन्तु यदि हम यह समझे कि इसे सर्वसाधारण अपने जीवन मे पूर्णतया परिणत कर सकेगे तो यह दुराशा मात्र है, स्वाभाविक नही है। अतः सर्वसाधारण के लिये परमार्थवाद व्यावहारिक न होने से, उसे मध्यम मार्ग ही ग्रहण करना चाहिये, पूँजीवादी बनने को तो किसी भी दशा मे विचार ही न किया जाना चाहिये। रूस मे जो उत्पत्ति की जाती है, उसका ध्येय यही है कि उससे किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का लाभ न होकर समस्त समाज का ही लाभ हो। क्योंकि वहाँ सभी व्यक्ति समाज-हित की दृष्टि से उत्पादन मे भाग लेते हैं, इसलिये वहाँ किसी व्यक्ति वा व्यक्तिगत समूह के मुनाफे का प्रश्न ही नही रहता। वहाँ 'प्रत्येक सब के लिये, और सब प्रत्येक के लिये' का भाव है।

हिन्दुओं के धर्म ग्रन्थो मे स्पष्ट रूप से यह आदेश किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य धन को धर्मपूर्वक ही प्राप्त करे। उसे इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि उसका धन-प्राप्ति का कोई तरीका धर्म-विरुद्ध न हो अर्थात् ऐसा न हो जिससे दूसरो की हानि होती हो या शोषण होता हो। हमारे धर्म-शास्त्र कहते हैं कि बेईमानी से अथवा अधर्म से प्राप्त किये धन से कभी सुख और शांति प्राप्त नहीं होती—वह धन मनुष्य को अन्त मे पशु बना देता है। धन मे अपार शक्ति है। उस शक्ति का उपयोग अपनी और समाज की दशा सुधारने मे किया जा सकता है। उसी का उपयोग अपनी और समाज की दशा बिगाडने मे भी किया जा सकता है। अधर्म से प्राप्त धन द्वारा देश और समाज के हित की बहुत कम सभावना होती है। यदि देश मे प्रत्येक व्यक्ति धन कमाते समय, उसके तरीके धर्म के अनुसार ही बनाये रखने का हमेशा ध्यान रखे, किसी का शोषण न करे, कभी भी अधर्म से धन प्राप्त करने का प्रयत्न न करे, तो ससार के भिन्न-भिन्न देशों मे जो आर्थिक सघर्ष दिखायी देता है, वह मिट जाय, सब देश पूँजीवाद, भौतिकवाद इत्यादि के हानि कारक परिणामो से बच जायँ और ससार मे सुख और शांति की वृद्धि हो।

उपसंहार—अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को धन इस प्रकार से प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये जिससे किसी दूसरे व्यक्ति की, या अपने देश की हानि न होने पावे। यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे का माल चुराता है तो सरकार उसे दंड देती है। परन्तु कई कार्य ऐसे भी हैं जिनके लिये सरकार दंड नहीं देती, तथापि जिनसे दूसरों का तथा देश का नुकसान होता है। यदि कोई पूँजीपति अपने कारखाने में मजदूरों से, अधिक मुनाफे की लालच से, अत्यधिक काम लेकर उनको बहुत कम मजदूरी देता है और उनके स्वास्थ्य की परवाह नहीं करता तो वह देश और समाज को हानि पहुँचाता है। यदि कोई वकील अपने मुवक्किलों को उचित सलाह न देकर अपनी आमदनी की लालच से उनको व्यर्थ की मुकदमेबाजी में फँसाता है तो वह समाज और देश को हानि पहुँचाता है। इस प्रकार के कार्य वे ही लोग करते हैं जो धन को ही अपना ध्येय बना लेते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि धन केवल सुख का साधन मात्र है और जब धन प्राप्त करने के प्रयत्नों से समाज या देश का दुःख बढ़ता है, तो यह स्पष्ट है कि उस धन की उत्पत्ति आदर्श-विरुद्ध है। धनोत्पत्ति के ऐसे हानिकारक उपायों को अमल में न लाया जाना चाहिये। आशा है, पाठक धनोत्पादन में धर्म की विस्मृति न करेंगे, अर्थात् उत्पत्ति का आदर्श केवल अपना स्वार्थ-साधन न रख कर, उनके साथ ही, देश और समाज का हित-साधन रखेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१—धनोत्पत्ति का मुख्य उद्देश क्या है? इस प्रश्न पर सामाजिक दृष्टि से भी विचार कीजिये।

२—धनोत्पत्ति का आदर्श क्या होना चाहिये?

३—पूँजीवाद के गुण-दोष लिखिये।

४—धर्म और अर्थ का संबंध समझाइये।

५—परमार्थवाद कहाँ तक व्यावहारिक है?

६—भारत में धनोत्पत्ति के ऐसे उदाहरण दीजिये जो आदर्श के अनुसार दोषपूर्ण हैं।

७—वकील, जमींदार, साधु, सट्टेबाज और तीर्थ-स्थानों के पंडों के कार्यों की सामाजिक दृष्टि से आलोचना कीजिये।

८—भारत में कैसी वस्तुओं की उत्पत्ति को बढ़ाना चाहिये?

चतुर्थ खंड

विनिमय

चौबीसवाँ अध्याय

अदल-बदल (Barter)

विनिमय के भेद, अदल बदल और क्रय-विक्रय—पहले बताया जा चुका है कि किसी आदमी का काम केवल अपनी ही बनाई वस्तुओं से नहीं चल सकता। उसे दूसरो की बनाई हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है, इन्हें लेने के लिये उसे दूसरों को बदले मे ऐसी वस्तुएँ देनी होती हैं, जिनकी उन्हे जरूरत हो। इस प्रकार का व्यवहार अति प्राचीन काल से होता रहा है। इस समय भी कहीं-कहीं विशेपतया ग्रामों मे इसका चलन है। इसे विनिमय (Exchange) कहते हैं। यह दो प्रकार से होता है। (१) जिसमे वस्तु के बदले वस्तु दी जाती है। यथा राम को मोहन की पुस्तक की आवश्यकता है, और मोहन को राम की कमीज की जरूरत है। इस दशा मे राम मोहन को कमीज देकर उससे पुस्तक ले लेता है। इसे अदल-बदल कहते हैं। (२) जिसमे वस्तु के बदले द्रव्य दिया जाता है। राम को मोहन की पुस्तक की आवश्यकता है, और वह मोहन को पुस्तक का मूल्य दो रुपये देकर उससे पुस्तक ले लेता है। इस दशा मे राम पुस्तक खरीदता है अर्थात् क्रय करता है। यदि मोहन की दृष्टि से विचार करे तो वह पुस्तक बेचता है अर्थात् विक्रय करता है। इसे क्रय-विक्रय कहते हैं।

अदल-बदल से दोनों पक्ष को लाभ—अदल-बदल दो वस्तुओं का होता है, और विनिमय करने वाले कम से कम दो व्यक्ति होते हैं। जैसे, उपर्युक्त उदाहरण मे अदल-बदल करने वाले राम और मोहन हैं। अदल-बदल से दोनों पक्ष को किस प्रकार लाभ होता है, यह नीचे समझाया जाता है।

कल्पना करो कि अ के पास छः सेव हैं, और ब के पास छः केले हैं। अ को कुछ केलों की आवश्यकता है, और ब को कुछ सेवों की। अ अपना एक सेव देकर एक केला उसी दशा मे लेगा, जब उसे केले द्वारा उससे अधिक सतुष्टि प्राप्त हो, जितनी कि उसे सेव के देने मे त्याग करना पड़े, अथवा यों कह सकते हैं जब कि अ के लिये केले से मिलने वाली उपयोगिता उसके सेव की सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो। इसी प्रकार ब अपना केला उसी दशा मे देना स्वीकार करेगा जब उसके लिये सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता केले की सीमान्त उपयोगिता से अधिक हो।

कल्पना करो अ और ब के लिए सेव और केलों की उपयोगिता निम्नलिखित कोष्ठक के अनुसार है :—

सेव और केलो की क्रम सख्या	अ के लिये सेवों की उपयोगिता	अ के लिए केलों की उपयोगिता	ब के लिए केलो की उपयोगिता	ब के लिए सेवों की उपयोगिता
१	१००	११०	१२०	१३५
२	९९	१०५	११५	१२५
३	९८	९५	११०	१००
४	९६	८५	१००	७०
५	९३	७०	८५	३५
६	८८	५०	६०	२०

अ, ब से एक केला प्राप्त करने के लिए उसे एक सेव देता है तो इस अदल-बदल से, अ सेव की अन्तिम उपयोगिता ८८ इकाई के बदले केले की प्रारम्भिक उपयोगिता की ११० इकाई प्राप्त करेगा। इससे उसे ११०—८८=२२ इकाई का लाभ होगा। ब केले की अतिम उपयोगिता की ६० इकाई के बदले सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता की १३५ इकाई प्राप्त करेगा। उसे १३५—६० = ७५ इकाई का लाभ होता है। इस प्रकार इस अदल-बदल मे दोनों को लाभ है, अतः दोनों इसे प्रसन्नतापूर्वक करना चाहेगे। अब आगे की बातें लें।

अ अपने पाँचवें सेव की अन्तिम उपयोगिता की ९३ इकाई के बदले दूसरे केले की उपयोगिता की १०५ इकाई प्राप्त करता है, इससे उसे १२ इकाई का लाभ होता है। ब अपने पाँचवे केले की अन्तिम उपयोगिता की ८५ इकाई के बदले दूसरे सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता की १२५ इकाई प्राप्त करता है, इससे उसे १२५—८५ = ४० इकाई का लाभ होता है।

इस प्रकार इस अदल-बदल में भी दोनों को लाभ है, अतः दोनों इसे प्रसन्नतापूर्वक करेंगे।

अब यदि अ ब को तीसरा सेव देता है तो वह अपने चौथे सेव की अन्तिम उपयोगिता की ९६ इकाई के बदले तीसरे केले की उपयोगिता ९५ इकाई प्राप्त करता है। इससे अ को एक इकाई की हानि होती है। ब अपने चौथे केले की अन्तिम उपयोगिता की १०० इकाई के बदले तीसरे सेव की प्रारम्भिक उपयोगिता की केवल १०० इकाई प्राप्त करेगा, अर्थात् उसे १०० – १००=० हानि लाभ कुछ न होगा। इस अदल - बदल मे अ को हानि है इससे अ उसके लिए तैयार न होगा और इस प्रकार यह अदल-बदल नहीं होगा।

कोष्ठक के अंकों पर ध्यान देने से विदित होगा कि यदि अदल-बदल न हो तो अ को अपने छः सेवों से उपयोगिता की १००+९९+९८+९६+९३+८८=५७४ इकाई प्राप्त होती। परन्तु अब अदल-बदल करके उसने दो केलों और चार सेवों से उपयोगिता की (११०+१०५)+(१००+९९+९८+९६)=२१५+३९३=६०८ इकाई प्राप्त कर ली। इसी प्रकार अदल-बदल न होने की दशा मे ब को अपने छः केलों से उपयोगिता की १२०+११५+११०+१००+८५+६०=५९० इकाई मिलती, परन्तु अदल-बदल करने से उसे दो सेवों और चार केलों की (१३५+१२५)+(१२०+११५+१२०+१००)=२६०+४५५=७०५ इकाई प्राप्त कर ली। इस प्रकार अदल-बदल से दोनो को लाभ हुआ।

अदल-बदल की शर्तें—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अदल-बदल होने के लिए निम्नलिखित बातें होनी आवश्यक हैं :—

१—दो व्यक्ति (या दल) ऐसे हों, जिनमे प्रत्येक को दूसरे की वस्तु की इच्छा हो। उपर्युक्त उदाहरण मे यदि अ को ब के केलों की, और ब को अ के सेवों की इच्छा न होती तो अदल-बदल का प्रश्न ही उपस्थित न होता।

२—दोनों पक्ष मे से प्रत्येक दूसरे की वस्तु प्राप्त करने के लिए अपनी वस्तु देने को राजी हों।

३—प्रत्येक पक्ष को अदल-बदल द्वारा प्राप्त वस्तुओं से इतनी उपयोगिता मिले जो उसकी अपनी वस्तुओं की उपयोगिता से अधिक हो।

यदि कोई अदल-बदल की क्रिया होती है, तो यह समझना होगा कि अदल-बदल करने वाले दोनों पक्ष को उस समय उसमे लाभ हुआ है।

अभ्यास के प्रश्न

१—विनिमय की परिभाषा लिखिए। सिद्ध करिए कि विनिमय द्वारा दोनों पक्षों को उपयोगिता का लाभ होता है। क्या किसी हालत मे यह लाभ शून्य हो जाता है? (१९३४)

२—अदल-बदल की शर्तों को समझाइए। क्या कारण है कि अदल-बदल की जगह मुद्रा का प्रचार आरम्भ हुआ? (१९२७)

३—अदल-बदल की असुविधाएँ उदाहरणों सहित समझाइए।

४—"किसी वस्तु की बिक्री मे बेचने वाले और खरीदने वाले दोनों को लाभ होता है।" उदाहरण सहित समझाएँ।

५—नीचे के कोष्ठक मे चावल, कपडा और दूध की सीमात उपयोगिता अ, ब और स तीन व्यक्तियो का दी जाती है। अ के पास ५ सेर चावल है, ब के पास ५ गज कपड़ा है और स के पास ५ सेर दूध है। यदि एक सेर चावल के बदले मे एक गज कपड़ा या एक सेर दूध का अदल-बदल होता है तो बतलाइये कि अ अपने चावल के बदले मे कितने गज कपड़ा और कितने सेर दूध लेगा? यह भी सिद्ध कीजिये कि इस अदल-बदल से तीनो को लाभ होगा।

सीमान्त उपयोगिता

	चावल	कपड़ा	दूध
१	६०	५०	५०
२	५५	४०	३५
३	५०	३०	२०
४	४५	२०	१०
५	४०	१०	५

पच्चीसवाँ अध्याय

वस्तुओं की कीमत

पिछले अध्याय में विनिमय के एक स्वरूप अदल-बदल के सबध मे लिखा जा चुका है। इस अध्याय में उसके दूसरे स्वरूप क्रय-विक्रय के विषय में विचार किया जाता है।

अदल-बदल की असुविधाएँ आजकल हमें जब किसी वस्तु की आवश्यकता पडती है तो बाजार जाकर उसे मोल लेते हैं अर्थात् जिस मनुष्य के पास वह वस्तु रहती है उसे कुछ पैसे या रुपए देकर बदले मे उस वस्तु को ले लेते हैं। इस खरीद-फरोख्त की इस प्रणाली का विकास क्यों हुआ ? बात यह है कि अदल-बदल मे एक बडी दिक्कत होती है। उसमें खरीददार और बेचने वाला ऐसा होना चाहिए कि एक को दूसरे की वस्तु की आवश्यकता हो। यदि श्याम के पास आम है और मोहन के पास खरबूजा, तो अदल-बदल के लिए यह आवश्यक है कि श्याम को खरबूजों की आवश्यकता हो और मोहन को आम की। यही नहीं, यह भी जरूरी है कि आमों को लेने के लिए मोहन खरबूजा देने को तैयार हो, और इसी प्रकार श्याम का आम देने को राजी होना आवश्यक है।

एक बात और मान लीजिए। राम के पास एक पुस्तक है और वह उसके बदले मे आम और खरबूजा दोनों लेना चाहता है। परन्तु वह तो तभी हो सकता है जब श्याम और मोहन मिल कर किसी निश्चित दर से आम और खरबूजा देकर पुस्तक लेने को तैयार हों।

इन असुविधाओं को दूर करने के लिए धीरे धीरे विनिमय के माध्यम अर्थात् रुपए-पैसों अर्थात् मुद्रा का विकास हुआ। इनके सम्बन्ध में विशेष आगे लिखा जायगा। मुद्रा के आविष्कार के पश्चात् राम अपनी पुस्तक को बाजार में बेच सकता है, मान लीजिए उसे आठ आने पैसे मिले। इसमे से कुछ पैसों के वह आम खरीद लेगा और कुछ के खरबूजे। इसी प्रकार मोहन और श्याम भी आपस में पैसे देकर आम और खरबूजों की अदल-बदल कर सकते हैं।

खरीद (Purchase) **और बिक्री** (Sale)—रुपए-पैसो का माध्यम के रूप मे उपयोग करने से पहले की होने वाली अदला-बदली अब बहुत आसान हो गई है। मान लो शीतल किसान को कपडा लेना है। वह बाजार मे जाकर अनाज को रुपए के बदले मे दे देता है। उसके इस कार्य को बिक्री कहते हैं। बिक्री के द्वारा बेचने वाला, कोई वस्तु विशेष तो दूसरे को दे देता है और उससे रुपए ले लेता है। अनाज बेच चुकने पर शीतल कपड़े वाले के पास जाता है। वह रुपए के बदले उससे अपने मतलब के कपड़े ले लेता है। इस कार्य को "खरीद" कहते हैं। खरीद के द्वारा खरीददार रुपए देकर कोई वस्तु खरीद लेता है।

पूर्ति (Supply)—प्रश्न उठता है कि शीतल किस भाव में अनाज

बेचेगा। अनाज बेचने की दर पर माँग और पूर्ति दोनों का प्रभाव पड़ता है। उपभोग वाले खड मे माँग के बारे मे बताया जा चुका है। उसी प्रकार हमे पहले पूर्ति के सम्बन्ध मे भी ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

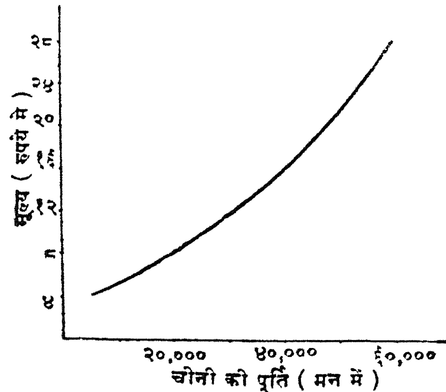
जिस प्रकार इच्छा और माँग मे भिन्नता है, उसी प्रकार पूर्ति स्टाक से भिन्न होती है। कृष्ण के पास सौ आमों का स्टाक हो परन्तु वह छै आना सैकडा पर केवल साठ आम बेचना चाहे तो हम कहेगे कि छै आना सैकड़ा पर आमो की पूर्ति साठ है।

पूर्ति की सारिणी और रेखा—भिन्न-भिन्न भावों पर किसी वस्तु की जो पूति रहती है उससे हम उसकी सारिणी बना सकते हैं। नीचे चीनी की पूर्ति की एक सारिणी उदाहरण स्वरूप दी जाती है।

मूल्य फी मन (रुपए मे)	चीनी की पूर्ति (मन मे)
४	५०,००
८	२०,०००
१२	३१,०००
१६	३६,५००
२०	४७,०००
२४	५४,०००
२८	६०,०००

इसी से पूर्ति की रेखा खीची जा सकती है जिसकी शक्ल नीचे दिए हुए चित्र मे दी गई है।

चीनी की पूर्ति की रेखा



२०,००० ४०,००० ६०,०००

चीनी की पूर्ति (मन में)

माँग को सारिणी से पता चलता है कि जैसे-जैसे मूल्य बढता है वैसे-वैसे माँग घटता है। पूर्ति की उपरोक्त सारिणी और रेखा से स्पष्ट है कि जैसे-जैसे मूल्य बढता है पूर्ति की मात्रा भी बढती जाती है।

पूर्ति का नियम—आमतौर पर हम हमेशा कह सकते हैं कि जैसे-जैसे मूल्य बढता है वैसे-वैसे पूर्ति बढती है और अधिकतर मूल्य घट जाने पर पूर्ति भी घट जाती है। यह पूर्ति का नियम है।

जिस प्रकार हम किसी समाज या बाजार की माँग की सारिणी और रेखा बनाते हैं ठीक उसी प्रकार भिन्न-भिन्न भावों पर सब दूकानदारों की पूर्ति को मिलाकर बाजार की पूर्ति की सारिणी और रेखा खींच सकते हैं।

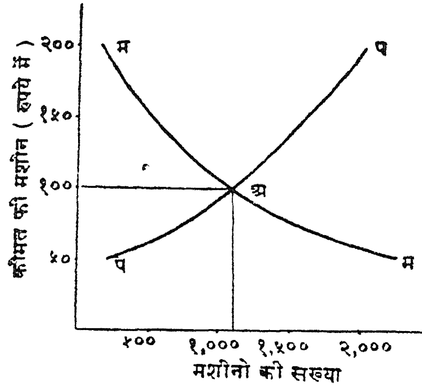
माँग और पूर्ति की समता (Equilibrium)—विनिमय या क्रय-विक्रय—खरीद-फरोख्त उस मूल्य पर होता है जिस पर माँग और पूर्ति बराबर होती है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि रमेश सेर भर खरबूजा खरीदने गया। उसने तीन पैसे सेर के भाव खरबूजा खरीदना चाहा। बेचनेवाले पाँच पैसे सेर का दाम माँगते हैं। यहाँ सौदा नहीं पटता। तब रमेश सेर भर के चार पैसे देता है। खरबूजा वाला बेचने को तैयार हो जाता है, और रमेश को सेर भर खरबूजा तौल देता है।

किसी मूल्य पर सौदा तय होने के लिए यह परमावश्यक है कि मूल्य पर माँग और पूर्ति बराबर हो। नीचे कोष्ठक मे कपडा सीने की मशीन की माँग और पूर्ति की सारिणी दी जाती है।

कीमत फी मशीन (रुपए में)	मशीनों की सख्या	
	माँग	पूर्ति
२००	१५०	२०००
१५०	५००	१७००
११०	६००	१२००
१००	११००	११००
७५	१५००	७५०
५०	१२००	२००

जैसे जैसे कीमत घटती जाती है वैसे-वैसे माँग बढती है और पूर्ति घटती है। सारिणी से स्पष्ट है कि १०० रु० फी मशीन की दर पर माँग और पूर्ति दोनों बराबर हैं, अतएव यही माँग पूर्ति का समताबिन्दु है।

मशीन की माँग और पूर्ति



ऊपर दिये हुए चित्र मे मॉग और पूर्ति की रेखाएँ अ विन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं। अतएव मशीन की कीमत १००) होगी और इस भाव पर ११०० मशीनें बिकेंगी। अस्तु, विनिमय उसी दर पर होता है जिस पर मॉग और पूर्ति बराबर होती है।

अब हम यह बतला देना चाहते हैं कि अर्थशास्त्र मे वस्तु का मूल्य (Value) एव वस्तु की कीमत (Price) से क्या मतलब है। मान लीजिये कि एक सेर घी देने से दस सेर गेहूँ मिल जाता है, तो एक सेर घी का मूल्य (Value) दस सेर गेहूँ के बराबर होगा। इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि दस सेर गेहूँ का मूल्य एक सेर घी के बराबर है। इसलिये मूल्य (Value) एक वस्तु का दूसरे वस्तु के प्रति सम्बन्ध बतलाता है।

परन्तु जब हम वस्तु का मूल्य (Value) द्रव्य (Money) मे प्रकट करते हैं तो वह द्रव्य इस वस्तु की कीमत (Price) कहा जायगा जैसे ऊपर के उदाहरण मे एक सेर घी यदि पॉच रुपयों मे खरीदा जा सकता है तो पॉच रुपये उस घी की कीमत होगी। कीमत सदैव इकाई की होती है। यदि दस सेर गेहूँ का मूल्य ढाई रुपया है तो ढाई रुपये दस सेर गेहूँ की कीमत नहीं कही जा सकती। ऐसी दशा मे एक सेर गेहूँ की कीमत चार आना होगी। इस प्रकार दस सेर गेहूँ का मूल्य ढाई रुपये हुआ और कीमत चार आना प्रति सेर हुई।

उत्पादन व्यय (Expenses of Production)—किसी वस्तु को तैयार करने में जितनी लागत व्यय हो उसे उत्पादन-व्यय कहते हैं। मान

लीजिये कि १०० फाउन्टेन पेन बनाने में यदि हमारा खर्च १०००) होता है तो १०) एक फाउन्टेन पेन का औसत उत्पादन व्यय होगा। परन्तु यह सीमान्त उत्पादन-व्यय से भिन्न भी हो सकता है। इस कारखाने में सभी फाउन्टेन पेन बनाने का जो खर्च होगा वह सौ फाउन्टेन पेन का सीमान्त उत्पादन व्यय माना जायगा। मान लीजिये कि इस कारखाने में अंतिम फाउन्टेन पेन बनाने का उत्पादन-व्यय १२) है तो फाउन्टेन पेन का इस कारखाने का सीमान्त उत्पादन व्यय १२) होगा।

अब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या वस्तु की बाजारू कीमत औसत उत्पादन-व्यय के अनुसार निश्चित होती है अथवा सीमान्त उत्पादन-व्यय से। यदि फाउन्टेन पेन बनाने वाला एक ही कारखाना है तो हमारे सामने कोई प्रश्न ही नहीं आता। कारण ऐसी परिस्थिति मे उत्पादन-कर्त्ता का एकाधिकार हो जायगा और वह वस्तु की कीमत इस प्रकार रखेगा कि उसे अधिक से अधिक लाभ हो। परन्तु जहाँ पर एक ही वस्तु के बनाने वाले दस कारखाने हैं वहाँ पर किस प्रकार मूल्य निर्धारित होना है? यदि हम औसत उत्पादन-कीमत लेते हैं तो कई एक कारखाने ऐसे भी होते हैं जिनका औसत उत्पादन-व्यय अधिक भी हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे तो वे कारखाने बन्द ही हो जावेंगे। इसलिये मूल्य हमेशा सीमान्त उत्पादन-व्यय से ही लिया जाता है। यदि यह सीमान्त उत्पादन-व्यय बाजारू कीमत से कम है तो उत्पादन-कर्त्ता फाउन्टेन पेन तब तक बढाता जायगा जब तक कि उत्पादन-व्यय बाजारू कीमत के बराबर नहीं होता। कारण उसे लाभ होता है। परन्तु यदि यह सीमान्त उत्पादन-व्यय बाजारू कीमत से घट जाता है तो उत्पादन-कर्त्ता उस वस्तु की उत्पत्ति को इस प्रकार कम कर देगा कि जिससे वस्तु की सीमान्त उत्पादन-व्यय बाजारू कीमत के बराबर हो जाय।

बाजारू कीमत और सामान्य कीमत (Market Price and Normal Price)—अब हम यह देखना चाहते हैं कि वस्तुओं की कीमत अल्पकाल एव दीर्घकाल मे किस प्रकार निर्धारित होती है। यह हम पहिले ही बता चुके हैं कि सभी वस्तु की कीमत उस वस्तु की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है। अतः कीमत निर्धारण में माँग और पूर्ति दोनों का ही महत्त्व रहता है। कभी माँग का महत्त्व अधिक रहता है तो कभी पूर्ति का। अतएव कीमत निर्धारण में रुपये का भी अधिक महत्त्व रहता है। साधारणत. हम कीमत को रुपये की दृष्टि से दो भागों में बाँट सकते हैं। (१) बाजारू कीमत (Market Price) (२) सामान्य कीमत (Normal Price) विनिमय के लिये आमतौर पर बाजारू कीमत उत्पादन व्यय के बराबर होती

है। बाजारू कीमत उसे कहते हैं जो बाजार मे किसी समय माँग और पूर्ति के सतुलन से निर्धारित हो। यह अस्थाई होने के कारण हम इसे अस्थाई सतुलन कहते हैं। यह कीमत अधिक समय तक स्थायी नही रहती। माँग और पूर्ति के सतुलन बाजार मे प्रति दिन घटते बढते रहते हैं। अतएव कीमत भी अस्थाई रहती है। बाजारू कीमत अल्पकालीन दृष्टि से तय होती है और सामान्य कीमत दीर्घकालीन दृष्टि से निर्धारित होती है। यह साधारण कीमत वस्तु के उत्पादन व्यय के बराबर होती है। अब हम बाजारू कीमत एव सामान्य कीमत अथवा साधारण कीमत पर अलग अलग विचार करते हैं।

बाजारू कीमत—(Market Price) यह पहिले बता चुके हैं कि किसी समय किसी वस्तु की जो कीमत बाजार मे होती है उसे बाजारू कीमत कहते हैं। वैसे तो माँग और पूर्ति द्वारा ही कीमत निर्धारित होती है। किन्तु बाजारू कीमत को तय करने मे माँग का अधिक महत्त्व रहता है। बाजार मे किसी विशेष वस्तु की पूर्ति तो अल्पकाल में सीमित ही रहती है। वह किसी प्रकार शीघ्र घट बढ नही सकती। अतएव किसी रोज यदि माँग बढ जाती है तो वस्तु की कीमत भी बढ जाती है। तथा माँग कम होने पर कीमत घट भी जाती है। माँग कम होने पर वस्तु का मूल्य भी कम होगा। इसके दो भेद हो सकते हैं। वस्तु की कीमत कभी कभी माँग कम होने पर भी कम नहीं होती। मान लीजिये कि गेहूँ की माँग यदि कम हो जाय तो इसकी कीमत कुछ समय तक कम न होगी। कारण यह है कि गेहूँ शीघ्र खराब नहीं होता। बेचने वाला उसे रख छोडेगा और जब उसकी माँग बढ़े तो उसे वह बेच सकता है। परन्तु यदि तरकारी की माँग घट जाती है तो कीमत भी घट जायगी। कारण यह है कि वह वस्तु शीघ्र नष्ट हो जायगी। जो वस्तु शीघ्र नष्ट नही होने वाली है उस पर भी बेचने वाले को विचार करना पडता है। वह यह कि भविष्य मे उस वस्तु की माँग घटेगी अथवा बढेगी। यदि बढ़ेगी तो वह नही बेचेगा, नही त बेच देगा। अतएव बाजारू कीमत को निर्धारण करने मे माँग का अधिक महत्त्व रहता है। कारण पूर्ति सीमित रहती है और वह किसी प्रकार भी तुरन्त घटाई बढाई नही जा सकती।

सामान्य कीमत—(Normal Price) अब हम सामान्य कीमत का विचार करते हैं। अल्पकाल मे माँग का प्रभाव अधिक होने के कारण बाजारू कीमत कम अथवा अधिक हो सकती है परन्तु हमेशा के लिए नही। ऐसी दशा मे जब उत्पादकों मे प्रतिस्पर्धा हो और किसी प्रकार का

एकाधिकार न हो और यदि किसी समय किसी वस्तु की बाजारू कीमत उत्पादन-व्यय से अधिक हो अर्थात् यदि बेचने वालो को मुनाफा हो तो और लोग उस वस्तु को तैयार करने लगेगे। फल यह होगा कि पूर्ति बढ जाने से बाजारू कीमत घट जायगी। इसी प्रकार यदि बाजारू कीमत उत्पादन व्यय से कम हुई तो नुकसान होने के कारण सीमान्त उत्पादक उस वस्तु को तैयार करना छोड देगे जिससे पूर्ति घट जायगी। फलतः पूर्ति की अपेक्षा मॉग अधिक होने के कारण बाजारू कीमत बढ जायगी। परन्तु दीर्घकालीन दृष्टि के विचार से कीमत सीमात उत्पादन व्यय के बराबर होगी। इसी कीमत को साधारण कीमत कहते हैं। जब हम सामान्य कीमत का विचार करते हैं तो इसमे समय इतना लम्बा रहता है कि वस्तु की पूर्ति को समयानुसार अर्थात् मॉग के विचार से घटा बढा सकते हैं। इसलिये साधारण कीमत को निर्धारित करने मे मॉग एव पूर्ति का बराबर भाग रहता है। इस साधारण कीमत पर एक विशेष समय मे बेचने वाले तथा लेने वाले बराबर मात्रा मे वस्तु को बेचने एव खरीदने को तैयार रहते हैं। अर्थात् सीमात पूर्ति को उत्पन्न करने में जो लागत खर्च रहता है उससे सीमात कीमत कम नहीं होती।

हम यह बता चुके हैं कि सामान्य कीमत मे मॉग और पूर्ति का महत्त्व बराबर रहता है और इसी सतुलन से सामान्य कीमत निर्धारित की जाती है। परन्तु यदि विशेष कारणों से सतुलन के घट बढ जाने से अर्थात् कभी मॉग और कभी पूर्ति घट बढ जाने से कीमत मे फरक पड जाय तो भी यह सतुलन शीघ्र ही अपने स्थान पर आ जाता है। कारण दीर्घकाल मे पूर्ति घटाई बढाई जा सकती है। यदि किसी वस्तु की कीमत बढ जाती है तो पूर्ति बढाने से फिर सतुलन स्थापित हो जाने से फिर कीमत अपने स्थान पर आ जायगी। अतएव यह कह सकते हैं कि सामान्य कीमत वह केन्द्र है जिसके चारों ओर बाजारू कीमत बराबर घूमती रहती है। इससे यह समझना चाहिये कि सामान्य कीमत दीर्घकाल मे बाजारू कीमत की औसत कीमत होती है। सामान्य कीमत का केन्द्र एक स्थान पर नही रहता। वह मॉग और पूर्ति के परिवर्तन से बदलता रहता है। इसका कारण तो स्पष्ट ही है। कारण यह है कि ससार मे परिस्थिति एक सी नही रहती। वह सदैव बदलती रहती है।

अति दीर्घकाल मे कीमत—यह हम पहले ही बता चुके हैं कि सामान्य कीमत ही का दीर्घकाल की कीमत से मतलब होता है। परन्तु अति दीर्घकाल पचीस पचास वर्ष के समय को कहते हैं। अति दीर्घकाल की विशेषता यह है कि उसमें वस्तुओ के उत्पादन के तरीको मे परिवर्तन होने के लिए काफी समय रहता है। आविष्कार के प्रभाव के लिए भी काफी समय

रहता है और इन्हीं कारणों से वस्तुओं के लागत खर्च में कमी होती है। और इसी कारण इसका प्रभाव वस्तुओं की कीमत पर बहुत पडता है साधारण आविष्कार वस्तु को कम खर्चे मे बनाने के लिए किया जाता है। और यही कारण है कि दीर्घकाल में लागत खर्च कम होने पर वस्तु की कीमत कम हो जाती है। इस प्रकार आविष्कार के प्रभाव से उत्पादक और उपभोक्ता दोनों को लाभ होता है।

यदि किसी वस्तु की माँग बढ जाती है तो उसकी पूर्ति भी बढ जायगी। अब इस पूर्ति बढने का प्रभाव मूल्य या उत्पत्ति के नियमों के अनुसार होगा। यदि उस वस्तु की उत्पत्ति क्रमागत वृद्धि नियम के अन्तर्गत हो रही है तो उत्पत्ति की मात्रा बढने से उस वस्तु का लागत खर्च पहिले से कम होगा जिसका अर्थ यह हुआ कि वस्तु की कीमत कम होती जायगी। इसलिए यदि माँग घट जाती है तो सामान्य मूल्य बढ जावेगा। कारण यह होता है कि थोड़ी वस्तु के उत्पादन करने मे लागत खर्च अधिक होता है।

बाजार (Market)—अब हम यह विचार करते हैं कि कीमत सबधी उपर्युक्त नियम कहाँ कहाँ लागू होते हैं। ये नियम प्रत्येक वस्तु के लिए उसके बाजार भर मे लागू होते हैं। आमतौर पर बाजार शब्द से हमे उस स्थान का बोध होता है जहाँ पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बेचने वालों की दूकान होती है। अर्थशास्त्र मे बाजार का दूसरा ही अर्थ लगाया जाता है। प्रत्येक वस्तु का बाजार भिन्न होता है। किसी वस्तु के बाजार से हमको उस सारे स्थान को समझना चाहिए जिसके अदर खरीददार और बेचने वाले भली प्रकार आपस में भाव ताव कर सकते हैं अर्थात् जहाँ तक किसी वस्तु का एक मूल्य रहता है।

बाजार का विस्तार—पुराने समय मे वस्तुओं के बाजार सकुचित होते थे। वस्तुओं की उत्पत्ति छोटी मात्रा मे की जाती थी और उन्हे पास के शहरों मे बेच देते थे। कभी कभी मेले लगते थे जिनमे दूर दूर के खरीददार और बेचने वाले आते थे। परन्तु रेल और अच्छी सड़कों के अभाव के कारण अधिक दूर के लोग इन मेलों मे शामिल नही हो सकते थे। दूर दूर माल भेजने में अधिक समय और खर्च लगता था। रास्ते में लुट जाने का डर रहता था। फलतः उस समय आज कल के समान विस्तृत बाजार नहीं होते थे।

धीरे धीरे शक्तिशाली और सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकारों, यातायात के

उत्तरोत्तर उत्तम तथा सस्ते साधनों, प्रेस तथा बैंक के प्रादुर्भाव व रेडियो आदि के आविष्कार के कारण वस्तुओं का बाजार विस्तृत होने लगा।

बाजार विस्तार के कारण—किसी वस्तु के बाजार का विस्तार कई बातों पर निर्भर रहता है। पहले तो उसकी माँग चारों ओर होनी चाहिए। उदाहरणार्थ सोना, चाँदी, गेहूँ, रुई, सिक्युरिटी की माँग ससार भर में होती है। ये वस्तुएँ बहुत दिनों तक खराब नहीं होतीं। इनके विपरीत साग भाजी और फल फूल बडी जल्दी नष्ट हो जाते हैं। फलत: इनका बाजार विस्तृत नहीं होता। हाँ, यह बात अवश्य है कि कभी कभी यातायात की विशेष सुलभता के कारण दो एक दिन ठहरने वाली वस्तुओं का बाजार मीलों पहुँच सकता है। इसका सब से अच्छा उदाहरण लीजिए। जब जाडे मे जी० आई० पी० रेलवे पन्द्रह दिन जोन टिकट (Zone Ticket) चालू करती थी तो भोपाल, भेलसा आदि स्थानो के शरीफे वाले रोज शरीफे दिल्ली ले जा कर बेचते थे। यातायात के उत्तमोत्तम साधन के कारण ही हमको काबुल के अगूर, कन्धार के अनार और बम्बई के केलों का मजा घर बैठे मिल जाता है।

विस्तृत बाजार के लिए तीसरा आवश्यक गुण यह है कि वस्तु जगह तो घेरे कम और दाम हों अधिक, जो वस्तुएँ अधिक जगह घेरेंगी उन्हे भेजने में रेलभाड़ा अधिक लगेगा और यह भी देखा जाता है कि अधिक जगह घेरने वाली वस्तुओं का मूल्य भी बहुत कम होता है जैसे कोयला। इसके विपरीत चाँदी को ले लीजिए। जितनी जगह मे चार पैसे का कोयला आवेगा उतनी जगह मे सैकड़ों रुपए की चाँदी रक्खी जा सकती है। फलतः जितने ही खर्च में चार पैसे का कोयला चार छै मील जायगा उतने में उतनी ही चाँदी कई सौ मील भेजी जा सकती है। अतः चाँदी का बाजार कोयले से कहीं अधिक विस्तृत होगा।

दूरस्थ मनुष्य यहाँ की किसी वस्तु को तभी खरीद सकते हैं जब वे बिना देखे यह जान सकें कि वे किस प्रकार की वस्तु खरीद रहे हैं। अतएव जिन चीजों के नमूने बाहर भेजे जा सकते हैं अथवा जिनको विभिन्न भागों मे (जैसे उत्तम, मध्यम, निकृष्ट, आम अथवा उत्तम गेहूँ, सफेद गेहूँ, लम्बे दाने का गेहूँ, छोटे दाने का गेहूँ आदि) बाँट सकते हैं, उनका बाजार विस्तृत होगा।

कीमत की घट-बढ़—अब हम यह विचार करते हैं कि बाजार मे, पदार्थों की कीमत में घट-बढ का क्या प्रभाव पडता है। पहले यह जान लेना

चाहिए कि कीमत की घट-बढ का आशय क्या है। पदार्थों की कीमत घटी हुई उस समय कही जाती है, जब उनके निर्धारित परिमाण के बदले रुपया कम देना होता है, दूसरे शब्दों मे पदार्थों की कीमत घटना, रुपए की कीमत बढना है। इसी प्रकार पदार्थों की कीमत बढने का मतलब रुपए की कीमत गिरना कहा जा सकता है। साधारण बोलचाल मे पदार्थों की कीमत की घट-बढ की बात कही जाती है, रुपए की कीमत की घट-बढ की बात नही कही जाती, तथापि ऊपर कही हुई बात याद रहनी चाहिए।

कीमत की घट-बढ़ का प्रभाव—जब कुछ पदार्थों की कीमत घटती-बढती है, तो उनका प्रभाव उन व्यक्तियों पर पड़ता है, जो उन पदार्थों का उपयोग करते हैं। परन्तु जब सब पदार्थों की कीमत मे घट-बढ होती है, तो सभी मनुष्यो पर उसका प्रभाव पडता है। देश मे कई प्रकार के आदमी रहते हैं, उनमें से किस प्रकार के आदमियो पर कीमत की घट-बढ का क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी साधारणतया ठीक कल्पना नही होती। वास्तव में यह विषय बहुत विशद है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ सब श्रेणियो के मनुष्यों का विचार न कर कुछ खास खास का ही विचार करेंगे, और केवल कीमत बढने का ही विषय लेंगे। अन्य श्रेणियों पर कीमत बढने का, तथा विविध श्रेणियों पर कीमत घटने का क्या प्रभाव पड़ता है, इसका पाठक स्वय विचार करलें।

कीमत बढ़ने का प्रभाव, (क) किसानों पर—प्रायः लोगों की यह धारणा होती है कि खेती के पदार्थों की महँगाई से किसानों को लाभ होता है। किन्तु यह बात कुछ अश मे ही ठीक है। लाभ उन्ही किसानो को तो होगा, जिनके पास अपने खाने-खर्चने और लगान चुकाने के उपरात बेचने को काफी अन्न आदि शेष होगा। साधारण किसानो को उत्पन्न पदार्थों की कीमत मिलते-मिलते उसमे से दस्तूरी, दलाली, तुलाई, या धर्मादे आदि मे इतना अश निकल जाता है, तथा उन्हे वस्त्र आदि की अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति में, खर्च इतना अधिक करना होता है, कि पदार्थों की बढी हुई कीमत से उनकी आर्थिक अवस्था मे विशेष अन्तर नही आता।

जब कि अपनी विशाल भूमि मे स्वय काश्त करने वालों को या उन लोगों को जो भूमि दीर्घकाल या लम्बी मुद्दत के पट्टे पर लेकर काश्त करते हैं, कीमत बढने से उपज बेचने की दशा मे लाभ होता है, यह बात उन लोगों के विषय मे लागू नहीं होती, जिनकी भूमि थोडी-थोडी सी है, जिन्होंने अनाज देने की शर्त पर कुछ रुपया पेशगी ले लिया है, अथवा जिनका भूमि का पट्टा थोडे समय का है, या जो मजदूरों से काम कराते हैं।

(ख) **देहाती मजदूरों पर**—पदार्थों की कीमत की बढने का, गाँवों के मजदूरों की वेतन पर तुरन्त विशेष असर नहीं होता। कुछ समय तक जिसे जितना वेतन मिलता है, उतना ही मिलता रहता है। ऐसी दशा मे गाँवों के जो मजदूर जिन्स मे वेतन पाते हैं—और अधिकतर व्यक्ति जिन्स मे ही वेतन पानेवाले होते हैं—उन्हे महँगी से कुछ लाभ-हानि नहीं होती। हाँ, जिनका वेतन नकदी मे ठहरा हुआ होता है, उनके लिए कुछ समय बडे संकट का बीतता है। जैसा कि पहले कहा गया है, भारतवर्ष के बहुत से खेत मजदूरों के पास थोड़ी-थोडी सी जमीन होती है, उसकी उपज से उनका निर्वाह नहीं हो सकता, उन्हे किसी जमींदार के यहाँ श्रम करना होता है। उन पर भी पदार्थों की कीमत बढने का कुछ समय के लिए वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा अन्य देहाती मजदूरों पर।

(ग) **ज़मींदारों पर**—जमींदारी प्रथा अब उठ रही है, पर अभी तो है ही, इसलिए जमीदारों का भी विचार कर लिया जाय। आजकल लगान नकदी मे लिया जाता है, लगान देनेवाले मौरूसी काश्तकार होते हैं, अथवा गैर मौरूसी। मौरूसी काश्तकारों पर, पदार्थों की कीमत बढने की दशा मे, लगान जल्दी नहीं बढता, अतः इनसे लगान लेनेवालों को तत्काल कुछ लाभ नहीं होता, वरन् हानि ही रहती है। इसके विपरीत, गैर मौरूसी काश्तकारों पर लगान, पदार्थों की कीमत बढने पर, जल्दी बढा दिया जाता है, इससे जहाँ तक लगान पाने का सम्बन्ध है, जमीदार नफे मे रहता है।

(घ) **कस्बों और शहरों के श्रमियों पर**—कीमत बढने के साथ कस्बों और शहरों के श्रमियो का वेतन एकदम नहीं बढ जाता, अतः इनमे असतोष पैदा होता है, और क्योंकि ये श्रमी देहाती श्रमियो की अपेक्षा अधिक बडे-बडे समूहों मे मिलकर काम करते हैं, तथा अधिक सगठित होते हैं, इनका असतोष व्यापक स्वरूप धारण करता है, वेतन-वृद्धि का आदोलन बढता है, अनेक स्थानों मे हड़तालें होती हैं, और कहीं-कही तो लूट-मार और उपद्रव तक हो जाते हैं। कल-कारखाने-वाले इतने दूरदर्शी तथा उदार नहीं होते कि पदार्थों की कीमत बढने का आभास पाते ही श्रमियों का वेतन बढा दे, अन्त मे तो उन्हे यह करना ही पडता है। वेतन काफी बढने की दशा मे श्रमियो की आर्थिक अवस्था मे कुछ सुधार होता है।

(च) **दस्तकारों पर**—हाथ से बनी वस्तुओं की, कल-कारखानों में बने हुए माल से, प्रतियोगिता रहने के कारण, दस्तकारों की दशा प्रायः

अच्छी नही रहती। पदार्थों की कीमत बढने से वह प्रतियोगिता बढ़ती ही है, और इस प्रकार दस्तकारों को पहले की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ सहन करनी पडती हैं।

(छ) **कल-कारखाने वालों पर**—पदार्थों की कीमत बढने के साथ उत्पादन-व्यय का, श्रमियों का वेतन-रूपी भाग एक-दम नही बढ़ जाता। इसलिए कल-कारखाने वालों को कोमत बढने से, कम-से-कम आरम्भ मे कुछ दिन लाभ ही रहता है, हाँ, पीछे क्रमशः श्रमियों का वेतन आदि बढने लगता है। अगर यह वेतन पदार्थों की कीमत की वृद्धि के अनुपात से अधिक बढ जाय तो कल-कारखाने वालों को हानि होना निश्चित है।

(ज) **निर्धारित वेतन पाने वालों पर**—पदार्थों की कीमत बढने से, सबसे अधिक हानि सरकारी तथा अन्य कर्मचारियों की, पेन्शन पानेवालों की, क्लर्कों की, और सिक्यूरिटी या शेयर आदि से होनेवाली आय पर निर्वाह करने वालो की, तथा ऐसे व्यक्तियों की होती है जो बधा हुआ या निर्धारित शुल्क, वेतन अथवा मेहनताना पाते हैं। इनको सामूहिक रूप से मध्य श्रेणी का कहा जा सकता है। कीमत बढ़ने से इनका भोजन, वस्त्र, रोशनी-किराए का, और जिनके यहाँ घरू नौकर हों, उनके यहाँ इन नौकरो के वेतन का खर्च बढ जाता है। अस्तु, पदार्थों की कीमत बढ़ने पर इन्हे विशेष हानि होती है। इनके बारे मे खुलासा चौदहवें अध्याय मे लिखा जा चुका है।

(झ) **ऋणग्रस्तों और साहूकारों पर**—कीमत बढ़ने से ऋणग्रस्तों को लाभ होता है, यदि वे निर्धारित वेतन पानेवाले न होकर, पदार्थों के उत्पादक हों, कारण, उन्हे पदार्थों की कीमत अधिक मिलेगी और साहूकार उनसे रुपया और सूद पहले निर्धारित किए हुए हिसाब से ही लेगा, वह सूद का परिमाण नहीं बढा सकता। इसके विपरीत, साहूकार को, पदार्थों की कीमत बढ़ने से कोई लाभ नहीं, वरन् हानि ही है, कारण अब उसे जो रुपया या सूद मिलता है उसका पदार्थों-मे-मूल्य पहले से कम होता है।

विशेष वक्तव्य—ऊपर हमने कुछ ही श्रेणियों के आदमियों के सबध में विचार किया है। देश में भिन्न-भिन्न प्रकार के आदमी रहते हैं। जो बात एक श्रेणी के लिए लाभकारी होती है, वह दूसरी श्रेणी के वास्ते हानिकर हो जाती है। सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि पदार्थों की कीमत बढना

लाभप्रद है या हानिकर। साधारण तौर से आदमी यही चाहते हैं कि कीमत में स्थिरता रहे, विशेष उतार-चढाव न हो। कीमत की घट-बढ—कीमत घटने के बाद बढना, तथा बढने के बाद घटना—आर्थिक जगत की एक साधारण घटना है, यह धूप के बाद छाया, अथवा दुख के बाद सुख की तरह है। इसे बन्द नहीं किया जा सकता। हाँ, यदि व्यवसायी तथा सरकार चाहे तो कुछ अंश तक इस का नियन्त्रण कर सकते हैं।

मनुष्यो को चाहिये कि दोनों प्रकार की स्थिति के लिए तैयार रहे, यदि कीमत की घट-बढ़ से हमारी आय बढती है, तो उसे व्यर्थ के अपव्यय में न उडा दें, उसमें से कुछ सकट-काल के लिए भी रख छोड़े; और जब हमारी आय घटती हो तो अपनी आवश्यकताएँ कम करके उसी मे अपना निर्वाह करने का प्रयत्न करे, व्यर्थ में दुख न माने।

कीमत-नियन्त्रण—कभी-कभी सरकार पदार्थों की कीमत का नियत्रण करती है, वह उसे एक सीमा से अधिक नहीं बढने देती। कीमत-नियन्त्रण शाति-काल मे भी होता है, पर वह केवल खास-खास वस्तुओं का ही होता है। दूसरे महायुद्ध से पहले बडे पैमाने पर कीमत-नियन्त्रण केवल रूस मे ही था। युद्ध-काल में युद्ध से प्रभावित सभी देशों मे इसका अवसर आ गया।

युद्ध-काल मे जो राष्ट्र लडाई मे भाग लेते हैं, उनका तो विशेष ध्यान युद्ध सामग्री तैयार करने मे लगता ही है, अक्सर दूसरे देश भी उनके लिए युद्ध-सामग्री तैयार करने लग जाते हैं। इस प्रकार अन्य पदार्थों का उत्पादन कम हो जाता है, और इनका बाहर से मँगाना भी कठिन तथा अधिक व्यय-साध्य हो जाता है। इनके अतिरिक्त, कुछ व्यापारी अपने स्टाक को, इसलिये रोक रखते हैं कि पीछे खूब मुनाफा ले सके। बाजार मे माल कम होने से कीमत चढनेवाली ठहरी। इसे रोकने के लिए सरकार कीमत का नियन्त्रण करती है। जो व्यापारी निर्धारित कीमत से अधिक लेता है, या अपना स्टाक छुपा कर रखता है, उसे दड दिया जाता है।

पिछले युद्ध के समय भारतवर्ष मे भी सरकार ने कीमत-नियन्त्रण सम्बन्धी कुछ कार्यवाही की, परन्तु वह सफल नहीं हुई। प्रायः जिस पदार्थ की कीमत नियन्त्रित की गई, उस पदार्थ का बाजार मे मिलना ही दुर्लभ हो गया। किस प्रकार लोगों को एक एक रुपये के गेहूँ लाने के लिए घटों परेशान होना पड़ा, तथा अनेक स्थानों मे मडी की दूकानें दिन-दहाडे लूटी गईं, यह साधारण अनुभव की बात है। इससे स्पष्ट है कि कीमत-नियन्त्रण का कार्य यथेष्ट सोच विचार कर, और सार्वजनिक कार्यकर्ताओ के यथेष्ट सहयोग

से ही किया जाना चाहिए। प्रत्येक आवश्यक वस्तु के उत्पादन-व्यय का ध्यान रखते हुए उसकी कीमत नियन्त्रित की जाय, उस वस्तु की उत्पत्ति बढाने का भी यथेष्ट प्रयत्न किया जाय। इसके वास्ते उत्पादकों को समुचित परामर्श, पथ-प्रदर्शन और सहायता दी जाय, और यातायात के साधनों की सुविधा की जाय, जिससे देश भर के उत्पन्न पदार्थों का भिन्न भिन्न भागों की जनता मे अच्छी तरह वितरण हो सके। लोकहित की ऐसी आर्थिक व्यवस्था किसी अनुत्तरदाई सरकार से नही हो सकती। और, दुर्भाग्य से उस समय यहाँ ऐसी ही सरकार थी। इसलिए व्यवस्था सफल नहीं हुई।

वर्तमान महँगाई—अब हमे वर्तमान महँगाई का विचार करना है। यद्यपि महायुद्ध १६४५ मे समाप्त हो गया, और अगस्त १६४७ से भारतवर्ष स्वतन्त्र भी है, जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं की बढी हुई कीमतें जनता को बेहद परेशान कर रही है। युद्ध-काल मे तो आदमी महँगाई का कारण कुछ समझ लेते थे, अथवा महँगाई को जैसे-तैसे सहन कर लेते थे, पर अब महँगाई बना रहना ही नही, उसका बढ जाना सहज ही समझ में नही आता, वह असह्य हो रहा है। गेहूँ रुपए का डेढ सेर, चावल रुपया सेर, घी छ: रुपए सेर, तेल दो रुपए सेर, चीनी रुपए सेर तो मामूली बात है। फिर, अनेक स्थानों मे ये चीजे इससे भी अधिक महँगी हैं, और खालिस या शुद्ध मिलने का तो कही भरोसा ही नहीं।

महँगाई के सम्बन्ध में ध्यान मे रखने की पहली बात तो यही है कि यह ससार-व्यापी है। ईस्ट इडीज, चीन, मध्य-एशिया, मध्यपूर्व, पश्चिमी योरोप के देश, जर्मनी तथा पाकिस्तान मे इसका रूप और भी उग्र है। पाकिस्तान मे तो कपडे, चाय, चीनी, सिगरेट आदि का इतना अभाव है कि हमारे यहाँ के लोभी और भ्रष्ट व्यापारी कानूनी दंड की भी परवाह न करके चोरी-चुपके वहाँ यह माल भेज रहे हैं। अस्तु, इगलैंड, अमरीका और केनेडा मे महँगाई भारतवर्ष की अपेक्षा काफी कम है, पर है वहाँ भी।

महँगाई को दूर करने के दो उपाय हैं पदार्थों की उत्पति मे वृद्धि करना और कागजी मुद्रा का प्रचार कम करना। पदार्थों की उत्पति बढ़ाने के सबध मे विचार उत्पति के खड मे किया जा चुका है। कागजी मुद्रा कम करने के सबध में विचार आगे किया जायगा।

अभ्यास के प्रश्न

१—बाजार की परिभाषा लिखिए। स्थानीय तथा विस्तृत बाजार में क्या

अंतर है, सोदाहरण समझाइए। बाजार विस्तार के कारणों की विवेचना कीजिए। (१९३६, १९३२, १९२९)

२—'मॉग और पूर्ति की समता' से आप क्या समझते हैं ? स्थानीय बाजार मे मॉग और पूर्ति की समता किन बातों पर निर्भर है ? (१९२९)

३—प्रतियोगिता-मूलक बाजार में किस प्रकार एक भाव स्थिर होता है ? चित्र द्वारा समझाइए। (१९३४)

४—किन कारणों से बाजार का विस्तार होता है ? इसका क्या फल होना है ? भारतीय उदाहरण देकर समझाइए। (१९३४)

५—"किसी वस्तु की कीमत सदैव उत्पादन व्यय से कम या अधिक नहीं रह सकती" उक्त कथन को समझाइए। (१९३३, १९२७, १९२९)

६—"बाजार मूल्य मामूली कीमत के इर्द गिर्द बना रहता है तथा दीर्घकालीन दृष्टिकोण से दोनों की प्रगति बराबर होने की होती है।" विस्तार-पूर्वक समझाइए। (१९३५)

७—मॉग और पूर्ति की सारिणी और रेखाओं की परिभाषा दीजिए तथा चित्र सहित समझाइए। (१९३७, १९२६)

८—'कीमत बढने से मॉग घट जाती है, मॉग घट जाने से कीमत घट जाती है। समझ में नहीं आता कि तब फिर कीमत क्यो बदलती है'—इस कठिनाई को दूर कीजिए। (१९२९)

९—सीमात लागत खर्च और औसत लागत खर्च का भेद उदाहरण सहित समझाइए। दीर्घकाल मे वस्तु का मूल्य किस खर्च के अनुसार निश्चित होता है।

१०—सामान्य कीमत वह केन्द्र है जिसके चारो ओर बाजारू कीमत घूमती रहती है। उदाहरण सहित समझाइए।

११—वस्तुओं की कीमत के घट-बढ का प्रभाव किसानों, मजदूरों, विद्यार्थियों और कर्मचारियों पर कैसा पडता है ?

१२—कीमत नियत्रण—किन दशाओं मे आवश्यक है ? वह भारत में सफल क्यों नहीं हुआ ?

— :०:—

छब्बीसवाँ अध्याय

व्यापार के साधन

पिछले अध्याय मे यह बताया जा चुका है कि किसी पदार्थ का क्रय-विक्रय उस कीमत पर होता है, जिस पर वस्तु की मॉग और पूर्ति बराबर होती है। कीमत के विषय मे यह बात जान लेने पर, अब व्यापार का विवेचन सुगम है; पर इसके लिये पहले व्यापार के मार्ग और साधनों का विचार हो जाना चाहिए। अतः इस अध्याय में यही विषय लिया जाता है। सड़कों तथा रेल आदि के विषय मे कई दृष्टियों से, तथा विस्तार-पूर्वक विचार हो सकता है। परन्तु हमे यहाँ विशेषतया आर्थिक दृष्टि से और सक्षेप में ही विचार करना है।

व्यापार के मार्ग—व्यापार के तीन मार्ग हैं—स्थल मार्ग, जल-मार्ग और वायु-मार्ग। स्थल-मार्ग मे कची-पक्की सड़कों पर ठेलों, पशुओं, मोटरों आदि से या लोहे की पटरी पर रेल से, माल ढोया जाता है। कहीं-कहीं जमीन के नीचे भी रेलें जाती हैं। जल-मार्ग पर नाव, स्टीमर और जहाज चलते हैं। गत महायुद्ध के समय जर्मनी ने पन-डुब्बियो द्वारा माल ढोने का रास्ता पानी के नीचे नीचे भी निकाला था। आकाश-मार्ग से काम थोड़े ही समय से लिया जाने लगा है, हवाई जहाजों द्वारा कही-कही थोडा-थोड़ा माल आता जाता है।

सड़कों को आवश्यकता और उन्नति—सड़कों की उपयोगिता सर्व-विदित है। ये किसानो की खेती की उपज को नजदीक की मडी तथा रेलवे स्टेशन पर लाने मे, और इस प्रकार उसके अधिक दाम प्राप्त कराने में सहायक हैं। उद्योग-धधों के लिए दूर-दूर से कचा माल लाने, तथा तैयार माल को दूर-दूर के उपभोक्ताओ तक पहुँचाने का काम रेलें करती हैं, परन्तु सड़कों की सहायता के बिना, रेलों को भी ढोने के लिए, काफी माल नही मिल सकता। इस प्रकार सडकों से उद्योग-धधों की उन्नति और विस्तार को प्रोत्साहन मिलता है।

मार्च १९४३ मे शहरों की भीतरी (म्युनिसपल) सड़कों को छोड़कर भारत के प्रान्तो से २ लाख २६ हजार मील, और देशी रियासतों मे ७० हजार मील—इस तरह कुल मिलाकर लगभग ३ लाख मील सड़कें थीं, जिनमे पक्की सड़क तो एक - चौथाई से भी कम थी। सबसे प्रसिद्ध सड़क 'ग्राड-

ट्रंक रोड' है, जो उत्तर भारत मे कलकत्ते से इलाहाबाद और देहली होकर, पेशावर जाती है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य सड़के भी विशेष उल्लेखनीय हैं। ये कलकत्ते को मदरास से, मदरास को बम्बई से, और बम्बई को दिल्ली से मिलाती हैं। इन चारों सड़कों की लम्बाई लगभग पॉच हजार मील है। यहाँ की सड़को मे से कुछ तो दूर तक गई हैं, परन्तु अनेक पास की ही बस्ती में जाकर खत्म हो जाती हैं। कुछ सड़के ऊँची हैं, और बारहो महीने खुली रहती हैं। कितनी ही सडकें बरसात मे बेकाम हो जाती हैं। बरसाती नदियों पर कहीं तो पुल हैं, और कहीं उन्हे बरसात मे नाव से, और खुश्की के दिनों में पैदल ही पार करना पड़ता है। आमतौर से लोग सामान ढोने के लिए पुराने ढग की बैलगाड़ी, टट्टू, खच्चर, गधे, ऊँट, भैंसे आदि से काम लेते हैं। मोटरों के चलने के लिए अच्छी सडकें केवल ६५ हजार मील हैं, इनमे से पद्रह हजार मील सडक सीमेंट आदि की हैं।

कुछ वर्षों से मोटर द्वारा माल और सवारियाँ लाने लेजाने के काम में प्रगति करने की ओर सरकार अधिक ध्यान देने लगी है। नवम्बर सन् १६२७ ई० मे सरकार ने सड़क-सुधार कमेटी ('रोड-डेवेलपमेंट-कमेटी') नियुक्त की। इस कमेटी की सिफारिशों के आधार पर सन् १६२६ ई० के बजट में सरकार ने पेट्रोल का कर प्रति गैलन चार आने से बढाकर छः आने किया, और इस कर-वृद्धि से होनेवाली अधिक आय को सडको के काम में लगाने का निश्चय किया। इस विषय के प्रस्ताव मे समय-समय पर कुछ सशोधन हुआ है। सड़क-सुधार के विषय मे विचार करने के लिए केन्द्रीय सरकार प्रतिवर्ष एक कान्फ्रेंस करती है। अब कई सडकें प्रान्तीय कर दी गई हैं। उनकी मरम्मत आदि का जो काम म्युनिसपलटियों और जिला बोर्डों द्वारा, धनाभाव के कारण अच्छी तरह नही होता था, अब प्रान्तीय सरकारें कर रही हैं। मार्च सन् १६४४ के अन्त मे सड़क सम्बन्धी कोष ('रोड फन्ड') का हिसाब इस प्रकार था—पेट्रोल टेक्स से इस वर्ष कुल २१ करोड रुपया जमा था। इसमे ४ करोड रु० रक्षित कोष मे रखा गया, १२ करोड़ ६७ लाख भारत के प्रान्तों को, पेट्रोल के खर्च के अनुपात से दिया गया, शेष रुपया बचा रहा।

दिसम्बर सन् १६४३ मे विविध प्रान्तों और मुख्य-मुख्य रियासतों के चीफ-इंजीनियरों की एक कान्फ्रेंस नागपुर मे हुई थी। उसने सिफारिश की कि देश भर मे सडको की उन्नति की जाय और उनकी लम्बाई बढाकर ४ लाख मील कर दी जाय। महायुद्ध से पहले की कीमतों के अनुसार इस कार्य मे ३०० करोड रुपए के खर्च का अन्दाज किया गया, पर पीछे बढी हुई कीमतों के

अनुसार यह अन्दाज ४५० करोड़ रु० का था। कार्य-क्रम के दो भाग थे। थोडी अवधि का कार्य यह था कि महायुद्ध के कारण उपस्थित होनेवाली तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो। लम्बी अवधि का कार्य आर्थिक उन्नति की दृष्टि से किया जाना था। यह योजना पूरी होने पर सड़कें इस प्रकार हो जायेंगी :—

केन्द्रीय सडकें	१८,०००	मील
प्रांतीय ,,	७२,०००	,,
जिलों की मुख्य सडकें	६०,०००	,,
जिलों की अन्य ,,	१,००,०००	,,
गाँवों की ,,	१,५०,०००	,,

महायुद्ध के बाद सडको के काम की ओर विशेष ध्यान दिया गया। फौज से लौटे हुए बहुत से आदमियों को कुछ काम देने का सवाल था, मोटरों की सख्या बढी हुई थी, इनके उपयोग मे लाने के वास्ते सड़कों की उन्नति और वृद्धि की आवश्यकता थी, इस समय सड़कें बनाने की मशीनें बहुत मौजूद थी। इन बातों से सडकों के निर्माण-कार्य मे अच्छी प्रगति हुई। पूर्वोक्त योजना से यह स्पष्ट है कि गाँवों की सड़कों की ओर भी ध्यान दिया जा रहा है, परन्तु देश के विस्तार और पिछली कई शताब्दियो से होनेवाली अवहेलना के कारण अभी बहुत काम करने को पड़ा है।

रेल—यातायात के साधनों मे रेलों का स्थान प्रमुख है। इनके द्वारा भारतवर्ष के दूर-दूर के भागो मे पदार्थों का व्यापार होने लगा है, और भारतवर्ष का विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने मे बहुत सहयोग मिला है। रेलों मे हजारो मन माल इधर से उधर भेजा जाता है। यदि देश में एक जगह अकाल पड रहा हो, तो खाने के पदार्थ दूसरी जगह से, जहाँ वे अधिक हो, जल्दी ही लाए जाकर बहुत-से आदमियों को भूखा मरने से बचाया जा सकता है। रेलों के कारण, पदार्थों का बाजार बढ जाने से, उत्पत्ति बड़ी मात्रा मे होने की अनुकूलता हो गई है। श्रमियों को अब, जहाँ अधिक लाभदायक तथा रुचिकर काम मिलता है, वहाँ जाने की सुविधा बढ गई है।

रेलो से हानियाँ भी हैं। अब भारतवर्ष मे राष्ट्रीय सरकार होने से आशा है, वह ऐसी व्यवस्था करेगी कि हानियाँ न हों, तथापि हमें उनसे परिचित रहना चाहिए। व्यापारी अपने लाभ के लिए बहुत

से ऐसे पदार्थों को भी विदेशों मे भेज देते हैं, जिनकी यहाँ आवश्यकता होती है, परन्तु जिनके यहाँ इतने दाम नही मिलते, जितने दाम विदेशी दे सकते हैं। निर्यात होने से यहाँ ये पदार्थ महँगे हो जाते हैं। फिर, आज-दिन भारतवर्ष के नगरों और कस्बो मे जहाँ देखो, बिसातखाने, कपडे और फुटकर सामान की दूकाने विलायती पदार्थों से भरी पडी हैं। हमारे उद्योग-धन्धे या दस्तकारी पिछड़ गई है। इसमे रेलों का भाग स्पष्ट है।

रेलों की व्यवस्था के दोष—अब राष्ट्रीय सरकार रेलो की व्यवस्था सुधार रही है। इससे पहले की व्यवस्था में कई दोष रहे हैं, और उनमे से कुछ इस समय तक भी बने हुए हैं। हम कुछ मुख्य-मुख्य दोषों का ही यहाँ उल्लेख करते हैं—

(१) रेलो मे विदेशी पूँजी लगी हुई होने से उसका सूद ह० साल बाहर भेजना पड़ा।

(२) कई रेलो का प्रबन्ध विदेशी कम्पनियों के हाथों मे होने के कारण बहुत-सा सालाना मुनाफा भी बाहर भेजना पड़ा। उच्च पदों पर भारतीयों की नियुक्तियाँ बहुत कम हुई।

(३) रेलवे कम्पनियाँ देशी उद्योग धन्धों तथा व्यापार के ह्रास अथवा उन्नति का विचार न कर, सिर्फ अधिक माल ढोने और उसके द्वारा अधिक लाभ उठाने का ही ख्याल रखती थीं। वे बन्दरगाहों से देश के भीतर आनेवाले विदेशी माल पर तथा भीतर से बन्दरगाहों को जानेवले (भारतीय) कच्चे माल पर महसूल कम लेती थी। यदि यहाँ के कच्चे माल को कोई बाहर न भेज कर देशी कारखानों मे ले जाना चाहता तो ज्यादा भाडा देना पडता।

(४) जैसी सुविधा और रियायतें कच्चे माल के निर्यात को दी जाती, वैसी तैयार माल के निर्यात को नहीं। उदाहरण के लिए तेलहन की अपेक्षा तेल बाहर भेजने मे किराया बहुत अधिक देना पडता था।

(५) रेलवे कम्पनियों के स्वार्थ अलग-अलग थे और प्रबन्ध भी पृथक् पृथक्। इसलिये वे सब अपना-अपना लाभ देखती थी, देश के लाभ का उन्हे ध्यान नहीं था। यदि सबका स्वार्थ और प्रबन्ध एक ही होता तो व्यापारियों की असुविधाएँ कम हो जातीं।

(६) लगभग ९६ फी सैकड़ें यात्री तीसरे दर्जे मे सफर करते हैं। उन्ही से अधिक आय होती है। परन्तु विदेशी कम्पनियाँ और सरकार उनके अपार कष्टों की कुछ परवाह नहीं करती थीं।

(७) जब रेले खुली, तो वे बडे-बडे शहरो और व्यापार की मडियो से होती हुई गई। उस समय देश के भीतरी भागों का ध्यान नहीं रखा गया। सडको और नदियो के पुलो का भी सुधार नही हुआ। पीछे ब्रॉच (शाखा) लाइने खुलने लगी। पर उनमे यथेष्ट वृद्धि नही हुई। इसलिए सब धधे घने शहरो मे ही इकट्ठे होते गए।

(८) रेलों की माप अलग-अलग है। इसलिये जब माल को एक लाइन से उतार कर दूसरी लाइन पर लादना पडना है, तो बहुत खर्च पड़ता है; साथ ही टूटने और चोरी जाने की जोखिम भी बढ जाती है।

(९) इस देश मे रेलवे लाइने वर्षों से खुली हुई हैं, किन्तु रेल के पहिये, एजिन आदि अधिकाश सामान अभी विदेशो से ही आता रहा है। रेलों का सब सामान यहीं तैयार कराने की योजना हो रही है।

(१०) रेलवे मे घूसखोरी बहुत बढी हुई है, वह बन्द की जानी चाहिए।

रेलों की वर्तमान स्थिति—रेले तीन तरह की हैं—(१) स्टैंडर्ड माप की—अर्थात् साढे पॉच फुट चौड़ी, (२) बडे माप की—अर्थात् ३·२९ फुट चौड़ी, और (३) मीटर माप की अर्थात् ढाई फुट या दो फुट चौडी। अधिकाश रेलवे लाइन प्रथम दो प्रकार के ही माप की हैं। अधिक आमदरफ्त वाले स्थानो मे ये लाइने दोहरी हैं—एक लाइन जाने के लिए और दूसरी आने के लिये। इससे दोनों तरफ की गाडियॉ एक साथ ही आ-जा सकती हैं।

३१ मार्च १९४४ को भारतवर्ष मे रेलवे लाइन इस प्रकार थी —

बड़े माप की	२०, ६७४ मील
मीटर माप की	१६,००० ,,
छोटी माप की	३,८२८ ,,
योग	४०, ५०२ मील

सन् १९४४-४५ के अन्त में रेलवे की नौकरी मे कुल ९,६२,००९ आदमी थे, जब महायुद्ध से पहले (सन् १९३८-३९) इनकी सख्या ७,०१,३०७ थी। रेलों मे ८६४ करोड रुपए लगा हुआ है। इन्होंने सन् १९४४-४५ मे कुल २३३ करोड़ रुपया कमाया, इसमें से १४९ करोड़ रुपया खर्च हो जाने पर, शेष ८४ कराड़ का मुनाफा रहा।

भारतवर्ष मे अधिकतर रेलवे लाइनों की मालिक सरकार है, इनमें से कुछ का प्रबन्ध वह स्वय करती है, शेष का प्रबन्ध विविध कम्पनियों के हाथ

में है। अन्य रेलो मे से कुछ डिस्ट्रिक्ट बोर्डों या देशी राज्यों की हैं। स्वयं कम्पनियों की रेलें बहुत कम हैं। प्रबन्ध करनेवाली कम्पनियाँ, शर्तनामे के अनुसार, कुछ मुनाफा पाती हैं। बाकी मुनाफा सरकार को मिलता है।

सुधार की आवश्यकता—गत वर्षों मे रेल-यात्रियों की सख्या तथा माल का यातायात तो बहुत बढ़ा है, पर रेल के ऐंजिनों और गाडियों मे प्रायः कुछ वृद्धि नहीं हुई। इससे रेल-यात्रा बहुत कष्टमय हो रही है, यात्रियो के बैठने के लिए काफी जगह नहीं मिलती, सामान की तो बात अलग ही रही। राष्ट्रीय सरकार रेलों की व्यवस्था सुधार रही है। अब रेलों मे तीन दर्जे रहेंगे—प्रथम, द्वितीय, और साधारण। साधारण यात्रियों की सुविधाओं का भी यथा-सम्भव प्रबन्ध किया जायगा। कुछ समय से पटना से देहली जाने के लिए 'जनता एक्सप्रेस' चलने लगी है, इसमे तीसरे दर्जे का ही टिकट है। रेलवे कर्मचारी यात्रियों के प्रति सभ्यतापूर्वक व्यवहार करे, तथा रिश्वतखोरी और बिना टिकट की यात्रा बन्द हो—इसका प्रबन्ध किया जारहा है। रेल-गाड़ियाँ बढाने की भी योजना है। कुछ ऐसी लाइनें बढाई जानेवाली हैं, जो कोयले की खानो से कोयला ला सकें। बहुत से स्थानो पर रेल के पुल बनाने हैं, उनके साथ ही कुछ पुल ऐसे भी बनाने की आवश्यकता है जिन पर से पैदल यात्री आ-जा सकें। आशा है, ये सुधार जल्दी ही किए जायँगे।

मोटर—मोटरों द्वारा यात्रा ही नहीं होती, सामान भी ढोया जाता है। बहुत-से स्थानों मे रेलें जारी नहीं हुई हैं। गाँवों की तो बात ही क्या, अनेक नगर और कस्बे ऐसे हैं जहाँ रेल नहीं पहुँचती, और जो रेलवे स्टेशनों से पचास-पचास, सौ सौ मील तक दूर है। ऐसे स्थानों मे यदि सड़कें ठीक हो तो मोटर अच्छी तरह काम दे सकती है। रेल से दूर के बहुत से स्थानो मे डाक पहुँचाने का भी काम मोटर करती हैं। जहाँ रेल जाती है, वहाँ भी बहुधा आमदरफ़्त बढ जाने पर मोटरें खूब चलती हैं। प्रायः इनमे महसूल या किराए की दर रेल के बराबर ही रहती है। इनमे रेलों की तरह भारी पूँजी की आवश्यकता नहीं होती, कितने ही व्यक्ति अकेले अपनी पूँजी से कई-कई मोटरें चलाते हैं, सरकार को केवल सडकें ठीक कराने की जरूरत रहती है।

गत वर्षों मे मोटरो की सफलता कहीं-कहीं इतनी अधिक हुई कि वहाँ सरकार को रेलों के विषय मे चिन्ता हो चली। कई स्थानों मे मोटरो की प्रतियोगिता के कारण रेलवे कम्पनियों को रेल का किराया कम करना पडा, तथा मोटरों पर तरह तरह के प्रतिबन्ध लगाए गए। पेट्रोल पर आयात-कर बढाए जाने की बात पहले कही जा चुकी है। कहीं-कहीं मोटरवालो पर

पुलिस की भी धौस रही। इतनी प्रतिकूलताओं के होते हुए भी मोटरवाले कुछ कमाते ही रहे, जबकि रेलों को बहुधा घाटे का रोना रहा। इसका रहस्य यह है कि मोटरवाले मितव्ययिता से काम लेते हैं, और रेलों मे विशेषतया उच्च पदों के लिए भारी वेतन और भत्ता आदि दिया जाता है, तथा अनेक प्रकार से लापरवाही से खर्च किया जाता है। यदि कही मोटरो को उपर्युक्त बाधाओं का सामना न करना पडता, और सरकार इन्हे रेलों का प्रतिद्वद्वी न समझकर इन पर भी कृपा दृष्टि रखती तो इनके कार्य मे विलक्षण उन्नति होती। हॉ, इस बात की आवश्यकता है कि मोटरों के मालिक मुसाफिरों के साथ अच्छा बर्ताव करें, सवारियो की सख्या निश्चित रहे, उससे अधिक सवारियॉ न बैठाई जायॅ, मोटरों मे सामान परिमित परिमाण से अधिक न रखा जाय, और वे हर जगह से रवाना होने का समय यथा-सम्भव निश्चित रखे।

कुछ समय हुआ सरकार ने एक रेल-रोड योजना बनाई थी। देश भर की मोटर लारियो का एक ट्रस्ट हो, सब लारियॉ इसी ट्रस्ट को ओर से चलाई जाय, दूसरी कोई लारी स्वतत्र रूप से न चले। हर एक लारी का किसी स्थान से चलने का समय, किराया तथा उसकी सवारियों की सख्या निश्चित रहे। इस ट्रस्ट के ४६ प्रतिशत हिस्सेदार पुराने मोटर-मालिकों में से हों, और शेष हिस्सेदार रेलवे कम्पनियों के या सरकार की ओर से हों। इस ट्रस्ट को जो मुनाफा हो, वह हिस्सेदारों मे बट जाया करे। अब तो सयुक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त आदि कई प्रान्तों मे अनेक स्थानों पर सरकारी मोटरें चल रही हैं। सयुक्तप्रात मे दो वर्षो के अदर प्रात की सब पक्की सडकों पर सरकारी मोटरें चलने लगेंगी।

नदियॉ और नहरें—स्थल-मार्ग की अपेक्षा, जल-मार्ग से माल ले जाने मे बहुत कम खर्च होता है। नदियॉ प्राकृतिक साधन हैं, उन्हे बनाना नहीं होता; मामूली खर्च से उन्हे व्यापार के लिए ठीक रखा जा सकता है। जल-मार्ग से माल ले जाने मे शक्ति भी कम लगती है, बहाव की तरफ ले जाने मे तो प्रायः कुछ भी शक्ति नहीं लगानी पड़ती। भारतवर्ष मे जल-मार्ग का उपयोग प्राचीन समय से हो रहा है। यह भी एक कारण है कि नदियों के किनारे बड़े-बडे शहर, तथा व्यापार-केन्द्र बन गए। मुगल बादशाहों के शासन मे भी यहॉ जल-मार्गों की अच्छी स्थिति रही। परन्तु अगरेजों के शासन मे दशा बिगड़ गई, सरकार ने रेलों पर तो असंख्य रुपया लगाया, पर प्राकृतिक जल-मर्गों के उपयोग की ओर ध्यान न दिया। सरकारी सरक्षण और सहायता के अभाव, और रेलों की प्रतिस्पर्द्धा ने इन्हे प्रायः नष्ट कर

दिया। इधर कुछ वर्षों से इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी विशेष कार्य नहीं हुआ। अस्तु, देश की आर्थिक उन्नति के लिए, लाखों नाविको को काम देने के लिए, और माल ढुलाई के कार्य को विदेशी पूँजी के प्रभाव से मुक्त करने के लिए, इस कार्य के उद्धार की बडी आवश्यकता है।

भारतवर्ष की नाव चलाने योग्य नदियों मे सिंध, गगा, और ब्रह्मपुत्र मुख्य हैं। इनमे मुहाने से लेकर सैकडों मील तक प्रायः बारहों महीने नाव चल सकती हैं। सिंध नदी की सहायक चनाव और सतलज मे भी काफी दूर तक बारहों महीने नाव चलती हैं। हुगली, महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों में भी डेल्टा के ऊपर कुछ दूर तक नावे जा सकती हैं। गगा मे स्टीमर पटना तक आते जाते हैं। अब प्रयाग तक लाने की योजना बनाई गई है। वर्षा ऋतु मे तो छोटी नदियों मे भी नाव ले जाने की सुविधा रहती है। पूर्वी बगाल में नावों के लिए सुभीता सबसे अधिक है, इस भाग मे अधिकाश जूट और धान आदि नावों से ही ले जाया जाता है।

स्वतत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार नदियों की उन्नति के लिए जो बहुमुखी योजनाएँ काम में ला रही है, उसका उल्लेख पहिले किया जा चुका है।

नहरे यहाँ विशेषतया आबपाशी के लिये बनाई गई हैं। इनके द्वारा व्यापार बहुत कम होता है। ये बडे-बडे शहरों और मुख्य-मुख्य मडियों से हो कर नहीं गुजरतीं, और न इनका सम्बन्ध समुद्र से ही है। बहुधा नहरों के चक्करदार रास्ते से माल ढोने मे रेल की अपेक्षा समय और खर्च भी अधिक पड़ता है। कुछ नहरे केवल सामान ढाने के के लिए भी बनाई गई हैं, परन्तु उनकी आमदनी से उनका खर्च और पूँजी का केवल सूद ही निकलता है। नहरों को, सामान ढोने मे उडीसा, सिंध, मदरास और दक्षिण-बगाल के, नदियों के मुहानेवाले स्थानों मे ही सफलता मिल सकती है, जहाँ रेलों के लिए पुल बनाना बहुत कठिन, एव बडे खर्च का काम है।

जहाज—प्रचीन काल से लेकर उन्नीसवीं सदी के मध्य तक भारतवर्ष अपने ही जहाजों तथा जहाज-चलानेवालों से तटीय (समुद्र के किनारे का) तथा विदेशी व्यापार करता था। पीछे यह कार्य धीरे-धीरे बन्द हो गया। वणिक-बुद्धि-प्रधान अगरेज व्यवसायी भारतवासियों को इससे लाभ उठाते देखना सहन न कर सके। वे यहाँ से जहाजों को बनाने का सामान अपने देश को ले जाने और वहाँ ही जहाज बनाने लगे। अब तक भारतवर्ष का तटीय तथा

समुद्री व्यापार विदेशी जहाजों द्वारा होता रहा, इससे हमे करोड़ों रुपया उन जहाजो को देना पडा। यहाँ अधिकतर माल इगलैड और अमरीका के जहाजों से आता-जाता है।

अगरेज सरकार ने इस परिस्थिति मे सुधार करने की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया। बहुत आन्दोलन होने के बाद सरकार ने सन् १६२३ ई० मे 'इन्डियन-मरकेटाइल-मेरिन-कमेटी' की नियुक्ति की थी, जिसका उद्देश्य यह जॉच करना था कि भारतीय जहाज चलाने, तथा जहाज बनाने के काम मे किन-किन उपायों से उन्नति हो सकती है। इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार डफरिन-नामक बेडे पर जहाजो के कर्मचारियों तथा इजिनियरो को शिक्षा की व्यवस्था की गई। परन्तु इस शिक्षा का उपयोग ही क्या जबकि कोई स्वदेशी जहाजी बेड़ा ऐसा न हो, जिसमे वे काम कर सके? भारतवर्ष के स्वतत्र होने तक यहाँ स्वदेशी जहाज-कम्पनियो को भीषण प्रतियोगिता सहनी पडी। अब यह देश अपने व्यापारी जहाज बना रहा है। सिंधिया स्टीम नेविगेशन, कपनी ने भारतीय पूजी पर जहाज बनाने का एक बडे पैमाने पर कार्य प्रारम्भ किया है—देश के लिए यह एक सराहनीय कदम है। इसके "जल उषा" "जल प्रभा" इत्यादि अनेक जहाज स्वतत्र देश के विस्तृत सागर मे उठने वाली ऊँची लहरो पर क्रीडा कर रहे हैं और दे रहे हैं हमे सजीव सदेश कि मुसीबत और कठिनाइयों के बीच भी भारतीय नाविक बेडा अपने अतीत गौरव का पुनरुद्धार करेगा और भविष्य मे अपने गुणो के जरिये सुख, समृद्धि और सफलता की वीचियों सहित देश के तट को चूमेगा।

बन्दरगाह—भारतवर्ष के आधुनिक व्यापार मे बन्दरगाहों का बडा महत्त्व है। अब तो हमारे व्यापार की दशा ही बन्दरगाहो की ओर है। वहाँ पहुँचनेवाले माल का परिमाण खूब बढ गया है। बन्दरगाहो मे माल दो उद्देश्यो से तो जाता ही है—वहाँ से जहाजो द्वारा विदेशों मे जाना, और दूसरे बन्दरगाहों मे जाना। गत वर्षों मे वहाँ माल जाने का एक कारण रेलवे-महसूल सम्बन्धी वर्त्तमान नीति भी रही है। जैसा कि पहले कहा गया है, यहाँ रेले बदरगाहों पर जानेवाले कच्चे माल पर जो महसूल लेती थी, वह उस माल के महसूल की अपेक्षा कम होता था, जो उस बदरगाह के नजदीक किसी दूसरी जगह के लिए भेजा जाय। इसलिए जब किसी व्यापारी को किसी ऐसे नगर के कारखाने के लिए कच्चा माल भेजना होता जो किसी बन्दरगाह के निकट हो, तो उसे उस माल को कारखाने मे सीधा न भेजकर बन्दरगाह के रास्ते भेजने मे किफायत

रहती। अस्तु, विविध कारणों से बन्दरगाहो पर माल बहुत भेजा जाता रहा है। फिर, हमारे यहाँ विदेशी माल की खपत बहुत बढी हुई रही है, यह माल दूसरे देशों से हमारे बन्दरगाहो पर ही आकर उतरता है। माल के इस आने और जाने का काम बढने से बन्दरगाहों का विशेष महत्त्व हो गया है। बड़े-बड़े जहाजो का चलन हो जाने के कारण प्राचीन काल के बहुत-से बन्दरगाह अब व्यापार के लिए उपयोगी नही रहे हैं। इसके विपरीत, कुछ नए बन्दरगाहों की बहुत उन्नति हुई है। अगरेज़ सरकार की, विदेशी व्यापार मे विशेषतया इ गलैंड से होने वाले व्यापार मे खूब दिलचस्पी थी। इसलिए वह बन्दरगाहों की उन्नति की ओर ध्यान देती रही।

प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८) के बाद भारत सरकार ने बन्दरगाहो और उनसे जुड़ी हुई रेलो का निरीक्षण कराया। उस समय भारत मे (बर्मा को छोड़कर) केवल चार बडे बन्दरगाह थे। कराची, बम्बई, मदरास और कलकत्ता। पीछे कोचीन और चटगॉव के बन्दरगाहो की उन्नति की गई है, और उनको आन्तरिक प्रदेशो से सम्बन्धित करनेवाली रेलवे लाइनों मे तरक्की हुई। इससे अधिक कुछ नही किया गया, कारण, अँगरेज सरकार हमारी आर्थिक उन्नति की ओर उदासीन थी, और १६२६-३० की मन्दी के कारण उसको आमदनी मे कमी हो गई थी।

विजगापट्टम के बन्दरगाह के विकास का श्रेय बगाल-नागपुर रेलवे कम्पनी को है। सन् १६३६ मे दूसरा महायुद्ध आरम्भ हो जाने से नई योजनाओ का कार्य स्थगित ही हो गया। अब हमारे यहाँ की बन्दरगाहो और उनसे सम्बद्ध रेलो की सुविधाएँ बहुत पुरानी पड़ गई हैं। इधर देश के आन्तरिक व्यापार, क्रयशक्ति और विदेशी व्यापार सभी के मूल्य तथा मात्रा मे वृद्धि हुई है। इस प्रकार हमारे बन्दरगाह और रेले बढे हुए वाणिज्य का भार सभालने मे असमर्थ हैं।

देश के बटवारे से परिस्थिति और भी अधिक चिन्तनीय हो गई। कराची और चटगॉव पाकिस्तान मे चले गए। अब हमारे छः हजार मील लम्बे समुद्री किनारों पर बडे बन्दरगाह केवल पॉच हैं—बम्बई, कोचीन, मदरास, विजगापट्टम और कलकत्ता। इस प्रकार फी बन्दरगाह के पीछे औसतन ढाई लाख मील का आन्तरिक प्रदेश और आठ करोड की आबादी है। दो प्रमुख बन्दरगाहों के बीच मे समुद्री किनारा भी बहुत अधिक है। यह अवस्था हमारे उन्नतशील उद्योग-धन्धों के लिए बडी असन्तोषजनक है।

अब कच्छ की खाडी पर स्थित कडला बन्दरगाह की उन्नति करने का विचार हो रहा है। इससे केवल कराची की क्षतिपूर्ति ही नहीं होगी, वरन्

आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेश खासकर दक्षिण-पश्चिम राजस्थान की उन्नति भी होगी। यह बन्दरगाह अहमदाबाद, अजमेर और दिल्ली को रेल के रास्ते समुद्र के निकट ले आवेगा। आशा है, भारत-सरकार पश्चिमी तथा पूर्वी समुद्री तट पर अन्य बन्दरगाह बनाए जाने का भी विचार करेगी। हमें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हरेक ५०० मील समुद्री किनारे पर एक अच्छे बन्दरगाह की जरूरत है।

हवाई जहाज—पिछली सदी तक यातायात तथा आमदरफ्त के प्रायः दो ही मार्ग थे— स्थल-मार्ग और जलमार्ग। अब वायु-मार्ग का भी उपयोग होने लगा है, और क्रमशः बढता जा रहा है। भारतवर्ष मे वायुयातायात की वृद्धि की बहुत ही आवश्यकता है। इसके द्वारा इस विशाल देश के दूर-दूर के नगरों और मडियों को सहज ही मिलाया जा सकता है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा व्यापार के लिए भी इसका बहुत उपयोग है। पूर्व मे भारत की स्थिति ऐसी है कि अन्तर्राष्ट्रीय यातायात की योजना के अनुसार जो वायु-मार्ग योरप, अफ्रीका से एशिया और आस्ट्रेलिया तक बनेगा, वह यहाँ से ही होकर जायगा। भारतवर्ष मे वायु-यातायात बढ़ने की सम्भावना भी बहुत है, कारण, वायु-मार्ग के विचार से देश की प्राकृतिक स्थिति बहुत अनुकूल है, उस समय को छोड़ कर जबकि जल बरसने वाली हवाएँ चलती हैं, यहाँ की जलवायु आदर्श है। हवाई जहाज, उनके उतरने के स्थान तथा ठहरने के स्टेशन, और प्रकाश-भवन आदि बनाने मे रेलवे लाइन और रेलवे स्टेशन आदि की अपेक्षा कम खर्च होता है। अभी हवाई जहाजों के लिए कच्चे माल आदि का भारी सामान ढोना कठिन है, परन्तु जब बहुत-से हवाई जहाज चलने लगेंगे तो यह कठिनाई न रहेगी। सोने और चाँदी का माल ढोने के लिए हवाई जहाज बहुत उपयुक्त हैं। उन पर बहुत कम लोगों के हाथ लगते हैं, इसलिए चोरी का डर कम रहता है। इसी से हवाई डाक से ऐसी चीजे भेजी जाती हैं।

भारतवर्ष के बडे बडे नगर हवाई जहाज द्वारा जोड़े जा चुके हैं, बीच मे स्थान-स्थान पर हवाई जहाजो के उतरने के लिए जगह तैयार की जा रही है। हवाई जहाज से यात्रा करने या डाक भेजने मे समय की बहुत बचत होती है।

दिसम्बर सन् १९४० मे श्री० बालचन्द हीराचन्द ने चालीस लाख रुपए की पूँजी से जहाज बनाने के लिए एक कम्पनी बनाई, जिसका नाम हिन्दुस्तान एअर-क्राफ्ट कम्पनी है। कम्पनी ने बगलौर मे एक कारखाना खोला, जहाँ सस्ती बिजली और अच्छे फौलाद मिलने की सुविधा है। कम्पनी

की पूँजी ७५ लाख रुपए हैं। इसमे मैसूर सरकार का भी अच्छा हिस्सा है। युद्ध काल के लिए इस कम्पनी का कारोबार भारत सरकार ने अपने अधीन रखा था। इसका पहला जहाज जुलाई १९४१ मे उड़ा था।

दूसरे महायुद्ध (१९३९-४५) के समय तक भारत मे वायु-यातायात बहुत ही अवनत दशा मे रहा। युद्ध-काल में हवाई जहाजों का काम अच्छा बढा। महायुद्ध समाप्त होने के बाद हवाई यात्रा करने और हवाई डाक भेजने की सुविधा बढती गई है। १ जुलाई १९४६ तक भारत सरकार ने कुल १४ कम्पनियाँ रजिस्टर की थीं। इनकी स्वीकृत पूँजी २७ करोड़ रुपए थी। ये कम्पनियाँ १४ मार्गों पर काम करती थीं, जिनकी कुल लम्बाई १०,५७० मील थी। इधर इस काम मे खूब प्रगति हुई है। सन् १९४७ के अन्त तक २८ लाख यात्रियों को और ८ लाख ८० हजार पौंड सामान को १ लाख ७० हजार मील ले जाया गया। यातायात की २८ कम्पनियाँ २१ रास्तों पर काम करती थीं। कम्पनियों की कुल लगी हुई पूँजी ४७ करोड रुपए हैं। भारतवर्ष में तीन बड़े हवाई अड्डे बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली मे हैं, जिनकी देखभाल अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर होती है। सात हवाई अड्डे अहमदाबाद, इलाहाबाद, लखनऊ, मदरास, नागपुर, पटना और विजयानगरम में हैं। इनके अलावा ३३ अड्डे इनसे छोटे हैं। यह तो प्रान्तों की बात हुई। भारतीय सघ में मिली हुई रियासतों के हवाई अड्डों की सख्या २६ है। इनकी क्रमशः वृद्धि होती जा रही है।

भारत सरकार ने वायु-यातायात की उन्नति के लिए दसवर्षीय योजना तैयार की है, जिस पर १५ करोड रुपए के करीब खर्च होगा। इसके अनुसार १११ पूर्ण रूप से सुसज्जित हवाई अड्डे और वायुयानों के उतरने के स्थान बनाए जायँगे। देश के भीतर सात हवाई सर्विसे होंगी। कलकत्ते से कोलम्बो, कलकत्ते से रगून, बम्बई से कलकत्ता, दिल्ली से मदरास, बम्बई से दिल्ली, कलकत्ते से आसाम, मदरास से बगलौर और कोचीन। ये सर्विसे निजी कम्पनियों द्वारा चलाई जायँगी।

देश के बट जाने के कारण भारत-सरकार को कुछ नए कार्यक्रमों की ओर शीघ्र ध्यान देना होगा। अमृतसर का हवाई अड्डा ठीक से बनवाना और बडा कराना होगा क्योंकि पूर्वी पजाब मे यही एक अड्डा होगा। आसाम तक चलनेवाली डाक-सर्विस में व्यापार की सुविधाओं का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। इस सर्विस का रास्ता पूर्वी पाकिस्तान से न होकर भारत से ही होना अच्छा है। पाकिस्तान सरकार एक हवाई सर्विस कराची से ढाका

तक आरम्भ करना चाहती है। उसे भारत से ही होकर जाना होगा, क्योंकि कोलम्बो होकर जाने से रास्ता बहुत लम्बा और बेहद खर्चीला पड़ता है।

सन् १९४८ के प्रथम छः माह मे यहाँ हवाई जहाजों ने ५८,७४,३८० मील की उड़ान की, और उनमे १,७६,७३४ आदमियो ने यात्रा की।

डाक, तार, टेलीफ़ोन और रेडियो—डाक और तार से भी व्यापार की वृद्धि होती है। यह कार्य सरकार द्वारा सचालित होता है। डाक और तार विभाग अपने काम के लिए हवाई जहाजों, रेलो, मोटरों, और जहाजों का उपयोग करता है। इस विभाग का सन् १९४४-४५ ई० का काम नीचे लिखे अकों से मालूम हो जायगा :—

डाक मे भेजी गई कुल वस्तुओ की सख्या	१,७३,००	लाख
रजिस्टर्ड वस्तुओं की सख्या	६,००	,,
बीमे द्वारा भेजी गई वस्तुओं की सख्या	३४	,,
मनिआर्डरों की सख्या	६,४४	,,
बीमो का मूल्य	रु० १,४७,००	,,
डाक महसूल	रु० १२,८०	,,
मनिआर्डरों का मूल्य	रु० १,७३,००	,,
पोस्टल आर्डर बिके, उनका मूल्य	रु० ६५	,,
वी० पी० द्वारा सग्रह किया गया	रु० २४,७०,५०	,,

सन् १९४४-४५ मे डाक और तार विभाग की कुल आय २९ करोड ३८ लाख रुपया हुई, और खर्च १९ करोड १३ लाख रुपया हुआ। इस प्रकार इस वर्ष १० करोड़ २५ लाख रु० का मुनाफा रहा। कुल डाकखानों की सख्या २५,८५० थी। सन् १९४४-४५ के अन्त मे मेल लाइन (डाक जाने का मार्ग) १ लाख ५९ हजार मील थी, और इसमे १ लाख २७ हजार आदमी स्थायी रूप से, तथा २७ हजार अस्थायी रूप से काम करते थे। वर्ष के अन्त मे तार की लाइन १,१३,४०० मील थी। इस साल देश तथा विदेशों मे भेजे गए कुल तारों की सख्या २९७ लाख थी, उसका व्योरा इस प्रकार है—

तार	प्राइवेट	सरकारी	प्रेस सम्बन्धी
देशी	१९८ लाख	६३ लाख	४ लाख
विदेशी	८० ,,	३ ,,	१ ,,

टेलीफोन का अधिकतर सम्बन्ध एक ही देश के अन्दर भिन्न-भिन्न स्थानों से या कहीं कहीं एक ही नगर के भीतर रहता है। बडे-बड़े शहरो मे

एक जगह से दूसरी जगह जाने-आने मे काफी समय लगता है, टेलीफोन के द्वारा व्यवसायी अपनी-अपनी दूकान या दफ्तर मे बैठे हुए कई-कई मिनट तक बात-चीत कर सकते हैं। ३१ मार्च सन् १६४३ को भारतवर्ष में डाक और तार विभाग द्वारा स्थापित टेलीफोन-एक्सचेंज कार्यालय २८०० और टेलीफोन १, २५,००० थे।

बेतार-के-तार द्वारा एक नगर से दूसरे नगर मे, तथा अन्य देशों के प्रधान नगरों मे, समाचार बहुत जल्द आ-जा सकता है। समुद्र पार के स्थानों मे, अथवा समुद्र मे एक जहाज से दूसरे जहाज पर समाचार भेजने के लिये यही साधन काम मे लाया जाता है। सन् १६४४-४५ मे डाक और तार विभाग की ओर से भेजे हुए बेतार के तार के संदेश ३,४२,००० थे। ये संदेश अभी सरकारी ही होते हैं।

रेडियो द्वारा दूर-दूर के देशों मे समाचार भेजने का व्यवस्था हो गई है। एक वक्ता का भाषण या गाना-बजाना हजारों मील दूर के आदमी, अपने-अपने घरों मे इस यंत्र के पास बैठकर, अच्छी तरह सुन सकते हैं। रेडियो-कम्पनियाँ इसके द्वारा चीजों का विज्ञापन भी करती हैं। कुछ स्थानों में रेडियो द्वारा नई-नई पुस्तको का परिचय दिया जाता है। भारतवर्ष मे रेडियो का केन्द्रीय (अखिल भारतवर्षीय) हेडक्वार्टर नई देहली मे है। इसके कई स्टेशन हैं—देहली, नागपुर, बम्बई, मदरास, पटना, कलकत्ता, लाहौर, प्रयाग, लखनऊ, त्रिचनापली, ढाका और पेशावर। मार्च १६४६ के अन्त मे २,०५,१३० व्यक्तियों तथा संस्थाओं ने इसका लेसन्स ले रखा था। लेसन्स डाक और तार विभाग के डायरेक्टर-जनरल (नई देहली) की ओर से डाकखाने द्वारा जारी किए जाते हैं। अंगरेजी, हिन्दी, उर्दू, तामिल, और बंगला मे रेडियो सम्बन्धी पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। हिन्दी पत्रिका 'सारंग' देहली से प्रकाशित होती है।

राष्ट्रीय सरकार द्वारा इस कार्य की उन्नति—स्वतंत्र भारत की राष्ट्रीय सरकार ने अपनी यातायात नीति मे गाँवों की आवश्यकताओं को प्रमुख स्थान दिया है। केवल लाभ की जगहों मे डाकखाने खोलने की पुरानी नीति छोड़ दी गई है। अब दो हजार से ज्यादा आबादी वाले गाँवों में डाकखाने खुलते जा रहे हैं। १६ अगस्त १६४७ को गाँवो के डाकखाने १६,६६४ थे, १ जुलाई १६४८ को उनकी संख्या बढ कर १८,४३८ हो गई है। इसी प्रकार शहरों के डाकखाने इस समय मे ३५४८ की जगह ३७७५ हो गए। वर्धा के आस-पास एक चलते-फिरते हुए गाड़ी पर स्थित डाकखाने का भी प्रयोग हो रहा है। एक लारी लगभग ४०० मील का

चक्कर लगाकर पत्र बॉटती है, पत्र लेती है, और टिकट-लिफाफे आदि बेचती है।

डाक और तार विभाग मे सुधार करने का प्रयत्न हो रहा है। बहुत से नगरों मे पत्र कई बार बटने लगे हैं। अनेक स्थानो मे डाक लेजाने के लिए मोटरे काम मे लाई जाने लगी हैं। हवाई मार्गों के विकास के साथ-साथ हवाई डाक का भी प्रचार हो रहा है। कुछ जगहो मे हरकारे प्रधान कार्यालय से शाखा-कार्यालय मे तार मोटर-साइकल पर ले जाया करें, ऐसी व्यवस्था की जा रही है।

सरकार तार और टेलीफोनों का आधुनिक ढग पर विस्तार करने का आयोजन कर रही है। योजना मे ५ हजार या इससे अधिक जन सख्या वाले प्रत्येक स्थान पर एक तार-घर की, तथा ३० हजार जनसख्या वाले प्रत्येक स्थान पर टेलीफोन-एक्सचेंज की, प्रमुख नगरों मे बेतार-के-तार तथा अन्य इसी प्रकार के साधनों को स्थापना का विचार है। भारतवर्ष मे टेली-फोन के सामान बनाने का कारखाना खोलने के लिए एक अगरेजी कम्पनी से १५ वर्ष के लिए समझौता किया गया है। इस अवधि मे कम्पनी को कुल ८० लाख रु० देना होगा, और भारत मे लगभग ३१ करोड़ रु० का सामान बन जाने का अनुमान है। कारखाने के लिए बगलोर मे एक स्थान चुन लिया गया है। यहाँ पूरे टेलीफोन बनने लगेंगे।

काशमीर से नए यातायात सम्बन्ध कायम किए गए हैं। विभाजन के कारण पुराने यातायात निरर्थक थे, और आक्रमणकारियों ने उन्हे नष्ट भी कर दिया था। रियासतो के भारतीय सघ मे शामिल होते ही वहाँ का डाक और तार का प्रबन्ध भारत-सरकार को ले लेना पडा। जम्मू और काशमीर मे नए तार-केन्द्र खोले गए। दिल्ली और जम्मू के बीच मे तार की लाइन और बेतार के स्टेशन बनाए गए।

भारतीय स्वाधीनता की वर्षगाठ मनाने के लिए डाक विभाग ने चार अलग-अलग मूल्य के गाधी स्मारक टिकट जारी किए हैं। इन पर 'बापू' देवनागरी और फारसी लिपि मे, तथा अन्य बाते रोमन लिपि और अगरेजी भाषा मे छपी हैं। स्वाधीन-भारत के डाक विभाग का सब काम राष्ट्र-लिपि और राष्ट्र-भाषा मे होना चाहिए।

व्यापार के साधनों की उन्नति और उसका प्रभाव—माल ढोने की उन्नति के कारण देश के भीतर एक जगह से दूसरी जगह तथा बन्दरगाहों से माल का आना-जाना बढा है। रेलों ने नई सड़कों की माँग बढ़ा दी है,

व्यापार के पुराने रास्तों को बदल दिया है और प्राचीन मडियों को वन्द करके नए व्यापार केन्द्र खोल दिए हैं, जो रेलवे लाइनों के किनारे बसे हैं। रेलें और माल ढोनेवाली मोटरें, पुराने ढग की बैलगाडियो तथा लद्दू जानवरो का काम कर रही हैं। देश के भीतरी भागों में अभी उनकी पूर्ण पहुँच नही हुई है। सामान ढुलाई का खर्च कम हो गया है। जहाजों तथा कुछ अश मे वायुयानो ने भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध दूर-दूर के देशों से कर दिया है। यहाँ का देशी तथा विदेशी व्यापार खूब बढ गया है। हम प्रायः कच्चा माल ही बाहर भेजते और तैयार माल (या मशीनें) बाहर से मँगाते हैं। हमारे किसान पहले खासकर यहाँ के आदमियों के लिए ही आवश्यक चीजे पैदा करते थे। अब उनका ध्यान ऐसे पदार्थ पैदा करने की ओर रहता है, जिनकी कीमत अच्छी मिले, चाहे उनकी यहाँ वालो को आवश्यकता न हो, और वे केवल दूसरे देशों मे ही भेजे जाने योग्य हों। आजकल बन्दरगाहो की उन्नति हो रही है, क्योंकि देश का माल बन्दरगाहों से ही विदेशों को जाता है, और विदेशी माल भी यहां आकर देश भर मे फैलता है। अस्तु व्यापार के साधनो की उन्नति तो होनी ही चाहिए, परन्तु उसके साथ ही उनका उपयोग इस तरह होते रहने की बडी आवश्यकता है, जिससे उनके द्वारा व्यापार की जो वृद्धि हो, वह हमारे लिए हितकर हो।

अभ्यास के प्रश्न

१—व्यापार के उत्तमोत्तम साधनों का भारत के ग्रामीण उद्योग-धधो और कृषि पर क्या प्रभाव पड़ रहा है? विस्तारपूर्वक समझाइए। (१९१७)

२—भारतवर्ष मे किन-किन साधनों से व्यापार किया जाता है, सक्षेप में समझाइए। उनकी वृद्धि से देश को क्या लाभ पहुँचा है? (१९३३, १९३६)

३—भारतवर्ष की रेलों की व्यवस्था मे कौन-कौन से दोष हैं? उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

४—रेल-मोटर की प्रतियोगिता कहाँ तक उचित है? मोटरों को सरक्षण की क्यों और कहाँ तक आवश्यकता है?

५—"भारत में जलमार्ग से बहुत कम व्यापार किया जाता है। फलतः देश को हानि ही हानि होती है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

६—"व्यापार के लिए डाक, तार व टेलीफोन उतने ही आवश्यक हैं जितनी रेल-मोटर और जहाज।" इस कथन पर आपकी क्या राय है? भारत मे व्यापार की दृष्टि से दोनो की क्या स्थिति है? भली भाँति समझाइए।

७—हवाई जहाजो द्वारा व्यापार मे वृद्धि किस प्रकार की जा सकती है?

८—भारतवर्ष के लिए रेलों की उपयोगिता समझाइए और उसकी तुलना नहरो की उपयोगिता के साथ कीजिये।

९—अच्छी सडकों की कमी से ग्रामवासियो को क्या असुविधाएँ होती हैं?

१०—डाक और तार विभाग के कार्यों की आलोचना कीजिए। उसमे किन किन सुधारो की आवश्यकता है?

सत्ताईसवां अध्याय

देशी और विदेशी व्यापार

व्यापार—यह लिखा जा चुका है कि आजकल अधिकाश विनिमय-कार्य रुपये-पैसे द्वारा होता है। हम अपनी चीज बेचकर रुपया लेते हैं, और रुपये से हम अपनी आवश्यकता की चीजें खरीदते हैं। इस खरीद-फरोख्त या क्रय-विक्रय के कार्य को व्यापार कहते हैं। व्यापार दो तरह का होता है—देशी और विदेशी। देशी व्यापार देश की सीमा के भीतर का व्यापार है। विदेश से आने वाले और विदेश को जानेवाले माल के व्यापार को विदेशी व्यापार कहते हैं।

देशी व्यापार के भेद—पहले देशी व्यापार का वर्णन किया जाता है। इसके दो भेद मुख्य हैं:—(१) आभ्यतरिक (Internal) या भीतरी व्यापार, और (२) तटीय व्यापार जो समुद्र के तटवर्ती स्थानों मे होता है। इनके सम्बन्ध मे विस्तार से आगे लिखा जायगा।

आजकल सट्टे और जुए का भी, व्यापार से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि कुछ लोग इनमे और व्यापार मे कोई भेद नही समझते। जो क्रय-विक्रय केवल तेजी-मन्दी होने की सम्भावना पर, नफा होने की आशा से किया जाता है, उसे सट्टा ('स्पेक्यूलेशन') कहते हैं। इसमे

बेचे तथा खरीदे हुए माल को देना-लेना होता है, कुछ दशाओं मे माल के विनिमय से होनेवाले हानि-लाभ की रकम ही दी या ली जाती है। जो सौदा बशुमार लाभ होने की आशा से, हैसियत से अधिक किया जाता है, और जिसमे माल का देना-लेना नहीं होता, उसे जुआ कहते हैं। इसके लेन-देन की सुनवाई अदालत मे नहीं होती।

आंतरिक व्यापार और उसके केन्द्र—देशी व्यापार मे निम्न-लिखित कार्यों का समावेश होता है :—(क) देश मे उत्पन्न या तैयार किए गए पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पहुचा कर बेचना या, उन्हे विदेशों मे बेचने के लिये बडे-बडे बन्दरगाहों पर भेजना। (ख) विदेशों से देश के बन्दरगाहों पर आए हुए माल को देश के भीतरी भागो मे पहुँचा कर बेचना।

ज्यों-ज्यों आमदरफ्त और यातायात के साधनो की उन्नति होती जाती है, भारतवर्ष का भीतरी व्यापार बढता जाता है। लोगों की आर्थिक अवस्था सुधरने पर इसमे और भी अधिक प्रगति होने की आशा है। व्यापार के केन्द्र या मडियाँ देश के भिन्न-भिन्न भागो मे है। कलकत्ता और बम्बई मुख्य बन्दरगाह होने के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र भी हैं। सूती माल की आयात को पश्चिम भारत मे वितरण करने का कार्य बम्बई से होता है। यहाँ का व्यापार प्रधानतया भारतीयों के हाथ मे है। कलकत्ते में अभी तक योरोपियनों का जोर रहा है। मदरास आदि बन्दरगाहो का भी व्यापार और उद्योग में खासा स्थान है। कराची (पाकिस्तान की राजधानी) का बन्दरगाह गेहूँ के व्यापार का केन्द्र है।

बन्दरगाहों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य बडे-बडे केन्द्र कानपुर, देहली, अहमदाबाद, अमृतसर, आगरा, लखनऊ, नागपुर आदि हैं। कानपुर उत्तर प्रदेश में एक बडा रेलवे जकशन है, और बम्बई तथा कलकत्ते के बीच मे होने से यहाँ से देशी तथा विदेशी माल चारों तरफ भेजने मे सुविधा रहती है। देहली (भारतीय सघ की राजधानी) नौ रेलवे लाइनों का जकशन है; यहाँ से पजाब मे तथा उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों मे खासकर रूई, रेशम और ऊन के कपड़े का खूब व्यापार होता है। अहमदाबाद, बम्बई प्रान्त में, बम्बई से दूसरे दर्जे का व्यापारी तथा औद्योगिक नगर है। अमृतसर मे कालीन, चमडे आदि का कारोबार है। आगरे में दरी, कालीन, गोटा-किनारी, सगमरमर आदि का काम अच्छा होता है। इसी प्रकार और भी कितने ही नगरों का व्यापारिक तथा औद्योगिक दृष्टि से अपना-अपना महत्त्व है।

भारतवर्ष के भीतरी व्यापार के महत्त्व को बहुधा ठीक ठीक ध्यान मे नही लाया जाता। ऐसा अनुमान है कि यह व्यापार यहाँ के विदेशी व्यापार की अपेक्षा तीन-चार गुना है, तथापि देश की विशाल जनसख्या को देखते हुए यह बहुत कम ही है। इसका कारण कुछ तो अधिकाँश लोगो का सादा रहनसहन है, जिससे वे अपने नज़दीक की चीजों से ही अपना निर्वाह कर लेते हैं, और कुछ कारण यह भी है कि जनता मे इतनी आर्थिक शक्ति ही नहीं कि वह बहुत से पदार्थो को इस्तेमाल के लिए खरीद सके।

अन्तर्प्रान्तीय सहयोग की आवश्यकता—भारतवर्ष के देशी व्यापार मे रेल आदि की कमी से जो बाधा होती है, उसका जिक्र पहले किया जा चुका है। दूसरी बाधा यह है कि बहुधा एक प्रान्त मे अनाज की कमी होने पर दूसरे प्रान्त की सरकार वहाँ काफी उदारता से अन्न आदि नही भेजती; यहाँ तक कि कुछ दशाओ में एक जिले से दूसरे जिले मे खाद्य पदार्थ जाने में भी बडी रुकावट लगा दी जाती है। देशी राज्यों से तो माल बाहर जाने की मनाही प्रायः हमेशा ही रहती है। इसका नतीजा यह होता है कि कभी-कभी एक जगह एक चीज की बहुत कमी होती है, और वहाँ से कुछ मील के फासले पर ही वह चीज बहुत सस्ती होती है। ये सब बाते राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध हैं। भारतवर्ष के एक हिस्से से दूसरे हिस्से मे प्रत्येक वस्तु का निर्बाध व्यापार होना चाहिए।

तटीय व्यापार—तटीय व्यापार मे वह सब व्यापार सम्मिलित होता है, जो समुद्र-तट के एक स्थान का, दूसरे स्थान से होता है, चाहे वह व्यापार स्वदेशी वस्तुओं का हो या विदेशी का। इस प्रकार, इसके अंतर्गत ऐसे पदार्थों के व्यापार का भी समावेश होता है, जिनके क्रय-विक्रय का देश के भीतरी भागों से कुछ सम्बन्ध न हो। परन्तु ऐसे व्यापार का परिमाण थोड़ा ही होता है। अतः तटीय व्यापार अधिकतर देशी व्यापार का भाग माना जाता है। भारतवर्ष के तटीय व्यापार का ८० फी सदी से अधिक व्यापार कलकत्ते और बम्बई से होता है, उनके पीछे का क्षेत्र बहुत धनी और उपजाऊ है। शेष व्यापार अन्य बन्दरगाहों मे बँटा हुआ है। कुल तटीय व्यापार प्रतिवर्ष लगभग सत्तर करोड़ रुपए के माल का होता है। कराची का बन्दरगाह अब पाकिस्तान में है; वहाँ से लगभग बीस करोड़ रुपए के माल का तटीय व्यापार होता है।

अंगरेज सरकार ने भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति सम्बन्धी अन्य कार्यों में यहा के तटीय व्यापार की भी उपेक्षा की। सन् १९२८ मे श्री० हाजी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा मे इस विषय का प्रस्ताव उपस्थित किया था कि

भारत का तटीय व्यापार भारतीय जहाजों के लिए सुरक्षित किया जाय, यदि कोई मिश्रित पूँजी की कम्पनी जहाज चलाए तो उसका सचालन, प्रबन्ध और व्यवस्था अधिकाँश मे भारतीयों द्वारा ही हो। सरकार को इस राष्ट्रोपयोगी प्रस्ताव मे जातीय भेद-भाव की वृद्धि की गध प्रतीत हुई, और उसने उसे टाल दिया। पीछे सन १६३७ मे सर गजनवी का इस आशय का प्रस्ताव सिलेक्ट कमेटी मे भेजा गया था, कि तटीय व्यापार मे भारतीय जहाजी कम्पनियो को विदेशी कम्पनियों की किराए आदि की अनुचित प्रतियोगिता न सहनी पडे। इस का भी कुछ अच्छा परिणाम न हुआ।

अब (अगस्त १६४७ से) भारत मे राष्ट्रीय सरकार है। आशा है, अपने व्यापारी बेडे द्वारा यह देश इस व्यापार की यथेष्ट उन्नति करेगा।

व्यापारी और उनका संगठन—हमारे व्यापार को प्रमुख सचालक बडी-बडी एजेंसी-कम्पनिया हैं, जो अभी तक अधिकाश मे विदेशी हैं। इन कम्पनियों की प्रधान शाखाएँ यहा के बडे बन्दरगाहो मे हैं, कुछ ने अपनी छोटी शाखाएँ भिन्न-भिन्न शहरों मे खोल रखी हैं। इन कम्पनियों के नीचे का व्यापार प्रायः भारतवासियो के ही हाथ मे है। इस प्रकार के व्यापार मे मारवाडियो ने बडा भाग लिया है। इनके अतिरिक्त बम्बई मे पारसियों, भाटियों, बोहरों और खोजा लोगों ने, पजाब मे खत्रियो और मुसलमानों ने, उत्तर प्रदेश में बनियों (वैश्यों) ने, बङ्गाल और बिहार मे मारवाड़ियो ने, तथा मदरास में चेटी और कोमाटियों ने बडी प्रवीणता दिखाई है। खेद है कि अधिकाँश व्यापारियो को व्यापार का विशेष ज्ञान नहीं होता, वे भले-बुरे उपायों से पैसा प्राप्त करने को ही व्यापार समझते हैं, और व्यापारी के नाम को लज्जित करते हैं। व्यापारियों को जानना चाहिये कि जनता की आवश्यकता की कोन कौनसी वस्तु विदेशों मे पैदा या तैयार होती है, वे चीजें यहाँ किस प्रकार प्राप्त की जा सकती हैं, जिनसे देश स्वावलम्बी हो। इसी प्रकार व्यापारी इस बात का पता लगाते रहे कि हमारे यहाँ के कौन कौनसे उपयोगी पदार्थ ऐसे हैं, जो यहाँ बहुत अधिक होते हैं, और विदेशों मे नहीं होते, अथवा कम परिमाण मे होते हैं। इन पदार्थों को बाहर भेजने की व्यवस्था करने मे उनका उद्देश्य न केवल धन पैदा करना, वरन् लोकहित भी होना चाहिये।

यहाँ के व्यापारिक सगठनों मे योरोपियन सस्थाएँ प्रमुख और प्राचीन हैं—यथा एसोशिएटेड चेम्बर-आफ-कामर्स आफ इन्डिया, तथा चेम्बर-आफ-कामर्स कलकत्ता (सन् १८३४), बम्बई (१८३६), मदरास (१८३६) और कानपुर, लाहौर, कराची आदि। बम्बई की चेम्बर को छोडकर, अन्य

चेम्बरो मे अधिकाश सदस्य योरोपियन ही हैं। इन चेम्बरों के अतिरिक्त, कुछ सस्थाएँ व्यापार की भिन्न भिन्न शाखाओं से सम्बन्धित हैं, जैसे जूट-मिल-एसोशिएशन या काटन-मिल एसोशिएशन। मुख्य-मुख्य शहरों मे फुटकर बेचनेवाला की भी कुछ सस्थाएँ हैं।

भारतीय व्यापारियो ने बहुत समय तक अपना सगठन नही किया था, इससे उन्हे बहुत हानि उठानी पडी, और उनको शिकायतों पर सरकार ने कुछ ध्यान नही दिया। क्रमशः उनमे जागृति हुई, उन्होने अपनी सगठित सस्थाएँ बनाई। अब करीब-करीब हर प्रान्त मे उनकी चेम्बर-आफ कामर्स स्थापित हो गई है। इनकी सबसे पुरानी सस्था बगाल नेशनल चेम्बर-आफ-कामर्स (१८८७) है। अन्य कुछ सस्थाएँ निम्नलिखित हैं :—मारवाडी चेम्बर आफ कामर्स (१९०७), इडियन मर्चेंट्स चेम्बर ऍड ब्यूरो, बम्बई (१९०७), साउथ इन्डियन चेम्बर आफ कामर्स, मदरास (१९०९), इन्डियन चेम्बर-आफ-कामर्स, कलकत्ता (१९२५), और महाराष्ट्र चेम्बर-आफ-कामर्स (१९२७)। भारतवर्ष की व्यापारिक और औद्योगिक चेम्बरों का अखिल भारतीय सघ (फेडरेशन) भी है। ऐसी संस्थाओं द्वारा भारतीय व्यापार की बहुत उन्नति हो सकती है, और ये सरकार तथा रेलो पर भारतीय हित की दृष्टि से काम करने के लिए बहुत प्रभाव डाल सकती हैं। परन्तु गत वर्षों मे प्रायः योरोपियन सस्थाओ का ही बोलबाला रहने से इसमे सफलता नही मिली। इसका एक कारण यह था कि भारतीय व्यापारियो मे एकता नही थी, अनेक व्यापारी परस्पर मे ईर्ष्या और अनुचित प्रतिस्पर्द्धा करते रहे। ये उधार देकर, माल का दाम गिराकर, ग्राहकों को बहकाकर जैसे भी बने अपना माल बेचने, नफा कमाने और दूसरे व्यापारियों को नीचा दिखाने के इच्छुक रहे। ये सब बाते हमारे व्यापार की उन्नति में बडी बाधक हैं। इनका निवारण करने की ओर व्यापारिक सस्थाओं को यथेष्ट ध्यान देना चाहिये। युद्ध काल (१९३९-४५) मे यहाँ की व्यापारिक सस्थाओं ने अपने सगठन को मजबूत बनाने की ओर ध्यान दिया, उन्होंने समय-समय पर सरकार को अपने सामूहिक मत से परिचित किया और अपने सदस्यो को अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का ज्ञान कराया।

तौल-माप और सिक्कों को विभिन्नता—हमारे अन्तर्प्रान्तीय व्यापार की वृद्धि मे एक बाधा तौल-माप और सिक्को की विभिन्नता या अलहदगी है। गत वर्षो मे इनकी पृथक्ता कुछ घटी है, परन्तु अभी यथेष्ट सुधार नही हो पाया है। अधिकतर व्यापार मे ८० तोले का सेर माना जाता है, तो अनेक स्थानों मे कम या ज्यादह वजन के सेर का भी प्रचार है। मध्यप्रदेश आदि मे दाल चावल आदि माप कर दिए जाते हैं, इससे

जब वहाँ कोई नया खरीददार पहुँचता है तो आरम्भ मे उसे हिसाब समझने मे कठिनाई होती है। कपडे आदि के माप में सोलह गिरह या छत्तीस इञ्च के गज का आम चलन है। तथापि कितनी ही जगह भिन्न-भिन्न माप के 'कच्चे' गज का व्यवहार है। सिक्कों मे 'कलदार' रुपया देश भर मे कानून-ग्राह्य है, परन्तु कई देशी राज्यों मे उनका अलग-अलग मूल्यों का रुपया चलता था। इससे बहुत असुविधा होती है। राष्ट्र-हितैषियों
समुचित ध्यान देना चाहिए, और अपनी निजी भावनाओं के
त्याग कर भी व्यापारिक एकता और राष्ट्र-निर्माण कार्य
चाहिए।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी असुविधाएँ–भारतीय व्यापार की एक प्रधान समस्या क्रय विक्रय की जटिलता है। पहले कहा जा चुका है कि यहाँ अधिकतर किसान अशिक्षित और निर्धन हैं। वे माल खरीदने और बेचने के ज्ञान से वञ्चित होते हैं, और फल-स्वरूप उन्हे दोनों ओर से बड़ी हानि सहना पडती है। पहले माल खरीदने का विचार करें। किसान को बीज आदि खरीदना होता है, उसे अपने गाँव से बाहर का भाव मालूम नहीं होता, और मालूम भी हो तो क्योंकि, उसे माल थोडे परिमाण मे खरीदना होता है, उसके लिए किसी दूर के स्थान मे जाकर उसे लाना कठिन होता है। अनेक दशाओं मे तो उसके पास नकद दाम ही नहीं होते, उसे अपनी आवश्यकता की वस्तु उधार माल लेनी होती है। अस्तु, गाँव का महाजन जिस भाव से उसे देता है, उसी भाव से वह ले लेता है।

इसी प्रकार बेचने की बात है। बहुधा किसान को लगान चुकाने के लिए खेती की पैदावार बेचने की बहुत जल्दी रहती है। वह उसके अच्छे दाम उठाने के लिए कुछ इतजार नहीं कर सकता। फिर प्राय. उसे अपनी फसल का माल गाँववाले महाजन को ही बेचना होता है, जिसका वह प्राय. ऋणी रहता है। अधिकतर किसानो को न बाहर की मडियों का भाव मालूम होता है, और न उन्हे बाहर जाकर बेचने का सुभीता है, इसलिए उन्हें अपने माल की जो-कुछ कीमत मिलती है, उसी मे सन्तोष करना होता है। कुछ थोडे से किसान ऐसे होते हैं, जिन्हे अधिक पैदावार बेचनी होती है, ये पास के किसी कस्बे की मडी मे जाकर बेचते हैं। यहाँ उन्हे कई प्रकार के शुल्क या महसूल आदि देने होते हैं। चुङ्गी (म्यूनिसपल टेक्स) के अलावा मडी मे गाडी ठहरने का शुल्क, दलाल की दलाली, माल की तुलाई तथा गोशाला और प्याऊ आदि का चन्दा—न-जाने उनसे क्या-क्या लिया जाता है। बेचारे किसानों को पहले तो यही निश्चय नहीं होता

कि उनका माल उचित भाव से बिक रहा है और उन्हे ठीक ठीक दाम मिल रहे है; फिर, जब दाम मिलने लगते हैं, तो उपर्युक्त विविध शुल्क आदि मे उनकी खासी रकम निकल जाती है।

क्रय-विक्रय सम्बन्धी इस हानि को दूर करने का उपाय यह है कि स्थान-स्थान पर सहकारी क्रय-विक्रय समितियाँ बनाई जायँ। समिति के सदस्य को जिस और जितने माल की आवश्यकता होती है, उसकी सूचना वह समिति को देता है। समिति बाजार के उतार-चढाव का ध्यान रखते हुए इकट्ठा माल थोक भाव से खरीद लेती है, और साधारण कमीशन लेकर अपने सदस्यो को, उनकी आवश्यकतानुसार, माल दे देती है। इससे सदस्यों को बहुत किफायत रहती है। यह तो क्रय-सम्बन्धी बात हुई। इसी प्रकार, समिति अपने सदस्यों का माल बेचने का उचित प्रबन्ध कर सकती है, वह बाजार सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त करके माल को अन्तिम खरीददार के हाथ बेचने का प्रयत्न कर सकती है, जिससे बीच के कई दलालो की दलाली तथा अन्य नाना प्रकार के शुल्क आदि से छुटकारा होकर किसान को अधिक-से-अधिक दाम मिले। कुछ स्थानों मे ऐसी समितियाँ बन गई हैं, उनका क्षेत्र क्रमशः बढ रहा है।

दलालों की अधिकता—हमारी व्यापार पद्धति मे एक बड़ा दोष यह है कि उसमे दलाल बहुत अधिक होते हैं, चाहे माल का उपभोग भारत-वर्ष मे ही हो, या वह विदेश मे भेजा जाता हो। उदाहरण के लिए चावल के व्यापार का विचार करे, इसमे कितने दलाल होते हैं! साधारणतः गॉव के आदमी चावल अपने गॉव के ही महाजन के हाथ बेच देते हैं। ये महाजन उसे रेल-किनारे के बाजारो के दूकानदारों या आढतियो के पास पहुँचा देते हैं। ये दूकानदार या आढतिए उस चावल को किसी केंद्रीय मडी के व्यापारियों के हाथ बेचते हैं, जो चावल के व्यापार के लिए विशेष प्रसिद्ध हो।* इस मडी के व्यापारियों से चावल को भिन्न-भिन्न स्थानों के दूकानदार मगाकर स्थानीय उपभोक्ताओं को फुटकर बेचते हैं। इस प्रकार उत्पादकों से उपभोक्ताओ तक कई आदमी इस व्यापार मे भाग लेते हैं, और दलाली खाते हैं।

दलालों की अधिकता का दूसरा उदाहरण पुस्तको का व्यवसाय है।

---

*यदि इस माल का निर्यात किया जाना हो तो मडी वाले इसको बन्दरगाह पर भेजते हैं। फिर, बन्दरगाह वाले इस माल के चालान को उस एजसी के हाथ बेचते हैं, जो विदेशों को माल भेजने का कारोबार करती हैं।

आजकल कुछ स्थानो मे साठ और सत्तर ही नहीं, पचहत्तर फी सदी तक कमीशन दिया और लिया जाने लगा है। जो आदमी इतना अधिक कमीशन लेते हैं, वे दूसरे कमीशन एजंटों को पचास फी सदी के लगभग कमीशन पर माल बेच देते हैं। ये कमीशन एजट छोटे विक्रेताओं को प्रायः पचीस फी सदी कमीशन देते हैं। ये पुस्तक-विक्रेता अपने से छोटे पुस्तक-विक्रेताओं को, अथवा अध्यापक, पुस्तकाध्यक्ष, लाइब्रेरियन या विद्यार्थी आदि किसी विशेष श्रेणी के ग्राहकों को, और दस पाँच रुपए की इकट्ठी पुस्तक लेनेवाले साधारण ग्राहक को भी, छः से बारह फी सदी तक कमीशन दे देते हैं। कुछ दूकानदार तो फुटकर ग्राहकों को, चाहे वे आठ आने की ही किताब क्या न लें, कुछ-न-कुछ कमीशन काटते हैं। अस्तु, इस व्यापार मे मूल विक्रेता जिस पुस्तक पर ७५ फी सदी कमीशन काट कर चार आने मूल्य लेता है, वह अतिम ग्राहक यानी पाठक को एक रुपए मे मिलती है, बीच के बारह आने दलालों मे बॅट जाते हैं, इससे पाठको को होनेवाली हानि स्पष्ट है। वास्तव मे उत्पादक और उपभोक्ता के बीच मे कई-कई दलालों का पडना अनुचित और हानिकारक है। सहकारी विक्रय-समितियों द्वारा इस विकराल दलाली-प्रथा का निवारण किया जाना बहुत आवश्यक है, जिससे जनता की इस व्यापार के नाम से होनेवाली भयकर लूट से समुचित रक्षा हो।

पदार्थों का भाव-ताव करने के विषय में—हमारे यहाँ प्रायः पदार्थों के दाम निश्चित नहीं होते, दूकानदार उसके अधिक-से अधिक दाम माँगता है, और ग्राहक उसके कम-से-कम दाम लगाता है। बहुत देर तक वाद-विवाद और हाँ-ना के बाद उक्त दोनो दामों के बीच के किसी दाम पर सौदा तय होता है। यह हमारे दैनिक जीवन की बात बन गई है, और प्रायः हम इसे दोष नहीं मानते। पाठक तनिक विचार करें, इस पद्धति मे कितना समय और शक्ति नष्ट होती है! बाजार से सौदा लाना कितना कठिन हो गया है। भोले-भाले आदमियों की तो बात ही क्या, कभी-कभी अच्छे-अच्छे होशियार भी ठगे जाते हैं। इसे रोकने लिए वस्तुओं के दाम निर्धारित रहने की व्यवस्था होनी चाहिए। प्रत्येक वस्तु की कीमत सुनिश्चित हो, और, जिन वस्तुओं की कीमत उन पर लिखी जानी सम्भव हो, उनकी तो लिखी हुई ही हुआ करे। कीमत निर्धारित करने मे मुनाफा साधारण ही जोडा जाना चाहिए।

ग्राहकों का व्यवहार— हम लोग प्रायः दूकानदारों के व्यवहार पर आक्षेप किया करते हैं। परन्तु क्या ग्राहक सदा ईमानदारी या नेकनीयती

का परिचय देते हैं ? क्या जब कभी उन्हे अवसर मिलता है, वे दूकानदार को धोखा देने से चूकते है ? अनेक बार ग्राहक कम दाम देने, या अपना खोटा सिक्का दूकानदार के सिर मढ देने मे बड़ी चतुराई समझते हैं। अगर दूकानदार पर कोई एसी मुसीबत आजाय कि वह अपना माल सस्ते दामों पर लुटा देने को मजबूर हो तो हम ऐसे अवसर का स्वागत ही करते है। उदारहरण के लिए बाढ या आधी आने पर जब कोई आदमी अपने फल या शाक भाजी बहुत कम दामो पर बेचना चाहता है, तो हम उसके बताए दाम से भी कम मे सौदा करने के इच्छुक रहते है। यदि किसी का माल नीलाम होता हो तो हम कितनी खुशी से अनावश्यक वस्तुएँ सस्ते दामो पर लेने को तैयार रहते हैं ! अगर किसी के घर मे आग लग जाने से उसका सामान बिगड़ जाय तो हम नाममात्र कीमत देकर उस सामान से अपना घर भरने मे कब सकोच करते हैं ? विधवाओं और अनाथों की जायदाद या सामान की पूरी कीमत चुकानेवाले वीर हममे से कितने हैं ! इस प्रकार, मानों हम इसी इन्तजार मे रहते हैं कि दूसरों पर मुसीबत आए और हमे खूब लाभ उठाने का मौका मिले।

वर्तमान स्थिति मे दूकानदार और खरीददार दोनो की भावना बिगडी हुई है। प्रत्येक दूसरे को ठगने का प्रत्यत्न करता है। इसमे सुधार होने की सख्त जरूरत है।†

हाट-व्यवस्था—सन् १९३५ ई० मे खेती के पदार्थों की बिक्री की व्यवस्था करने के लिए भारत-सरकार द्वारा एक केन्द्रीय विभाग की स्थापना हुई है। इस के काम ये हैः—(१) कुछ खास-खास महत्त्व के पदार्थों के बाजारों की वर्तमान परिस्थिति तथा भावी उन्नति की जॉच करे और उनके सम्बन्ध मे ब्योरेवार रिपोर्ट प्रकाशित करे, और (२) उन पदार्थों के भौतिक तथा रासायनिक लक्षणों की जॉच करके उनकी उचित कक्षा निर्धारित करे। इस विभाग द्वारा यह विचार किया गया है कि किस प्रकार कुछ शीघ्र बिगडनेवाले पदार्थो को ऐसे ठढे स्थान मे सुरक्षित रखा जाए, जिससे ये बहुत समय तक खराब न हो, और दूर-दूर के स्थानो मे भेजे जा सकें। इसने बहुत-से पदार्थो के बाजारों के सम्बन्ध मे अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे भी इस विषय सम्बन्धी अधिकारी

---

† दुकानदारों को यथा-सम्भव त्याग भाव रखना चाहिए। निर्धन या मोहताज आदमियों को उनकी आवश्यकता के पदार्थ देते समय कुछ हानि सहकर भी उनसे विशेष रियायत की जानी चाहिए,

नियत किए जाकर इस दिशा मे कुछ काम हो रहा है। इस विभाग को जनता के सम्पर्क में आने की बहुत जरूरत है।

सन् १९३७ ई० मे केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा द्वारा खेती के पदार्थों की कक्षा निर्धारित करने और निशान लगाने ('ग्रेडिग और मार्किग') का कानून पास किया था। कक्षा-निर्धारण पद्धति के आधार पर होनेवाला व्यापार क्रमशः बढ रहा है। इस व्यापार के पदार्थों मे घी का विशेष स्थान है, कुछ अन्य पदार्थ अंडे, पशुओ की खालू, तेल, गुड, चावल, आटा, आलू, तमाखू, रूई, मेव और आम आदि हैं।

माल का विज्ञापन—विज्ञापन आधुनिक व्यापार की 'जान है। कोई माल कितना ही अच्छा क्यो न हो, जब तक दूसरे आदमियों को उसकी जानकारी न हो, वे उसे कैसे मॅगाए ? हमारे यहाँ विज्ञापन का प्रचार क्रमशः बढ रहा है। उसी का यह प्रताप है कि सुख-सचारक कम्पनी बम्बई से घडियाँ मथुरा मॅगाकर, बम्बई के निकटवर्ती स्थानो तक के ग्राहकों के हाथ सफलता-पूर्वक बेच रही है। डोगरे का बालामृत, पडित ठाकुरदत्तजी की अमृतधारा, बाबू हरिदास की 'चिकित्सा चन्द्रोदय' पुस्तक आदि का नाम आज-दिन नगर-नगर ही नही, गाँवो तक मे प्रसिद्ध है। यद्यपि अभी यहाँ विज्ञापनबाजी बढने की बहुत गुजायश है, गत वर्षो मे इसकी खासी वृद्धि हुई है, बहुत से व्यापारी इस मद्द मे काफी खर्च करते हैं।

हमारे अधिकतर अखबार विशेषतया विज्ञापनों की आमदनी के ही भरोसे चल रहे हैं। इससे विज्ञापन और ग्राहकों के अतिरिक्त समाचार-पत्रों के प्रकाशकों और पाठकों को भी लाभ है, उन्हें साधारण मूल्य मे काफी पाठ्य सामग्री मिल जाती है। परन्तु इसका दूसरा पहलू भी है। कितने ही व्यापारी अपनी चीज का विज्ञापन देने मे झूठ सच का विचार नहीं करते। अपनी चीज के गुणों का खूब बढ-चढकर बखान करते हैं। उसमे बहुधा नब्बे फी सदी तक झूठ होती है, हाँ, भाषा आकर्षक और लच्छेदार होती है। ग्राहक झूठे प्रलोभनों मे फॅस जाते है। उनके द्रव्य को हानि होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक आदमियो का विज्ञापनों पर विश्वास नहीं होता। वे विज्ञापनो को पढते तक नहीं। अस्तु, यहाँ विज्ञापन वृद्धि की आवश्यकता है, पर विज्ञापन का अर्थ झूठा प्रचार, और उसका उद्देश्य जैसे भी बने, लोगों के पैसे ठगना, नहीं होना चाहिए।

व्यापारिक सफलता और इमानदारी—हमने इस परिच्छेद मे व्यापार की विविध बाधाओं के सम्बन्ध मे लिखा है, हम व्यापार की बहुत उन्नति और वृद्धि चाहते हैं। परन्तु क्या व्यापारिक सफलता के लिए ईमान-

दारी आवश्यक नहीं है। आज-कल खाने-पीने के पदार्थों में हानिकारक मिलावट रहती है। व्यापारी अधिक मुनाफा पाने के लिए ग्राहको को तरह तरह से धोखा देते हैं। खराब तथा पुरानी चीज को अच्छी और नई कहना तो साधारण बात है। दी जाने वाली चीज को कम तौलना और ली जाने वाली को अधिक, यह भी व्यापार-कुशलता का लक्षण माना जाता है। हाथ के बुने साढे ग्यारह या पौने बारह गज के थान को बारह गज कहकर बेचा जाता है। माल ऊपर कुछ और रहता है, तथा भीतर कुछ और; सख्या में कुछ कमी कर दी, या बीच मे कुछ चीजे टूटी-फूटी या खराब रख दी जाती हैं। क्या यह व्यापारिक सफलता है?

इन बातों से क्षणिक लाभ भले ही प्रतीत होता हो, अततः सफलता वही है, जिसका आधार छल-कपट न होकर ईमानदारी और शुद्ध व्यवहार हो। फिर यदि बेईमानी से व्यापार करके किसी ने कुछ द्रव्य जोड भी लिया तो कौन विवेकशील व्यक्ति इसे अभिनदनीय कहेगा। व्यापार वही किया जाना चाहिए, जिससे हमारा, देश का तथा मानव समाज का हित हो।

अभ्यास के प्रश्न

१—"तौल-माप और सिक्कों की एकता को दृष्टि से भारत मे व्यापार-वृद्धि बड़ी कठिन है" विवेचना पूर्वक समझाइए।

२—देशी व्यापार-सम्बन्धी बाधाओं का संक्षेप मे वर्णन कीजिए। इस दृष्टि मे भारत को क्या स्थिति है तथा उसमे कैसे उन्नति की जा सकती है?

३—"भारत के तटीय व्यापार मे तभी उन्नति हो सकती है जब स्वदेशी व्यापारी बेड़ा हो" उक्त कथन के बारे मे आपकी क्या राय है?

४—किसानों को होने वाली क्रय-विक्रय सम्बन्धी असुविधाओं को समझाइए। उनको दूर करने के लिए आप कौन कौन से उपाय करिएगा?

५—"विज्ञापन आधुनिक व्यापार की जान है" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

६—"भारतीय व्यापार मे ईमानदारी की दशा शोचनीय है" इस कथन के सम्बन्ध मे आपकी क्या राय है?

७—मंडियो मे किसान अपना माल बेचते समय किस प्रकार ठगे जाते

हैं ? सहकारी समितियों द्वारा इस कार्य मे उनको किस प्रकार सहायता पहुँचाई जा सकती है ?

८—'चोर बाजार' कब और किस प्रकार स्थापित होता है ? उससे देश या समाज को क्या हानि होती है ?

अट्ठाईसवाँ अध्याय

विदेशी व्यापार

प्राक्कथन—जिस तरह एक देश के निवासी आपस मे व्यापार करते हैं, उसी तरह सभ्यता का विकास तथा आयात निर्यात करने के साधनों मे उन्नति और आवश्यकताओं की वृद्धि होने पर एक देश के निवासी दूसरे देशवालों से भी व्यापार करने लगते हैं। अपने देश की जरूरत से अधिक चीजें दूसरे देश को देकर बदले मे वहाँ की चीजें, अपनी आवश्यकतानुसार, ले ली जाती हैं। इसी को विदेशी व्यापार कहते हैं। इससे एक देश मे होने वाली चीजें दूसरे देश को मिल जाती हैं।

इस विदेशी व्यापार का स्वरूप पुराने समय से बिलकुल विपरीत हो गया। पुराने समय में हमारे यहाँ से दूसरे देशों को तैयार माल जाया करता था विशेषतया कपड़ा। परन्तु वर्तमान समय मे अधिकतर हमारे यहाँ से कच्चा माल बाहर जाता है और दूसरे देशों से तैयार माल अधिक मात्रा में आता है।

विदेशी व्यापार का परिमाण—हमारा अधिकाँश विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से होता है और शेष, सीमा की राह से। पहले हम समुद्री व्यापार सम्बन्धी आवश्यक बातों का उल्लेख करते हैं। अब से सौ वर्ष पहले विदेशी व्यापार (आयात तथा निर्यात), प्रतिवर्ष कुल मिल कर लगभग पचीस करोड रुपए के माल का होता था। विगत वर्षों मे इस के मूल्य का परिमाण छः सौ करोड रुपए तक रह चुका है। यद्यपि किसी-किसी वर्ष उसके पहले वर्ष की अपेक्षा इस परिमाण मे कुछ कमी भी हुई है, आमतौर से प्रथम योरपीय महायुद्ध के समय तक इसमे वृद्धि ही हुई। उस महायुद्ध के समय यह व्यापार कम रह कर, उसके बाद फिर बढा। तथापि कई वर्षों से इसका परिमाण कम ही रहा है, इसका कारण कुछ अंश मे जनता की राष्ट्रीय जागृति है, जिससे स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जा रहा है।

दूसरे योरपीय महायुद्ध (सन १६३६-४५) के समय यातायात की कठिनाइयों के कारण भी व्यापार कम रहना स्वाभाविक था। बहुत सी वस्तुएँ बहुत आवश्यक होने पर भी यहाँ नहीं आ सकीं। युद्ध के बाद आयात-निर्यात के अंकों मे खासी वृद्धि हुई है। आगे गत दस वर्षों के अंक नीचे दिए जाते हैं, ये करोड रुपयों मे है—इस हिसाब मे सरकार द्वारा की जानेवाली आयात-निर्यात भी शामिल है। स्मरण रहे कि इन वर्षों मे पदार्थों का भाव बहुत चढा हुआ रहा है।

सन्	आयात	निर्यात	व्यापार की बाकी
१६३८ ३६	१७७	१८६	+१२
१६३६-४०	१५६	१७०	+१४
१६४०-४१	१६६	२१६	+४७
१६४१-४२	१६१	२००	+३६
१६४२-४३	१७४	२५४	+८०
१६४३-४४	११५	१६५	+८०
१६४४-४५	१३३	२१०	+७७
१६४५-४६	२३२	२२६	— ३
१६४६ ४७	२६२	२६६	—२६
१६४७ ४८	३३४	३२०	—१४

व्यापार का स्वरूप—अब हम यह बतलाते हैं कि हमारे आधुनिक विदेशी व्यापार का स्वरूप क्या है। (क) पहले भारतवर्ष से खाँड, नील, दुशाले, मलमल आदि तैयार माल विदेशों को जाता था, किन्तु अब अन्न या रुई, सन, तेलहन आदि कच्चे माल का जिसकी विदेशी कारखानों की आवश्यकता होती है, निर्यात बढ रहा है। विदेशों से आनेवाला माल प्रायः तैयार पदार्थों का होता है, हम अधिकतर कच्चा माल भेजते है, और तैयार माल मँगाते हैं। (ख) गत वर्षों मे प्रायः हमारे आयात की अपेक्षा निर्यात बहुत अधिक कीमत का रहा है। हमारे निर्यात और आयात की कीमत मे जो अन्तर रहा है, उसकी अपेक्षा हमारे व्यापार की बाकी की रकम बहुत कम रही है। [इसका कारण यह है कि हमे इगलैंड को सूद की रकम तथा सरकारी (अगरेज) कर्मचारियों की पेन्शन आदि का बहुत सा रुपया प्रतिवर्ष देना होता था। युद्ध-काल (१६३६-४५) मे हमारी इच्छा के विरुद्ध सरकार हमारी व्यापार की बाकी का रुपया इगलैण्ड मे जमा करती रही। उसमे से अब यह हिसाब निपटा दिया गया है]। व्यापार की बाकी,

यहाँ कीमती धातुओं के रूप में आई है, जिसकी मात्रा बहुत मालूम पड़ने पर भी भारतीय जनसख्या की दृष्टि से बहुत कम है। (ग) हमारे आयात का बहुत बडा भाग अकेले इङ्गलैण्ड से आता रहा है, जो हमारे निर्यात का अपेक्षाकृत बहुत कम भाग लेता है। (घ) व्यापार का नफा, जहाज का किराया तथा बीमे और साहूकारी आदि की अधिकतर आमदनी योरपियनों को मिलती रही है। खासकर पिछले सत्तर-पिछत्तर वर्षों में विदेशी माल अधिकाधिक मँगाने और विनिमय मे, कच्चे माल की निकासी करते रहने का परिणाम यह हुआ कि भारतीय जनता को इस बात की ओर ज्यादा जरूरत पड़ती गई कि वह अपना निर्वाह खेती पर करे।'

आयात की वस्तुएँ—यों तो भारतवर्ष मे बहुत सी चीजों का आयात होता है, परन्तु हमे यहा कुछ मुख्य मुख्य वस्तुओं के ही आयात के सम्बन्ध मे वक्तव्य है। ये वस्तुएँ विशेषतया निम्नलिखित हैं :—रुई और सूती माल, रेशमी और ऊनी माल, लोहे और फौलाद का सामान मशीन, मिलों का तथा रेल का सामान, मोटर, चीनी, कागज, रङ्ग, शराब और दवाएँ आदि।

रुई और सूती माल—भारतवर्ष की आयात मे प्रमुख स्थान रुई और सूती माल का है। यहाँ रुई काफी पैदा होती है, तथापि हम कुछ रुई बाहर से मँगाते हैं। इसका कारण यह है कि भारतवर्ष मे जो कपास पैदा होती है, उसमे से अधिकाँश की रुई का रेशा छोटा होता है। कुछ वर्षों से यहाँ लम्बे रेशे की रुई भी पैदा होने लगी है, पर वह काफी नही होती। इसलिए विदेशों से लम्बे रेशे की रुई मँगाई जाती है। कुछ समय से यहाँ उसकी उत्पत्ति बढाई जा रही है।

अगस्त १९४७ से, भारतवर्ष से पश्चिमी पजाब, सिंध और पूर्वी बगाल निकल जाने से रुई के सम्बन्ध मे भारतीय सघ की स्थिति अधिक शोचनीय हो गई है। इसके सुधार के लिए आवश्यक है कि यह देश स्वय अच्छी और अधिक कपास पैदा करे। पाकिस्तान बन जाने से हमारे यहाँ रुई की कमी न रहनी चाहिए।

[कपास की खेती उस भूमि पर न की जानी चाहिए जिसपर अब अन्न पैदा होता है, कारण हमे अन्न भी तो काफी चाहिए। हमे (१) कपास बोए जाने वाले क्षेत्रों मे वैज्ञानिक कृषि करके उसकी पैदावार बढानी चाहिए; (२) पहाडी ढालों और घाटियों मे, जहाँ कई प्रकार की खासकर लम्बे रेशे वाली कपास उपजाई जा सकती है, कपास की खेती करनी चाहिए, (३) धान काटने के बाद पड़ती पड़ी रहनेवाली भूमि का कपास की खेती के लिए उपयोग करना चाहिए, और (४) जिन स्थानो में अच्छी कपास

पैदा होने लगी है, वहाँ छोटे रेशे वाली कपास के बदले उसे पैदा करना चाहिए।

भारतवर्ष मे छोटे रेशेवाली रुई काफी मात्रा मे होती है। ऐसी दशा मे इङ्गलैंड आदि से सूती माल मँगाना बहुत अनुचित और हानिकर है। हमे अपनी रुई से स्वय ही अपने लिए आवश्यक परिमाण मे वस्त्र तैयार करना चाहिए। यों तो मिलों मे बननेवाले माल की भी वृद्धि हो सकती है, पर हाथ से बुने हुए वस्त्र का परिमाण बढने की तो बहुत ही गुञ्जाइश है। गत वर्षों में चर्खा-सघ ने खादी की उत्पत्ति बढाने का उद्योग किया है। राष्ट्रीय आन्दोलन से, अन्य विदेशी वस्तुओं मे कपडे के आयात मे भी कुछ कमी हुई है, तथापि अभी वह विदेशों से काफी परिमाण मे मँगाया जाता है। इसे बन्द करने, और भारतवर्ष को अपने वस्त्र-व्यवसाय मे स्वावलन्बी बनाने मे प्रत्येक देश-प्रेमी को भाग लेना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि हम छोटे रेशेवाली रुई के कपडे का अधिक उपयोग करें, चाहे वह कुछ मोटा ही क्यों न हो।

भारतवर्ष मे करोडो रुपए के विदेशी सूत का भी आयात होता है, कारण, यद्यपि यहाँ की मिलों ने महीन सूत कातने मे पिछले वर्षों मे, कुछ उन्नति की है, वे अभी तक यहाँ के महीन सूत को माँग पूरी नही कर सकती। अखिल भारतीय चरखा सघ के उद्योग से अब यहाँ हाथ से महीन सूत भी काता जाने लगा है, और उस सूत के कपडे भी बुने जाने लगे हैं। परन्तु अभी इस दिशा मे और अधिक उद्योग होते रहने को आवश्यकता है।

रेशमी और ऊनी माल—भारतवर्ष मे रेशमी और ऊनी माल भी बहुत परिमाण मे आता है। दूसरे महायुद्ध से पहले जापान आदि से नकली रेशम का माल बहुत आया। वह देखने मे तो चटकीला-भडकीला होता है, वैसे बहुत कमजोर रहता है, जल्दी ही फट जाता है। उसमे उप-भोक्ताओ की बहुत हानि होती है। आवश्यकता है कि भारतवर्ष मे रेशमी और ऊनी वस्त्र-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया जाय। यहाँ रेशम और ऊन दोनों होते हैं, उद्योग करने पर वे और बढिया हो सकते हैं। सर्दी से वचने के लिए ऊनी कपडो की बहुत आवश्यकता है। अखिल भारतीय चर्खा-सघ तथा अन्य सस्थाएँ और व्यक्ति इस कार्य मे लगे हैं। इसे बहुत बढ़ाया जाना चाहिए।

लोहे और फौलाद के सामान— भारतवर्ष मे कई कारखाने लोहे और फौलाद का सामान तैयार करते हैं। इस कार्य को सरक्षण मिलने से इसकी खासी उन्नति हुई है। पर अभी यहाँ की सब आवश्यकताओं की

पूर्ति नही होती । इसके अलावा, सरकार और रेलवे कम्पनियों को भी बहुत-से सामान की जरूरत होती है । युद्ध-काल मे यहाँ के कारखानो को उन्नति करने का अच्छा अवसर मिला । अब टाटा का कारखाना एशियाके प्रसिद्ध कारखानो मे है । इसमे रेल की पटरियाँ और डिब्बो आदि का सामान बनने लग गया है, पर मशीनें और ऍंजिन नही बनते । राष्ट्रीय यातायात की वृद्धि के लिए रेलों के ऍंजिनों की, और उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए मशीनों की आवश्यकता स्पष्ट है । इस मद्द मे भी हमे स्वावलम्बी होना चाहिए । विदेशों से मशीनें मॅंगाने मे एक हानि यह भी है कि अकसर वे लोग ऐसे ऍंजिन तथा मशीनें देते हैं, जो घटिया दर्जे की या कुछ पुराने ढग की होती हैं, और इसलिए कम उपयोगी होती हैं । हमे जल्दी ही अपने लिए बढिया ऍंजिन और मशीनें बनानी चाहिएँ। भारतवर्ष मे घरू उद्योग-धन्धों की अनुकूलता के सम्बन्ध मे पहले लिखा जा चुका है, उनका प्रचार तथा उन्नति होने से हमारी मशीनो का आयात घटने मे भी सहायता मिल सकती है ।

चीनी—गत वर्षो मे विशेषतया सरक्षण मिलने से, यहाँ चीनी का आयात घटा है । तथापि जर्मनी, जावा, मारिशस आदि से विदेशी चीनी आती ही रही है । युद्ध-काल मे विदेशो से चीनी आना स्वभावत' कम रहा । अब यहाँ चीनी की पैदावार बढाई जा रही है, यहाँ अच्छा गुड अधिक परिमाण मे बनाया तथा उपभोग किया जाना चाहिए, क्योकि वह चीनी की अपेक्षा सस्ता होने के अलावा अधिक पुष्टिकर भी है । अच्छे गुड का प्रचार बढ़ने पर चीनी का आयात कम होने मे सहायता मिलेगी ।

मिट्टी का तेल और पेट्रोल—भारतवर्ष मे मिट्टी के तेल का खर्च क्रमशः बढ़ रहा है । अभी तक इस पदार्थ का अधिकाश आयात अमरीका और रूस आदि से होता था । बर्मा के भारतवर्ष से अलग कर दिए जाने के कारण, बर्मा से आने वाला तेल भी विदेशी समझा जाता है । यहाँ मोटर आदि का प्रचार क्रमशः बढता जारहा है । इसलिए पेट्रोल का खर्च एव आयात भी बढ़ रहा है ।

कागज—भारतवर्ष मे पहले हाथ का बनाया हुआ स्वदेशी कागज ही काम आता था । अब कागज की मिलें भी स्थापित हो गई हैं । ये क्रमशः बढ रही हैं । मिल के कागज के लिए बहुत-कुछ विदेशों से मॅंगाया हुआ 'पल्प' (लकड़ी का गुद्दा या लुगदी) आदि काम मे लाया जाता है । हाथ से, तथा मिलों मे यहाँ काफी कागज नही बनता, अतः विदेशी कागज मॅंगाना होता है । ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, अखबारों तथा किताबों आदि

की आवश्यकता अधिक होगी, और परिणाम-स्वरूप कागज की मॉग बढेगी। भारतवर्ष के जगलो में बॉस काफी होता है, उससे कागज बनाया जा सकता है, उसके लिए मध्य-प्रान्त आदि मे उद्योग हो रहा है। आशा है, हम विदेशी कागज के आयात से शीघ्र ही मुक्त हो जायँगे।

आयात की अन्य वस्तुएँ—उपर्युक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हम प्रति-वर्ष करोडों रुपए की मोटर, शराब, तमाखू (सिग्रेट आदि), रग, शीशे का सामान, दवाइयाँ आदि मगाते है। साबुन, स्याही, छतरी, घड़ी आदि मे भी काफी रुपया विदेशों को जाता है। यदि हम ध्यान दे, तो हम इनमे से कुछ पदार्थों की आवश्यकताओं को नियत्रित कर सकते हैं, और कुछ पदार्थों को अपने देश मे ही तैयार कर सकते हैं। इस प्रकार एक तो इन वस्तुओ की आयात कम होने से हमारा रुपया बच सकता है, दूसरे नए उद्योग-धन्धों से अनेक आदमियो को आजीविका का साधन प्राप्त हो सकता है।

अब, उन पदार्थों के आयात का विचार करे, जिनके, इस देश मे आने का कारण हमारी विशेष व्यापारिक परिस्थिति है। भारतवर्ष से विदेशों को जाने वाला माल अधिकॉश मे कच्चा होता है। यह माल तैयार माल की अपेक्षा जगह ज्यादह घेरता है, तथा वजनी भी अधिक होता है। विदेशों से तैयार माल लाने के लिए जितने जहाजो की जरूरत होती है, यहॉ से कच्चा माल लेजाने के लिए उनसे अधिक जहाज चाहिएँ। जहाजो को खाली लाना कठिन है, इसलिए इन अधिक जहाजों मे कोयला, नमक, सिमेंट आदि वजनो सामान नाममात्र के किराए पर यहॉ लाया जाता है। किराया बहुत कम होने से यह माल कीमत मे यहॉ के स्वदेशी सामान से भली भाति प्रतियोगिता कर सकता है। उसे यहॉ के व्यापारी खुशी से ले लेते हैं। हमारे इस माल के आयात मे उस समय तक कमी होने की आशा नही, जब तक इस का मूल कारण विद्यमान है, अर्थात् जब तक हमारा निर्यात कच्चे पदार्थों का, और आयात तैयार पदार्थों का, होता है।

हमारे निर्यात के पदार्थ; जूट और उसका सामान—अब हम निर्यात के पदार्थों के सम्बन्ध मे विचार करते हैं। इनमे प्रमुख स्थान जूट और उसके सामान का है। ससार भर मे भारतवर्ष को इस का एकाधिकार रहा है। विभाजन होने के बाद कच्चे जूट का अधिकाश क्षेत्र पाकिस्तान (पूर्वी बगाल) मे, और मिले भारतीय सघ (पश्चिमी बगाल) मे हो गई। पिछले वर्षों में जूट की मिलों ने बहुत तरक्की की है, इससे इसके गृह-उद्योग को धक्का पहुॅचा है। जूट की उपयोगिता बढती जा रही है; टाट,

बोरी, सूतली आदि पहले से ही बनती थी, अब कालीन, गलीचे आदि वस्त्रों मे भी इसकी मिलावट की जाने लगी है। इससे इसकी माँग बढ़ रही है। मिलो के लिए तथा निर्यात के वास्ते बेचने से किसानो को जूट के दाम अधिक मिलते हैं, पर इससे उनके गृह-उद्योग का लोप हो जाने से उनकी हानि भी है। कुछ किसानों ने जूट की पैदावार का क्षेत्र बढा कर, खाद्य पदार्थो की फसल का क्षेत्र कम कर दिया है, यह ठीक नहीं।

अब नकली जूट बनने लग गया है, ज्यों-ज्यों उसका व्यवहार अधिक होगा, भारतवर्ष के जूट को माँग कम रह जायगी। हमे इसके लिए तैयार रहना चाहिए।

रुई और सूती माल—हम पहले कह चुके हैं कि भारतवर्ष में बहुत-सा कपडा विदेशों से आता है, तो भी हम खासे परिमाण मे रुई की निर्यात करते हैं। यदि उस रुई का कपड़ा यहाँ बना लिया जाया करे, तो हमारा रुई बाहर भेजने तथा विदेश से कपड़ा मँगाने—इन दोनों बातों से छुटकारा हो, और हमारे अनेक आदमियों को वस्त्र का एकाधिकार व्यवसाय से आजीविका का साधन प्राप्त हो। इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है, पर अभी बहुत उद्योग होना शेष है।

यद्यपि भारतीय मिलों से बना हुआ कपड़ा, विलायती कपड़े से कुछ महँगा होता है, तथापि वह मोटा और मजबूत होने से, उसकी बाहर के कुछ देशों में माँग रहती है। यहाँ से कपड़ा विशेषतया लंका, मलाया प्रायद्वीप, ईरान, इराक और पूर्वी अफ्रीका में जाता है। युद्धकाल में यह निर्यात काफी बढ़ा।

खाद्य पदार्थ—भारतवर्ष से खाद्य पदार्थों में विशेषतया गेहूँ का निर्यात होता रहा है। (पिछले कुछ वर्षों से तो हमे ही यह पदार्थ विदेशों से मँगाना पड़ा है) खाद्य पदार्थो का निर्यात होना उस दशा मे तो बुरा नहीं है, जब कि यहाँ ये पदार्थ आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होते हों। परन्तु जैसा पहले हम बता चुके हैं, यहाँ के किसान अपनो निर्धनता के कारण जौ, चना, ज्वार, मकई, बाजरा आदि घटिया अन्नों पर निर्वाह करते हैं, और कुछ दशाओं में तो उन्हे ये घटिया अन्न भी काफी परिमाण मे नहीं मिलते। हमारे व्यापारी बढ़िया खाद्य पदार्थों का निर्यात इसलिए नहीं करते कि ये पदार्थ इस देश की आवश्यकता से अधिक हैं वरन् इसलिए करते हैं कि उन्हे इन पदार्थों की जो कीमत यहाँ मिल सकती है, उसकी अपेक्षा विदेशों से अधिक मिलती है। इस प्रकार बढिया खाद्य पदार्थों का निर्यात भारतवासियों की निर्धनता का सूचक है।

गेहूँ के अतिरिक्त जौ, चने, बाजरे आदि का भी कुछ निर्यात होता है। जौ, शराब तथा दवाइयाँ बनाने के काम मे आता है। जब विदेशों मे जौ कम पैदा होता है तो यहाँ से उसका निर्यात अधिक होता है।

तेलहन—भारतवर्ष से कुछ तेल भी बाहर जाता है, पर उसकी अपेक्षा तेलहन की निर्यात कही अधिक होती है। इसमे तीसी, तिल, अडी, सरसो और बिनौला आदि मुख्य हैं। यह निर्यात अधिक होना देश के लिये हानिकर है, कारण, इससे खली यहाँ से चली जाती है, जो खेती के खाद तथा पशुओं के भोजन के लिए बहुत उपयोगी होती है। यदि तेलहन का निर्यात कम करके उससे यहाँ ही तेल निकालने का धन्धा बढाया जाय तो एक तो उससे यहाँ के अनेक बेकार आदमियो को काम मिले, दूसरे, खली यहाँ रहने से खेती को, तथा पशुओं को भी लाभ हो।

चाय—चाय की खेती यहाँ विशेष रूप से सौ वर्ष से होने लगी है। इसका व्यवसाय अधिकतर विदेशी कम्पनियों के हाथ मे है। वे इसकी उत्पत्ति बढ़ाने और यहाँ इसका प्रचार करने मे खूब प्रयत्नशील रहती हैं। चाय विदेशों मे भेजने के लिए, डिब्बे बाहर से मँगाए जाते हैं। भारतवर्ष में होने वाले इसके उपभोग के सम्बन्ध मे हम अपना विचार पहले प्रकट कर चुके हैं।

चमड़ा और खाल—भारतवर्ष से चमडे और खाल का निर्यात होने का कारण यह नहीं है कि यहाँ उसकी आवश्यकता नही है, वरन् यह है कि यहाँ अनेक आदमी निर्धन होने के कारण जूते आदि का उपयोग नहीं कर पाते, दूसरे यहाँ चमड़े के काम को घटिया दर्जे का समझा जाता है। इसलिए बहुत से चमड़े को बाहर भेज दिया जाता है, और उसका तैयार सामान मँगाया जाता है। कुछ समय से यहाँ चमड़े के अँग्रेजी ढग के कारखाने खुलने लगे हैं। यदि यहाँ चमडे का कुशलता-पूर्वक और काफी उपयोग किया जाय, और रबड़ आदि के जूतों का इस्तेमाल कम हो तो हमें न तो चमड़े की इतनी निर्यात करने की आवश्यकता हो, और न बहुत-सा चमड़े का सामान बाहर से मँगाना पड़े।

ऊन—पहले कहा जा चुका है कि हम बहुत-सा ऊनी माल विदेशों से मँगाते हैं, ऐसी दशा मे हमारा ऊन का निर्यात करना अनुचित है। हमें चाहिए कि ऊन से यहाँ ही कपडे तैयार करें; यदि हमारा तैयार किया हुआ ऊना कपड़ा हमारी आवश्यकता से अधिक हो तो हम ऊनी वस्त्र का निर्यात करें। यहाँ पर कर्घों से बुने ऊनी वस्त्र चिरकाल से तैयार होते हैं, और यहाँ के

शाल, कालीन आदि दूर-दूर के देशों तक प्रसिद्ध हैं। कुछ समय से ऊन की मिलों ने भी खासी उन्नति की है। ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को बहुत बढाने की आवश्यकता है।

धातुएँ—यहाँ धातुओं के विविध पदार्थ न बनाए जाकर, वे धातुएँ ही विदेशों को भेज दी जाती हैं। प्राचीन काल मे भारतवर्ष लोहा ढालने तथा धातुओं का विविध वस्तुएँ बनाने के लिए ससार भर मे प्रसिद्ध था, पर पिछली सदी से यह देश साधारण चीजों के लिए भी दूसरों का मुँह ताकनेवाला बन गया। अब कुछ सामान यहाँ बनने लगा है। देश मे नाना प्रकार की जो मशीनें काम मे लाई जाती हैं, वे अब भी प्रायः सभी विदेशी हैं। आवश्यकता है कि धातुओं का, विदेशों में निर्यात न किया जाय, उनका यहाँ ही अधिक-से-अधिक उपयोग हो।

व्यापार की बाकी—दो देशों के आयात और निर्यात की कीमतों के अन्तर को 'व्यापार की बाकी' कहते हैं। इसका भुगतान करने के लिए सोना-चाँदी का सिक्का मँगाना, अथवा भेजना पड़ता है। इसलिए हर एक देश की इच्छा यही रहती है कि व्यापार की बाकी उसके नाम न निकले। भारतवर्ष की व्यापार की बाकी के सम्बन्ध में पहले, व्यापार का स्वरूप बताते हुए, लिख आए हैं। इस बाकी का भुगतान पहले सरकारी हुंडियों द्वारा किया जाता था, अब स्टर्लिंग पौंड द्वारा किया जाता है। इसके सम्बन्ध मे 'विनिमय की दर' शीर्षक अध्याय मे लिखा जायगा।

सीमा की राह से व्यापार—समुद्र के रास्ते होनेवाले व्यापार के अतिरिक्त, हमारा कुछ व्यापार सीमा-पार के राज्यों से भी होता है। पहले पश्चिमोत्तर सीमा पर अफगानिस्तान, दीर, स्वात, बजौर, मध्य एशिया और ईरान से, तथा उत्तर और उत्तर-पूर्व मे नेपाल, भूटान और तिब्बत से और पूर्वी सीमा पर शान राज्य, पश्चिम चीन और श्याम से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध था। सन् १९३६ मे बर्मा, और १९४७ मे पाकिस्तान का पृथक् राज्य बन जाने से हमारे इस व्यापार का पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी और पूर्वोत्तर क्षेत्र बदल गया है। हमारी इन सीमाओं पर अब अन्य विविध राज्य न रह कर पाकिस्तान और बर्मा ही हैं। उत्तर मे नेपाल और तिब्बत आदि ही मुख्य हैं, इनमे सबसे अधिक व्यापार नेपाल से होता है। यहाँ से विशेषकर चावल, तेलहन, घी, बैल, भेड, बकरे आते हैं, और बदले में कपडा, चीनी, नमक, धातु के बर्तन इत्यादि जाया करते हैं।

पाकिस्तान से होने वाला व्यापार—अगस्त १९४७ से पाकिस्तान का निर्माण हो जाने से उसके साथ होने वाला भारतीय व्यापार विदेशी

व्यापार माना जाता है। पाकिस्तान मे कोयले और लोहे की बहुत कमी है, इसलिए तैयार माल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह खासकर भारतवर्ष पर निर्भर है। मई सन् १९४८ के समझौते के अनुसार भारत पाकिस्तान को निश्चित मात्रा मे कोयला, कपडा, तथा सूत, इस्पात, कच्चा लोहा तथा कतरन, परतदार लोहे की चादरे, कागज तथा गत्ता, कुछ रासायन तथा फार्मेसी की वस्तुऍ, एस्बेस्टास सीमेट की चादरे, रग, रोगन तथा वार्निश, चमडा तथा जूते, जूट की वस्तुऍ, ऊनी तथा बटे हुए ऊन का सामान, सरसों का तेल, मूँगफली का तेल, साबुन (टायलट) तम्बाकू तथा चाय की पेटियाँ देगा। इसके बदले मे पाकिस्तान ने भारत को कच्चा जूट, कच्ची रुई, खाद्यान्न, खडिया मिट्टी, कच्ची खाले तथा चमड़ा, नमक, पोटाशियम नाइट्रेट तथा ५५० पशु देना स्वीकार किया है।

युद्ध और विदेशी व्यापार—हमारे विदेशी व्यापार की दृष्टि से युद्ध दो प्रकार का होता है :—(१) जब उसका क्षेत्र परिमित हो, उससे यहाँ के आयात-निर्यात मे बाधा न हो, और (२) जब उसका क्षेत्र इतना व्यापक हो कि आयात-निर्यात मे बहुत बाधाऍ हो। इनमे से पहले प्रकार के युद्ध के समय अन्य देशों को, जो युद्ध का सामान बनाने मे बहुत सलग्न होते हैं, हमारे खाद्य पदार्थों आदि की बहुत जरूरत होती है। इससे हमारा निर्यात बढ़ता है, और उसके बदले मे कुछ तो उन देशों का सामान आता है, और बहुत कुछ उनकी कीमत द्रव्य-रूप मे यहाँ आती है। इस प्रकार भारतवर्ष को बहुत आर्थिक लाभ होता है। पहले योरोपीय महायुद्ध (१९१४-१८) मे ऐसा ही हुआ। उस समय इगलैंड और मित्र-राष्ट्र जर्मनी को घेर लेने मे बहुत सफल हो गए थे, और भारतवर्ष के कच्चे माल का बाजार प्रायः पूर्ववत् बना रह सका। जर्मन पनडुब्बियो के होते हुए भी उस समय सभी महत्त्वपूर्ण जलमार्गों पर अग्रेजो का प्रभुत्व था, इसलिये हमारे निर्यात में विशेष बाधा नहीं हुई थी।

परन्तु युद्ध का दूसरा रूप भी हो सकता है, जब कि उसका क्षेत्र व्यापक हो, सभी ओर के अनेक देश उसमे ग्रस्त हों और भारतवर्ष के निर्यात-कार्य मे भयंकर बाधा उपस्थित हो। दूसरे योरोपीय महायुद्ध (१९३९-४५) में पीछे जाकर ऐसा ही हो गया। आरम्भ मे यह बात न थी। यद्यपि युद्ध के प्रथम वर्ष मे योरप के कुछ देशों मे हमारा माल जाना बन्द रहा, अन्य देशों मे वह पहले से अधिक गया। उदाहरण के लिए इंगलैंड, ब्रिटिश उपनिवेशों, अमरीका, और मिश्र ने यहाँ का माल अधिक खरीदा। स्विटज़र लैण्ड, स्पेन, टर्की, अरब, ईराक, ईरान, थाईलैंड, और अफ्रीका

मे भी भारतीय माल अधिक मँगाया गया। अन्य पदार्थों की अपेक्षा जूट, दवाइयाँ, रबर, रुई, सूत, कोयला, फल, चमडा, लोहा तथा अन्य खनिज पदार्थों का निर्यात अधिक हुआ। निदान कुल मिलाकर १६३६-४० (युद्ध के प्रथम) मे भारत का निर्यात २०३ करोड़ रुपए का हुआ, जब कि इससे पूर्व १६३८-३६ मे १६३ करोड़ रु० का हुआ था।

किन्तु यह स्थिति बहुत समय तक न रही। धीरे-धीरे जर्मनी ने लगभग समस्त योरोपीय महाद्वीप पर अपना प्रभुत्व जमा लिया, इससे वहाँ हमारे माल का बाजार न रहा। साथ ही विशेषतया भूमध्य सागर मे अग्रेजों का प्रभुत्व कम हो जाने से उस ओर का समुद्री मार्ग खतरे से खाली न रहा। इसके अतिरिक्त, जापान के युद्ध-क्षेत्र मे आजाने से, प्रशान्त महासागर के रास्ते से भी माल जाने-आने मे बहुत जोखम हो गई। इन सब कारणों से निर्यात व्यापार बढने के स्थान पर घट गया। यहाँ कपास, जूट, तेलहन आदि का स्टाक बढ गया। सन् १६४०-४१ मे निर्यात १८७ करोड के माल का हुआ। पीछे निर्यात बढी भी तो वह कीमत की दृष्टि से ही। यदि हम यह स्मरण रखें कि उस समय पदार्थों की कीमत बहुत चढी हुई थी, तो वास्तव मे वह निर्यात बढा हुआ नहीं कहा जा सकता। कुल मिला कर, महायुद्ध हमारे विदेशी व्यापार को हानि पहुँचाने वाला ही हुआ। इसका एक खास कारण यह था कि भारत-सरकार ने पहले से यहाँ के व्यापार की उन्नति के लिए यथेष्ट तैयारी नही की थी, और युद्ध आरम्भ हो जाने पर भी उसने भारतीय हित का विशेष विचार नही किया।

युद्धोत्तर व्यापार; पौंड पावना—महायुद्ध की बात कह चुकने पर अब आगे का विचार करना है। युद्ध-काल मे इंगलैंड ने भारत का बहुत सा माल (सस्ते भाव से, नियन्त्रित कीमत पर) खरीदा, परन्तु भारत इगलैण्ड से बहुत कम माल पा सका। उधर, इगलैंड ने व्यापार की बाकी भी न चुकाई। वह हिसाब निपटाने का कार्य स्थगित करता रहा। इस प्रकार वहाँ हमारा रुपया जमा होता गया। युद्ध से पहले इगलैंड ने भारतवर्ष के नाम बहुत सी रकमें लिख रखी थी, जिनकी भारतीय नेताओं को स्वतन्त्रता पूर्वक जाँच करने का अवसर नही दिया गया था। इस प्रकार भारत इंगलैंड का लगभग चार सौ करोड़ रुपये का कर्जदार ठहराया हुआ था। इस रकम को चुका देने पर हमारे १६०० करोड़ रुपये इगलैंड की तरफ निकलते रहे। यह पौंड पावना (स्टर्लिंग कोष) इगलैंड पर भारत का ऋण है।

इगलेण्ड ने इसे चुकाने में बहुत आनाकानी की। उसने इसमे, भारत

के हिस्से के युद्ध-व्यय की आड मे, बहुत कमी करने का आग्रह किया। बात-चीत चली। कुछ समझौता हुआ। इंगलैण्ड इस रकम को नगदी में चुकाने को तैयार नहीं हुआ। कुछ रकम तो अँग्रेजों को भारतवर्ष की ओर से दी जानेवाली पेन्शन आदि के उपलक्ष मे कम कर दी गई है, कुछ रकम की इगलैण्ड मशीने तथा अन्य सामान देगा, और कुछ का वह भारत को अमरीका का माल दिलाने की व्यवस्था करेगा। यह सब काम इगलैण्ड की सुविधानुसार होगा। हम चाहते थे कि हमारी रकम हमें बहु-राष्ट्र सम्बन्धी व्यापार के लिए दी जाय, या डालर मे बदल दी जाय, जिससे अमरीका से या अपनी पसन्द के अन्य किसी भी देश से बढिया मशीनें या ऐसी चीजे ली जा सकें, जो बहुत ही जरूरी हों और भारत में न बन सकती हों। पर अब, हमें इस रकम मे से कुछ का सामान इंगलैण्ड से भी लेना होगा। सरकार को चाहिए कि भारत को इस परिस्थिति मे हानि कम-से-कम हो इसका ध्यान रखे।

व्यापारियों के स्वार्थ-साधन से देश की हानि—खेद है, भारतवर्ष के बहुत से चतुर चालाक व्यापारी विलासिता के विदेशी माल की एजन्सी प्राप्त करने के लिए लिखा-पढी ही नहीं, दौड़धूप करते रहते हैं। उनका यह काम अपने स्वार्थ के लिए देश को हानि पहुँचाने का है। इसी तरह एक बात और भी विचार करने की है। कुछ विदेशी व्यापारी भारतवर्ष में अपने कारखाने खोल रहे हैं, कितने ही भारतीय पूँजीपति उनसे कुछ साझेदारी का समझौता करना चाहते हैं। इससे देश की आर्थिक पराधीनता बढ़ेगी। आवश्यकता है कि विदेशियों को इस देश के शोषण करने मे सफल न होने दिया जाय, और भारतीय पूँजीपति उनके इस घातक कार्य मे 'कुल्हाडी का बेंट बनकर' सहयोग न दें। इन बातो मे सावधान रहने से ही हम युद्धोत्तर व्यापार को देश के लिए यथेष्ट लाभकारी बना सकेंगे।

आयात-निर्यात सम्बन्धी विशेष वक्तव्य—आयात और निर्यात के विवेचन से यह साफ जाहिर है कि भारतवर्ष अधिकाश में तैयार माल अन्य देशों से मँगाता है। इसके विपरीत, यहाँ से निर्यात अधिकतर कच्चे पदार्थों का होता है। यदि भारतवर्ष मे घरू उद्योग-धन्धों तथा कल-कारखानों की यथेष्ट उन्नति हो जाय तो कच्चे पदार्थों का यहाँ अधिक उपयोग होने लग जाय। उन्हे इतने परिमाण मे बाहर भेजने की आवश्यकता न रहे। यहाँ का निर्यात कम हो जाय, और साथ ही हमारी तैयार माल की आवश्यकता यहाँ के बने पदार्थों से पूरी होने लगे, हमे इतने आयात की आवश्यकता न रहे। इस प्रकार हमारे निर्यात और आयात दोनों का

ही परिमाण घट जाय। विदेशी व्यापार के परिमाण का घटना कोई चिन्ता-जनक बात नही है। कारण, सिर्फ व्यापार के अकों के बढ़ने से ही किसी देश की सुख-समृद्धि सिद्ध नही होती। यह बात भारतवर्ष के विषय में विशेष रूप से लागू होती है। सौ वर्ष पहले की अपेक्षा अब हमारे विदेशी व्यापार का परिमाण कितना अधिक है, यह पहले बताया जा चुका है। पर कौन यह कहने का दुस्साहस करेगा कि आज दिन भारतवासी पहले से अधिक सुखी हैं! हम अपना कच्चा माल सस्ते भाव से विदेश भेज देते हैं और उस माल की तैयार की हुई महँगी वस्तुएँ दूसरे देशों से खरीदते हैं। यह अनुचित है। हमे अपने आयात और निर्यात दोनो की सूक्ष्म जाँच कर के, उन्हे बहुत कुछ कम करना चाहिए।

आयात के सम्बन्ध मे खासकर यह बात ध्यान मे रखने की है कि हमें मशीन या औजार आदि वे ही चीजे विदेशों से मँगानी चाहिएँ, जो हमारा उत्पादन बढ़ाने मे सहायक हों, या जिनसे हमारे यातायात की उन्नति हो। भोजन वस्त्रादि रोजमर्रा की जरूरतों के लिए हमे स्वावलम्बी होना चाहिए, और अपनी कृषि तथा उद्योग-धन्धो की यथेष्ट उन्नति करनी चाहिए। अभी कुछ समय तक हमे मशीनों या कल-पुर्जों को विदेशों से मँगाना होगा। ये चीजे हमें अधिकतर अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया से अच्छी मिलेंगी। कनाडा, आस्ट्रेलिया का भुगतान तो हमारे पौड पावने या स्टर्लिङ्ग कोष से हो ही जायगा। अमरीका के भुगतान के लिए हमे कुछ डालर इगलैंड से मिलेगा, फिर जैसा पहले कहा गया है, भारतवर्ष अन्तर्राष्ट्रीय कोष और बैंक का सदस्य है, उसमे भी हमे डालर मिलना चाहिए।

निर्यात के सम्बन्ध मे हमे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि हमारा निर्यात-कार्य पूर्णरूप से हमारे अधिकार में रहे। जिन जहाजों, बीमा कम्पनियों और बैङ्कों आदि से हम काम ले, वे सब हमारे हों अथवा हमारे नियन्त्रण में हों। हमारा निर्यात न तो खाद्य पदार्थों का होना चाहिए, जिनकी हमें ही आवश्यकता होती है, और न ऐसे कच्चे पदार्थों का हो जिनका हम उपयोग कर सकें। हमे विदेशों को अपनी बचत की ही चीजें भेजनी चाहिएँ। मध्य एशिया, अफ्रीका तथा सुदूर पूर्व आदि के जिन देशों को हमारे तैयार माल की आवश्यकता है, उन्हें हम तैयार माल भेजने का प्रयत्न करते रहें। हम किसी देश मे अपना माल खपाने के लिए कोई जोर ज़बर-दस्ती न करे और न वहाँ विलासिता की वस्तुएँ भेजकर मुनाफा कमाने की इच्छा रखे। निदान, दूसरे देशों से हमारा व्यापारिक सम्बन्ध इस प्रकार

हो कि हमारा और उनका, दोनों का ही हित हो किसी का आर्थिक शोषण न हो ।

विदेशी बहिष्कार और विश्वबन्धुत्व—अपनी आयात कम करने के लिए देश मे उद्योग-धधों की उन्नति करने के अलावा हमे चाहिए कि अत्यन्त आवश्यक पदार्थों को छोड़कर हम विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का उपाय काम मे लावें। विदेशी बहिष्कार की बात कुछ लोगों को अखरेगी। वे हमें विश्वबन्धुत्व का उपदेश करेंगे। हमारा भी आदर्श यही है कि ससार के सब देश एक दूसरे के साथ एक विशाल परिवार के सदस्यों की तरह प्रेम और सम नता का व्यवहार करे। कोई देश किसी को अपने अधीन न करे। इस समय जो राष्ट्र दूसरो को अपने अधीन करने के लिए नाना प्रकार के नीच प्रयत्न कर रहे हैं, उसका एक प्रमुख कारण यह है कि उन्हे अपने अधीन देशो मे अपना माल खपाने, तथा उनका आर्थिक शोषण कर सकने की आशा है। जब उनकी यह आशा न रहेगी, जब उन्हे विश्वास हो जायगा कि प्रत्येक देश स्वावलम्बी है और विदेशी माल का बहिष्कार करता है तो उन राष्ट्रों की साम्राज्य-विस्तार की लालस भी कम ह जायगी। इस प्रकार यदि हम विदेशो वस्तुओं के सस्तेपन के लोभ मे न पड़े और स्वदेशी वस्तुओ से ही काम चलाने लगे चाहे वे कुछ महँगी क्यों न हो—तो हम ससार को युद्ध सकट से दूर करने मे भी बहुत सहायक हो सकते हैं, और स्वय भी शांति का आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। सच्चे विश्वबन्धुत्व का आदर्श चरितार्थ करने का यही मार्ग है।

विदेशो में भारतवर्ष का गौरव—यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि किसी देश का झडा इतना तलवार के पीछे नही चलता, जितना व्यापार के पीछे चलता है। भारतवर्ष मे अँग्रेज पहले व्यापार करने आए थे, पीछे उनका यहाँ राज्य स्थापित हो गया, जो गत वर्ष (१९४७) तक बना रहा। खेद है कि भारतवर्ष मे व्यापार के लिए, शिक्षित और योग्य व्यक्ति आगे कम आते हैं। यदि हम विदेशों मे भारतवर्ष का गौरव स्थापित करना चाहते है तो यह हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार से ही हो सकता है। हमे ऐसा व्यापार करना चाहिये कि भारतवर्ष मे बने हुए ('मेड-इन-इंडिया') का अर्थ शुद्ध, खरा, बेमिलावट का, और बढिया हो जाय। जो आदमी अपने स्वार्थ के लिए विदेशों मे खराब और घटिया, अथवा वजन या सख्या मे कम माल भेजते हैं, वे अपनी साख तो खोते ही हैं, देश को भी बदनाम करते हैं। हमारी देशभक्ति का तकाजा है कि हम अपने शुद्ध और निष्कपट व्यवहार से देश-देशान्तर मे भारतवर्ष का गौरव बढानेवाले हो।

अब हमे विदेशी व्यापार की नीति के सम्बन्ध मे विचार करना है। व्यापार-नीति कहने से भी विदेशी व्यापार की ही नीति का आशय लिया जाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं (१) मुक्त द्वार-व्यापार या बेरोक-टोक व्यापार करने की नीति और (२) संरक्षण नीति।

मुक्त द्वार-व्यापार-नीति—मुक्त द्वार-व्यापार का अर्थ यह है कि आयात-निर्यात पर कर लगाने मे स्वदेशी-विदेशी का भेद-भाव न रहे। अपना माल अन्य देशों में स्वतन्त्रतापूर्वक जाने दिया जाय, और दूसरे देशों का माल अपने देश में बेरोकटोक आने दिया जाय। इस नीति के पक्षवालों का कहना है कि मुक्त द्वार व्यापार होने की दशा मे व्यापारी विदेशी व्यापारियों से प्रतियोगिता करते हैं। इससे उनमे अपना माल सस्ता तैयार करने की शक्ति और योग्यता आ जाती है। (सरक्षण-नीति मे यह बात नही होने पाती)। फिर, प्रकृति ने प्रत्येक देश को सभी आवश्यक सामग्री नहीं प्रदान की है, यदि हम अन्य देशो से आने वाले माल पर अधिक कर लगावेंगे, तो दूसरे देश वाले अपने। यहाँ जाने वाले हमारे माल पर वैसा ही कर लगाकर हमसे बदला लेंगे, इससे हमारी उनकी आपस मे तनातनी रहेगी।

संरक्षण-नीति—सरक्षण-नीति वह है, जिससे विदेशी वस्तुओं की आयात बन्द करके अथवा बहुत कम करके स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति में सहायता पहुँचाई जाय। इस नीति के समर्थकों का मत है कि उन्नत विदेशी व्यापार के सामने स्वदेशी उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं, और देश के निवासी सस्ती विदेशी चीजे वर्तने के आदी हो जाने के कारण साहस हीन हो जाते हैं। इसका इलाज राष्ट्र की सरक्षण-नीति से ही हो सकता है। इस नीति से स्वदेशी उद्योग-धन्धे वाले उत्साहित होकर आवश्यक माल तैयार करते हैं, और वह, कुछ समय बाद क्रमशः सस्ता भी पडने लगता है। इस प्रकार देश अपनी आवश्यकता स्वय पूरी करने के योग्य बन जाता है।

सरक्षण के कई उपाय हैं—(१) उस वस्तु की आयात पर प्रतिबन्ध लगाना, अर्थात् उसे अन्य देशो से न आने देना, (२) भारी आयात कर लगाकर बाहर से आनेवाली वस्तुओं को बहुत महँगा करना, (३) भेद-भाव का व्यवहार करना, इसमे कुछ देशों से आने वाली वस्तुओ पर कम, और अन्य देशों से आनेवाली वस्तुओ पर अधिक आयात कर लिया जाता है, (४) आयात का परिमाण निश्चित करना, (५) आयात के लिए अधिकार-पत्र लेने का नियम करना, (६) आयात का सरकार द्वारा एकाधिकार कर लेना। इन उपायों से विदेशी व्यापार मे बहुत कमी हो जाती

है, देश के उद्योग-धन्धों की उन्नति होती है और वे क्रमशः स्वावलम्बी हो जाते हैं।

इन नीतियों का व्यवहार—ये बातें तो केवल सिद्धान्त की हैं। वास्तव में प्रत्येक स्वाधीन देश अपनी व्यापार-नीति, अपनी परिस्थिति के अनुसार स्थिर करता है, और उसे आवश्यकतानुसार बदलता भी है। बहुत-से राष्ट्र जो अब मुक्त द्वार-व्यापार की तारीफ कर रहे हैं, वे कुछ समय पहले तक अपने व्यापार की सरक्षण-नीति से रक्षा करते थे। महायुद्ध के समय मे उन्होंने फिर सरक्षण-नीति से लाभ उठाया। उदाहरण के लिए, अमरीका जैसा समृद्धिशाली देश भी विदेशी माल को अपने यहाँ हमेशा बेरोक-टोक नही आने देता। आवश्यकता होने पर वह अपने आयात पर १० से लेकर ४० फी-सैकड़े तक कर बैठा देता है। इसके सिवा, वह अपने यहाँ स्थापित व्यापारिक कम्पनियो को, विदेशों मे माल ले जाने के लिए बहुत प्रोत्साहन देता है। सरक्षण-नीति की, यह एक आँखे खोलनेवाली बात है।

भारत की व्यापार-नीति—अपने पराधीनता काल में भारतवर्ष की कोई स्वतत्र व्यापार-नीति नहीं रही है, उसे इगलैंड की इच्छानुसार चलना पड़ा और बेहद हानि उठानी पड़ी। उन्नीसवी सदी के आरम्भ मे, जब इगलैंड में अच्छा माल तैयार नहीं होता था, और वह संरक्षण-नीति का समर्थक था, तब उसकी उस नीति से भारत का तैयार माल वहाँ जाने से रुका, और यहाँ के उद्योग-धन्धे नष्ट हुए। पीछे, जब वहाँ विविध प्रकार का औद्योगिक माल तैयार होने लग गया, उसकी मुक्त द्वार-व्यापार-नीति से भारतवर्ष के कम उन्नत उद्योग-धन्धों को धक्का पहुँचा। इस प्रकार हर हालत मे पराधीन भारत घाटे मे ही रहा। पहले योरपीय महायुद्ध के बाद सरकार को भारतीय हित की ओर कुछ ध्यान देना आवश्यक हो गया। सन् १९२१ ई० की आर्थिक जॉच-समिति की रिपोर्ट के आधार पर यहाँ टेरिफ-बोर्ड की नियुक्ति होने, तथा उसकी सिफारिश के अनुसार लोहे और फौलाद के सामान, कागज, कपडे, सीमेंट और चीनी की आयात पर संरक्षण-कर लगाए जाने की बात हम उद्योग-धन्धों के प्रसग मे कह आए हैं।

साम्राज्यान्तर्गत रियायत—बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से इंगलैंड साम्राज्यान्तर्गत रियायत ('इंपीरियल प्रेफ्रेंस') नीति की बात सोचने लगा। इसका अभिप्राय यह होता है कि ब्रिटिश सामाज्य भर में, साम्राज्य के देशों में बनी हुई चीजों पर कर बिलकुल न लगे, अथवा अन्य देशों की चीजों पर लगनेवाले कर की अपेक्षा कम लगे। सक्षेप मे यह, साम्राज्य के लिए मुक्त द्वार व्यापार-नीति, और बाहर के लिए संरक्षण-नीति है। इस नीति के

सिद्धात सन् १९०२ ई० की उपनिवेश-परिषद् में निश्चित हुए थे। तब से इंगलैंड की निरन्तर यह कोशिश रही कि उपनिवेशों और भारतवर्ष में जर्मनी, जापान और अमरीका के माल की खपत न होने पावे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् उसकी यह इच्छा और भी प्रबल हो गई, और भारतवर्ष को इस नीति से जकड़ देने का प्रयत्न किया गया।

ओटावा (केनेडा) मे होनेवाली सन् १९३२ ई० की साम्राज्य-परिषद की बात लीजिए। उसमे तीन वर्ष के लिए यह 'समझौता' हुआ कि जो वस्तुएँ भारत से इगलैंड अथवा किसी उपनिवेश को भेजी जायँ, उन पर कर में कुछ प्रतिशत के हिसाब से, अन्य (अर्थात् साम्राज्य से बाहर के) देशों की अपेक्षा, रियायत दी जाय। इसी प्रकार इगलैण्ड और उसके उपनिवेशों से जो चीजें भारत मे आवें उन पर भारत-सरकार कुछ रियायत किया करे। इस समझौते को भारतीय व्यवस्थापक सभा का विरोध होते हुए भी सन् १९३६ मे भारत सरकार ने, फिर मान लिया और वह सन् १९३९ तक रहा। सन् १९३९ मे फिर समझौता कर लिया गया।

इस बीच में भारतवर्ष और इगलैंड मे दो समझौते और हुए; सन् १९३३ में मोदी-लीस समझौता, और १९३५ मे न्यूनतापूरक समझौता। इनमें अन्य बातों के साथ इगलैंड द्वारा भारतवर्ष की रुई ली जाने की बात भी थी।

सन् १९३९ के व्यापारिक समझौते के अनुसार (१) भारतवर्ष ने इंगलैंड से आनेवाले कुछ सामान पर साढ़े सात प्रतिशत और कुछ पर १० प्रतिशत आयात-कर की रियायत की, (२) इगलैंड ने, भारत में जितना उसका कपड़ा आवे, उसके हिसाब से भारत की रुई लेने का निश्चय किया, (३) भारत और साम्राज्यान्तर्गत अन्य देशों में, कर में रियायत करने का निश्चय हुआ, और (४) इगलैंड ने भारत के कुछ माल को आयात-कर लिए बिना और कुछ को १० से २० प्रतिशत कर की रियायत पर लेना स्वीकार किया

इस समझौते को (और इससे पहले के समझौते को) भारतीय व्यवस्थापक सभा ने स्वीकार नहीं किया था। वायसराय ने इसे अपने विशेषाधिकार से कानून का स्वरूप दिया था। इससे स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार भारतवर्ष से साम्राज्यातर्गत-रियायत-नोति के आधार पर व्यापार करने की अत्यन्त इच्छुक रही है।

साम्राज्य सम्बन्धी व्यापार का स्वरूप—साम्राज्यान्तर्गत रियायत-नीति के प्रभाव को समझने के लिए भारतवर्ष के आयात-निर्यात के स्वरूप

को जान लेना आवश्यक है। प्रायः ग्रेट-ब्रिटेन ही नही, समस्त ब्रिटिश साम्राज्य को भारतवर्ष से जितने मूल्य का माल जाता है, उसकी अपेक्षा यहाँ ब्रिटिश माल अधिक मूल्य का आता है। इसके विपरीत, साम्राज्य से बाहर के देश अपना माल यहाँ भेजते कम, और हमारा माल लेते अधिक हैं। इस प्रकार इन, साम्राज्य से बाहर के देशों के साथ व्यापार करने मे भातवर्ष को विशेष लाभ है।

जो देश अधिक कच्चा माल बाहर भेजता है, उसे विदेशी व्यापार मे मुकाबले का डर नही रहता। कारण कच्चे माल की आवश्यकता सब को रहती है। इस प्रकार मुकाबला न होने से कोई देश उस पर अन्य देशों की अपेक्षा अधिक कर नही लगा सकता। परन्तु बना हुआ माल भेजनेवाले देश को सदा ही यह भय बना रहता है कि कोई उसके माल पर बहुत कर न बैठा दे। दूसरे योरपीय महायुद्ध से पहले भारतवर्ष ऐसा देश था, जहाँ से ज्यादहतर कच्चा माल ही बाहर जाता था। अतः भारत को प्रतियोगिता या विरोध का भय नही हो सकता था।

ब्रिटिश साम्राज्यान्तर्गत उपनिवेशों से भारत का व्यापार बहुत कम होता है, इसीलिए उससे हानि-लाभ भी विशेष नही। इसके अतिरिक्त आयात निर्यात की वस्तुएँ ऐसी है कि भारतवर्ष विशेष हानि उठाए बिना ही उपनिवेशों से स्वेच्छानुसार व्यवहार कर सकता है।

साम्राज्यांतर्गत रियायत से भारतवर्ष की हानि—भारतवर्ष को साम्राज्यांतर्गत रियायत की नीति से ये हानियाँ हैं—

(क) कर कम लगने से यहाँ इगलैंड का माल अन्य देशों के माल से सस्ता पडता है, और यहाँ का बाजार पूर्ण रूप से इगलैंड के हाथ चला जाता है।

(ख) यहाँ जो माल बाहर से तैयार होकर आता है, उसमे बाहर के देशों मे बदाबदी है, जिसके कारण हमे चीजे सस्ती मिलती हैं। पर 'रियायत' की नीति से इगलैंड को बदाबदी का डर नही रहता, और हमे उसकी चीजे अधिक दाम पर खरीदनी पडती हैं।

(ग) जिन देशों के माल पर, इगलैंड के लाभ के लिए, हम अधिक कर लगाते हैं, वे भी हमसे बदला लेने के लिए, भारत के निर्यात-व्यापार पर अधिक कर लगाते हैं, या हम अपना माल इगलैंड के व्यापारियों को उनकी मनचाही कीमत पर बेचते हैं।

(घ) इस समय हमारी आयात का बडा भाग इगलैंड से ही आता

है। उस पर कर कम हो जाने से भारत-सरकार की आमदनी मे बहुत घाटा होता है।

जापान और बर्मा से व्यापारिक समझौते—साम्राज्यान्तर्गत रियायत व्यापारिक समझौते का एक रूप है। अब हम अन्य व्यापारिक समझौतो का विचार करते हैं। बहुधा कोई देश भिन्न-भिन्न देशो से ऐसा समझौता किया करता है कि तुम अमुक परिमाण मे मेरी ये वस्तुएँ खरीदोगे तो मैं इतने परिमाण मे तुम्हारी ये वस्तुएँ खरीदूँगा। ऐसी बाते स्वतत्र देशों मे ही होती हैं। प्रथम योरपीय महायुद्ध के पहले भारत की दूसरे देशों से स्वतत्र रूप मे व्यापार-चर्चा करने की कोई बात ही न थी, इस देश के व्यापार-सगठन का कर्ता-धर्ता इगलैंड ही था। सन् १६१६ के शासन-सुधारो के समय इगलैंड को भारत की आर्थिक विषयो मे भी कुछ स्वाधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इससे हमारा दूसरे देशों से व्यापारिक सधियाँ करने का कुछ रास्ता खुला।

सन् १६३४ और १६३७ मे भारत ने जापान से व्यापारिक समझौते करके उसके उस वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया, जो १६३२ के ओटावा समझौते से हुआ था। उपर्युक्त समझौतो के अनुसार भारत ने जापान के कपड़ों के, और जापान ने भारत की रुई के आयात पर कर लगाने में रियायत करने का निश्चय किया। इससे भारत की रुई की खपत का सवाल हल हुआ।

सन् १६३५ के शासन विधान के अनुसार बर्मा भारत से अलग किया गया, तब से ही भारत का उससे व्यापारिक समझौता होने की बात चली थी। समझौता सन् १६४१ में हुआ, उस समय युद्ध चल रहा था, इसलिए उस समझौते से विशेष लाभ नहीं हुआ।

स्वतन्त्र भारत और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार— गत दो वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र मे शाति एव सामञ्जस्य की स्थापना के लिए जो प्रयत्न हुए हैं, उनमे भारत ने भी भाग लिया है। इन प्रयत्नो का अन्तिम उद्देश्य एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सस्था स्थापित करना है। इस सस्था का एक अधिकार-पत्र होगा, जिसमे आयात-कर कम करने की तथा किन्हीं देशों की विशेष रियायते बन्द करने की व्यवस्था रहेगी।

अक्तूबर १६४७ मे जिनेवा में भारत सरकार ने आस्ट्रेलिया, कनाडा, चीन, फ्रान्स, अमरीका, इंगलैंड और पाकिस्तान आदि छोटे-बड़े २२ राष्ट्रों से व्यापारिक समझौता किया। इसके अनुसार भारत ने उन्हे निम्नलिखित सिद्धान्तो पर आयात-कर सम्बन्धी रियायतें दी हैं—

(१) रियायते ऐसी होनी चाहिएँ, जिनसे देश की आर्थिक व्यवस्था की हानि न हो, बल्कि लाभ हो।

(२) ऐसी वस्तु पर रियायत न दी जाय, जिस पर तीन वर्ष के भीतर पुनर्विचार की आवश्यकता पडे।

(३) रियायतो से देश की अधिक राजस्व-हानि न हो।

अब तक देश विशेष से वस्तु विशेष मँगाने के विषय मे भारत ने जो नीति अपना रखी थी, उसे शिथिल करके अन्य देशो को भी सुविधाएँ प्रदान की जाएँगी।

भारत ने निम्नलिखित मुख्य व्यापारिक वस्तुओं के आयात पर कर सम्बन्धी रियायते दी हैं—दूध और दूध की बनी हुई चीजे, डिब्बाबन्द खाद्य पदार्थ, फल और शाक, निर्दिष्ट रासायनिक पदार्थ, निर्दिष्ट कोलतार के रग, निर्दिष्ट प्रकार की मशीने, मोटर गाड़ियाँ, रेडियो सेट, टाइपराइटर, नेत्र-चिकित्सा-यन्त्र, कच्ची ऊन तथा घरेलू शीतकारक यन्त्र।

भारत को निम्नलिखित मुख्य व्यापारिक वस्तुओं के निर्यात पर कर सम्बन्धी रियायते दी गई हैं—जूट और जूट की बनी हुई चीजें, सूती वस्त्र, काजू, अभ्रक, लाख, नारियल के रेशे की चटाइयाँ, खेल का सामान, कालीन, मसाले, सुगन्धित तेल, चाय और तम्बाकू।

भारत की आयात-नीति—भारत-सरकार ने आयात मे न्यूनता या वृद्धि विदेशी विनिमय मुद्रा के उपलब्ध परिमाण के अनुसार की है। सन् १९४८ के आरम्भ से ही आयात के लिए पर्याप्त डालर-विनिमय-मुद्रा मिलना कठिन हो गया था। अतः डालर वाले देशों से तथा स्विटजरलैंड, पुर्तगाल और स्वीडन आदि अन्य दुर्लभ-मुद्रा वाले देशों से आनेवाले माल पर कड़ा नियन्त्रण लगाया गया। केवल बड़ी-बड़ी मशीनों के लिए ही लाइसेन्स देने का निश्चय किया गया। जुलाई १९४८ मे सरकार ने निश्चय किया कि पौडवाले तथा अन्य सुलभ-मुद्रा वाले देशों से आयात होनेवाली कतिपय श्रेणियो की वस्तुओं पर से नियन्त्रण तुरन्त हटा लिया जाय।

केन्द्रीय निर्यात-नीति—पिछले वर्ष भारत की निर्यात-नीति पर दो बातों का प्रभाव रहा है—(१) विदेशी विनिमय से देश के साधनों को सुरक्षित रखने और उन्नत करने की आवश्यकता, और (२) विश्व की निर्यात-मडियो मे भारत की स्थिति दृढ बनाने की आवश्यकता। विशेषकर प्रशान्त तथा लालसागर के इलाकों और सुदूरपूर्व की मडियों को निर्यात करने की ओर ध्यान दिया गया, जहाँ योरपियन देशों और जापान का

मुकाबला न रहने के कारण भारत के लिए अच्छा व्यापारिक भविष्य है। इस बात पर जोर दिया गया कि देश की अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियों की कमी को पूरा करने के लिए हमे ७५ करोड से १०० करोड रुपए तक की कीमत का सामान निर्यात करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। चालू वर्ष (१९४८) मे निर्यात को बढाने के उद्देश्य से वस्तुओं का अनियन्त्रण करने तथा लाइसेन्स देने में बहुत छूट दी गई। दुर्लभ मुद्रा के क्षेत्रों में भारतीय सामान का निर्यात करने की विशेष व्यवस्था की गई।

व्यापार-नीति और अन्तर्राष्ट्रीयता—इस अध्याय मे हमने यह बतलाया है कि हमे अपनी आयात और निर्यात मे किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए, तथा आवश्यकतानुसार उन पर किस प्रकार नियन्त्रण करना चाहिए। इन बातों को पढ कर कुछ लोग हम पर अन्तर्राष्ट्रीयता-विरोधी होने का आक्षेप कर सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे कि हमे किसी भी सुन्दर शब्द के मोह-जाल मे न पडकर, गम्भीर विचार करना चाहिए। हमे वह 'विश्वबन्धुत्व' या 'अन्तर्राष्ट्रीयता' अभीष्ट नहीं है, जो हमे परावलम्बी बनाए। प्रत्येक व्यक्ति की भाँति राष्ट्र को भी जीवित जाग्रत रहना चाहिए और इसलिये अपने जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थ स्वय उत्पन्न तथा तैयार करने चाहिएँ; विशेषतया, जबकि उस देश मे आवश्यक कच्चे पदार्थ काफी उत्पन्न होते हों, या उत्पन्न होने की अनुकूलता हो। कोई भी राष्ट्र अपने जीवन-निर्वाह के लिए परावलम्बी रहकर अन्तर्राष्ट्रीय एकता स्थापित करने मे विशेष उपयोगी नही हो सकता।

हम किसी को हानि पहुँचाना या किसी का शोषण करना नही चाहते, तो हम यह भी नहीं चाहते कि दूसरे राष्ट्र हमे अपने स्वार्थ या पूँजीवाद का शिकार बना कर हमारे विकास को रोकें। अन्य क्षेत्रों की भाँति, व्यापार-क्षेत्र मे भी हमारी नीति 'जीओ और जीने दो' की होनी चाहिए।

विशेष वक्तव्य—पिछली सदी मे भारत का अधिकाश व्यापार इगलैंड के साथ रहा है, उसका एक मुख्य कारण, भारत पर इगलैंड का प्रभुत्व होना था। अब भारत स्वतत्र है, पर अभी वह पिछले संस्कारों से मुक्ति नही पा सका। हम पहले बता आए हैं कि इगलैंड ने इसे पौंड पावने के पाश मे फँसा रखा है। इसलिए अभी कुछ समय भारत बहुत सा सामान 'स्टर्लिंग ब्लाक' से, अर्थात् ब्रिटिश साम्राज्य आदि के कुछ खास-खास देशों से लेने के लिए मजबूर है। ऐसी परिस्थिति में वह मनचाही तरक्की नहीं कर पा रहा है। पर कुछ समय में इसमें यथेष्ट सुधार हो जायगा।

स्वतंत्र भारत अब अन्य कई देशों से व्यापारिक सधि कर अपना

निर्यात-व्यापार बढ़ाने की चेष्टा कर रहा है। इगलैंड, अमरीका और योरप के देशो के अलावा, वह खासकर दक्षिण-पूर्व तथा सुदूर पूर्व के देशो से व्यापार बढ़ाने की कोशिश मे है। भारत सरकार का एक विभाग व्यापारिक जानकारी और आँकडो सम्बन्धी कार्य करता है। साथ ही इगलैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और अफगानिस्तान आदि देशो मे भारत के व्यापारिक राजदूत हैं, जो वहाँ भारत के व्यापारिक हितों का ध्यान रखते हैं। आशा है, थोड़े ही अर्से मे स्वतत्र भारत अन्य क्षेत्रो की तरह विदेशी व्यापार के क्षेत्र मे भी समुचित उन्नति कर सकेगा, और साथ ही अपनी उत्कृष्ट व्यापार-नीति से ससार मे अपनी महत्ता स्थापित करेगा।

व्यापार का आदर्श—हम पिछले अध्याय मे लिख चुके हैं कि व्यापार मे ईमानदारी आदि सद्गुणों की बहुत आवश्यकता है। विदेशों मे यदि हम भारतवर्ष का गौरव स्थापित करना चाहते हैं तो यह हमारी ईमानदारी और सद्व्यवहार से ही हो सकता है। हमे ऐसा व्यापार करना चाहिए कि भारतवर्ष मे बने हुए ('मेड-इन-इडिया') का अर्थ शुद्ध, खरा, बे-मिलावट का, और बढिया हो जाय। जो आदमी अपने स्वार्थ के लिए बाहर खराब और घटिया, अथवा वजन या सख्या मे कम माल भेजते हैं, वे अपनी साख तो खोते ही हैं, देश का नाम भी बदनाम करते हैं। हमारी देश-भक्ति का तकाजा है कि हम अपने शुद्ध और निष्कपट व्यवहार से देश-देशान्तर में भारतवर्ष का गौरव बढाने वाले हों।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारतीय विदेशी व्यापार की मुख्य विशेषताओ को बताइए। पिछले वर्षों मे भारत का निर्यात व्यापार क्यों गिर गया है ? (१६३७, १६३५)

२—भारत के मुख्य मुख्य पॉच निर्यात तथा पॉच आयात वस्तुओं के नाम लिखिए। भारत के तीव्र औद्योगीकरण का यहाँ के विदेशी व्यापार पर क्या असर पड़ेगा ? (१६३३)

३—स्थल-मार्ग से होने वाले भारतीय विदेशी व्यापार का हाल सक्षेप में लिखिए।

४—विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के क्या आर्थिक परिणाम होंगे ?

५—लोहा, फौलाद, सूती कपड़ा और चीनी के आयात कम होने के क्या कारण हैं ?

६—विदेशी व्यापार की वृद्धि से किन दशाओं में देश को लाभ और किन दशाओं में देश को हानि होती है ?

७—महायुद्ध का भारत के विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा ?

उन्तीसवाँ अध्याय

मुद्रा

विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)—पहले बताया जा चुका है कि मनुष्यों के लिए पदार्थों का अदल-बदल करना अनिवार्य है। प्राचीन काल में दो पदार्थों के पारस्परिक अदल-बदल के लिए कोई तीसरी वस्तु माध्यम नहीं होती थी। इससे बड़ी कठिनाई पड़ती थी। जो वस्तु हमारे पास अधिक होती थी, उसके लेने वाले, सब समय और सब जगह नहीं मिलते थे। फिर,जिन मनुष्यों को हमारी चीज की जरूरत होती थी,वे सभी हमें हमारी आवश्यकता की वस्तु नहीं दे सकते थे। अतएव हमें ऐसा आदमी ढूँढना पड़ता था जिसमें एक साथ दो बातें हों—वह हमारी बनाई हुई वस्तु ले सके और हमारी जरूरत की चीज, बदले में, दे भी सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न वस्तुएँ विनिमय का माध्यम बनाई गईं। भारतवर्ष के देहातों में, अब भी, अन्न के बदले शाक-भाजी, लकड़ी, उपले आदि वस्तुएँ मिलती हैं। एक आदमी चीज बेचकर बदले में अन्न लेता है और फिर उस अन्न के बदले में, अपनी आवश्यकता की दूसरी वस्तुएँ। इस प्रकार अन्न विनिमय के माध्यम का काम देता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्न की आवश्यकता सब को होती है, परन्तु माध्यम के लिए उपयोगी होना ही काफी गुण नहीं है। अन्न से छोटी-छोटी मात्रा के विनिमय का कार्य अवश्य चल सकता है, परन्तु बड़ी मात्रा के विनिमय में इससे बड़ी असुविधा होती है। मान लीजिए यदि सौ मन रुई बेचना है और उसके बदले में पाँच सौ मन गेहूँ मिलता है, तो इतने भारी वजन को, एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में क्या कम कठिनाई पड़ेगी ? फिर अन्न ऐसा पदार्थ है, जो बहुत समय तक अच्छी दशा में नहीं रहता, उसके खराब हो जाने अथवा चूहे या कीड़ों द्वारा खाए जाने की आशंका रहती है। अतः ज्यों-ज्यों मानव समाज में सभ्यता बढ़ती गई, यह विचार पैदा होता गया कि विनिमय का कोई इससे अच्छा माध्यम निश्चित किया जाय।

माध्यम का कार्य वही चीज भली भाँति कर सकती है, जिसमे ये गुण हों—(१) उपयोगिता (२) चलन अर्थात् ले जाने का सुभीता, (३) अक्षय-शीलता ,अर्थात् जल्दी खराब या नाश न होना, (४) विभाजकता या टुकडे हो सकना, (पशु आदि के विभाग नही हो सकते) (५) मूल्य मे स्थायित्व होना, अर्थात् शीघ्र परिवर्तन न होना ' (६) पहचान (इसी मे उसकी चिह्न या अक्षर धारण करने की शक्ति भी सम्मिलित है) ।

यथेष्ट अनुभव और प्रयोगों के पश्चात् लोगों को धातुओं से माध्यम का काम लेने की बात सूझी । यदि किसी को रुई क बदले मे अन्न लेना हो, तो वह पहले रुई के बदले मे धातु ले ले, और फिर उस धातु के बदले मे अन्न । इस रीति मे विनिमय दो बार करना पडता है, किन्तु, तो भी, यह रीति सरल है । अतः माध्यम के लिए धीरे-धीरे धातुओं का, और उनमे भी विशेषतः सोने-चाँदी का, अर्थात् द्रव्य का चलन बढ गया । क्रमशः धातुओ के सिक्के बनने लगे ।

सबसे अच्छा सिक्का वह है (१) जिसकी नकल न की जा सके, (२) जिससे यदि कुछ धातु निकाल ली जाय, तो फौरन पता लग जाय (३) जिससे धातु, रगड़ के कारण घिस जाने पर , कम न हो जाय, और (४) जो अपने समय की कला का एक खास नमूना हो ।

द्रव्य के कार्य; उत्पत्ति में सहायता—द्रव्य का प्रमुख कार्य यह है कि वह विनिमय का माध्यम है । विनिमय की आवश्यकता पहले बतायी जा चुकी है । द्रव्य ने विनिमय के माध्यम के रूप मे, उत्पत्ति मे विलक्षण सहायता दी है । यदि मनुष्यों को यह आशा न हो कि वे अपने पारिश्रमिक के बदले द्रव्य पा सकेंगे, जिससे नाना प्रकार की वस्तुएँ खरीदी जा सकती हैं, तो वे विविध वस्तुएँ न बनाकर केवल उन्हीं के बनाने का ध्यान रखें, जिनकी स्वय उनको अपने उपयोग के लिए आवश्यकता हो । कोई आदमी किसी विशेष वस्तु की उत्पत्ति के लिए विशेष कुशलता प्राप्त न करता, श्रम विभाग जो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की जान है, न होता और नाना प्रकार की वस्तुएँ न बनतीं ।

वस्तुओं के मूल्य का माप—यदि द्रव्य न हो तो हम विविध वस्तुओं के मूल्य का कुछ ठीक अनुमान नहीं कर सकते । प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की रुचि, स्थिति आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है । द्रव्य के द्वारा ही हम सब के मूल्य का हिसाब लगाते हैं, और इस प्रकार उनके पारस्परिक मूल्य की तुलना कर सकते हैं । एक आदमी के पास

गत वर्ष के अन्त मे कुछ वस्तुएँ निर्धारित परिमाण मे थी, अब इस वर्ष के अन्त मे कुछ वस्तुओं का परिमाण घटा है, कुछ का बढा है, कुछ वस्तुएँ अब नहीं रही हैं, एव कुछ नयी वस्तुएँ हो गई हैं। ऐसी दशा मे द्रव्य के रूप मे कोई व्यापक मूल्य-मापक वस्तु होने पर ही यह कहा जा सकता है कि उसकी आर्थिक स्थिति अब पूर्वापेक्षा अच्छी है, या खराब। इसी प्रकार दो व्यक्तियो या देशों की आर्थिक स्थिति की तुलना द्रव्य द्वारा ही की जा सकती है।

मूल्य का संग्रह—द्रव्य ऐसी वस्तु है, जिसका सग्रह सुविधा-पूर्वक हो सकता है। यदि कोई आदमी अन्न का सग्रह करके रखना चाहे तो उसके लिए बहुत स्थान की आवश्यकता होगी। उसकी कीमत मे भी बहुत घट-बढ हो सकती है। फिर यदि किसी समय उस आदमी की यह इच्छा हो जाय कि अन्न की जगह कपडे का सग्रह करूँ तो अन्न का मूल्य साधारण-तया कम ही मिलने की सम्भावना है। परन्तु उपर्युक्त व्यक्ति द्रव्य का सग्रह करे तो उसके लिए बहुत कम स्थान की जरूरत होगी, कालान्तर मे द्रव्य के मूल्य मे विशेष घट-बढ भी न होगी। साथ ही वह आदमी उस द्रव्य द्वारा भविष्य मे जो वस्तु चाहे ले सकेगा। इस प्रकार द्रव्य का सग्रह मूल्य का सग्रह करना है। इसीलिए आदमी जब कुछ जोड़ कर रखना चाहते हैं तो अन्न वस्त्रादि का इतना सग्रह नहीं करते, जितना द्रव्य का सग्रह करते हैं, कारण कि द्रव्य का संग्रह मूल्य का सग्रह है, इसके द्वारा चाहे जो वस्तु खरीदी जा सकती है।

लेन-देन का साधन—यों तो आदमी कभी-कभी अन्नादि अन्य वस्तुएँ लेकर उन्हे उसी रूप मे चुकाते भी हैं, पर इसमे लेने वाले तथा देने वाले दोनों को असुविधा होती है। कल्पना करो एक आदमी को पाँच मन गेहूँ, एक मन चावल और तीन सेर गुड़, दस सेर तेल एव पाँच सेर घी लेना है। इसकी सम्भावना बहुत कम है कि ये सब चीजे उसे एक ही आदमी से मिल सकें। इस प्रकार उसे कई आदमियों से सम्बन्ध स्थापित करना पडेगा। इसके विपरीत, यह कार्य बहुत सरलता-पूर्वक हो सकता है कि वह एक आदमी से द्रव्य उधार ले ले और इस द्रव्य से अपने आवश्यकता-नुसार विविध वस्तुएँ खरीद ले। फिर, वस्तुओं के रूप मे ऋण चुकाना भी बहुत असुविधाजनक है। यदि वस्तुओं का मूल्य घट जाता है तो ऋणदाता को पूर्व परिमाण मे वस्तुएँ लेने से घाटा रहता है, और यदि मूल्य बढ जाता है तो ऋण चुकाने वाले का भार बढ जाता है। इसके विपरीत द्रव्य लेने और देने मे ऐसी बात नहीं होती, कारण कि यद्यपि इसके मूल्य मे कुछ

परिवर्तन तो होता है, पर वह बहुत ही कम होने मे ऋण देने अथवा लेने वाले को विशेष अखरता नही।

ऊपर द्रव्य के चार कार्य बताये गये हैं, इनमे से प्रथम दो मुख्य हैं और पिछले दो गौण हैं।

प्रामाणिक (Standard) और सांकेतिक (Token) सिक्का—सिक्के मूल्य के विचार से दो प्रकार के होते हैं—प्रामाणिक और साकेतिक। 'प्रामाणिक सिक्का' उस सिक्के को कहते हैं, जिसकी बाजारू कीमत उस सिक्के मे लगी हुई धातु की कीमत के लगभग हो। जिस देश मे इस सिक्के का चलन होता है, वहाँ के आदमी अपनी आवश्यकता के समय धातु तथा ढलाई-खर्च आदि का साधारण शुल्क देकर नये सिक्के ढलवा सकते हैं अथवा मोल ले सकते हैं। भारतवर्ष मे सन् १८९३ ई० तक ऐसी ही व्यवस्था थी। ऐसे सिक्कों को गलाने मे विशेष हानि नही होती।

'साकेतिक सिक्का' उस सिक्के को कहते हैं जिसकी बाजारू कीमत उस सिक्के मे लगी हुई धातु की कीमत से बहुत अधिक होती है। उदाहरणवत् भारतवर्ष मे रुपया सांकेतिक मुद्रा है; इसमे जितनी चाँदी होती है, उसकी क़ीमत बाजार मे प्रायः सात आने से नौ आने तक रही है, किन्तु सरकार ने उसकी क़ीमत सोलह आने ठहरा रक्खी है। इन सिक्कों के प्रचलित मूल्य का आधार सरकारी कानून तथा सरकार की साख है। विदेशों मे ऐसे सिक्कों का मूल्य बहुत कम—उनमे लगी हुई धातु की कीमत के लगभग—होता है। जब सरकार की साख जाती रहती है, अथवा सरकार बदल जाती है, तो स्वदेश मे भी इन सिक्कों की क़ीमत बहुत गिर जाती है।

साकेतिक रुपयो के चलन से जन साधारण की प्रवृत्ति, चाँदी के सस्ते होने की हालत मे, नकली रुपये बनाने की ओर, और चाँदी के महँगे होने की सूरत मे, रुपए गलाने की ओर होती है। इस प्रकार साकेतिक मुद्रा-प्रणाली, दोनों हालतों मे, असुविधा-जनक है। इस असुविधा को दूर करने का यही उपाय है कि लोगो को अपनी अपनी धातु के सिक्के ढलवाने के लिए टकसाल खुली रहे।

परिमित और अपरिमित क़ानून ग्राह्य (Legal Tender) सिक्के—भारतवर्ष मे पैसा ताँबे का, इकन्नी निकिल का, दुअन्नी और चवन्नी निकिल एव चाँदी की हैं। ये सिक्के मनमानी संख्या मे नहीं चल सकते, क्योंकि ये एक परिमित सख्या से अधिक कानूनन ग्राह्य नहीं हैं। इन सिक्कों को भारी ऋण मे लेने के लिए कोई वाध्य नही किया जा

सकता। इसके विपरीत, रुपया (तथा नोट,) अपरिमित कानून ग्राह्य सिक्के हैं। किसी आदमी को दूसरे आदमी को चाहे जितनी रकम देनी हो, वह उस रकम को रुपयों (या नोटों) के रूप मे दे सकता है। रुपया पाने वाला उसे स्वीकार करने से इनकार नही कर सकता। उदाहरण वत् वह यह नही कह सकता कि मुझको यह रकम गिन्नियों मे दो।

यह भी कहा जा सकता है कि रुपया भारतवर्ष का मुख्य सिक्का है और अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी, इकन्नी और पैसा आदि सहायक सिक्के हैं।

मुद्रा ढलाई, स्वतत्र और परिमित—प्रायः सभ्य देशो मे सिक्का ढालने का अधिकार अधिकतर वहाँ की सरकार को ही होता है। सरकार के अतिरिक्त यह अधिकार जनसाधारण को, अथवा सरकार द्वारा नियुक्त किसी बैंक या सस्था को भी हो सकता है। सिक्का ढालने की जगह को टकसाल कहते हैं।

कुछ देशो मे टकसाल जनता के लिए खुली रहती है, अर्थात् जनता को इस बात की स्वतत्रा होती है कि वह धातु टकसाल मे ले जाय और उसके सिक्के ढलवा ले। यदि सरकार जनता से बिना कुछ शुल्क लिए ही उसके वास्ते सिक्के ढाल देती है तो यह मुद्रा ढलाई स्वतत्र और नि.शुल्क कहलाती है। सन् १६३१ तक इगलैंड मे पौड ढलाने के लिए ऐसी ही प्रथा थी। कुछ देशों मे सरकार 'मुद्रा ढलाई' नामक शुल्क लेती है, वह शुल्क इतना ही होता है, जितना सरकार को खर्च पड़ता है, उससे अधिक नही। यह प्रथा फ्रास मे है। इसके विपरीत यदि सरकार सिक्का ढलवाने वालो से इस शुल्क की अपेक्षा कुछ अधिक लेती है तो यह अधिक रकम 'मुद्रा-ढलाई लाभ,' कही जाती है। यह प्रायः इसलिए ली जाती है कि जनता को टकसाल मे धातु लाकर सिक्के ढलवाने का उत्साह न हो। जिन देशो मे टकसाल जनता के लिए खुली हुई नही होती, वहाँ सरकार धातु खरीदती है, उसके सिक्के ढालती है और उन्हे जनता मे प्रचलित करती है। इसे परिमित मुद्रा-ढलाई कहते हैं। भारतवर्ष मे ऐसा ही होता है।

द्रव्य को चलन-पद्धति, एक-धातु-चलन—भिन्न-भिन्न देशों मे वहाँ की तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार किसी चलन-पद्धति का विकास हो जाता है, तथापि मुख्य सिद्धान्त सब जगह समान ही होते हैं। मुख्य-मुख्य चलन-पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं :—

१—एक-धातु-चलन

२—द्वि-धातु-चलन

३—स्वर्ण-विनिमय-चलन

एक-धातु-चलन-पद्धति मे एक ही धातु के सिक्के प्रामाणिक तथा कानूनन ग्राह्य सिक्कों के रूप मे चलते हैं, वह धातु सोना हो या चाँदी। प्रायः एक-धातु-चलन-पद्धति में सोने के सिक्कों का ही चलन होता है। जिम देश मे चलन-पद्धति होती है, वहाँ यह आवश्यक नही है कि किसी दूसरी धातु के सिक्कों का बिलकुल चलन ही न हो, और न यह ही जरूरी है कि वह सब मुद्रा धातु की ही हो अर्थात् कागजी मुद्रा (नोट आदि) का चलन न हो। आवश्यक बात इतनी ही है कि जहाँ एक-धातु-चलन-पद्धति है, उदाहरणवत् सोने का सिक्का प्रमाणित माना जाता है, अन्य सिक्के केवल सहायक सिक्को के तौर से बर्ते जाते है, और उन सिक्कों वाला यदि चाहे तो अपने सब सिक्को का मूल्य (वे धातु के हो या वे कागजी सिक्के हों), स्वर्ण-सिक्को के रूप मे ले सकता है। एक-धातु-चलन-पद्धति मे टकसाल जनता के लिए खुली रहती है, उसमे आदमी आवश्यक धातु देकर स्वतन्त्रता-पूर्वक अपने सिक्के ढलवा सकते हैं।

द्वि-धातु-चलन-पद्धति (Bimetalism)—इस चलन-पद्धति मे, देश मे दो धातुओं के सिक्कों का चलन साथ-साथ ही होता है। दोनो प्रकार के सिक्के प्रामाणिक तथा कानूनन ग्राह्य होते हैं। कोई आदमी अपना ऋण उनमे से चाहे जिस सिक्के मे चुका सकता है, अथवा यह भी कर सकता है कि वह कुछ ऋण एक प्रकार के सिक्को मे चुकावे और शेष ऋण दूसरे प्रकार के सिक्कों मे। टकसाल दोनों धातुओं के सिक्को के लिए खुली होती है और दोनो धातुओ के विनिमय का अनुपात कानून द्वारा निर्धारित रहता है। जब तक यह अनुपात वही होता है जो इन धातुओ के विनिमय का बाजार में होता है, (उदाहरणवत् सोने और चाँदी के मूल्य मे कानूनी अनुपात २४:१ हो, और बाजार मे भी एक तोला सोने के बदले चौबीस तोले चान्दी मिलती हो), यह चलन पद्धति सफलता-पूर्वक बनी रहती है। परन्तु कानूनी तथा बाजारी अनुपात मे तनिक भी अन्तर हो जाने पर इस चलन -पद्धति पर आघात हो जाता है। जिस धातु का मूल्य बाजार मे गिर जाता है उसके ही सिक्को का चलन रह जाता है, दूसरी धातु का सिक्का बाजार से हट जाता है; आदमी दूसरी धातु के सिक्को का अन्य उपयोग करने लगते हैं, उदाहरणवत वे उन सिक्कों को सग्रह करने लग जाते हैं, या उन्हे गला कर उनकी धातु बेचकर लाभ उठाने लगते हैं, या उनसे विदेशी व्यापारियों का भुगतान करते हैं।

ग्रेशम का नियम—ऊपर घटिया सिक्के द्वारा बढ़िया सिक्के को बाजार से हटा दिये जाने की बात कही गयी है। इसे ग्रेशम का नियम कहते

हैं, कारण कि सर्वप्रथम सर टामस ग्रेशम ने ही इस बात की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया था। यह नियम इस प्रकार बताया जा सकता है कि 'प्रत्येक देश मे, घटिया सिक्का बढिया सिक्के के चलन को हटा देता है'। द्विधातु-चलन-पद्धतिवाले देश मे इस नियम के व्यवहृत होने का उल्लेख पहले किया जा चुका है। परन्तु एक-धातु-चलन-पद्धति मे भी यह नियम लागू होता है। प्रायः देखने मे आता है कि यदि किसी आदमी के पास बीस सिक्के हों और उनमे से दो ऐसे हों जो नये हों, और शेष में से कुछ पुराने और कुछ घिसे हुए हों तो वह आदमी पहले पुराने और घिसे हुए सिक्कों को ही चलाना चाहता है, जहाँ तक सम्भव होगा, वह अपने दो नये सिक्कों को अपने पास रखेगा। हाँ, यदि उसे बीस के बीस ही खर्च करने हों, तो उपर्युक्त नियम का प्रश्न उपस्थित नही होता, वह दो नये सिक्कों को अपने पास रखने मे असमर्थ है।

स्वर्ण-विनिमय-चलन—जब किसी देश मे, आन्तरिक व्यवहार के लिए किसी कागज आदि सस्ती वस्तु के सिक्के का चलन हो और बाह्य व्यापार के लिए उस सिक्के को चलानेवाला सरकार (या बैंक आदि) उन सिक्को के बदले में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अर्थात् सोना देने का जिम्मेवारी लेती है तो उसे स्वर्ण-विनिमय-चलन-पद्धति कहते हैं। इस पद्धति का उद्देश्य यह होता है कि जनता को स्वर्ण-मुद्रा का सब लाभ भी मिल जाय और देश मे सांकेतिक मुद्रा के चलन होने से स्वर्ण का उपयोग बहुत कम हो, सोने के सिक्को के घिसने आदि की हानि न हो और सोना अन्य देशो को उधार देकर उस पर सूद प्राप्त किया जाय।

भारतवर्ष मे प्रामाणिक सिक्के—सिक्कों के सम्बन्ध मे साधारण सिद्धान्त की बात बतला कर हम अब भारतवर्ष के सिक्कों का वर्णन करते हैं। पहले उनका सक्षिप्त इतिहास जान लेना आवश्यक है। भारतवर्ष मे सिक्के का चलन बहुत प्राचीन समय से रहा है। ऋग्वेद मे 'निष्क' नामक सोने के सिक्के का उल्लेख मिलता है। रामायण तथा महाभारत काल मे उसके साथ 'सुवर्ण' नाम के एक अन्य सोने के सिक्के का प्रमाण मिलता है। उस समय यहाँ सोने की बहुतायत थी, और चाँदी हीन दृष्टि से देखी जाती थी। ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व यहाँ चाँदी के भी सिक्के बनने लगे। पाणिनी ने चाँदी के सिक्के 'रौप्य' का उल्लेख किया है। सम्भव है, इसी 'रौप्य' का अपभ्रंश आधुनिक रुपया हो। कौटिल्य के समय मे सोने, चादी तथा ताम्बे के सिक्के प्रचलित थे, यह हमने विस्तारपूर्वक अपनी 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' पुस्तक मे बताया है।

अस्तु, मुसलमानों के आने के पहले तथा कुछ समय पीछे तक भारतवर्ष में मुख्य रूप से मोहर आदि सोने के सिक्कों का प्रचार रहा। चॉदी, ताम्बे और लोहे के सिक्के भी बनते थे, परन्तु उनका प्रचार कम था। बहुत कम कीमत की चीजों के लेन-देन मे कौड़ियो का व्यवहार होता था। दिल्ली के सुलतान अल्तमश ने, सन् १२३३ ई० मे, १६५ ग्रेन तौल का टक नामक सिक्का जारी किया। सन् १५४२ ई० मे बादशाह शेरशाह ने 'टक' के बदले लगभग १८० ग्रेन तौल का 'रुपया' नाम का सिक्का प्रचलित किया। उत्तरी भारत में चाँदी का सिक्का क्रमशः प्रामाणिक सिक्का हो गया।

सन् १७६६ मे ईस्ट इडिया कम्पनी ने दो धातुओं के सिक्कों का चलन स्थापित करने की—अर्थात् सोने और चॉदी के सिक्को के मूल्य मे कानूनी अनुपात निश्चय करने की—कोशिश की। उसकी सोने की मोहरों की कीमत पहले १६ 'सिक्के रुपए' लगाई गई, सन् १७६६ मे नई मोहरें १६ सिक्के रुपये की ठहराई गई। अठारहवी सदी के अन्त मे यहाँ अनेक प्रकार के सिक्के काम मे आते थे। इससे व्यापार आदि मे बड़ी असुविधा होती थी। इसे हटाने के लिए कम्पनी ने अपने अधिकार-क्षेत्र मे उस 'सिक्के' रुपए को प्रामाणिक सिक्का स्वीकार किया, जिसे वह कलकत्ते मे ढालती थी। सन् १८३५ मे चॉदी के रुपए को भारत-भर का एकमात्र कानून ग्राह्य सिक्का कर दिया गया। सन् १८५३ ई० मे लार्ड डलहौजी ने यह आज्ञा निकाली कि सरकारी खजाने से मोहरें न भुनने पावे। इससे भारतवर्ष से सोने के सिक्के का प्रचार उठ गया।

भारतवर्ष में सांकेतिक मुद्रा—मुद्रा के प्रश्न पर विचार करने के लिए, यहाँ सन् १८६२ मे, लार्ड हरसेल की अध्यक्षता मे, एक कमेटी नियुक्त की गई। इसकी सिफारिश से सन् १८६३ ई० मे, करेंसी-कानून पास हुआ। इससे (१) जन-साधारण को यह अधिकार न रहा कि वह अपनी चॉदी टकसाल मे ले जाकर उसके रुपए ढला सके, सिर्फ सरकार को ही रुपए ढालने का अधिकार रहा। (२) सावरेन का मूल्य १५) रखा गया।

टकसाल बन्द कर देने तथा उपर्युक्त व्यवस्था करने से सांकेतिक मुद्रा-प्रणाली प्रचलित हो गई। सरकार को रुपए के विदेश-सबन्धी विनिमय मे तो सुभीता हो गया, परन्तु देश को बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ा। लेखनी की एक चोट से देश भर की समस्त चॉदी की कीमत मे लगभग ३५ फी सदी की कमी हो गई। पहले, टकसाल मे सौ तोले चॉदी देने से लगभग १०६ रुपये बन सकते थे, किन्तु अब उसकी कीमत केवल ७० रु० के लगभग रह गई। सन् १८७७ ई० के दुष्काल मे करोड़ो रुपये के आभूषण टकसाल में

रुपये ढालने के लिए भेजे गए थे। परन्तु अब इस नई व्यवस्था के कारण गहनों के बदले बराबर की तौल के रुपए नहीं मिल सकते थे, और कम रुपये मिलने से बाजार मे माल भी कम मिलता था। अतएव इस व्यवस्था ने सन् १८६७-६८ ई० के भयंकर अकाल मे मरते हुओ को और मारा; और देश के शिल्प, व्यवसाय और वाणिज्य को भी भारी धक्का पहुँचाया।

भारतवर्ष के वर्तमान सिक्के—किसी-किसी देशी राज्य को अपने अलग सिक्के ढालने का अधिकार था, उन सिक्कों का व्यवहार उस राज्य मे ही परिमित रहता है, जो उन्हे जारी करता है। अब सब राज्यो को अपने यहाँ भारतीय रुपए को वही स्थान देना होता है, जो इसे भारतीय सघ मे प्राप्त है। यहाँ रुपया चाँदी का है, इसका वजन १८० ग्रेन है। यहाँ चाँदी के अन्य सिक्को अर्थात् अठन्नी, चवन्नी और दुअन्नी का वजन उत्तरोत्तर आधा है—क्रमशः ९०, ४५ और साढ़े बाईस ग्रेन। सन् १९३९ तक ढले हुए रुपयों तथा उपर्युक्त अन्य सिक्को मे, वजन के हिसाब से १२ मे से ११ हिस्से चाँदी होती थी, और १ हिस्सा मिलावट। ताबे के सिक्के बगाल अहाते मे सन् १८३५ के कानून से, और बम्बई और मदरास अहातो मे १८४४ के कानून से जारी किए गए थे। ये सिक्के अधन्नी, पैसा, धेला (आधा पैसा), पाई (एक-तिहाई पैसा) हैं। सन् १९०६ के कानून से निकल की इकन्नी जारी करने की व्यवस्था हुई।

ऊपर बताया जा चुका है कि भारतवर्ष मे जो रुपया प्रचलित है, उसमे लगी हुई धातु का मूल्य रुपए के सांकेतिक मूल्य से बहुत कम है। सरकार को उसे ढालने मे बहुत लाभ रहता है। इस लाभ की रकम पहले एक कोष मे जमा रहती थी उसे मुद्रा-ढलाई-लाभ-कोष (गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व) कहते हैं। अब लाभ की रकम सरकारी आमदनी मे जमा कर ली जाती है।

युद्ध का प्रभाव—पहले योरपीय महायुद्ध (सन् १९१४ १८) के समय, रुपए से कम कीमत वाले चाँदी के सिक्को को घटिया धातु मे रखने और इस प्रकार चाँदी को बचाने का निश्चय किया गया। इसके फल-स्वरूप निकल की दुअन्नी सन् १९१७-१८ मे, और निकल की चवन्नी तथा अठन्नी १९१९ में जारी की गई। इनमें से निकल की अठन्नी का चलन पीछे बन्द कर दिया गया।

दूसरे महायुद्ध के समय, सिक्कों में लगी हुई चाँदी आदि की और अधिक बचत करने का विचार हुआ। सन् १९३९ के बाद दुअन्नी तो चाँदी की ढाली ही नही गई। सन् १९४० से चवन्नी, अठन्नी और रुपए मे आधी चाँदी और आधी मिलावट रखने का नियम किया गया। इस प्रकार, जहाँ

पहले इनके १२ हिस्से वजन मे चॉदी ११ हिस्से रहती थी, अब वह केवल ६ हिस्से ही रखी जाने लगी। कुछ समय बाद अधिक चॉदी वाले पहले सिक्के कानून-ग्राह्य न रहे। सन् १६४२ ई० से निकल की इकन्नी और दुअन्नी मे मिलावट बढ़ाई गई, और, नई अधन्नी जारी की गई जिसमे निकल के साथ काफी मिलावट है। सन् १६४३ मे नए ढग का पैसा चलाया गया, जो पहले के पैसे से आकार मे छोटा, और वजन मे ७५ ग्रेन की जगह ३५ ग्रेन है, और जिसके बीच मे गोल सुराख है। इन परिवर्तनों के साथ धेले और पाई का ढालना बन्द कर दिया गया।

भारतवर्ष के लिए सोने का सिक्का—सन् १८६८ ई० में भारतवर्ष की मुद्रा-व्यवस्था पर विचार करने के लिए सर हेनरी फाउलर की अध्यक्षता मे एक कमेटी बैठी। उसके प्रस्ताव के अनुसार सन् १८६६ ई० मे सावरेन भारत का प्रचलित सिक्का बना दिया गया। उसी वर्ष भारत के अर्थ-मत्री ने यह घोषित किया था कि कुछ ही सप्ताहों मे, बम्बई मे सोने की टकसाल खोल दी जायगी, परन्तु विलायत के कोषाधिकारियो के विरोध के कारण यह प्रस्ताव सन् १६०३ ई० में बिलकुल रद्द कर दिया गया।

सन् १६१० मे सर जेम्स मेस्टन ने साफ-साफ शब्दों मे स्वीकार किया कि वर्तमान मुद्रा-प्रणाली के दोष सोने की मुद्रा चलाने पर ही दूर हो सकते हैं। सन् १६१२ ई० मे सर विट्ठलदास थेकरसी ने भारतीय व्यवस्थापक सभा मे प्रस्ताव किया कि बिना टकसाली खर्च लिए जनसाधारण के सोने के सिक्के ढाले जायॅ। सब भारतीय सदस्यों ने इसका समर्थन किया। यद्यपि यह पास न हुआ, तो भी भारत-सरकार ने भारत-मत्री से, भारत मे सावरेन ढालने की एक टकसाल खोलने का अनुरोध किया। किन्तु भारत-मंत्री ने दस रुपए का सोने का नया सिक्का चलाने का प्रस्ताव किया, इसे भारत-सरकार ने स्वीकार कर लिया। १६१३ ई० मे भारत-सरकार के, माटेग्यू-कम्पनो द्वारा, गुप्त रूप से चॉदी खरीदने पर पार्लियामेट मे एक जोशीली बहस हुई। परिणाम-स्वरूप चेंबरलेन कमीशन की नियुक्ति हुई। इसने फाउलर-कमेटी के कुछ प्रस्तावो को रद्द कर दिया, और वर्तमान व्यवस्था को स्थिर रखने का अनुरोध किया। युद्ध-काल मे मुद्रा-सम्बन्धी आवश्यकताओं से विवश हो कर सरकार ने स्वय उपर्युक्त सब आपत्तियो की अवहेलना की, और अगस्त सन् १६१८ ई० मे, बम्बई मे सोने की टकसाल खोल दी, जो लन्डन की टकसाल की शाखा समझी गई। पर अप्रेल सन् १६१६ ई० मे वह बद कर दी गई।

भारतवर्ष मे इस टकसाल के फिर खोलने तथा जारी रखने की अत्यन्त

आवश्यकता है। लोगों को अपने सोने के सिक्के ढलवाने का अधिकार होना चाहिए। इससे एक लाभ तो यह होगा कि भारतवर्ष को अन्य देशों के व्यापार की बाकी चुकाने की सुविधा होगी, यहाँ विनिमय की दर स्थिर होगी, जिसके सम्बन्ध मे विशेष, आगे लिखा जायगा। दूसरे, इस टकसाल के खुलने और सोने के सिक्के जारी हो जाने पर लोगो की, अपना सोना गाड़ कर रखने की प्रवृत्ति कम हो जायगी और उनके द्रव्य का धनोत्पादन-कार्य मे अधिक उपयोग होगा।

दशमिक पद्धति का विचार—कुछ समय हुआ भारत-सरकार ने सिक्कों की वर्तमान पद्धति को बदलने और देश मे दशमिक या दशमलव पद्धति जारी करने का विचार जाहिर किया था, जिसके अनुसार रुपया सोलह आने के बजाय सौ सेंट का हो। सेंट शब्द अंगरेजी भाषा का है, और इस नाम, के सिक्के का चलन अमरीका मे है। भारतीय सिक्के का नाम, स्वरूप और उसपर जिस लिपि मे लिखा जाय, सब ऐसी होनी चाहिएँ, जिसे अधिकाश भारतीय जनता समझे और पसन्द करे। वर्तमान दशा मे रुपए का आधा अठन्नी, अठन्नी का आधा चवन्नी, चवन्नी का आधा दुअन्नी, दुअन्नी का आधा इकन्नी, इकन्नी का आधा अधन्नो, अधन्नो का आधा पैसा होता है। व्यवहार मे चीजों का आधा हिस्सा करने की ही जरूरत बहुत रहती है। इसलिए गज मे सोलह गिरह, और सेर मे सोलह छटॉक रखी गई है। फिर, एक पैसे की तीन पाई होने से, वर्तमान पद्धति से रुपए की तिहाई चीज का भी हिसाब आसानी से लग सकता है। सौ सेंट का रुपया होने पर यह सुविधा न रहेगी, उसमे आधे, चौथाइ और पॉचवे हिस्से का ही हिसाब आसानो से लगेगा, इसमे से भी पॉचवे हिस्से का प्रायः आवश्यकता नही होती। इस प्रकार नए सिक्के से कठिनाई बढ़ेगा ही, इसलिए उसकी कोई उपयोगिता नही मालूम होती।

स्वतंत्र-भारत का सिक्का—पहले कहा गया है कि सिक्का विनिमय का माध्यम है। परन्तु इसके अतिरिक्त वह अपने समय मे अपने देश की सभ्यता, सस्कृति, कला और भाषा आदि का भी प्रतिनिधित्व करता है। ऐतिहासिक अन्वेषणों मे सिक्के को महत्त्वपूर्ण साक्षी माना जाता है। भारतवर्ष का वर्तमान मुख्य सिक्का (रुपया) हमारी पराधीनता का ही सूचक है। अब देश स्वतत्र हो गया है, और नया सिक्का ढाला ही जायगा। वह सिक्का हमारी सभ्यता और गौरव का सूचक होना चाहिए। उस पर देवनागरी मे 'एक रुपया', 'भारतवर्ष' तथा विक्रमीय सवत् तो अकित हो ही, इसके अलवा उसपर म० गाधी का या गाय आदि का लोकप्रिय चित्र

भी होना चाहिए, जिससे सिक्का हमारी अधिक-से-अधिक जनता की भावना और आदर्श का प्रतीक हो, इसके अतिरिक्त समय समय पर भारतवर्ष के राष्ट्रपति के बदलने के साथ उसमे परिवर्तन भी न करना पडे।

कागजी मुद्रा; नोट आदि—बडे व्यापारों मे सोने चाँदी आदि के भारी सिक्कों का एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने मे बड़ी असुविधा होती है। इस असुविधा को दूर करने के लिए धातु का आधार छोडकर लोग कागजी रुपया से ही अपना काम निकाल लेना चाहते हैं। नोट या कागजी मुद्रा वास्तविक सिक्का नही, ये केवल एवजी सिक्का ही हैं, जो चलानेवाले के विश्वास या साख पर चलता है। ये अपने ही देश (या प्रात) मे भुनाए जा सकते हैं, विदेशों मे इनका कोई मूल्य नही होता। आवश्यकता से अधिक होने पर तो ये स्वदेश के लिए भी बहुत हानिकर होते हैं।

भारतवर्ष में नोटों का प्रारम्भ—यहाँ के व्यापारियों मे हुँडी-पुर्जे का प्रचार चिर काल से रहा है, परन्तु वर्तमान नोटों का चलन अँगरेजी शासन मे ही हुआ। नोटों का प्रचार यहाँ पहले-पहल सन् १८३९ ई० में हुआ, जब कि बगाल बैंक को नोट निकालने की अनुमति मिली। सन् १८४० ई० मे बम्बई के और सन् १८४३ ई० मे मदरास के प्रेसिडेंसी बैंको को भी नोट निकालने का अधिकार मिल गया। इन नोटों का प्रचार पहले अधिकतर उक्त नगरों मे ही हुआ। मदरास बैंक को एक करोड और अन्य दोनो बैंकों को दो दो करोड़ तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था।

सन् १८६१ ई० से इन बैंको का अधिकार छिन गया और भारत सरकार ने नोट निकालने का काम अपने हाथ मे लेकर इसके लिए एक पृथक् विभाग खोला और नोट जारी करने के ६ केंद्र स्थापित किए। इन केन्द्रो से ५), १०), ५०), १००), ५००), १०००), और १०,०००) के नोट जारी किए गए। उस समय, जो नोट जिस केन्द्र से जारी किए हुए होते थे, वे केवल उसी केन्द्र से अधिकारपूर्वक भुनाए जा सकते थे।

नोटों का प्रचार—सन् १९०३ ई० तक नोटों का प्रचार बहुत शीघ्रता से नहीं बढा किन्तु इस वर्ष से ५ रुपए के, सभी केन्द्रों से निकले नोट सभी सरकारी खजानों मे भुनाए जा सकने लगे, अर्थात् उस समय से ५) के नोट सार्वदेशिक हो गए। सन् १९११ ई० मे १००) के नोट का प्रचार भी सार्वदेशिक हो गया। सन् १९१३ ई० के कमीशन ने यह सम्मति दी कि सब नोट भुनाए जाने के लिए अधिक सुविधा कर दी जाय। ऐसा हो जाने पर लोग नोटों को अधिकाधिक पसन्द करने लगे और उनके प्रचार की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

कागजी मुद्रा से हानि-लाभ—कागजी मुद्रा से अनेक लाभ हैं। कागजी मुद्रा एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत आसानी से भेजी जा सकती है। इसके भेजने मे खर्च भी बहुत कम लगता है, कारण कि यह धातु की मुद्रा की अपेक्षा बहुत ही कम भारी होती है। इसके बनाने में धातु की आवश्यकता नही पडती। यह समयानुसार आसानी से घटाई बढ़ाई जा सकती है। इसके चलने से सोना-चाँदी आदि धातु का बड़ी मात्रा में बचत होती है। इस बची हुई धातु का उपयोग अन्य कार्यों में किया जा सकता है। इसलिए कागजी मुद्रा से बहुत लाभ होता है।

उपर्युक्त लाभों से यह न समझना चाहिये कि कागजी मुद्रा से केवल लाभ ही लाभ है। इससे हानियाँ भी बहुत हैं। यदि कागजी मुद्रा जरूरत से ज्यादा हो जाती है तो इस मुद्रा का मूल्य कम होकर वस्तुओं का मूल्य बहुत बढ जाता है। यह अवश्य है कि उचित नियंत्रण द्वारा वस्तुओं की कीमत स्थिर की जा सकती है। यह मुद्रा विश्वास पर ही चलती है। इसका सबसे बडा दोष यह है कि यह केवल अपने ही देश मे चलती है। एक देश की कागजी मुद्रा दूसरे देश मे नही चलती।

कागजी मुद्रा के दो प्रकार हैं। एक वह है जिसको बदलने वाली (Convertable) और दूसरी वह जिसको न बदलने वाली (Inconvertable) कहते हैं। आपने अपने यहाँ १० रुपये ५ रुपये के नोट देखे हैं। इन पर लिखा रहता है कि 'मैं इस नोट मे लिखी रकम का रुपया देने का वादा करता हूँ' इसका अर्थ यह है कि कभी भी ५ के नोट के बदले ५ रुपए के सिक्के बैंक से माँगे जा सकते हैं। बिलकुल इसी के विपरीत न बदलने वाली कागजी मुद्रा का हाल है। १ रुपया का नोट हमारे यहाँ इसी प्रकार का है। सरकार अथवा बैंक इस नोट के बदले मुद्रा देने को तैयार नहीं रहती। इसका चलन तभी सम्भव होता है जब सरकार बहुत मजबूत और सरकार पर जनता का विश्वास हो। ऐसे नोटों का चलन सरकार विशेष समय पर करती है।

नोटों का प्रभाव—नोटों के बनने का परिणाम ऐसा ही होता है, जैसा सिक्के (रुपये आदि) बनने का। प्रत्येक नोट पर यह छपा रहता है कि सरकार इस नोट वाले के माँगने पर, इस पर अंकित रकम देने का वादा करती है। लोगों को सरकार का विश्वास रहता है, अतः उनका कारोबार इन नोटों से सुगमता पूर्वक होता रहता है। वे नोटों से उसी प्रकार माल खरीद सकते हैं जिस प्रकार सिक्कों से। यदि ये नोट न हों तो इतनी कीमत के सिक्के अधिक बनाने पड़े। और यदि अधिक सिक्के न बनाये

जायँ तो बहुत सा कारोबार होना कठिन हो जाय, यही नही, कितना ही कारोबार बन्द हो जाय।

नोटों के बदले नकदी जमा रखने की आवश्यकता—सरकार यह प्रतिज्ञा अवश्य करती है, कि वह प्रत्येक नोट के स्वामी को उसके माँगने पर उस नोट पर अंकित रकम देगी। परन्तु क्या सरकार को, जितने रुपये के वह नोट निकालती है, उतना रुपया नगद खजाने मे रखना पड़ता है? नही, उसे नोटो के बदले मे उनकी पूरी रकम के सिक्के जमा रखने नही पडते। बात यह है कि सब आदमी एक साथ अपने अपने नोटों का रुपया माँगने नही आते। नोट एक आदमी के पास से दूसरे के पास दूसरे से तीसरे के पास चलता रहता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि यदि एक आदमी को नोट भुनवाने अर्थात् उसके मूल्य का रुपया लेने की आवश्यकता होती है, तो दूसरे को रुपयों के बदले नोट की जरूरत होती है। इस प्रकार नोट वाले को अपने नोट का रुपया दूसरे आदमी से ही मिल जाता है, उसे सरकारी खजाने से रुपया लेने की जरूरत नही होती। निदान, किसी एक समय मे बहुत कम आदमियो को अपने नोटों का रुपया सरकारी खजाने से लेने की आवश्यकता होतो है। अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि यदि लोगों की आवश्यकता का ध्यान रखकर नोट जारी किये जायँ तो जितनी रकम के नोट निकाले जायँ, उसकी एक-तिहाई रकम खजाने मे नकद जमा रखने से काम बखूबी चल सकता है।

कागजी मुद्रा सम्बन्धी सरकारी व्यवस्था—रिजर्व बैंक स्थापित होने से पूर्व भारत-सरकार को ही नोट निकालने का अधिकार था। अब यह अधिकार रिजर्व बैंक को प्राप्त है। इस सम्बन्ध मे मुख्य नियम ये हैं:—

१—जितने रुपये के नोट निकाले जायँ, उतने रुपये का सोना, स्वर्ण-मुद्रा, ब्रिटिश सरकार की सिक्यूरिटियाँ, रुपया या भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ कागजी-मुद्रा-कोष मे जमा रहनी चाहिएँ।

२—सम्पूर्ण कागजी-मुद्रा-कोष का ४० फी सैकड़ा भाग स्वर्ण-मुद्रा, सोना या ब्रिटिश-सरकार की सिक्यूरिटियों मे होना चाहिये, जिसमे कम से कम ४० करोड़ रुपया स्वर्ण-मुद्रा या स्वर्ण मे हो, और इसका ८५ फी सैकड़ा भाग भारतवर्ष में रहे।

३—कोष का शेष भाग रुपए, भारत सरकार की सिक्यूरिटियो और स्वीकृत हुंडियों मे होना चाहिए, परन्तु भारत-सरकार की सिक्यूरिटियाँ सम्पूर्ण कोष के चतुर्थांश से, या पचास करोड रुपए से अधिक की न होनी

चाहिए। गवर्नर- जनरल की पूर्व स्वीकृति से दस करोड रुपया, भारत-सरकार की सिक्यूरिटियों मे और रक्खा जा सकता है।

सन् १६०२ ई० के कानून से ऐसा नियम है कि भारत-सरकार इस कोष का वह भाग जिसे वह धातु के रूप मे रखना आवश्यक समझती है, लन्दन या भारत मे, सोने या चाँदी अथवा दोनों मे, अपनी इच्छानुसार रख सके। परन्तु चाँदी के सिक्के केवल भारतवर्ष मे ही रखे जाते हैं, लन्दन मे नहीं। कोष पर जो व्याज मिलता है, उसमे से कागजी-मुद्रा-विभाग का व्यय निकाल कर जो शेष रहता है, वह 'नोट-प्रचलन के लाभ,' मुद मे डाल दिया जाता है।

कागजी-मुद्रा-कोष का रूप और स्थान—पहले इमे अधिकतर रुपयों मे, और भारतवर्ष मे ही रखा जाता था। सन् १८६८ ई० से कोष के रूप और स्थान के सम्बन्ध मे परिवर्तन होने लगा। इसकी वर्तमान स्थिति जानने के लिए रिजर्व बैंक के नोट-विभाग का हिसाब देखना चाहिए। ३ सितम्बर १६४८ का यह हिसाब इस प्रकार था—

बैंक विभाग मे नोट	३५,६०,१२,०००)
चलते नोट	१२,१७,२३,६१,०००)
निकाले हुए कुल नोट	१२,५२,८४,०३,०००)

इस प्रकार इस बैंक का कुल देना १२,५२,८४,०३,०००) था। इसके बदले इसका पावना इस प्रकार था—

(अ) सोना और सोने के सिक्के	
(१) भारत मे	४२,७१,६१,०००)
(२) भारत के बाहर पौंड स्टर्लिंग मे	७,६६,६४,२८,०००)
(आ) रुपए (सिक्के) नकद	४५,१६,८५,०००)
भारत सरकार के रुपए की सिक्यूरिटियाँ (ऋण पत्र)	३,६८,३०,६६,०००)
योग	१२,५२,८४,०३,०००)

[जून १६४८ मे पाकिस्तान का स्वतन्त्र स्टेट-बैंक बनने के समय रिजर्व बैंक की ओर से पाकिस्तान के लिए ३८,२७,००,००० रु० के नोट निकाले हुए थे। पाकिस्तान के नकद रुपए (सिक्के) उस समय ३,५६, ००,००० थे।]

उपर्युक्त हिसाब से स्पष्ट है कि यद्यपि भारतवर्ष स्वतन्त्र हो गया है, इस समय भी हमारा लगभग आठ सौ करोड़ रुपया भारत से बाहर इगलैंड में जमा है। इस प्रकार यह देश अपनी इतनी रकम के उपयोग से वचित है। यह कोष नोटा के बदले मे रखा जाता है। और नोट भारत मे चलते हैं, अतएव यह कोष भी यही रखा जाना चाहिए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त काम आ सके। नोट भुनाने के अतिरिक्त, यदि उसे और भी किसी काम मे लाना अभीष्ट हो तो इसका भी लाभ भारत को ही होना चाहिए। ब्रिटिश सरकार गरीब भारत के रुपए को कम या नाम-मात्र के सूद पर लेकर अनुचित लाभ उठाती है। इधर भारत के उद्योग-धन्धों के लिए पूँजी की अत्यन्त आवश्यकता है, वे इसकी कमी के कारण पनपने ही नहीं पाते। अस्तु, कागजी-मुद्रा-कोष की सब रकम भारत में ही रखी जानी चाहिए। एक बार पिछला हिसाब निपट जाने पर, भारत सरकार ऐसी ही व्यवस्था करेगी, यह आशा है।

नोटों की अधिकता से बट्टा और महँगी—प्रत्येक देश को अपने व्यापार व्यवसाय या लेन-देन आदि के अनुसार किसी खास समय मे मुद्रा की, एक निर्धारित परिमाण मे आवश्यकता होती है। अगर मुद्रा उससे अधिक परिमाण मे हो ता उसका मूल्य (चीजो मे) गिर जाता है। यह बात विशेषतया कागजी मुद्रा के सम्बन्ध मे चरितार्थ होती है—सरकार को इसी मुद्रा के बढाने की प्रवृत्ति अधिक होती है।

उदाहरण के लिए पिछले योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) के समय यहाँ सरकार ने नोट अधिक परिमाण मे जारी कर दिए। इससे बाजार में नोटों की उन पर लिखी, पूरी कीमत मिलनी कठिन क्या असम्भव हो गई थी। यद्यपि नोटो पर बट्टा लेना सरकारी कानून से जुर्म है, तथापि बाजार में वह बराबर लिया और दिया जाता था। इससे नोट वालो को बहुत हानि उठानी पडी, और सरकार की साख को भी कुछ समय तक भारी आघात पहुँचा, जहाँ तहाँ लोगों मे यह बात फैल गई कि सरकार के खजाने में सोना-चाँदी नही रहा, वह कागज के टुकड़ो से काम चलाती है।

युद्ध काल मे अत्यधिक मुद्रा—जब नोटों की वृद्धि, लेन-देन या बाजार की आवश्यकताओं की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है तो उनका मूल्य गिर जाता है, चीजों का दाम बढ़ जाता है, वे महँगी हो जाती हैं। इसका ज्वलन्त उदाहरण दूसरे योरपीय महायुद्ध के समय सामने आया। खासकर सैनिकों को वेतन देने तथा युद्ध-सामग्री खरीदने आदि के लिए सरकार ने नोटों को कितना बढ़ाया, यह इससे जाहिर हो जाता है, कि

जबकि सन् १६३६ के अन्त मे ढाई सौ करोड रुपए से कम के नोट थे, जून १६४३ मे ये ७४६ करोड़ के थे, और महायुद्ध की समाप्ति के समय सन् १६४५ के अन्त मे तो बारह सौ करोड रुपए से भी अधिक के नोट होने का अनुमान था। (सितम्बर १६४८ मे निकाले हुए नोट १२५२ करोड़ रु० के थे।)*

मुद्रा-प्रसार का एक नतीजा यह होता है कि लोगों मे चीजे सग्रह करने या जोडकर रखने की प्रवृति बढ़ जाती है। जब व्यापारी यह देखते हैं कि चीजो के दाम स्थिर नहीं है और बेहिसाब बढते जाते हैं तो वे प्रायः अपना माल बेचते नही, उसे रोके रखते हैं, उन्हे यह आशा रहती है कि पीछे हमे और ऊँचे दाम मिलेगे, और अधिक मुनाफा होगा। इसके अलावा, कुछ आदमी अपनी जरूरत की चाजे पहले से ही इकट्ठी या बडे परिमाण मे खरीद लेते हैं। उन्हें आशका रहती है कि शायद पीछे ये चीजे न मिले, या अगर मिले भी तो न-मालूम कितने अधिक दाम देने पडे। इन बातो का परिणाम यह होता है कि देश मे पदार्थों की कृत्रिम कमी का वातावरण बन जाता है, अर्थात् कितनी ही चीजे बिक्री के लिए मौजूद होते हुए भी साधारण आदमियो को बाजार मे मामूली दर से नहीं मिलती। जो आदमी बहुत ऊँचे दाम से खरीद सकते हैं, वे मजबूर होकर, उन्हे लुक-छिपकर, चोर बाजार मे खरीदते हैं। सरकार इसे नियत्रण करने मे यथेष्ट सफल नहीं होती। बेचारे गरीब बुरी तरह मारे जाते हैं।

इसके दुष्परिणामों से बचने के उपाय—यहाँ युद्ध-काल मे पदार्थों की जो मूल्य-वृद्धि हुई, उसका कारण कुछ अश मे यह भी था कि पदार्थों का उत्पादन जनता की आवश्यकताओं के अनुसार नही बढाया जा सका, तथापि उसमे मुद्रा-प्रसार का बहुत भाग था। निदान, यहाँ बहुत सी चीजों के दाम तिगुने-चौगुने ही नही इससे भी ज्यादा हो गया। जनता में अशान्ति और अस्थिरता का भाव बढता गया। इस पर सरकार ने निम्नलिखित उपायों से काम लिया—(क) इनकम टैक्स, सुपर टैक्स, कारपोरेशन टैक्स आदि की वृद्धि। (ख) अतिरिक्त मुनाफा कर। युद्ध से पहले जितना मुनाफा होता था, उससे जितना अधिक मुनाफा हुआ, उसमे से सरकार ने पहले दो-तिहाई तक लिया, पीछे अपना हिस्सा बढाकर अस्सी फी सदी से भी अधिक कर दिया। (ग) डाक, तार, टेलीफोन आदि की दरों मे वृद्धि। रेल-किराया बढ़ाने का भी प्रस्ताव, अर्थ-सदस्य ने बजट मे रखा था, पर भारतीय व्यवस्थापक

*इस हिसाब मे एक एक रुपए के नोट शामिल नही हैं।

सभा के भारी विरोध के कारण वह प्रस्ताव वापिस ले लिया गया। (घ) बचत के लिए प्रचार करना। लोगों को युद्ध-ऋण देने के लिए प्रोत्साहित किया गया। कई जगह तो अधिकारियो ने अपने प्रभाव का अनुचित और गैरकानूनी प्रयोग भी किया। (च) आयात को प्रोत्साहन। विदेशी वस्तुओं की आयात बढने से यदि मुद्रा-सकोच मे अर्थात् मुद्रा का परिमाण कम होने मे, कुछ सहायता मिली तो स्वदेशी कारोबार को हानि भी पहुँची।

भारत-सरकार के नोट-आर्डिनेन्स—जनवरी १९४६ मे भारत-सरकार ने दो नोट-आर्डिनेन्स जारी किए। पहले आर्डिनेन्स से सरकार ने देश भर के सब बैंको और खजानो से १०० रु० से ऊपर वाले नोटों का कुल हिसाब माँगा। दूसरे आर्डिनेन्स से पाँच सौ, एक हजार, और दस हजार रु० के नोटों का चलन गैर कानूनी ठहराया गया, और उन्हे खजानो और बैंकों में जमा करके १०० रु० के नोटों मे बदलवाने का आदेश जारी किया गया, जिसमे कहा गया कि दस दिन के भीतर इन नोटों के साथ यह सूचना देनी चाहिए कि नोट कहाँ से, कब, और किस तरह से मिले, यदि नोट किसी व्यापार से हुए लाभ के रूप मे हैं, तो उसका व्योरा देना चाहिए। यदि पूछी हुई सब बातों का उत्तर सतोषप्रद होगा तो सरकार बडे नोटों के बदले में छोटे नोट जो १०० रु० तक के होंगे, देदेगी, अन्यथा नही देगी। गलत हिसाब का व्योरा देने वाले को दड दिया जायगा। सरकार ने घोषणा की कि इन आर्डिनेन्सों का उद्देश्य चोर बाजर द्वारा पैदा की हुई बड़ी-बड़ी रकमों को, जो इन बडे नोटों के रूप मे बडे-बड़े आदमियों के पास हैं, सरकार और इनकमटैक्स विभाग के सामने पेश करने के लिए मजबूर करना है।

इन आर्डिनेन्सो से देश की आर्थिक अवस्था मे बहुत खलबली मची। कई स्थानों पर लोगों ने एक हजार के नोट के बदले छः सौ से सात सौ रुपए तक ही लेकर सतोष किया। कितने हो आदमियो की यह धारणा हो गई कि सरकार दिवालिया हो गई है, इसलिए उसने ये आर्डिनेन्स जारी किए हैं। अस्तु, इन आर्डिनेन्स से थोड़ी ही सफलता मिली।

वर्तमान मुद्रा-प्रसार और सरकारी नीति—महायुद्ध को बन्द हुए तीन साल हो गए तथापि मुद्रा-प्रसार से होने वाली महँगाई बनी हुई है। कहीं-कहीं तो चावल सौ रुपए मन, और गेहूँ पैंतीस रुपए मन तक बिक रहा है। इससे परिस्थिति का अनुमान किया जा सकता है। बात यह है कि जब एक बार मुद्रा वृद्धि हो जाती है तो जल्दी ही उसका निवारण

नहीं होता। अस्तु, स्वतंत्र भारत की सरकार को मुद्रा के नियन्त्रण की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उसने अर्थशास्त्रियों, उद्योगपतियों, मजदूर-प्रतिनिधियों आदि से इस विषय में राय माँगी। उनकी सिफारिशों से मालूम होता है कि यद्यपि कुछ बुनियादी बातों में सब सहमत हैं तथापि उन्होंने जो उपाय सुझाए हैं, उनमें हर एक ने अपने फायदे का विशेष ध्यान रखा है। सब की दृष्टि में बड़े पैमाने का उत्पादन और उससे सम्बन्धित उद्योग प्रधान रहे हैं, खेती या ग्रामीण उद्योगों का तो जिक्र ही नहीं है।

आखिर, सरकार ने उपर्युक्त सिफारिशों का विचार करके अक्तूबर १९४८ में अपनी नीति की घोषणा की, उसकी मुख्य बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) अन्न, वस्त्र तथा अन्य उपयोगी चीजों पर ही नियन्त्रण किया जाय ताकि कीमतें कम हो सकें।

(२) कम्पनियों के मुनाफे की दर ६% से अधिक न हो।

(३) नई मिलों व उद्योगों को प्रोत्साहन। प्रारम्भ में ऐसे उद्योगों पर से आय-कर की छूट।

(४) टूट-फूट व घसारे की छूट में वृद्धि व विदेशी मशीनें आदि मँगाने पर कर की छूट।

(५) छोटी बचत को प्रोत्साहन।

(६) औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए सर्व एक से कानूनों का निर्माण।

(७) केन्द्रीय व प्रान्तीय बजट का सन्तुलन।

(८) शराबबन्दी व जमींदारी खत्म करने के कार्यक्रम में केन्द्र की ओर से प्रान्तों को सहायता नहीं दी जा सकेगी—यह घोषणा।

(९) प्रान्तीय आय बढ़ाने के लिए कृषि-आय पर कर लगाने व जायदाद कर बिल को शीघ्र पास करने का विचार।

(१०) बैंकों द्वारा सट्टे के लिए रकम न दी जावे।

भारत सरकार ने एक समिति बनाई है, जो केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की सब उन्नतिकारक योजनाओं पर विचार करके यह निश्चय करेगी कि पहले किस योजना को अमल में लाया जाय। जो योजनाएँ अधिक लाभदायक प्रतीत होंगी, उन्हें प्राथमिकता दी जायगी।

नवम्बर १९४८ में, मुद्रा-संकुचन की दिशा में कदम बढ़ाते हुए भारत-सरकार ने रेशम, रेशमीवस्त्र, शराब, तम्बाकू, सिगरेट, खिलौने, खेल के

सामान, सोने चाँदी के मुलम्मे के बर्तन आदि विलासिता या आमोद-प्रमोद की वस्तुओं पर आयात कर बढा दिया है, सूती वस्त्रो के निर्यात पर लगनेवाला कर, मूल्य के अनुसार २५ प्रतिशत से घटाकर १० प्रतिशत कर दिया है और रेडी तथा रेड़ी के तेल के निर्यात पर लगनेवाला कर रद्द कर दिया है।

मुद्रा स्फीति और सकुचन

(Inflation and Deflation)

माँग और पूर्ति का नियम जिसके अनुसार कीमत निर्धारित होती है, द्रव्य मे भी लागू होता है। अर्थात् यदि मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक हो तो मुद्रा की विनिमय शक्ति कम हो जायगी और वस्तुओ की कीमत बढ जायगी। यदि मुद्रा की पूर्ति माँग से कम हो तो मुद्रा की विनिमय शक्ति बढ जायगी, अर्थात् वस्तुओ की कीमत गिर जायगी। कारण यह है कि किसी विशेष समय में मुद्रा के परिमाण की विशेष माँग रहती है। यह माँग का परिमाण वस्तुओं के लेन-देन पर निर्भर रहता है। लेन-देन किसी देश के व्यापार तथा आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर रहता है। मुद्रा की इस माँग को पूरी करने के लिए एक विशेष परिमाण मे अथवा मात्रा मे मुद्रा की मात्रा की आवश्यकता रहती है। यदि पूर्ति इसी आवश्यकता के अनुसार होती है तो सब वस्तुओं की कीमत मे एक साथ वृद्धि नहीं होती। यदि द्रव्य की मात्रा कागजी मुद्रा के प्रचार से इस आवश्यकता से अधिक होती जाती है तो सब वस्तुओं की कीमत मे एक साथ वृद्धि होने लगती है। और ऐसी दशा मे हम कहते हैं कि मुद्रा स्फीति (Inflation) हुआ।

यह प्रायः सरकार द्वारा ही होता है। भारतवर्ष मे गत महायुद्ध मे कागजी मुद्रा का अत्यधिक प्रचार हुआ अर्थात् पहिले कागजी मुद्रा सन् १९३५-३६ मे १६४ करोड रुपए की थी और बढते बढ़ते १२३८ करोड़ रुपयों तक पहुँच गई। इसका परिणाम यह हुआ कि वस्तुओ की कीमत मे असाधारण वृद्धि हुई।

इस मुद्रा प्रसार से अत्यधिक हानियाँ होती हैं। विशेषतया उनको बहुत नुकसान होता है जिनकी आय अथवा वेतन निश्चित है। कारण यह है कि वस्तुओं की कीमत बढ जाती है आय उतनी ही रहती है। इस मुद्रा प्रसार से पहिले अर्थात् जब वस्तुओं की कीमत बढ़ती पर होती है तब व्यवसायी वर्ग को बहुत लाभ होता है। परन्तु यदि बाद मे व्यापार में

मजदूर वर्ग का भाग नहीं है तो मजदूर वर्ग की क्रयशक्ति कम हो जायगी और इसका प्रभाव व्यापार पर अवश्य पडेगा। अतएव पहिले लाभ होता है परन्तु यह स्थायी नही रहता। ऐसे समय मे उधार रुपया लेने वालो को लाभ होता है कारण वह तो अपना भाग रुपये में ही चुकाता है। क्योंकि उस भाग के बदले मे कम ही वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। कीमत बढने से सट्टा को प्रोत्साहन मिलता है जिससे आर्थिक हानि होती है।

मुद्रा-संकुचन—मुद्रा की पूर्ति कम हो तो वस्तुओं की माँग भी कम हो जाती है जिसके फल स्वरूप वस्तुओं की कीमत भी कम हो जाती है। इसका फल बिलकुल मुद्रा-प्रसार के परिणाम के विरुद्ध होता है।

जैसा मुद्रा-प्रसार सरकार द्वारा आवश्यकता के कारण किया जाता है उसी प्रकार मुद्रा-सकुचन भी सरकार द्वारा किया जाता है। यदि सरकार के बजट मे बचत हो, सरकार खर्च कम कर दे अथवा रुपया उधार ले, अधिक टेक्स लगा दे अथवा सरकार को कोई रुपया दान मे दे दे तब मुद्रा-सकुचन होता है। मुद्रा-सकुचन का लक्षण यह है कि सब वस्तुओं की कीमत एक दम कम होने लगती है।

मुद्रा-प्रसार अथवा मुद्रा-सकुचन दोनों से ही व्यापार एव समाज का लाभ नही। सच्चा लाभ तो मुद्रा के मूल्य की स्थिरता मे है।

द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धान्त—मान लीजिये कि सम्पूर्ण भारत मे २०० करोड रुपये के सिक्के और नोट उपयोग मे आते हैं। इसके द्वारा सम्पूर्ण लेन-देन होता है। अब यदि सरकार २०० करोड़ रुपयो के सिक्के और बनाकर उनका चलन करती है तो देशवासियों के पास पहले की अपेक्षा दुगने रुपये हो जायँगे और कई व्यक्ति प्रत्येक वस्तु के लिये दुगनी कीमत देने को तैयार हो जायँगे। सब प्रकार की वस्तुओं की कीमत प्रायः दुगनी हो जायगी। ऐसी दशा मे रुपये की कीमत आधी हो जाती है।

परन्तु रुपये पैसे के चलन गति का प्रभाव वस्तुओं की कीमत पर दूसरी तरह से पडता है। रुपया सदैव एक हाथ से दूसरे हाथ मे आता जाता ही रहता है। अन्तर इतना ही रहता है, कहीं इसकी गति अधिक तेज और कही कम तेज होती है। जितने रुपये की चलन होगी उतना ही वह लेन-देन करने मे अधिक समर्थ होगा। और यदि लेन-देन की मात्रा न बढी तो फिर वस्तुओं का मूल्य उतना ही बढने लगता है, जितनी चलन गति बढती है। क्योंकि रुपये पैसे अब पहिले की अपेक्षा कई बार अधिक काम मे लाये जाते हैं। जिसका वही असर होता है जो रुपये-पैसे के परिमाण के बढ़ने

से होता है। रुपये-पैसे की गति जनता के व्यवहार पर बहुत कुछ निर्भर रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह मालूम हो गया कि वस्तुओं की दर रुपये-पैसे के परिमाण उसकी चलन-गति और लेन-देन की मात्रा पर निर्भर रहती है। इन तीनों का कीमत से सम्बन्ध बहुधा सिद्धान्त के रूप मे बतलाया जाता है। इसे द्रव्य का पारिमाणिक सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त इस प्रकार है :—

वस्तुओं की कीमत उसी अनुपात मे बढ़ती है जिस अनुपात मे चालू मुद्रा का परिमाण और उसकी चलन-गति बढती है।

अभ्यास के प्रश्न

१—द्रव्य के कार्यों को समझाइए। क्या कारण है कि सोने-चाँदी आदि बहुमूल्य धातुएँ अधिकतर द्रव्य के लिए चुनी जाती हैं? (१९३८, १९३३)

२—आजकल भारत मे कागजी मुद्रा-प्रचार और प्रबन्ध की विवेचना कीजिए। पहले जो व्यवस्था होती थी उसकी अपेक्षा इसमे क्या गुण दोष हैं? (१९३८)

३—ग्रेशम के नियम की परिभाषा दीजिए तथा उसे विस्तारपूर्वक समझाइए। (१९३७)

४—द्रव्य की परिभाषा लिखिए तथा उसके मुख्य कार्यों को समझाइए। भारत मे कागजी मुद्रा को रुपये मे बदलन का क्या प्रबन्ध है? (१९३६)

५—प्रामाणिक सिक्को से आप क्या समझते हैं? भारत मे प्रामाणिक द्रव्य का क्या नाम है? इसका किस प्रकार प्रबन्ध होना है? (१९३४)

६—आप को 'द्रव्य' से क्या बोध होता है? भारतीय करेंसी पद्धति के मुख्य गुणों को स्पष्ट समझाइए। (१९३२)

७—द्विधातु-चलन-पद्धति के गुण-दोष लिखिये।

८—मुद्रा का अत्यधिक प्रसार किन दशाओं मे होता है और उससे देश को क्या हानि-लाभ होते हैं?

९—मुद्रा-सकुचन के तरीके उदाहरणों सहित समझाइये।

तीसवाँ अध्याय

साख-पत्र

पिछले अध्याय में, कागजी मुद्रा के प्रसग मे कहा गया था कि नोट आदि वास्तविक सिक्के नहीं, वरन् अपने चलाने वालों की साख की बदौलत ही सिक्कों की जगह काम आते हैं। इस अध्याय मे हम साख-पत्रों (Credit Instruments) पर कुछ विशेष विचार करते हैं।

साख का महत्त्व साख का क्या अर्थ है? किसी आदमी की साख का अर्थ यह नहीं है कि उसके पास धन या पूँजी है, उसका अर्थ केवल यह है कि उस आदमी में रुपया उधार लेने की योग्यता या सामर्थ्य है। जिस आदमी की साख अच्छी है, अर्थात् रुपया वादे पर दे देने का, जिसका विश्वास किया जाता है, उसी को ऋण आसानी से और कम सूद पर मिल सकता है। इसके विपरीत जिसकी साख नही, या है, परन्तु यथेष्ट नही, उसे ऋण नहीं मिलता, या बहुत व्याज पर मिलता है; क्योंकि ऋण देनेवालों को, रुपया वापिस मिलने का भरोसा नही होता। कभी ऋण लेने वाला अपने किसी मिलनेवाले विश्वासी आदमी की जमानत देता है और कभी वह जमीन, मकान, जेवर आदि चीजों को गिरवी रखता है। कहावत प्रसिद्ध है कि 'जाय लाख, रहे साख'। व्यवसाय मे साख निस्सन्देह एक बड़ी पूँजी का काम देती है। व्यवसाई अपनी साख के बल पर माल खरीदकर उस पर उतना ही स्वत्व या अधिकार प्राप्त कर लेता है, जितना नकद रुपया देकर खरीदने से होता है। साख के प्रभाव से सोने-चाँदी के सिक्को की जरूरत कम हो जाती है, उनका बहुत सा काम नोट और हुँडी आदि से निकल जाता है।

देश मे बहुत से आदमी ऐसे होते हैं, जिनके पास भिन्न-भिन्न परिमाण मे थोडा-थोडा रुपया होता है। किसी के पास दस बारह रुपये हैं, किसी के पास पन्द्रह-बीस और किसी के पास पच्चीस-तीस। इतनी रकम से ये लोग कोई उद्योग धधा नही करते। इनका यह रुपया बेकार रहता है। परन्तु जब ये किसी बैंक के सचालको का विश्वास करके अपनी-अपनी रकम किसी बैंक मे जमा कर देते है तो इन्हे कुछ व्याज मिलने लग जाता है। उधर बैंक वालों के पास थोड़ी थोड़ी करके खासी रकम इकट्ठा हो जाती है और वे उसे किसी बडे उत्पादक कार्य मे लगा देते हैं, अथवा किसी उद्योग-धधे के काम के लिए दूसरे साखवाले अर्थात् विश्वसनीय साहसियो को उधार दे देते हैं।

इस प्रकार साख से बैंकों का काम चलता है और देश के उत्पादन कार्य मे सहायता मिलती है।

जैसे आदमियो की साख की बात है, वैसे ही देशों की साख भी। जिस देश की साख अच्छी होती है, उसे आवश्यक पूँजी आसानी से और कम सूद पर मिल जाती है और वह अपने यहाँ खेती तथा उद्योग-धधो आदि की उन्नति तथा बेकारी आदि की समस्या का हल अच्छी तरह कर सकता है। इसके विपरीत जिस देश की साख अच्छी नही होती, उसे यथेष्ट रुपया उधार मिलने तथा अपनी आर्थिक उन्नति करने की ऐसी सुविधा नही होती।

साख-पत्र—यदि दो आदमी एक दूसरे से क्रय-विक्रय अर्थात् नकद व्यवहार करते हैं तो एक को दूसरे की साख की कोई आवश्यकता नही। राम ने गोविन्द से बीस रुपये की किताबे ली और उसी समय उनकी कीमत चुका दी, तो क्रय-विक्रय का यह विनिमय कार्य समाप्त हो जाता है। परन्तु यदि राम उस समय रुपया नही दे सकता और कुछ समय बाद देने का वादा करता है तो गोविन्द के लिए यह जानना जरूरी है कि राम की साख कैसी है, क्या वह विश्वसनीय है। यदि गोविन्द की दृष्टि मे राम विश्वसनीय है, तो वह राम को उधार माल दे देगा। इस दशा मे गोविन्द को निर्धारित समय पर उसका रुपया चुकाने के सम्बन्ध मे राम लिखित प्रतिज्ञा-पत्र दे देता है। ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र साख-पत्र कहलाते हैं।

साख-पत्रो के मुख्य भेद निम्नलिखित है:—

१—प्रामिसरी नोट

२—हुँडी

३—चेक

प्रामिसरी नोट—प्रामिसरी नोट वह होता है, जिसको लिखकर कोई व्यक्ति दूसरे आदमी को निर्धारित समय पर कोई रकम देने का वादा करता है, इसमे किसी प्रकार की शर्त नही होती। इसका साधारण नमूना नीचे दिया जाता है :—

प्रयाग

ता० २० जून, १६३८

आज से दो महीने मे मैं श्री गोविन्ददास जी, पुस्तक भडार, प्रयाग को या जिस किसी के लिए उनका आदेश होगा, उसको उनसे प्राप्त पुस्तकों के मूल्य के रूप मे २०) बीस रुपये देने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

रामचन्द्र वर्मा

दारागज (प्रयाग)

प्रामिसरी नोट पर एक आने का टिकट लगाया जाता है। उस टिकट पर ही, प्रामिसरी नोट लिखने वाला हस्ताक्षर करता है। यदि रुपये के लिए कुछ व्याज (सूद) देने की बात ठहरी होती है, तो उसका प्रामिसरी नोट में उल्लेख कर दिया जाता है।

हुँडी—उस पत्र को कहते हैं, जिसका लिखने वाला किसी आदमी को यह आज्ञा देता है कि वह अमुक व्यक्ति को, या अमुक व्यक्ति द्वारा निर्दिष्ट किसी अन्य व्यक्ति को, अथवा जिसके पास वह हुँडी हो उसे, निर्धारित रकम का भुगतान कर दे। भारतवर्ष मे आन्तरिक व्यवहार के लिए हुँडी का उपयोग चिरकाल से होता रहा है। ये प्रायः महाजनी या सर्राफी नामक एक विशेष लिपि मे लिखी जाती है, जिसमे प्रत्येक प्रान्त मे कुछ भिन्नता होती है। इसके दो भेद होते है :—दर्शनी हुँडी और मुद्दती हुँडी।

दर्शनी हुँडी—इसका भुगतान तत्काल करना होता है इसका नमूना नीचे दिया जाता है:—

सिद्ध श्री प्रयाग शुभ स्थान श्री पत्री भाई हरचरण लाल वसुदेव प्रसाद जोग लिखी मथुरा से मूलचन्द शिवनरायण की जय गोपाल वचना। आगे हुँडी किता एक आप ऊपर किया ४००) रुपया अक्षरे चार सौ रुपये के नीमे दो सौ के दूने पूरे देना। यहाँ रखा भाई इम्पीरियल बेंक आफ इंडिया, मथुरा वाले के पास। पहुँचने के साथ धनी जोग रुपया बाजार चलन हुँडी की रीति ठीक लगाये दाम चौकस कर देना। मिति ज्येष्ठ शुक्ल ५, २००४

हस्ताक्षर

'रुपया बाजार चलन' लिखने की रीति अठारहवी शताब्दी से प्रचलित हुई, जब कि देश मे कई प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। देय रकम का आधा लिखने का कारण यह है कि उसमे कोई जालसाजी न की जावे।

मुद्दती हुँडी—इसका भुगतान तुरन्त नहीं होता, भविष्य मे, अर्थात् कुछ निर्धारित समय पश्चात् करना होता है। इसका नमूना नीचे दिया जाता है।

सिद्ध श्री कानपुर शुभ स्थान श्री पत्री भाई गुलाबचन्द मनोहरलाल जोग लिखी बृन्दावन से रामलाल प्रेमचन्द की जय श्रीकृष्ण बचना। अपरञ्च आपके ऊपर करी हुँडी एक, ८००) रु० अक्षरे, रुपया आठ सौ, जिसके आधे, चार सौ के दूने परे, यहाँ रखे, श्री मूलचन्द देवीदास के पास। मिति कार्तिक सुदि ५ से दिन साठ पीछे नामे साह जोग हुँडी चलन कलदार दीजो। मिति कार्तिक शुक्ल ५, स २००४

हस्ताक्षर

चेक—यह किसी बैंक के नाम होता है, और इसका भुगतान उसी समय करना होता है, जब वह व्यक्ति जिसके नाम यह चेक होता है, रुपया माँगता है। बैंकों का काम अधिकतर अँगरेजी मे होता है। उनकी चेक-बुक छपी हुई रहती है। चेक के नमूने का हिन्दी रूपान्तर अगले पृष्ठ मे दिया जाता है—

जिसके नाम का चेक होता है, उसके हस्ताक्षर करने पर उसे बैंक रुपया दे देता है। यदि चेक मे बेयरर शब्द हो अर्थात् उसके ऊपर आर्डर न लिखा हो तो चेक का रुपया बैंक मे चेक ले जाने वाले को दे दिया जायगा। इसके विपरीत यदि चेक पर आर्डर शब्द ही हो तो जिस व्यक्ति के नाम का चेक हो, वह जिसे आदेश करे, उसे ही रुपया मिल सकता है। यदि चेक के बॉये कोने पर दो तिरछी रेखाएँ खीच दी जायँ तो उसे "क्रास-चेक" कहते हैं। क्रास-चेक का रुपया चेक वाले को नकद नही दिया जाता है। बैंक उसके हिसाब मे जमा कर देता है, और यदि उसका बैंक मे हिसाब न हो तो वह उस चेक को किसी अन्य ऐसे व्यक्ति को बेच देता है, जिसका बैंक मे हिसाब है।

यदि तिरछी लकीरो के बीच किसी बैंक विशेष का नाम लिख दिया जाय तो रुपया उसी बैंक के जरिए मिल सकता है, उदाहरणार्थ आपने श्रीहरेश-चन्द के नाम चेक काट कर तिरछी लकीरो के मध्य "इलाहाबाद बैंक" लिख दिया। ऐसी हालत मे आम तौर पर श्री हरेशचन्द इस चेक को भुनाने के लिए इलाहाबाद बैंक मे हिसाब खोलकर जमा कर देंगे, इलाहाबाद बैंक उक्त चेक का भुगतान आपकी बैंक से ले लेगी। सक्षेप मे यह सब तरीके बेइमानी और जाल से बचने से लिए किए जाते हैं।

नोटों के विषय मे पहले लिखा जा चुका है। वे सरकार की साख पर चलते हैं। प्रामिसरी नोट, हुंडी और चेक आदि का जनता के कारोबार पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है, जैसा नोटो का। यदि साख-पत्र का व्यवहार न हो तो मानों इतने सिक्कों की कमी हो जाय, उनका मूल्य बढ जाय, अर्थात् पदार्थों की कीमत बहुत कम हो जाय। लोगों के कारोबार मे कमी हो जाय, और इसे रोकने के लिए सोने चॉदी के सिक्के अधिक बनाने पड़े। इससे साख-पत्रों की उपयोगिता स्पष्ट है।

अभ्यास के प्रश्न

१—साख- पत्र की परिभाषा दीजिए। करेंसी नोट, हुंडी और चेक में

नम्बर B/135

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया

श्री०

रु०

रु० हस्ताक्षर

नम्बर B/135

इम्पीरियल बैंक आफ इंडिया

इलाहाबाद

ता० January 6th

श्री० .... या आर्डर को

रुपया .... दे दो

रु० (अंक में) .... (हस्ताक्षर) ....

क्या अन्तर है ? किस प्रकार देश मे चेक का प्रचार बढाया जा सकता है ? (१९३५)

२—द्रव्य तथा साख-पत्रो मे क्या अन्तर है ? आधुनिक व्यापार तथा उद्योग-धन्धो को साख से क्या लाभ है ? (१९३३)

३—निम्नलिखित पर नोट लिखिए :—
दर्शनी हुँडी, प्रामिसरी नोट, क्रास चेक, मुद्दती हुँडी।

४—बैंक द्वारा किन दशाओ मे चेक अस्वीकृत कर दिया जाता है ?

५—किसी व्यक्ति या देश की साख किन कारणो से कम हो जाती है ? साख कम होने से क्या हानि होती है ?

इकतीसवाँ अध्याय

बैंक

इस अध्याय मे भारतवर्ष के विविध बैंको के सम्बन्ध मे विचार करते हैं। पहले महाजनी और सर्राफी का विषय लेते है।

महाजनी—जिसे वास्तव मे बैंक का कार्य कहा जाता है, वह तो आधुनिक काल को ही सृष्टि है। पहले यहाँ विशेषतया महाजनी का चलन था। बैंक के कार्य और महाजनी मे अन्तर केवल यही है कि बैंक औरो से सूद पर रुपया कर्ज लेकर भी सूद पर उठाता है, पर महाजन कर्ज नही लेते थे, वे अपने ही अथवा औरों के (व्याज पर न रक्खे हुए) रुपए को सूद पर उठाते थे। इस प्रकार महाजन सूद लेते थे, पर देते नही थे। अब तो वे सूद देने भी लगे हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न जातियो के आदमी—विशेषतया मारवाड़ी, भाटिए, पारसी या दक्षिण-भारत के चेटी—लेन-देन करते हैं। महाजन लोग औरों का रुपया जमा करते हैं, हुँडी-पुर्जे का व्यवहार करते हैं,जेवर गिरवी रख कर रुपया उधार देते हैं, और सोना-चाँदी या इन्ही धातुओं की चीजें खरीदते हैं। हुँडियों का यहाँ प्राचीन काल से ही खूब चलन है। शहरों मे बैंको के कारण महाजनो का काम यद्यपि कम हो गया है, किन्तु छोटे कस्बों और देहातो मे अब भी बहुत होता है। छोटे व्यापारियों या उत्पादकों की पहुँच बडे-बडे बैंकों तक नही होती, उन्हे महाजनो द्वारा देश के आतरिक कारोबार मे अच्छी सहायता मिलती है।

देहातों में बनिए या महाजन कृषि के लिए पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फिजूलखर्ची के वास्ते भी उनसे ऋण लिया जाता है। महाजन के विपक्ष में बहुत सी बातें कही जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं कि उसकी कार्य प्रणाली में कई दोष हैं, पर व सर्वथा गुण-हीन भी नहीं हैं। अन्य अनेक संस्थाओं की भाँति महाजन में गुण दोष दोनो का मिश्रण है। विशेषतया प्राचीन काल में महाजन ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। कृषि के धधे को समय-समय पर पूँजी की आवश्यकता होती है, और महाजन ने इसकी विविध प्रकार से पूर्ति की है। वह निरा निर्दयी भी नहीं होता था। वह किसान की सुख वृद्धि में ही अपने हित को समझता था। पर क्रमशः स्थिति में परिवर्तन हो गया। सरकारी लगान जिन्स की जगह नकदी में लिया जाने लगा। विगत शताब्दी की राजनैतिक उथल-पुथल में उसका महत्व बट गया, और उसे वसूल करने में सहृदयता का भाव कम रह गया। अन्य सरकारी कर भी बढ गए। उद्योग-धधे नष्ट हो गए। आर्थिक आवश्यकताओं और पूँजीवाद के भावों ने महाजनों को लोभी बना दिया। इसके अतिरिक्त मालगुजारी और लगान अग्रदेय माने जाने, और सरकारी ऋण के बाद सहकारी समितियों के ऋण को मुख्य स्थान दिये जाने के कारण महाजन को अपना रुपया डूबने का भय बना रहता है, इसलिए भी वह सूद अधिक लेने लगा, तथा हिसाब गढने और झूठा जमा-खर्च करने, आदि के और भी बुरे-भले उपायों से अपनी आय बढाने लगा।

शहरो में सेठ साहूकार जायदाद रेहन करके अथवा जेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। ये लोग बहुधा अपने पास रेहन रक्खी हुई जमीन को मोल लेकर जमींदार बन गए हैं। ये कभी-कभी व्यापारियो और दस्तकारों को भी रुपया उधार देते हैं। बहुत -से जमीदार, महंत आदि भी सूद से आमदनी पैदा करते हैं।

ऋण दाताओ में काबुली पठान का एक विशेष परन्तु चिन्तनीय स्थान है। यह सौदागरी के साथ सूदखोरी करता है। उसके शिकार अधिकतर शहरों के मजदूर तथा हरिजन आदि होते हैं। वह इन्हे एक आने, दो आने, या इससे भी अधिक फी रुपया प्रतिमास सूद पर ऋण देता है। उसका लोगों पर इतना आतक रहता है कि वे उसका रुपया जैसे-भी-बने चुकाते रहते हैं। फिर, पठान को कानूनी कारवाई से अधिक अपने डडे का भरोसा रहता है, मार-पीट आदि क्रूर उपायों का अवलम्बन करने मे उसे कुछ सकोच नहीं होता। काबुली पठानों का सगठन भी बहुत व्यापक है और ये जनता के

दीन-हीन लोगो का भयकर शोषण करते थे। इनका नियत्रण किए जाने की अत्यन्त आवश्यकता है।

सरकार अकाल के समय बहुधा किसानो को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए, सन १८८३ ई० के ऐक्ट के अनुसार, 'तकावी' देती है, और इस रुपये को अच्छी फसल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किन्तु राज-कर्मचारियों का समुचित व्यवहार के न होने के कारण इस तरीके से विशेष सफलता नहीं हो रही है। फिर रकम भी, कृषकों की सख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी जाती है।

सर्राफी—कस्बो मे लोगो के लेन-देन के व्यवहार मे सर्राफ बहुत सहायक होता है। इसे दक्षिण भारत मे चेटी कहते हैं। साधारण कस्बो के आदमी प्रायः बैंको के सम्पर्क मे नही आते, सर्राफ जन-साधारण और बैंको के बीच मे मध्यस्थ का काम करते है। उनका मुख्य कार्य यह होता है कि व्यापारियों से हुंडी खरीद लेते हैं और उनका रुपया जब स्वय नही चुका सकते तो बैंको से दिलवा देते है। इसमे बैंको को जो कुछ देना होता है, उसके अतिरिक्त सर्राफ हुंडीवालो से डेढ दो फी सदी अपने लिए वसूल करते हैं। जबतक कि मिश्रित पूँजी के बैंको का यथेष्ट विस्तार और प्रचार नही होता, सर्राफ के कार्य का महत्त्व स्पष्ट है।

उपर्युक्त कार्य के अतिरिक्त सर्राफ नोट, सोने चाँदी के सिक्के रेजगारी, और जेवर तैयार रखते हैं। सोने चाँदी के जेवर तथा बर्तन ये लोगो की आवश्यकतानुसार तैयार भी करा देते हैं। इसमे, कुछ दशाओं मे ये काफी लाभ उठाते हैं। समय समय पर लोगो को नोटों के बदले रुपयों की, रुपयों के बदले नोटो की, अथवा रुपये को रेजगारी आदि की आवश्यकता होती है। उसकी पूर्ति सर्राफ करते हैं। सर्राफो को इसमे 'बट्टे' की आमदनी होती है।

बैंकों का कार्य—बैंको का काम रुपया जमा करना, व्याज पर उधार लेना, व्याज पर उधार देना तथा हुंडी-पुर्जे, चेक या नोट आदि खरीदना और बेचना है। जो लोग अपनी बचत का कोई अन्य उपयोग नही कर सकते, या नही करना चाहते, उनसे बैंक अपेक्षाकृत कम सूद पर रुपया उधार ले लेते हैं, और ऐसे आदमियों को कुछ अधिक सूद पर उधार दे देते हैं, जो उस धन से कोई लाभप्रद व्यवसाय चलाना चाहते हो। बैंक मे जितने अधिक समय के लिए रुपया जमा किया जाता है, सूद उतना ही अधिक मिलता है; क्योंकि बैंकवाले उस रुपये से उतना ही अधिक लाभ उठा सकते

हैं। जमा करने वाले सब लोग अपना रुपया प्रायः एक ही साथ वापिस नहीं लेते, कुछ आदमी वापिस लेते हैं, तो कुछ जमा भी करते हैं। अतएव बैंक वाले अपने अनुभव से यह जान लेते हैं कि उन्हे जमा करने वालों का भुगतान करने के लिए कितना रुपया हर वक्त तैयार रखने का प्रबन्ध करना चाहिये। शेष रुपया वे अपने उत्पादक कार्यों मे लगाते हैं।

बैंकों के भेद—भारतवर्ष मे बैंक का कार्य करने वाली सस्थाओं के निम्नलिखित भेद हैं :—

१—सहकारी बैंक।
- (क) सहकारी साख समितियाँ।
- (ख) सेन्ट्रल सहकारी बैंक।
- (ग) प्रातीय सहकारी बैंक।
- (घ) भूमि बधक बैंक।

२—पोस्ट-आफिस सेविग बैंक।
३—मिश्रित पूँजी के बैंक।
४—इपीरियल बैंक।
५—रिजर्व बैंक।
६—एक्सचेंज बैंक।
७—बीमा-कपनियाँ।

सहकारिता—सहकारी बैंकों के विविध भेदों के विषय मे ज्ञान प्राप्त करने से पहले सहकारिता की उपयोगिता जान लेनी चाहिए। भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार सहकारिता के कई भेद हो सकते हैं। अर्थशास्त्र मे इसके मुख्य तीन भेद हैं—उत्पादकों की सहकारिता, उपभोक्ताओं की सहकारिता और साख की सहकारिता। उत्पादकों की सहकारिता के विषय मे कुछ बाते पहले ही कही जा चुकी हैं। भारतवर्ष मे साख की ही सहकारता अधिक प्रचलित है, और इस अध्याय का विषय बैंक होने के कारण हम यहाँ इसी का विचार करना है। अस्तु, जो पूँजी किसी व्यक्ति को, अकेले उसकी साख पर, कभी-कभी बहुत कष्ट उठाने तथा प्रयत्न करने पर भी नही मिल सकती, उसे कई मनुष्य मिलकर, सब की साख के बल पर, कम व्याज पर, आसानी से और यथेष्ट मात्रा मे ले सकते हैं। इस प्रकार साख के सम्बन्ध मे सहकारिता का बड़ा महत्त्व है। भारतीय किसान जैसे निर्धन लोगों के लिए तो साख की सहकारिता बहुत ही उपयोगी है।

सहकारी साख-समितियाँ—यहाँ सहकारी साख-समितियों की

स्थापना सब से पहले उत्तर प्रदेश मे, सन् १६०१ मे हुई। इनके सम्बन्ध मे, भारत-सरकार द्वारा पहला कानून सन् १६०४ ई० मे बनाया गया। इसके अनुसार हरेक प्रान्त के लिए एक एक रजिस्ट्रार, सहकारी समितियों को प्रोत्साहन देने के लिए, नियत हुआ। समितियाँ दो तरह की खोली गई—(१) किसानों के लिए और (२) शहर मे रहनेवाले गरीब लोगो के लिए। यह नियम बनाया गया कि किसी गाँव या शहर मे एक ही जाति या पेशे के कम से-कम दस आदमी मिलकर अपनी एक सहकारी समिति बना सकते हैं। समिति के सदस्य वे हों, जो एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हो। कृषि-साख-समितियो का प्रत्येक सदस्य अपनी समिति का कुल कर्ज चुकाने के लिए जिम्मेदार हो, अर्थात् वे समितियाँ अपरिमित देनदारी के सिद्धान्त पर चलाई जायॅ, और नगर-साख-समितियाँ परिमित देनदारी क सिद्धान्त पर।

कुछ अनुभव के बाद सन् १६१२ ई० मे सहकारी समितियों का दूसरा कानून पास हुआ, जिसकी कुछ मुख्य बातें ये है— (क) देहाती और नागरिक समितियो का भेद दूर कर दिया गया। (ख) सहकारी साख समितियो के अतिरिक्त अन्य समितियाँ भी बनाई जाने की योजना कर दी गई। (ग) केन्द्रीय सस्था के लिए परिमित देनदारी का सिद्धात जारी किया गया, बशर्ते कि उससे कम-से-कम एक रजिस्टर्ड समिति सम्बद्ध हो। (घ) सरकार ने मुनाफे के बॅटवारे का नियन्त्रण और निरीक्षण अपने हाथ मे ले लिया। बचत-कोष मे काफी रकम जमा हो जाने पर मुनाफे का कुछ हिस्सा सभासदों को, बाँटे जाने की, और उसकी दस फी-सदी तक रकम दान-धर्म मे दी जाने की, व्यवस्था की गई। (च) 'सहकारी' शब्द का प्रयोग केवल उन्ही समितियों के सम्बन्ध मे किया जाने का नियम हुआ, जिनकी रजिस्टरी हो चुकी हो।

भारतवर्ष के प्रान्तो मे, और राज्यों मे भी, सहकारी समितियों की सख्या क्रमशः बढने लगी—खासकर किसानों मे इनका अधिक प्रचार हुआ। सन् १६१४ ई० मे सरकार ने सर एडवर्ड मेकलेगन के सभापतित्व मे एक कमेटी कायम करके सहकारिता सम्बन्धी विषयों की जाँच कराई। सन् १६१६ ई० के शासन-विधान के अनुसार सहकारिता का विषय प्रान्तीय सरकारो को हस्तातरित कर दिया गया। बम्बई प्रान्त की सरकार ने सन् १६२५ ई० में, और मदरास सरकार ने सन् १६३२ मे अपने प्रान्त के लिए सहकारिता का पृथक् कानून बनाया। बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सरकारों ने भी अपने-अपने प्रात के लिए सन् १६१२ ई० के सहकारिता-कानून मे कुछ सशोधन किया। सन् १६२६ ई० के शाही कृषि-कमीशन की

सिफारिशों से, तथा 'सेंट्रल-बैंकिंग इन्क्वायरी कमेटी' की अधीनता में नियुक्त प्रान्तीय कमेटियों की जाँच के फल-स्वरूप भी कुछ सुधार हुए। भिन्न भिन्न प्रांतों के कृषि-विभाग भी सहकारिता के सिद्धांतों के प्रचार में योग दे रहे हैं।

सेंट्रल और प्रांतीय सहकारी बैंक—सहकारी साख-समितियों की केंद्रीय संस्था 'सेंट्रल बैंक' कहलाती है। बैंक एक जिले या उसके किसी हिस्से की सहकारी समितियों की सहायता करते हैं। ये भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रांतों में हैं। कुछ सेंट्रल बैंक देशी रियासतों में भी हैं। इनका प्रधान कार्यालय बहुधा जिले के सदर-मुकाम में होता है। ये प्रायः परिमित देनदारी का व्यवहार रखते हैं, और इनकी पूँजी हिस्सों (शेयरों) द्वारा प्राप्त होती है। इनके सदस्य, सहकारी समितियों के अलावा दूसरे आदमी भी हो सकते हैं। ये सर्वसाधारण की अमानतें, मा'मूली सूद पर जमा करते हैं। ये अपने जिले की ग्राम-सहकारी-समितियों को, कुछ अधिक व्याज पर, रुपया उधार देते हैं। इन्हें जो लाभ रहता है, उसे ये निर्धारित नियमों के अनुसार अपने हिस्सेदारों में बाँट देते हैं। सेंट्रल बैंक और ग्राम-सहकारी-समितियों के बीच कहीं-कहीं 'गारंटी यूनियन' होते हैं, जो, अपनी सिफारिश से समितियों को सेंट्रल बैंक द्वारा ऋण दिलाते हैं। कुछ प्रान्तों में प्रांतीय सहकारी बैंक हैं। ये सेंट्रल बैंकों की सहायता तथा नियंत्रण करते हैं, तथा अन्य बैंकिंग व्यवसाय भी करते हैं, जैसे लोगों के आभूषण आदि संपत्ति गिरवी रखकर रुपया उधार देना, तथा चेक और हुंडी का भुगतान आदि। इन बैंकों का इम्पीरियल बैंक, मिश्रित पूँजी के बैंक, तथा रिजर्व बैंक से सीधा सम्बन्ध है; और ये उनसे सहायता लेते हैं।

सहकारी बैंकों का प्रबन्ध प्रायः स्थानीय आदमी करते हैं। वे अपनी सेवाओं के बदले कुछ (रुपया) नहीं लेते। इन बैंकों की आय पर सरकार कोई कर आदि नहीं लेती। यदि कोई किसान किसी सहकारी बैंक का ऋण अदा न कर सके, तो सरकारी लगान दे चुकने पर बैंक का अधिकार किसान की जायदाद पर अन्य सब लेनदारों से पहले होता है।

इन बैंकों से कई लाभ हैं—(१) ये गरीब किसानों को कम सूद पर आवश्यक पूँजी दे सकते हैं। (२) ये बैंक केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही उधार देते हैं, इसलिए इनसे धन लेकर किसान लोग फिजूलखर्ची नहीं कर सकते। (३) किसानों और मजदूरों आदि की बचत इन बैंकों में रखी जा सकती है। इनमें व्याज अधिक मिलता है। (४) इन बैंकों से लोगों का एक-दूसरे में विश्वास और सहायता का भाव बढ़ने के साथ-ही साथ उनमें दूरदर्शिता और मितव्ययिता आदि गुणों का भी विकास होता है।

सहकारी समितियों और बैंको का प्रधान उद्देश्य है, भारतीय किसानों की कर्जदारी दूर करना और उन्हे आर्थिक सहायता देना। यद्यपि इनके क्षेत्र में वृद्धि हो रही है, तथापि ये भारतवर्ष भर की आवश्यकताओं की कहाँ तक पूर्ति करती हैं, यह विचारणीय है। इनकी सख्या डेढ लाख, और इनके सदस्यो की कुल सख्या लगभग ७० लाख है। समिति की सहायता, सभासद के अतिरिक्त, कुछ अश मे उसके कुटुम्ब को भी मिलती है। अब यदि एक कुटुम्ब मे पॉच आदमियों का औसत माना जाय तो कुल सहकारी समितियों द्वारा सवा तीन करोड़ आदमियो का थोड़ा-बहुत हित-साधन होता है। अतः भारतीय किसानो की सख्या देखते हुए अभी इन समितियों और बैंकों की सख्या बहुत कम है। देश के शुभचिंतकों को इन्हे बढाने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए।

भूमि-बंधक बैंक—किसानो को कुछ ऋण की, अधिक समय के लिए भी आवश्यकता होती है, उदाहरणवत् पुराना ऋण चुकाने के वास्ते, भूमि को चकबन्दी करने, उसे उपजाऊ बनाने, और बैल या कीमती यन्त्र आदि खरीदने के वास्ते। अधिक समय का ऋण, सहकारी साख-समितियॉ या बैंक नही दे सकते। इस कार्य के वास्ते भूमि-बधक बैंक अधिक उपयुक्त हैं, जो कृषि-योग्य भूमि को रेहन रखकर बीस-तीस वर्ष या इससे भी अधिक अवधि के लिए रुपया उधार दे और पीछे उस रकम को, बहुत साधारण व्याज सहित, छोटी-छोटी किस्तों मे वसूल करे।

ये बैंक ऐसी छोटी-छोटी रकमों के डिबेंचरो (ऋण-पत्रो) द्वारा पूॅजी सग्रह करते हैं, जिन्हे साधारण स्थिति के आदमी खरीद सकें। ये बैंक तीन प्रकार के होते हैं (१) सहकारी, (२) अर्द्ध सहकारी, और (३) गैर-सहकारी। भारतवर्ष के सब प्रान्तों मे, कुल भूमि-बन्धक बैङ्क और सोसायटियॉ केवल २७१ हैं, इनमें से भी १२० अकेले मदरास प्रान्त में हैं। इनको पूर्णतः सहकारी नहीं कहा जा सकता, ये अर्द्ध-सहकारी हैं, कारण, यद्यपि इनके अधिकतर सदस्य इनसे ऋण लेनेवाले व्यक्ति होते हैं, कुछ सदस्य ऐसे भी होते हैं, जो ऋण नही लेते। इन सदस्यों को, बैंक के प्रबन्ध मे सहायता पहुचाने तथा पूॅजी प्राप्त करने के लिए, बड़े व्यापारियों आदि मे से लिया जाता है। ये बैंक परिमित देनदारी के होते हैं, ये लाभ का लक्ष्य रखकर काम नही करते, वरन् सूद की दर घटाने का प्रयत्न करते हैं। इन बैंकों का भी कार्य-क्षेत्र भारतवर्ष की कृषक जनता की आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम है।

पोस्ट-आफिस सेविंग-बैंक—यद्यपि जनता की बचत का रुपया

जमा करने का खाता कुछ दूसरे बैंकों ने भी खोल रखा है, सिर्फ बचत जमा करने का कार्य, विशेषतया डाकखानों के सेविङ्ग-बैंक करते हैं। सरकारी सेविङ्ग-बैंक पहले बम्बई, कलकत्ता और मदरास मे थे, ये सन् १८३३ और १८३५ ई० के बीच में स्थापित हुए थे। सन् १८७० ई० में कुछ चुने हुए खजानों से सम्बन्धित जिला-सेविंग-बैंक खुले। डाकखाने के सेविङ्ग-बैङ्क सन् १८८२ ई० और सन् १८८३ ई० में भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानों मे, खोले गए। तब से ये सरकारी सेविंग-बैंको का काम करने लगे। सन् १८८६ ई० मे इनमें जिला-सेविंग-बैंको का हिसाब मिला दिया गया। सन् १८८६ ई० में प्रेसीडेंसी-सेविंग-बैंकों का काम भी इन्हीं में मिल गया।

इन बैंकों का काम क्रमशः बढ़ रहा है। शहर और कस्बे की तो बात ही क्या, बहुत से बडे-बडे गॉवों के डाकखानों मे भी सेविंग बैंक का काम होता है। इनमे चार आने तक छोटी रकम भी जमा हो सकती है। ३१ मार्च १९३९ ई० को इन बैंको की सख्या १२,१०९ थी। इनमे बयालीस लाख आदमियों का हिसाब था और कुल मिला कर लगभग ८२ करोड रुपया जमा था। युद्ध-काल मे इसमे कमी हो गई। ३१ मार्च १९४३ को इन बैंकों में २५,६४,००० आदमियों का हिसाब था, और इनका सवा बावन करोड़ रुपया जमा था। ३१ मार्च १९४५ को इन बैंकों में लगभग इकत्तीस लाख आदमियों का ८० करोड़ से कुछ अधिक रुपया जमा था। सन् १९४७ के मार्च मास मे यह रकम १४२ करोड रुपयों तक बढ गई।

यह ठीक है कि अधिकाश जनता की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने से उनकी बचत जमा करने की विशेष सामर्थ्य नही, तथापि इन बैंको मे जमा की बहुत रकम बढने की गुंजायश है। भारतीय सघ मे लाखों गॉवों की दृष्टि से इन बैंकों की सख्या बहुत ही कम है। इससे यह स्पष्ट है कि अधिकाश गॉवो के लिए, जो सेविंग-बैंक उनके सबसे अधिक नजदीक है, वह भी कितनी ही मील दूर हैं।

गत वर्षों मे डाकखाने जनता का रुपया जमा करने के लिए, सेविंग-बैंक-कार्य के अलावा, और भी उपाय काम में लाए हैं। सन् १९१७-१८ मे उन्होंने 'कैश-सार्टिफिकट' निकाले थे। आदमी साढ़े आठ रुपये या अन्य निर्धारित कीमत देकर इन कागजों को खरीद लेते थे। डाकखाने पॉच साल के बाद उनके दस-दस रुपये दे देते थे। इन कैश-सार्टिफिकटों का रुपया पॉच साल से पहले भी मिल सकता था, पर उस दशा मे सूद बहुत

कम मिलता था। सन् १९१७-१८ मे जब कैश-सार्टिफिकटो का कार्य आरम्भ हुआ, इनमे ८१ करोड रु० जमा थे, पीछे सूद की दर घटने बढने तथा अन्य कारणो का इस मद्द की जमा पर प्रभाव पडता रहा तथापि कुल मिला कर यह रकम बढती ही रही। मार्च १९३९ मे यह रकम ५९ करोड़ रु० थी। (दूसरे) महायुद्ध के समय इसका ह्रास हुआ, सन् १९४६-४७ मे यह रकम ३९ करोड थी।

सन् १९४० मे दस-वर्षीय डिफेंस-सेविंग सार्टिफिकट जारी किए गए थे। सन् १९४३-४४ मे, जनता के इनमे ७ करोड़ रुपये जमा थे। परन्तु अक्तूबर १९४३ में इनकी जगह 'नेशनल-सेविंग-सार्टिफिकट' जारी हैं। इनकी अवधि अलग-अलग— पाच साल, सात साल, बारह साल आदि—होती है। अवधि के अनुसार इनके सूद की दर जुदा-जुदा होती है। मिसाल के तौर पर सौ रुपये के खरीदे हुए सार्टिफिकट के बारह साल पूरे होने पर सूद सहित डेढ़ सौ रुपये मिलते हैं। सन् १९४६-४७ में इनमे ७० करोड़ रु० जमा थे।

मिश्रित पूँजीवाले बैंक—मिश्रित पूँजी की कम्पनियों के सम्बन्ध मे पहले लिखा जा चुका है। भारतवर्ष मे मिश्रित पूँजी के बैंक विशेषतया पिछले चालीस वर्षों में ही अधिक हुए हैं। सन् १९०५ ०७ के स्वदेशी आन्दोलन से यहाँ औद्योगिक कार्यों की ओर विशेष ध्यान दिए जाने के कारण इनकी अच्छी उन्नति हुई। सन् १९१३ और १९२३ में कुछ बैंकों का दिवाला निकलने से इनके कार्य को धक्का पहुँचा, परन्तु उसका प्रभाव अस्थायी रहा है। साधारणतया इनकी वृद्धि ही हुई है।

कम्पनियों की रजिस्टरी की बात पहले बताई जा चुकी है। सन् १९३६ के संशोधित कम्पनी-कानून के अनुसार अन्य प्रतिबन्ध विशेषतया निम्न-लिखित हैं:—(१) किसी बैंकिंग कम्पनी का कोई मैनेजिंग एजन्ट नही होता, हाँ, कोई बैंकिंग कम्पनी दूसरी कम्पनी के लिए मैनेजिंग एजन्ट का काम कर सकती है। (२) कोई बैंकिंग कम्पनी अपना कारोबार उस समय तक आरम्भ नही कर सकती, जब तक कि उसके हिस्सों की बिक्री से कम-से-कम पचास हजार रुपये की रकम प्राप्त न हो जाय। (३) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपने घोषित मुनाफे का पाँचवाँ हिस्सा सुरक्षित कोष मे उस समय तक जमा करते रहना होगा, जब तक कि सुरक्षित कोष का परिमाण, प्राप्त हिस्सा-पूँजी तक न हो जाय। (४) प्रत्येक बैंकिंग कम्पनी को अपनी प्रत्येक शुक्रवार की लेनी और देनी का हिसाब रजिस्ट्रार के पास हर महीने दस तारीख तक भेजना होगा, और उसे अपनी तात्कालिक या दर्शनी देनी

का पाँच फी सदी, और मुद्दती देनी का डेढ़ फी सदी, रुपया नकद जमा रखना होगा।

सन् १९४३ मे मिश्रित पूँजी के बैंकों की कुल पूँजी १८६७ लाख, रक्षित धन ७८० लाख और जमा (डिपाजिट) ३३९० लाख रु० थी।

इम्पीरियल बैंक—इस बैंक की स्थापना सन् १९२० के कानून के अनुसार, १९२१ मे बगाल, बम्बई और मदरास के प्रेसीडेन्सी बैंकों को मिला देने से हुई। इम्पीरियल-बैंक-कानून का सशोधन १९३४ मे हुआ और १९३५ मे अमल मे आया। इस बैंक के काम-काज का नियत्रण करने के लिये डायरेक्टरों का एक सेन्ट्रल (केन्द्रीय) बोर्ड है, तथा कलकत्ता, बम्बई और मदरास मे लोकल (स्थानीय) बोर्ड हैं। सेन्ट्रल बोर्ड के दो डायरेक्टरों की नियुक्ति सरकार द्वारा होती है। इसके अतिरिक्त भी, सरकार इस बैंक के काम का नियत्रण करती है।

इस बैंक की, देश के भिन्न-भिन्न भागों मे लगभग पौने दो सौ शाखाएँ हैं। रिजर्व बैंक की स्थापना (सन् १९३५) तक यही भारतवर्ष का सबसे बड़ा बैंक था। यह बैंक सरकार के बैंकिंग कार्य करने का एकमात्र अधिकारी था, यह तमाम सरकारी अमानतो को बिना-व्याज जमा करता था, जहाँ-जहाँ इसकी शाखाएँ थी, वहाँ यह सरकारी कोषाध्यक्ष का कार्य करता था और सरकार के खाते मे जमा होने वाली रकमें सर्वसाधारण से वसूल करता था। यह भारत सरकार के सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करता था।

अब इस बैंक के मुख्य-मुख्य कार्य निम्नलिखित है :—

१—रिजर्व बैंक के हिस्सों, सरकार से सहायता-प्राप्त रेलवे कम्पनियों के ऋण-पत्रों (सिक्यूरिटियो), और मिश्रित पूँजी वाली कम्पनियो के ऋण-पत्रों (डिबेंचर) की जमानतो पर ऋण देना।

२—डिबेंचर या अन्य सिक्यूरिटियाँ बेचना।

३—प्रान्तीय सरकारों की स्वीकृति से कोर्ट-आफ-वार्ड्स के कृषि कार्य के लिए, अधिक से-अधिक नौ महीने के वास्ते, ऋण देना।

४—हुडियाँ या अन्य साख पत्र जारी करना, सकारना, क्रय-विक्रय करना।

५—सोना-चाँदी क्रय-विक्रय करना, दूसरों का रुपया जमा करना, सुरक्षित रखने के लिए ऋण-पत्र लेना, कृषि के वास्ते नौ मास तक के लिए और अन्य कार्यों के लिए छः मास तक के लिए ऐसी हुडियों को खरीदना और जारी करना, जो देश से बाहर भुगताई जायँ।

६—बैंक की सम्पत्ति के आधार पर उधार लेना और प्राय. अन्य सब बैंकिग कार्य करना, जिसमे विदेशी विनिमय का कारोबार भी सम्मिलित है।

इम्पीरियल बैंक भारतवर्ष के उन स्थानो मे रिजर्व बैंक का एकमात्र एजेन्ट है, जहाँ रिजर्व बैंक की कोई शाखा न हो और इम्पीरियल बैंक की शाखा हो। रिजर्व बैंक की स्थापना के समय इम्पीरियल बैंक की जितनी शाखाएँ थी, उतनी शाखाएँ इसे जारी रखनी होती हैं। इन कार्यों के लिए रिजर्व बैंक इम्पीरियल बैंक को निर्धारित रुपया देता है। यदि इम्पीरियल बैंक अपनी किसी शाखा के बदले दूसरी शाखा स्थापित करे तो उसे रिजर्व बैंक की अनुमति लेनी होती है।

इस बैंक की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने के लिए आगे इसका ५ नवम्बर १६४८ का साप्ताहिक व्योरा दिया जाता है।

इम्पीरियल बैंक का हिसाब

(लाख रुपयों मे)

देनी		लेनी	
प्राप्त हिस्सा पूँजी	५,६३	सरकारी सिक्यूरिटियाँ	१६०,७१
सुरक्षित कोष	६,२५	अन्य निर्धारित लगाई पूँजी	११,२६
मुद्दती जमा, सेविंग बैंक,		ऋण	२३,४५
चालू और अन्य हिसाब	२७६,८७	खरीदी हुंडियाँ	४,३६
अन्य देनी	१,५७	नकद साख	५१,३२
		जाकड़ माल	१,५६
		अन्य	१,८५
		अमुद्रित स्वर्ण	......
		नकद (हाथ मे तथा	
		रिजर्व बैंक के पास)	३१३५
		अन्य बैंको के पास	७,४०
योग	२६३,३२	योग	२६३,३२

इस बैंक के कुल ११२५ लाख रुपए के हिस्से बिके हैं। इस रकम में से बैंक को ५६३ लाख रुपए मिल चुके हैं; बाकी ५६२ लाख रु० बैंक अपने हिस्सेदारों से माँग सकता है। बैंक के पास ६२५ लाख रुपए सुरक्षित कोष के रूप मे ऐसे हैं कि वह उन्हे आवश्यकता होने पर काम मे ला सकता है। आम तौर पर बैंक ऐसे रुपए को सरकारी सिक्यूरिटियो मे लगाता है। इस

बैंक के पास भिन्न-भिन्न प्रकार के हिसाबों मे जनता का २७६,८७ लाख रुपए जमा है। १५७ लाख की अन्य फुटकर रकमों सहित इम्पीरियल बैंक को ५ नवम्बर १६४८ को कुल मिला कर २६३,३२ लाख रुपए देना था। बैंक की देनी मे ६२५ लाख रुपए सुरक्षित कोष के भी दिखाए गए हैं। इस रकम का उपयोग पहले तो जनता का हिसाब निपटाने में होता है; इसके बाद जो रुपया शेष बचता है, वह हिस्सेदारों का रहता है।

अब इस बैंक की लेनी का हिसाब लीजिए। इसके पास १६०,७१ लाख रु० की सरकारी सिक्यूरिटियाँ हैं। यह बैंक कानून के अनुसार अपना कुछ रुपया दूसरे कामों मे लगा सकता है। ऐसी रकम ११४६ लाख रु० है। बैंक ने २३४५ लाख रु० थोड़ी मुद्दत के लिए ऋण दे रखा है और ५१३२ लाख रु० नकद साख में है, जो आसानी से मिल सकता है। बैंक ने ४३६ लाख रु० की हुडियाँ खरीद रखी हैं, जैसे-जैसे इन हुँडियों की तारीख आएगी, बैंक इनका रुपया वसूल कर लेगा। बैंक के पास १५६ लाख का जाकड़ माल (इमारतें तथा फर्निचर आदि) है, और इसका ७४० लाख रु० अन्य बैंकों मे जमा है। इसके पास अमुद्रित स्वर्ण नहीं है। क्योंकि रिजर्व बैंक मे जमा किया हुआ रुपया चाहे जब मिल सकता है, इसलिए यह नकद के बराबर है; और उसके साथ जोड़ कर दिखाया गया है। यह रकम ३१३५ लाख रु० है।

रिजर्व बैंक—इस बैंक की स्थापना का विचार कई वर्ष पहले से था, अतत इसका कानून सन् १६३४ ई० में बनाया गया। अब (सन् १६४८) इसका राष्ट्रीयकरण हो गया है। पर उस समय इसे शेअरहोल्डरों (हिस्सेदारों) का ही बैंक बनाया गया था। इसकी हिस्सा-पूँजी पाँच करोड़ रुपए थी। एक-एक हिस्सा सौ-सौ रुपए का रखा गया था। पाँच हिस्से लेनेवालों को एक मत का अधिकार दिया गया था, और एक हिस्सेदार के अधिक-से अधिक दस मत होते थे। बम्बई, कलकत्ता, देहली, मदरास और रगून—इन पाँच स्थानो में बैंक के कार्यालय स्थापित किए गए। इनके अतिरिक्त बैंक की एक शाखा लन्दन में भी खोली गई।

[बर्मा सन १६३५ के विधान के अनुसार भारत से पृथक् किया गया। अब उसका हिसाब अलग रहता है, इसलिए रिजर्व बैंक का रगून का कार्यालय काम नहीं करता। अगस्त १६४७ से पाकिस्तान का निर्माण हो गया है। अप्रेल १६४८ से रिजर्व बैंक उसके लिए अलग नोट निकालता था। जून १६४८ में वहाँ स्वतत्र स्टेट बैंक की स्थापना हो गई। तब से रिजर्व बैंक पाकिस्तान का कार्य नहीं करता।]

रिजर्व बैंक के कार्य—इस बैंक के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं:—
(१) आवश्यकतानुसार नोट जारी करना (२) भारत-सरकार, प्रांतीय सरकारो और देशी राज्यों तथा किसी व्यक्ति के रुपए बिना व्याज जमा करना (३) निर्धारित नियमो के अनुसार, विशेष दशाओं मे अधिक-से-अधिक नौ मास की हुडी सकारना। (४) देशी राज्यों, और स्थानीय-स्वराज्य-सस्थाओ को, तथा अन्य बैंको को सिक्यूरिटियों, हुडियों, या सोना-चाँदी को जमानत पर, और भारत-सरकार तथा प्रांतीय सरकारों को बिना जमानत, तीन मास तक के लिए, रुपया उधार देना। (५) भारत-सरकार, प्रांतीय सरकारों, देशी राज्यो, तथा स्थानीय स्वराज्य-सस्थाओ के लिए सोना-चाँदी खरीदना और बेचना (६) सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध करना। (७) सरकार का लेन-देन सम्बन्धी कार्य करते हुए प्रान्तों की आर्थिक स्थिरता और साख बनाए रखना, लोगों को निर्धारित दर पर रुपए के बदले स्टर्लिंग (कागजी पौंड), और स्टर्लिंग के बदले रुपए देना। (८) निर्धारित नियमों के अनुसार देश के बैंकों का रक्षित धन (रिजर्व) जमा रखना। (यह बैंकों का बैंक है, इसमे अन्य बैंको का रुपया जमा रहता है, जिससे आवश्यकता होने पर यह उनकी सहायता कर सके, और उन्हे आर्थिक सकट से बचा सके)। (९) सहकारी बैंकों को निर्धारित नियमों के अनुसार, तीन मास तक के लिए रुपया उधार देना, और कृषि-साख विभाग रखना, जो कृषि-सहकारी-बैंकों के अधिकारियो और महाजनी सम्बन्धी अन्य सस्थाओं को परामर्श और सहायता दे।

यह बैंक अपना रुपया व्यापार या उद्योग-धधे मे नही लगा सकता, अपने या किसी अन्य बैंक के शेयर नही खरीद सकता, न उन शेयरों की जमानत पर, अथवा अचल सपत्ति (भूमि, मकान आदि) की जमानत पर, रुपया उधार दे सकता है। यह बैंक मुद्दती हुडा जारी नही कर सकता, और न किसी जमा पर व्याज दे सकता है।

जनवरी १९४६ मे जारी किए हुए आर्डिनेन्स के अनुसार भारत-सरकार रिजर्व बैंक को किसी भी बैंक के हिसाब और काम-काज की जाँच का आदेश कर सकती है। रिजर्व बैंक की रिपोर्ट पाने के बाद सरकार जिस बैंक के बारे मे उचित समझे, उस बैंक को नई रकम जमा करने के लिए मना कर सकती है, अथवा उसे गैर-कानूनी घोषित कर सकती है, या उसे कानूनी या स्वीकृत बैंकों की सूची से हटा सकती है।

नोट विभाग और बैंक विभाग—इस बैंक के दो विभाग हैं—नोट विभाग और बैंक विभाग। नोट विभाग से प्रकाशित व्योरे मे चालू नोटों का

विवरण दिया रहता है। बैंक जितने नोट निकालता है, उतने का वह देनदार होता है। इसका वर्तमान ब्योरा पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। यहाँ इस बैंक के बैंक विभाग का ३ सितम्बर १९४८ का विवरण, सारांश रूप में, दिया जाता है।

बैंक विभाग का देना

चुकता मूल धन	५,००	लाख	रु०
रक्षित कोष	५,००		,,
डिपाजिट (जमा)			
(क) सरकार			
(१) केन्द्रीय सरकार	२,३४,२१	,,	,,
(२) अन्य सरकारें	१७,७७	,,	,,
(ख) बैंक	६२,६४		,,
(ग) अन्य	६१,७५	,,	,,
चुकाने वाले बिल	३,५१	,,	,,
अन्य देना	७,५२	,,	,,
योग	४,२७,४१	लाख	रु०

बैंक विभाग का पावना

नोट	३५,६०	लाख	रु०
रुपए (सिक्के)	६	,,	,,
सहायक सिक्के	२		,,
खरीदे हुए बिल			
(१) देशी	२६	,,	,,
(२) विदेशी		,,	,,
(३) सरकारी ट्रेजरी बिल	४,०६	,,	,,
विदेशों में जमा	३,११,२६	,,	,,
सरकार को दिया गया ऋण या उचन्त	२	,,	,,
अन्य ऋण और उचन्त	८	,,	,,
रोजगार में लगाई पूँजी	७३,४८	,,	,,
अन्य पावना	२,५१	,,	,,
योग	४,२७,४१	लाख	रु०

इस ब्योरे से स्पष्ट है कि इस बैंक ने जितने (पाँच करोड) रुपए के हिस्से बेचे, उतने रुपए इसे पूरे मिल चुके हैं। बैंक के पास पाँच करोड

रुपए का सुरक्षित कोष भी है । इसने सरकार के कुल मिलाकर २५२ करोड़ रु० जमा कर रखे हैं । केन्द्रीय बैंक होने के कारण देश के अन्य बैंक को भी इस बैंक मे कुछ रुपया रखना होता है । अन्य बैंकों की तरह यह बैंक डिपाजिट अर्थात् जमा पर सूद नही देता, तो भी इनमे ६१७५ लाख रु० दूसरों के जमा हैं । इसे २५१ लाख रु० की हुंडियों का भुगतान करना है । अन्य मद्दों के अन्तर्गत इसे ७५२ लाख रु० देना है ।

अब इस बैंक के पावने का हिसाब लीजिए । इसके (बैंक विभाग के) पास ३५६० लाख रुपए के नोट हैं, इनके बदले वह नोट-विभाग से स्वर्ण आदि माँग सकता है । बैंक के पास आठ लाख रु० मूल्य के रुपए और सिक्के हैं । इसका ४०६ लाख रु० भारत सरकार को कुछ महीनो के लिए उधार दिया हुआ है, यह "ट्रेजरी-बिल" नाम से दिखाया गया है । २६ लाख रु० की देशी हुंडियाँ खरीदी हुई हैं । भारतवर्ष के बाहर बैंक का ३११२६ लाख रुपये हैं, इसमे ब्रिटिश सिक्यूरिटियाँ आदि शामिल हैं । बैंक का इतना अधिक रुपया देश के बाहर रखना भारतवर्ष के लिए बहुत हानिकारक है । बैंक ने ७३४८ लाख रुपये की रकम रोजगार मे लगा रखी है । इस बैंक का २५१ लाख रु० पावना अन्य विविध मद्दों के अन्तर्गत है ।

रिजर्व बैंक की नीति जब से भारतवर्ष मे केन्द्रीय बैंक की स्थापना की चर्चा होने लगी थी, तभी से यह विवाद आरम्भ हो गया था कि इसे सरकारी बैंक बनाया जाय, या हिस्सेदारो का । भारतीय जनता के प्रतिनिधि चाहते थे कि इसे स्टेट बैंक (सरकारी बैंक) बनाया जाय, क्योंकि उन्हें इस बात की बडी आशका थी कि हिस्सेदारों का बैंक बनने की दशा में इससे भारतवर्ष को यथेष्ट लाभ नही पहुँचेगा, इसपर अधिकांश में विदेशी पूँजीपतियों का नियन्त्रण रहेगा, और यह बैंक भारतीय हितों की उपेक्षा करके भी इगलैंड का हित-साधन करेगा । आखिर, सन् १९३४ में जब इस बैंक की स्थापना हुई तो सरकार ने यहाँ के लोकमत की अवहेलना कर इसे शेअरहोल्डरों अर्थात् हिस्सेदारों का ही बैंक बनाया । बैंक के व्यवहार से यह भली भाँति सिद्ध हो गया कि इसके विषय में जन-प्रतिनिधियों की आशका ठीक ही थी । इस बैंक ने हमेशा सरकार और अगरेज पूँजीपतियों के हित का ध्यान रखा । भारतीय नेताओ ने पौंड और रुपए की विनिमय दर को बदलने का बहुत प्रयत्न किया, पर इस बैंक ने उनका समर्थन नहीं किया । इस बैंक को चाहिए था कि कृषि, व्यापार तथा उद्योगों के लिए पूँजी प्राप्त करने मे सहायक हो । पर बैंक ने यह कुछ नहीं किया । गत वर्षों में अनेक नए-नए बैंक खुल गए, जिनकी पूँजी की व्यवस्था और कार्य-

शैली बहुत सदोष थी। रिजर्व बैंक ने उनका नियन्त्रण नही किया। इस बैंक की सहायता न मिलने के कारण कई अच्छे-अच्छे बैंक फेल हो गए। युद्ध-काल (१६३६ ४५) मे सरकार ने जैसे-जैसे मुद्रा की आवश्यकता समझी, इस बैंक ने अधाधुन्ध नोट छाप कर उसकी पूर्ति की। इसका नतीजा यह हुआ कि यहाँ मुद्रा-प्रसार भयकर रूप से बढ गया, उपभोग-पदार्थों के भाव बेहद चढ गए, मुनाफेखोरी, चोरबाजारी और इनके साथ रिश्वतखोरी भी खूब बढी। इस प्रकार देश के इस वर्तमान सकट के लिए, इस बैंक की नीति भी बहुत कुछ उत्तरदायी है।

बैंक का राष्ट्रीयकरण—पहले कहा गया है कि इस बैंक की स्थापना के समय ही इसे सरकारी बैंक बनाए जाने की माँग थी। पीछे युद्ध-काल मे तथा उत्तरोत्तर काल से सभी जगह व्यापक आर्थिक आयोजना की आवश्यकता बहुत बढ गई। अनेक राष्ट्रो ने अपने केन्द्रीय बैंको का राष्ट्रीयकरण कर डाला। जब (सन् १६३५ मे) रिजर्व बैंक स्थापित हुआ ससार में ऐसे ११ बैंक थे, जिन पर राज्य का स्वामित्व था। पीछे केनेडा, डेनमार्क, न्यूजीलैंड ने अपने केन्द्रीय बैंको को हिस्सेदारो के बदले, सरकारी बैंको में बदल दिया। दूसरे महायुद्ध से इस दिशा मे और भी प्रगति हुई; ब्राजील, रूमानिया, नेदरलैन्ड, हगरी, बलगेरिया, चेकोस्लेविया, नारवे, फ्रास और इगलैन्ड भी उक्त सूची में आ गए। यह सूची क्रमशः बढती जा रही है।

भारतवर्ष मे खास कर पिछले दो वर्ष से रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग पर जोर दिया जाने लगा। आखिर, १ जुलाई १६४८ से पाकिस्तान द्वारा अपना अलग सेन्ट्रल बैंक बना लिए जाने पर भारत-सरकार इस स्थिति में हुई कि वह रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण स्वीकार करे। सितम्बर १६४८ से यह बैंक भारतीय सघ का राष्ट्रीय बैंक है। इसमें अब व्यक्तिगत हिस्सेदार नहीं है। सरकार ने उनके हिस्सो के लिए मुआवजा देकर बैंक का प्रबन्ध और नीति-संचालन अपने अधिकार में ले लिया है।

इस बैंक का राष्ट्रीयकरण कर के सरकार अपनी राष्ट्रीयकरण की योजनाओं को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में एक ठोस और गम्भीर कदम उठा रही है। आवश्यकता है कि बैंक की कुशलता और दक्षता मे कमी न आवे; ये वैसी ही बनी रहे जैसी अब तक थी। आशा है, सरकार इसका यथेष्ट ध्यान रखेगी।

एक्सचेंज बैंक—एक्सचेंज बैंक या विनिमय-बैंक उन्हे कहते हैं जो भारतवर्ष के विदेशी व्यापार का भुगतान करे। इन बैंको की स्थापना अस्सी वर्ष

से हुई है। पहले योरपीय महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद भारतवर्ष का कई देशो से व्यापारिक सम्बन्ध बढने के कारण, उन देशों के बैंकों को यहाँ अपनी शाखाएँ खोलने मे प्रोत्साहन मिला, उससे यहाँ इन बैंको की सख्या बढी। अब इनकी कुल सख्या १९ है, जिनमे से केवल एक भारतीय है। इन बैंकों में से कई एक का प्रधान कार्यालय लन्दन मे है, और, शेष का जापान, फ्रास जर्मनी, अमरीका आदि देशो मे है। कुछ बैंक तो अपना अधिकाश कारोबार भारतवर्ष मे ही करते है, परन्तु अधिकाश उन बडी-बड़ी विदेशी बैंकिंग सस्थाओ की शाखाएँ और एजसियाँ मात्र हैं, जो अपना कारोबार भिन्न भिन्न देशों मे करती है। इन बैंका मे से प्रत्येक की कुछ शाखाएँ भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न स्थानो मे स्थापित है।

भारत के विनिमय-बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाते हैं, भारतवर्ष के निर्यात कर्ताओं से हुंडियाँ खरीदते है, और व्याज काटकर उनका रुपया विलायती बैंकों से, अथवा समय पूरा होने पर स्वय उन व्यापारियों से लेते हैं। ये अपने लन्दन के कार्यालयों द्वारा इगलैंड के निर्यात-कर्त्ताओं की हुंडियाँ भी मोल लेते हैं। इस प्रकार ये भारतवर्ष के आयात-व्यापार मे भी भाग लेते हैं। निर्यात-व्यापार पर तो इनका आधिपत्य-सा है। इन बैंकों द्वारा यहाँ खरीदी हुई हुंडियों का रुपया इगलैंड मे, और इगलैंड मे खरीदी हुई हुँडियों का रुपया यहाँ मिल जाता है।

विनिमय-बैंक विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाने के अतिरिक्त अन्य प्रकार का बैंकिंग कार्य भी करते हैं। इनमे भारतवासियों की अमानत की रकम उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। सन् १९४३ मे यह रकम १४० करोड़ रु० थी।

कुछ समय से बम्बई मे एक विदेशी विनिमय-बैंक स्थापित है। इस प्रकार का यही एकमात्र भारतीय बैंक है। विदेशों मे इसकी शाखाएँ बढने की बहुत आवश्यकता है।

बीमा-कम्पनियाँ—बैंकों के प्रसग मे बीमा कम्पनियो का भी विचार किया जाना आवश्यक है; कारण ये लोगों को न केवल सेविंग बैंको की तरह, वरन् उनसे भी अधिक, वचत करने के लिए प्रेरित करती हैं। बैंक मे रुपया जमा करते रहना तो जमा करनेवाले की इच्छा पर निर्भर है। पर बीमा कराने वाले को तो निश्चित समय पर आगे की किस्तों का रुपया जमा करना ही पड़ता है, अन्यथा जमा किए हुए रुपए की हानि की आशंका है। इसलिए बीमा करने-वाला, जैसे भी बनेगा, इसके लिए बचत करने का प्रयत्न करेगा। इस

प्रकार बीमा-कम्पनियो मे लोगो का बहुत सा रुपया जमा हो जाता है। ये कम्पनियाँ लोगों की जमा की हुई बचत के द्वारा उद्योग-धधा करनेवालों के डिबेन्चर (ऋण पत्र) खरीदकर उनके काम मे खूब सहायक होती हैं।

बीमा किसी वस्तु की आग या बाढ आदि से सुरक्षा के लिए होता है। बीमा-कम्पनी किसी चीज का, उसकी मालियत के अनुसार निर्धारित दर से अपनी फीस लेकर बीमा करती है। उदाहरण के लिए अगर कोई जहाज डूब जाय या मकान मे आग लग जाय तो उसका जितनी रकम का बीमा किया हुआ होगा, उतनी रकम देने का दायित्व बीमा कम्पनी पर रहता है। बीमा आदमी (या पशु आदि) की जिन्दगी का भी होता है। जितने समय का तथा जितने रुपए का बीमा कराना होता है, उसके अनुसार निर्धारित किस्तो मे, किसी बीमा कम्पनी मे रुपया जमा कराया जाता है। बीमा किए हुए आदमी के मियाद से पहले मर जाने की दशा मे, जितने का बीमा कराया गया है, वह पूरी रकम उसके उत्तराधिकारी को मिलेगी। यदि उस आदमी के जीवन-काल में ही बीमे की मियाद पूरी हो जाय तो उसे बीमे की पूरी रकम और निर्धारित सूद या मुनाफा मिल जाता है।

इस वर्ष (१६४८) भारतवर्ष मे कुल बीमा-कम्पनियाँ ३३४ हैं, इनकी जगह-जगह विविध शाखाएँ हैं। सन् १६४५ मे बीमा-कम्पनियाँ ३३० थीं; इनमें से २३४ भारतीय थी, और शेष विदेशी, जिनमे से दो-तिहाई इगलैंड की थी। भारतीय बीमा-कम्पनियाँ अधिकतर जीवन-बीमा करती हैं, और विदेशी कम्पनियाँ जहाजों का, या आग सम्बन्धी बीमे का कार्य करती हैं। गत वर्षों मे बीमा-कम्पनियो की सख्या और कार्य मे खासी प्रगति हुई है, तथापि भारतवर्ष की जनसख्या की दृष्टि से स्थिति सतोषप्रद नही है। सन् १६४५ मे २१ लाख आदमी ऐसे थे, जिनकी जिन्दगी का बीमा हुआ था; बीमे में दी जाने वाली रकम ४४३ करोड रुपए थी।

भारतवर्ष की बैंक सम्बन्धी आवश्यकताएँ—भारतवर्ष मे बैंकों की आवश्यकता दिन-दिन बढती जा रही है। लोगों मे अपनी बचत का रुपया महाजनो के पास अथवा मिश्रित पूँजीवाले तथा दूसरे बैंकों मे जमा करने की रुचि बढ़ रही है। तथापि यहाँ की आवश्यकताओं को देखते हुए बैंकों की बहुत कमी है। उदाहरण के लिए, कृषि की सहायता के वास्ते यहाँ बैंकिंग की क्या व्यवस्था है? एक्सचेज बैंकों का तो एकमात्र लक्ष्य विदेशी व्यापार की सहायता करना है। रिजर्व बैंक भी कृषि की विशेष सहायता नहीं कर सका है। मिश्रित पूँजी के बैंकों का क्षेत्र देशी व्यापार है। सहकारी बैंक

कृषि के लिए कुछ करते धरते हैं, पर उनकी शक्ति कितनी अल्प है, यह पहले बताया जा चुका है।

यही बात उद्योग-धधों के सम्बन्ध मे है। यहाँ अधिकतर बड़े-बडे बैंक विदेशी पूँजी के, और विदेशी प्रबन्ध वाले हैं। उनका इस ओर ध्यान ही नही होता तथा उनसे यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वे यहाँ की परिस्थिति से पूर्णतया परिचित हों, और यहाँ की औद्योगिक उन्नति से यथेष्ट क्रियात्मक सहानुभूति रक्खें। अस्तु, यह स्पष्ट है कि देश के आर्थिक उत्थान के वास्ते विशेषतया कृषि और उद्योग-धधों के लिये, विशेष प्रकार के औद्योगिक बैंकों की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

अभ्यास के प्रश्न

१—मिश्रित पूँजी वाले बैंको तथा महाजनो के विविध कार्यो की विवेचना कीजिए। (१६३८)

२—भारत की ग्रामोण ऋणग्रस्तता के क्या कारण हैं? सहकारी साख-समितियाँ इस प्रश्न को हल करने मे कहाँ तक सफल हुई हैं? (१६३७)

३—रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कार्यों को विस्तार पूर्वक समझाइए। (१६३७)

४—भारत मे कितने प्रकार के बैंक पाये जाते हैं? उनके कार्यो की सक्षेप मे विवेचना कीजिए। (१६३६, १६३४)

५—सहकारी साख के उद्देश्यों को समझाइये। इससे किसानों तथा दस्तकारों को क्या लाभ होता है? यू० पी० मे क्यों इसकी वृद्धि तीव्र गति से नही होती? सकारण लिखिए। (१६३६)

६—आपकी ओर कौन कौन सी सस्थाएँ किसानो, दस्तकारों, तथा उद्योग-धधो व व्यापार वालों को आर्थिक सहायता देती हैं? उनकी कार्य-प्रणाली मे आप क्या रद्दोबदल करना चाहेंगे? (१६३५)

७—बैंक के कार्यो का विश्लेषण कीजिए। भारत के बैंक सम्बन्धी व्यवस्था मे महाजनों, जाइंट स्टाक बैंकों, व इम्पीरियल बैंक के महत्त्व की तुलनात्मक विवेचना कीजिए। (१६३२)

८—'एक्सचेन्ज बैंकों द्वारा भारत को बहुत लाभ पहुँचता है'। 'अन्य व्यापारों की अपेक्षा बैंक वाला अधिक जिम्मेदारी उठाता है।' उक्त कथनो की विवेचना कीजिए। (१६२६)

———

बत्तीसवाँ अध्याय

विनिमय की दर*

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन—पहले बताया जा चुका है कि भारतवर्ष में बहुत सी विदेशी चीजों का उपभोग होता है। यद्यपि गत वर्षों में स्वदेशी-प्रेम, खादी-प्रचार, गृह-शिल्प तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति की भावना से इसमें जनता की कुछ अरुचि हुई है, और युद्ध-काल मे तथा उसके बाद भी विदेशी माल की आयात पहले की तरह सुविधाजनक नहीं रही है, तथापि अब भी यहाँ कितना ही माल विदेशों से आता है। साथ ही दूसरे देश भारतवर्ष से कई चीजे मंगाते हैं। इस आयात-निर्यात के सम्बन्ध मे विशेष बातों का विचार अगले खड मे किया जायगा। यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना अभीष्ट है कि भारतवर्ष का दूसरे देशों से व्यापारिक सम्बन्ध है, इसलिये तथा अन्य कारणों से भी कभी उसे दूसरे देशों को रुपया देना होता है और कभी उनसे लेना होता है।

भारतवर्ष का दूसरे देशों से लेन-देन इंगलैंड के पौंड नामक सिक्के में होता है। जब भारतवर्ष को किसी देश का रुपया देना होता है, तो पौंड के रूप मे देता है; इसी प्रकार जब रुपया लेना होता है तो पौंड के द्वारा लेता है। सन् १९३१ ई० से इंगलैंड मे कागजी पौंड का चलन है, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने विदेशी व्यापार के लिये कागजी पौंड के बदले में स्वर्ण-पौंड दिए जाने की व्यवस्था कर रखी है। स्वर्ण-पौंड प्रामाणिक सिक्का होने के कारण दूसरे देशो के सिक्कों से बदला जा सकता है, रुपया नहीं बदला जा सकता, क्योंकि अधिकतर देशों मे चाँदी के सिक्कों का चलन नहीं है, और चलन हो भी तो हमारा रुपया सांकेतिक सिक्का होने के कारण अन्य देशवाले उसे यहाँ के सांकेतिक मूल्य पर लेना स्वीकार नहीं करते।

भुगतान की विधि; सरकारी हुँडियाँ—भिन्न भिन्न देशों के लेन-देन का भुगतान करने के लिये हमेशा सिक्कों की आवश्यकता नहीं होती।

---

* इस अध्याय मे 'विनिमय' शब्द का प्रयोग 'विदेशी विनिमय' के अर्थ मे किया गया है।

उदाहरण के लिये पहले ऐसी व्यवस्था थी* कि यदि हमे इगलैंड के व्यापारियों से अपने निर्यात-माल की कीमत लेनी होती, और 'होम चार्जेज' (इगलैंड मे होनेवाले भारतवर्ष सम्बन्धी विविध खर्च) आदि के लिए भारत मत्री को रुपया भेजना होता तो भारत-मन्त्री इगलैंड के व्यापारियों के हाथ भारत-सरकार के नाम हुंडियाँ (कौंसिलबिल) बेचकर हमारा रुपया जमा कर लेते। जो लोग हुँडियाँ खरीदते, वे उन्हे यहाँ भेज देते, और यहाँ के व्यापारी सरकार या बैंकों से हुंडियो का रुपया वसूल कर लेते। इस प्रकार इगलैंड के व्यापारी भारतीय व्यापारियो को, और भारत-सरकार भारत-मत्री को, बहुत सी नकदी भेजने की असुविधा और जोखिम से बच जाती थीं।

कभी-कभी ऐसा भी होता था कि फसल अच्छी न होने आदि के कारण जब यहाँ से इगलैंड को माल कम जाता था, तो हमे इगलैंड को रुपया देना रहता था। इस दशा मे भारत-सरकार भारत-मन्त्री पर की हुई हुंडियाँ† बेचती थी और वहाँ व्यापारियो से रुपया लेती थी। भारतीय व्यापारी भारत-सरकार से हु डी खरादकर इगलैंड के व्यापारियों के पास भेज देते थे, और इगलैंड के व्यापारी उन हु डियो के बदले भारत-मन्त्री से सावरेन (पौंड) ले लेते थे। भारत-मन्त्री और भारत-सरकार, जल्दी भुगतान करने के लिए तार द्वारा भी व्यापारियों का काम कर देते थे। इसमे खर्च कुछ अधिक होता है।

जब विलायत के व्यापारियो को यहाँ अधिक भुगतान करना होता था, तो सरकारी हुंडी की माँग बढ़ जाती थी, अर्थात् अगरेजी सिक्के के हिसाब से भारतीय सिक्के का मोल बढ़ जाता था; या यो कह सकते हैं कि हमारे विनिमय का भाव चढ़ जाता था। यह भाव इसी कदर चढ़ सकता था कि इगलैंड के व्यापारियो को नकद रुपए भेजने की अपेक्षा हु डी द्वारा भेजने में अधिक व्यय न करना पड़े। उदाहरण के लिए, इंगलैंड के किसी व्यापारी को भारत मे १५) रु० भुगतान करना होता और उसके भेजने मे छः आने

---

* सन् १६२७ से इस व्यवस्था मे परिवर्तन हो गया। 'कौंसिल-बिल' की जगह स्टर्लिंग पौंड ने ले ली, और उसकी बिक्री का काम इम्पीरियल बैंक की लन्दन की शाखा द्वारा किया जाने लगा। अप्रेल १६३५ से यह कार्य भारत के रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया।

† इन हुडियों को उलटी हुँडियाँ (रिवर्स-कौंसिल-बिल) कहते हैं।

खर्च होते, तो वह भारतमत्री की १५) की हुडी को १५।=) तक में लेने को तैयार हो जाता था।

विनिमय की दर का आधार—'विनिमय की दर' शब्द समूह व्यवहार, भिन्न-भिन्न देशों के पृथक्-पृथक् सिक्कों के पारस्परिक भाव के लिए होता है। भारतीय दृष्टि से रुपए, आने, पाइयों के जिस भाव से पौंड, शिलिंग, पेंस बन सकते हैं, उसे विनिमय की दर कहते हैं। इंगलैंड, अमरीका आदि देशों में एक ही धातु (सोने) के प्रामाणिक सिक्के प्रचलित हैं। इनमें विनिमय की दर में घट-बढ नहीं होती, जितनी चीन और भारत जैसे देशों में जहाँ चाँदी के सिक्के अपरिमित रूप से कानून ग्राह्य हैं। सोने के भिन्न-भिन्न प्रामाणिक सिक्कों के परिवर्तन में दो बातों का ख्याल रखना होता है:—१—अगर एक सिक्का दूसरे देश को भेजा जाय, तो रास्ते का खर्च लगाकर उसकी कीमत क्या होगी? (जब विनिमय की दर, सिक्के की धातु की कीमत और भेजने के खर्च से ज्यादा होती है, तो लोग सिक्के ही पार्सल द्वारा, भेजने लगते हैं।), २—प्रत्येक सिक्के की टकसाली दर क्या है?

टकसाली दर—सोने के प्रामाणिक सिक्के रखनेवाले देशों के उन सिक्कों में लगे हुए असली सोने के परिमाण के पारस्परिक सम्बन्ध को "टकसाली दर" कहते हैं। उदाहरण के लिए यह दर बतलाएगी कि एक पौंड (इंगलेंड का सिक्का) में जितना सोना रहता है उतना कितने फ्रैंक (फ्रॉस का सिक्का) में पाया जायगा। जब तक कोई देश अपने प्रामाणिक सिक्के की धातु का परिमाण न बदल दे, उसके सिक्के की, अन्य देशों के प्रामाणिक सिक्कों में टकसाली दर नहीं बदलती, क्योंकि टकसाली दर तो सिक्कों के असली सोने का पारिमाणिक सम्बन्ध मात्र है। परन्तु ऐसी परिस्थिति वाले देशों में, जिनमें एक का स्टैंडर्ड-सिक्का तो सोने का और दूसरे का चाँदी का हो, टकसाली दर हमेशा बदलती रहती है, कारण, चाँदी की सोने में कीमत बदलती रहती है। यही दशा भारत में सन् १८६३ ई० के पहले थी। हमारा प्रामाणिक सिक्का (रुपया) चाँदी का था, और इंगलैंड तथा अन्य कई देशों का, सोने का। इसलिए जैसे-जैसे चाँदी की सोने में कीमत बदली, वैसे-वैसे भारत की टकसाली दर भी बदल गई। परन्तु अब तो भारत में कोई प्रामाणिक सिक्का है ही नहीं। रुपए की बाजारू कीमत, उसमें जो चाँदी है, उसकी कीमत से कहीं अधिक है। इसलिए अब भारत और अन्य देशों के बीच में कोई टकसाली दर नहीं हो सकती।

भारतवर्ष की विनिमय-दर सन् १६१६ ई० तक—इस देश का प्रचलित सिक्का रुपया है, और विदेशी व्यापार में पौंड का व्यवहार होता है, अतः रुपये और पौंड का पारस्परिक मूल्य का विषय अत्यन्त महत्त्व का है। सन् १८६३ ई० मे भारत-सरकार ने एक रुपये का कानूनी मूल्य एक शिलिंग चार पेंस निर्धारित किया। पहले योरपीय महायुद्ध (१६१४-१८) के प्रारम्भ तक विनिमय की दर प्रायः १ शिलिंग ४ २५ पेंस से अधिक नहीं बढी, और न १ शिलिंग ३ ६३ पेंस से नीचे ही गिरी।*

युद्ध-काल मे भारत से बहुत-सा अन्न आदि इंगलैंड गया, पर वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। संसार मे चाँदी आवश्यकतानुसार प्राप्त न होने के कारण, उसका भाव चढता गया। अत. कौंसिल बिलो का भाव धीरे-धीरे बढाना पडा। १ अगस्त, सन् १६१७ ई० को एक रुपये के बदले मे १ शिलिंग ५ पेंस मिलते थे, १५ अप्रैल सन् १६१८ ई० को यह दर १ शिलिंग ६ पेंस, और १ मई १६१६ ई० को १ शिलिंग ८ पेंस, हो गई। (क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह दर १ फरवरी सन् १६२० ई० को २ शिलिंग ८ ५ पेंस तक चढ़ गई।

सन् १६१६ ई० की करेंसी-कमेटी—विनिमय मे अभूतपूर्व गड़बड़ी होते देख, मुद्रा-व्यवस्था के प्रश्न पर विचार करने के लिए सरकार ने मई, १६१६ ई० मे एक करेंसी कमेटी नियत की। इसमे श्रीयुत दादीबा मिरवानजी दलाल ही एक मात्र हिन्दुस्तानी सदस्य थे, और शेष सब सदस्य अँगरेज। श्री० दलाल ने अपना मत अलग प्रकट किया, और, सब अँगरेज सदस्यो का मत अलग रहा।

भारत-सरकार का निर्णय—भारत-मन्त्री ने श्रीयुत दलाल की सलाह न मानकर बहुमत की ही सलाह को स्वीकार किया। और, भारत-मन्त्री के आज्ञानुसार भारत-सरकार ने अपनी सूचनाएँ प्रकाशित की। सावरेन का कानूनी भाव दस रुपये कर दिया गया। सोने का आयात कुछ समय के लिए सरकार ने अपने हाथ मे रखा, जिससे यहाँ सोना लाकर उसका भाव गिरा दिया जाय। सावरेन और आधे सावरेन के बदले मे रुपया देना बन्द कर दिया गया।

जिस समय करेंसी-कमेटी ने इस प्रश्न पर विचार करना आरम्भ किया

---

*आवश्यकतानुसार कौंसिल-बिल (भारत-सरकार पर की हुई हुंडियाँ) और रिवर्स-कौंसिल-बिल (भारत-मत्री पर की हुई हुंडियाँ) निकालकर विनिमय की यह दर स्थिर बनाये रखने मे सहायता की गई।

था, यहाँ रुपये की दर बहुत बढी हुई थी; तथा बढती जा रही थी। परन्तु वह वृद्धि स्थायी नहीं थी। दर बढने का विशेष कारण था, युद्ध-काल में भारत से इगलैंड का माल बहुत अधिक गया तथा वहाँ से यहाँ बहुत कम सामान आ सका। पीछे इस स्थिति का बदलना अनिवाय था, और वह बदली। अस्तु, अस्थायी स्थिति लक्ष्य मे रखकर उपर्युक्त स्थायी व्यवस्था का किया जाना अनुचित था। अतः सरकार के इस निर्णय का घोर विरोध हुआ। साधारण नियम है कि जिस देश की मुद्रा की दर अन्य देशों की मुद्रा की तुलना मे कुछ नीची होती है, उस देश का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सतुलन उसके पक्ष मे होता है, अर्थात् उसकी निर्यात अधिक होती है, और आयात कम होती है। भारत-सरकार का रुपये की ऊँची दर कायम करने का उपर्युक्त निर्णय इस देश के लिए बहुत हानिकर सिद्ध हुआ, यहाँ का निर्यात-व्यापार बहुत घट गया और व्यापार-सतुलन इस देश के विपक्ष मे हो गया। देश को प्रतिवर्ष बहुत हानि उठानी पडी। विनिमय की दर मे कमी करने को माग उत्तरोत्तर प्रबल होने लगी।

हिलटनयंग कमीशन—आरम्भ मे सरकार ने कुछ ध्यान न दिया। जनता का असतोष तथा हानि बढती गई। अन्त में अगस्त सन् १६२५ ई० मे, जब सरकार ने यह समझा कि परिस्थिति काफी स्थायी हो गई है, मुद्रा तथा विनिमय पर विचार करने के लिए एक शाही कमीशन नियत किया गया, जो अपने सभापति के नाम से हिलटनयग कमीशन कहलाया। इसकी रिपोर्ट अगस्त सन् १६२६ ई० मे प्रकाशित हुई। रिपोर्ट मे सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का मत-भेद था।

कमीशन (के बहुमत) ने भारतवर्ष मे सोने के सिक्के का प्रचलन उचित नहीं समझा, और न यही कि रुपये के बदले मे सोने का निर्धारित परिणाम कानून से निश्चित किया जाय। उसको सिफारिशों मे से मुख्य ये थी :— १—रुपये को विनिमय-दर एक शिलिंग छः पेस हो। २—कागजी-मुद्रा-कोष और मुद्रा-ढलाई-लाभ कोष मिलाकर इकट्ठे रखे जायँ। ३—रिजर्व-बैंक स्थापित किया जाय।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास का विशेष विरोध भारतीय विनिमय-दर के सम्बन्ध मे था। उनका मत था कि सितम्बर १६२४ ई० मे रुपए की दर लगभग एक शिलिंग चार पेस थी, और यही दर अधिक उपयुक्त एव स्थायी है, तथा भारतवर्ष के हित की दृष्टि से उचित है।

सरकार ने कमीशन के बहुमत की रिपोर्ट पसन्द की और उसके आधार

पर जनवरी १६२७ मे तीन कानूनो के मसविदे प्रकाशित किए, जिनके उद्देश्य ये थेः—(१) ब्रिटिश भारत के लिए स्वर्ण-परिमाण-मुद्रा का चलन और रिजर्व बैंक की स्थापना (२) सन् १६२० ई० के इम्पीरियल-बैंक-कानून का सशोधन, और (३) सन् १६०६ ई० के मुद्रा-कानून तथा १६२३ ई० के कागजी मुद्रा कानून का सशोधन। नया मुद्रा-कानून अप्रैल सन् १६२७ ई० से अमल मे आया इसके अनुसार सावरेन और अर्द्ध-सावरेन कानून ग्राह्य सिक्के न रहे। रुपए की दर एक शिलिग छः पेस निर्धारित कर दी गई।

२१ सितम्बर १६३१ ई० से ब्रिटिश सरकार ने इगलैंड मे सोने के प्रामाणिक सिक्के का प्रचार स्थगित कर दिया। उस समय से कागजी पौंड की दर स्वर्ण-पौंड से भिन्न हो गई। अब एक कागजी पौंड के बदले उतना सोना नही मिलता, जिसका मूल्य एक स्वर्ण-पौंड के बराबर हो। भारत की विनिमय-दर भी कागजी पौंड के साथ ही स्थिर की गई, वह एक शिलिग छः पेस स्टर्लिंग (कागजी पौंड) के बराबर रखी गई। भारतीय नेताओं का मत यह था कि यह दर एक शिलिग चार पेस हो।

विनिमय-दर ऊँची होने का प्रभाव—भारत-मन्त्री और भारत-सरकार की यह राय रही कि भारतवर्ष की विनिमय-दर ऊँची रहने से इस देश को लाभ है। रुपए का भाव सोने और सावरेन मे बढ जाने अर्थात् १६ पेंस के बदले १८ पेंस रहने के पक्ष मे ये बाते कही गई —विलायती माल का भुगतान करने मे, रुपया कम देना होता है, विदेशी माल सस्ता पड़ता है, और मशीन आदि मँगाने मे कम व्यय होने से यहाँ के व्यवसाय को सहायता मिलती है। (२) होम चार्जेज का भुगतान थोड़े रुपयो मे ही हो जाने से प्रति वर्ष कई करोड रुपए की बचत होती है। (३) भारतवर्ष मे बहुत-सी विदेशी वस्तुओं का उपभोग होता है, विनिमय-दर ऊँची रहने से वे वस्तुएँ यहाँ कम मूल्य मे मिलती हैं। (४) जिन भारतीयो को इगलैंड आदि मे रुपया देना होता है, वे अपेक्षाकृत कम रुपया देकर ही अपने ऋण से मुक्त हो सकते हैं। (५) अंगरेजों या अन्य देशवालों की बचत या पेंशन आदि का रुपया यहाँ से बाहर भेजने मे उन्हे या उनके परिवारवालो को अपेक्षाकृत अधिक धन मिलता है।

यह तो हुई लाभ की बात, अब हानि का विचार कीजिए। (१) भारत की विनिमय-दर बढी होने से जर्मनी आदि योरपीय देश तथा अमरीका भारतवर्ष का माल कम खरीदते है, इसका प्रभाव विशेषतया भारत के गरीब ग्रामीणों पर पडता है, कारण कि यहाँ अधिकाँश मे कच्चे माल की निर्यात होती है, और कच्चा माल पैदा करनेवाले निर्धन किसान ही हैं। भारतवर्ष के

प्रचलित सिक्के का मूल्य बढ़ा हुआ होने से विदेशी व्यापारी भारतीय माल के स्थान पर अन्य देशों का माल खरीदते हैं। विगत वर्षों मे रुई और चावल के व्यवसाय को भारी क्षति पहुँची है। (२) भारतवर्ष मे स्वदेशी माल अपेक्षाकृत महँगा पडता है, उसका उपभोग करनेवालो को अधिक द्रव्य खर्च करना होता है। (३) जिन्हे विदेशवालों से रुपया लेना होता है, उन्हे अपने द्रव्य के बदले कम रुपया मिलता है। (४) विलायती माल सस्ता होने से उसकी खपत यहाँ बढ जाती है, और स्वदेशी व्यवसायो को धक्का पहुँचता है। हमे वैसा सस्ता माल बनाने का अवसर नही मिलता, इससे हमारे उद्योग-धन्धो को बहुत हानि होती है। (५) जो सावरेन या सोना यहाँ सरकारी कोषो मे रखा हुआ है, उसका मूल्य घट जाने से हमे करोडो रुपए की हानि होती है।

इस प्रकार यद्यपि विनिमय की दर ऊँची होने से कुछ लाभ भी है, किन्तु उस लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। भारतीय नेताओ का यह मत रहा कि यहाँ विनिमय की दर कम, अर्थात् एक शिलिग चार पेंस होनी चाहिए। इससे देश के औद्योगिककरण मे सहायता मिलेगी और उसकी आर्थिक उन्नति होगी। इसके लिए कुछ लोगो की थोड़ी-बहुत हानि हो तो वह सहन की जानी चाहिए।

सोने का निर्यात और भारत-सरकार—दूसरे महायुद्ध से कुछ वर्ष पहले सोने के भाव मे तेजी हो रही थी। इस समय भारतवासियो ने अपना बहुत सा सोना बेच डाला और वह विदेशों मे, खासकर इगलैड गया। सरकार से कहा गया कि वह सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगावे और स्वय रक्षित-कोष मे जमा करने या स्वर्ण-मुद्रा जारी करने के लिए खरीद ले। पर उसने यह स्वीकार न किया। इस प्रकार इगलैड ने भारत का ५-६ अरब रुपए का सोना खरीद कर अमरीका को अपने देने मे चुकाया। युद्ध-काल में सोने-चाँदी के भाव और भी तेज होने से निर्यात और भी अधिक हुआ। जब बहुत-सा सोना चाँदी यहाँ से निकल गया तब सरकार ने सोने के निर्यात पर कुछ रोक लगाई वह भी इगलैड के हित की रक्षा करते हुए। फिर, इस बीच मे उसने लदन के रिजर्व बैंक की शाखा मे जमा सोना चाँदी सस्ते भाव मे बेच डाला। उसके इस कार्य का बहुत विरोध हुआ तो उसने कहा कि जिस भाव मे खरीदा था, उससे तेज मे ही बेचा है। स्थिति यह थी कि लदन की अपेक्षा बम्बई मे भाव बहुत बढ़ा हुआ था। पर सरकार ने यहाँ न बेच-कर देश को काफी नुकसान पहुँचाया। उसने देश के हितो की उपेक्षा की, और इसे हानि पहुँचा कर भी इगलैंड का हित-साधन किया।

ऊपर सोने की निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाने की बात आई है। सरकार ने ऐसी व्यवस्था की कि सोना ब्रिटिश भारत के अन्दर तो पहले की भाँति लाया-ले-जाया जाता रहे, परन्तु उसकी आयात और निर्यात उसी दशा मे हो सकती थी, जब रिजर्व बैंक इसके लिए लायसेंस दे दे। आयात के लिए तो लायसेंस प्रायः मिल ही जाते थे पर निर्यात के लिये लायसेंस उसी दशा मे मिलते थे, जब सोना बैंक-आफ-इगलैंड को भेजा जाता, या अगर अमरीका भेजा जाता तो डालर मे होनेवाली आय बैंक-आफ-इगलैंड की ओर से रिजर्व बैंक को बेची जाय। इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर के देशो को तो सोना भेजा जाना रोका गया, पर ब्रिटिश साम्राज्य मे, खासकर इगलैंड मे सोना जाता ही रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-बैंक और कोष—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अच्छी तरह चलाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश की मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्थिर रहे। पहले महायुद्ध के बाद कई देशो ने अपने सिक्के के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य मे बहुत परिवर्तन किए, इससे व्यापार मे बडी उथल-पुथल मची। ऐसी ही स्थिति फिर न आ जाय, इस विचार से दूसरे महायुद्ध के समय मित्र-राष्ट्रों ने ब्रेटिनवुड मे मिलकर एक समझौता किया। उनकी कान्फ्रेंस मे खासकर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-फंड और बैंक की योजना के सम्बन्ध मे विचार किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बैंक का कार्य इस योजना मे सम्मिलित देशो को उत्पादन-कार्य के लिए विदेशी पूँजी लगाने मे सहायता देना, युद्ध के समय बिगड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए सुविधा पहुँचाना, पिछडे हुए देशो को उत्पादन बढाने के लिए धन से सहायता देना, तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लेन-देन की विषमता को दूर करने के वास्ते विदेशी पूँजी को उत्पादन कार्य मे लगाने के लिए प्रोत्साहित करना है।

इस बैंक के समस्त-देशो को अपनी मुद्रा का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य सोने में या डालर मे निर्धारित करना होगा। इसके बाद यदि कोई देश चाहे तो बैंक से विचार-विनिमय करके, उस मूल्य मे दस-प्रतिशत घटा बढी कर सकेगा, अधिक नही।

जो देश इस योजना मे सम्मिलित है, वे ही बैंक के सदस्य हो सकते हैं। बैंक की एक अधिकृत पूँजी रहेगी, जो हिस्सो मे विभक्त होगी। हर एक देश निर्धारित हिसाब से निश्चित सख्या मे उन हिस्सों को खरीद सकेगा। बैंक के सचालन के लिए १२ सदस्यों का बोर्ड होगा, जिनमे से ५ स्थायी होंगे। शेष सदस्य निर्वाचन द्वारा लिए जायँगे।

इस योजना के अनुसार बैंक किसी देश को रुपया तभी उधार देगा जब वह यह समझ लेगा कि उस देश को किसी दूसरी जगह से नही मिल सकता; जब एक विशेषज्ञ-कमेटी यह गारटी कर दे कि जिस कार्य के लिए रुपया लिया जा रहा है, वह आर्थिक दृष्टि से ठीक है; और जब बैंक को यह विश्वास होगा कि व्याज की दर तथा मूलधन की वापसी की शर्तें ठीक हैं। अधिकतर रुपया किसी विशेष योजना के लिए दिया जायगा, और बैंक इस बात का ध्यान रखेगा कि रुपया उसी योजना मे खर्च किया जाता है।*

बैंक की पूंजी और हिस्से—बैंक की पूँजी का प्रारम्भिक परिमाण ८ अरब ८० करोड़ डालर रखा गया है। इसमे अमरीका का हिस्सा २७५ करोड, इगलैंड का १३० करोड़, रूस का १२० करोड, चीन का ५५ करोड़ फ्रास का ४५ करोड़, और भारतवर्ष का ४० करोड डालर है।

कोष मे प्रत्येक देश का हिस्सा इस हिसाब से रहता है—

(अ) सोने मे हिस्से का २५ प्रतिशत, अथवा अपने समस्त सगृहीत सोने और डालर का १० प्रतिशत (जो भी कम हो)।

(आ) शेष हिस्सा अपनी निजी करेंसी मे।

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-बैंक और भारत—पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष का भी इस बैंक मे हिस्सा है, इस प्रकार वह भी इसका सदस्य है। विगत वर्षों मे जब भारत सरकार ने रुपए की विनिमय-दर एक शिलिग छः पेंस घोषित की थी, तब उसका बहुत विरोध हुआ था। पर अन्त मे यही निश्चय रहा कि वर्तमान अनिश्चित अवस्था मे इस दर को बदलना ठीक नही। इस प्रकार यही दर रखी गई।

भारतवर्ष मे उत्पादन कार्य सम्बन्धी सामग्री की बहुत आवश्यकता है। कपड़ा, खाने का सामान तथा अन्य आवश्यक पदार्थों की यहाँ कमी है। इन्हें पैदा करने के लिए जो मशीनें या औजार आदि सामग्री चाहिए वह इगलैंड से बहुत कम मिल सकती हैं, वह तो अधिकतर अमरीका तथा अन्य देशो मे ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार भारत को डालर, तथा अन्य मुद्राओं की बहुत आवश्यकता है। यह आवश्यकता स्टर्लिंग पावनों को (जो इगलैंड को भारत का देना है) दूसरी करेन्सियो मे बदलने से पूरी की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष को इस विषय मे भारत की सहायता करनी चाहिए। यदि यह बैंक खासकर योरपीय देशो के ही हित-साधन का प्रयत्न करेगा तो इसके निर्माण का उद्देश्य सफल न होगा।

---

*'हमारी आर्थिक समस्याएँ'—ले०—श्री० दुबे और अग्रवाल।

मुद्रा-अवमूल्यन—सितबर सन् १९४९ मे इगलैड ने अपने पौड का मूल्य डालर मे कम कर दिया। इसके पहिले एक पौड के बदले मे करीब ४ डालर मिलते थे। अब एक पौड के बदले मे केवल २·८ डालर ही मिलने लगे। इससे डालर मे वस्तुओं का मूल्य करीब ३० प्रतिशत बढ गया। भारत ने रुपये का शिलिग पेंस मे मूल्य १ शिलिग ६ पेंस स्थिर रखना आवश्यक समझा। इसलिए उसने भी अपने रुपये का मूल्य डालर मे करीब ३० प्रतिशत कम कर दिया। पहिले एक रुपये के बदले मे करीब ३० सेंट प्राप्त होते थे। अब २१ सेंट ही निश्चित किए गये है। इससे उन देशो से वस्तुएँ प्राप्त करने मे, जिनमे डालर सिक्का प्रचलित है, भारत को ३० प्रतिशत मूल्य अधिक देना पड रहा है। भारत का माल इन देशों मे सस्ता हो गया है। इसमे भारत के निर्यात व्यापार को कुछ प्रोत्साहन मिला है।

अभ्यास के प्रश्न

१—टकसाली दर कैसे निश्चित होता है ?

२—भारत की विनिमय की दर १ शि० ६ पेंस होने से देशवासियों को क्या हानि लाभ हुए ?

३—सोने की निर्यात किन दशाओं मे देश के लिये हानिकारक है ?

४—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बैंक और कोष से भारत को क्या लाभ होगा ?

५—विनिमय की दर की घटबढ का विदेशी व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

६—मुद्रा-अवमूल्यन से रुपया डालर दर मे क्या परिवर्तन हुआ ?

———

पंचम खंड

वितरण

तैंतीसवाँ अध्याय

लगान (Rent)

वितरण—यदि रामअवतार स्वय सब वस्तुएँ इकट्ठा करके मिट्टी के बर्त्तन बनाता है और फिर उन्हे स्वय बाजार में बेचता है, तो जो पैसे मिलेंगे, उनका वही हकदार होगा। परन्तु यदि मिट्टी तो कल्लू जमा करे, रामअवतार बर्त्तन बनावे और बेचने के लिए रामानद बाजार जावे, तो बर्त्तनो को बेचने से मिलने वाले पैसों मे तीनो का हिस्सा होगा।

दरअसल प्रत्येक आधुनिक कार्य मे भूमि, श्रम, धन, व्यवस्था और साहस को आवश्यकता है। किसी मिल का उदाहरण ले लीजिये। किसी जमीन पर एक करोडपति सब सामान एकत्र करके मिल खड़ी करता है और मजदूर श्रम करते हैं। मैनेजर मिल की व्यवस्था तथा देखभाल करता है। अन्त मे यह भी मानना पडता है कि मिल, मिल-मालिक के साहस के कारण चली। इसलिए मिल मालिक को इस साहस का भी फल मिलना चाहिए। 'वितरण' मे यह विचार किया जाता है कि उत्पत्ति के साधनो के मालिकों अर्थात् जमीदार, श्रमी, पूँजीपति, व्यवस्थापक और साहसी को अपना अपना हिस्सा कितना और किस प्रकार मिलता है। यह तो हम सब जानते हैं कि मजदूरों को हर सप्ताह, पक्ष या महीने तनख्वाह देना पड़ेगा, अन्यथा वे गरीब किस प्रकार अपना खर्च चलावेंगे। इसी प्रकार पूँजीपति को भी तीसरे, छठे या बारहवे मास सूद मिलना चाहिये। पर मिल का हिसाब तो अधिकतर साल के अन्त मे लगता है। तभी यह पता चल सकता है कि कितने का माल बिका अथवा तैयार हुआ। तब यह किस प्रकार निश्चय होवे कि मजदूरों और पूँजीपति का किस दर से मजदूरी व सूद दी जाए। इसी प्रकार भूमि के उपयोग के लिए लगान, मैनेजर की तनख्वाह और साहस के लिये मुनाफा चाहिये। ये सब किस प्रकार से निश्चित होते है यह 'वितरण' मे ही बताया जाता है।

आर्थिक लगान—हम पहले लगान पर विचार करते हैं। भूमि के उपयोग के लिए जमीदार को जो रकम दी जाती है उसे साधारण बोलचाल मे लगान कहते हैं। प्राचीनकाल मे जब भूमि मनुष्यो की अपेक्षा बहुत अधिक

थी, तब प्रत्येक आदमी अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकता था। जनसख्या वृद्धि के कारण भूमि की माँग बढ़ गई। जो भूमि जिसके अधिकार मे थी वही उसका मालिक बन गया। अब अगर किसी के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हुई तो उसने उसके उपयोग का अधिकार दूसरे को देकर उसके बदले मे उत्पत्ति का कुछ हिस्सा, जिसे लगान कहते हैं, लेना आरम्भ किया।

प्रत्येक भूमि की उत्पादकता एक सी नहीं होती किसी भूमि में अधिक पैदावार होती है तो किसी मे कम। इसके अलावा भूमि की स्थिति के कारण भी खर्च विभिन्न होने से उसकी उत्पादकता मे फर्क होता है। यदि ससार मे स्थिति और पैदावार के लिहाज से उत्तम प्रकार की भूमि ही होवे तो मनुष्य कम उत्पादक जमीन मे कभी खेती-बारी न करे। मान लिजिए दो समान खेतो मे क्रमश. बीस और पद्रह मन गेहूँ होता है। अतएव पहले खेत का लगान पाँच मन गेहूँ के बराबर होगा। इसी प्रकार नीचे की सारिणी मे एक खेत मे लगाए गए श्रम और पूँजी की इकाई व उपज दिखाई गई है—

श्रम व पूँजी	कुल उपज (मन मे)	सीमान्त उपज (मन में)
१	१०	१०
२	२५	१५
३	३८	१३
४	४८	१०
५	५६	८

स्पष्ट है कि क्रमागत ह्रास नियम के कारण श्रम व पूँजी की तीसरी इकाई से सीमान्त उपज कम होती जाती है। और उक्त खेत मे श्रम और पूँजी तभी लगाई जायगी, जब तक उसे लगाने का खर्च सीमान्त उपज के बराबर न हो जायगा। यदि श्रम और पूँजी की इकाई का मूल्य आठ मन गेहूँ हो तो उपर्युक्त उदाहरण मे श्रम और पूँजी की केवल ५ इकाइयाँ ही लगाई जायँगी और उपज का परिमाण ५६ मन होगा।

इस ५६ मन मे से श्रम व पूँजी की ५ इकाइयो का खर्च ४० मन निकाल देने से जो कुछ बचेगा वह आर्थिक लगान होगा। उक्त भूमि का मालिक १६ मन गेहूँ आर्थिक लगान के रूप मे माँग सकता है। साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसी खेत का आर्थिक लगान कुल उपज की

कीमत और उत्पादन-व्यय के अतर के बराबर होता है, तथा खेतों की विभिन्न उत्पादकता व क्रमागत-ह्रास-नियम ही के कारण लगान मिलता है। सब खेतों की उत्पादकता बराबर हो तथा क्रमागत-ह्रास-नियम न लागू होवे तो लगान नही पाया जायगा। खेतो से प्राप्त वस्तुओं के मूल्य मे वृद्धि यातायात के साधनों की सुविधा, जनसख्या की वृद्धि तथा उपज के तरीको के सुधार से आर्थिक लगान मे वृद्धि होती है।

लगान के भेद--परन्तु हम ऊपर जिस लगान की बात कर रहे थे, वह उस लगान से भिन्न है जो रामू किसान जमीदार को देता है। रामू जमीदार को जो लगान देता है उसे "कुल लगान" कहा जाता है। कुल लगान मे आर्थिक लगान के अतिरिक्त जमीन मे लगे हुए मूल धन का सूद और जमीन के मालिक का विशेष लाभ भी सम्मिलित रहता है।

लगान का नियम—किसी भूमि का आर्थिक लगान उस पर होने वाली आर्थिक बचत के बराबर होता है। इस आर्थिक बचत को निकालने के लिए कुल उपज से उत्पादन व्यय घटाना पडता है। यह तरीका ऊपर बताया जा चुका है। दूसरा ढग यह है कि खेत की उपज से सीमान्त खेत की उपज घटा दी जाय। सीमान्त खेत वह खेत है, जिस पर जितना उत्पादन-व्यय होता है, उतनी ही उपज होती है। अर्थात् यदि पचास रुपए खर्च किए गए हैं, तो पचास ही रुपए की उपज पैदा होती है। सीमान्त खेत निम्नतम खेत होता है। अन्य खेतों मे जितना व्यय किया जाता है उससे अधिक की उपज मिलती है। अतएव यह मान कर कि प्रत्येक खेत मे एक समान श्रम व पूँजी लगाई जाती है, किसी खेत का लगान उसकी और सीमान्त खेत की उपज के अतर के बराबर होता है।

अभी हमने ऊपर लगान का नियम बतलाया है। यह नियम रिकार्डो द्वारा इस प्रकार प्रतिपादित किया गया था। मान लीजिये कि एक विशेष देश में ३ दर्जे की अ, ब, स भूमि है—जिसमे अ, सबसे अच्छे दर्जे की ब, उससे कुछ खराब तथा स, सबसे खराब। यह भी मान लीजिये कि उस देश में कोई भी मनुष्य नही रहता। परन्तु कुछ समय बाद कुछ आदमी उसमे बाहर से रहने के लिये आ जाते हैं। तब सबसे पहिले अ दर्जे की भूमि पर खेती होगी कारण वह सबसे अच्छी है। जब तक अ दर्जे की भूमि यथेष्ट रहेगी तब तक कोई भूमि के लिये लगान न देगा। परन्तु यदि यह मान लिया जाय कि कुछ समय बाद उस देश को आबादी बढ जाती है तो उस देश विशेष को खाद्य पदार्थ की माँग भी बढ जावेगी। अतएव दूसरे दर्जे

के खेत पर भी खेती होने की शुरुवात होगी। कारण सम्पूर्ण माँग को अ दर्जे के खेत पूरा नहीं कर सकते। इसी प्रकार यदि क्रम रहा तो कुछ समय बाद स दर्जे के खेत पर भी खेती होने की शुरुवात होगी। अब यह मान लिया जाय कि अ दर्जे के खेत से १ एकड भूमि पर २०) की मन की पूँजी और श्रम लगाने से १० मन चना उत्पन्न होता है। परन्तु ब दर्जे के खेत पर २०) की श्रम और पूजी लगाने से केवल ८ ही मन चना १ एकड भूमि मे होता है, और स दर्जे के खेत पर २०) की श्रम और पूजी खर्च करने से ५ ही मन चना १ एकड भूमि मे उत्पन्न होता है। जनसख्या की वृद्धि ही के कारण स दर्जे की भूमि पर खेती की गई है।

अब अ दर्जे के खेत मे १ मन चना का लागत खर्च २), ब दर्जे के खेत मे २ रु० ८ आना और स दर्जे के खेत मे ४) मन पड़ता है। परन्तु बाजार मे तो चने का भाव एक समय के लिये एक ही होगा। वहाँ तो यह नहीं हो सकता कि कोई किसान चने को २) मन के हिसाब से बेचे और कोई ४) मन। वहाँ तो भाव ४) मन ही होगा। यदि बाजार म ४) मन का भाव नहीं है तो स दर्जे के खेत मे खेती नहीं होगी, क्योंकि किसान को उससे (भूमि से) उसका लागत खर्च तो निकलना चाहिये। ऐसी भूमि जिससे लागत खर्च ही निकलता है उसे बिना लगान को भूमि (No Rent Land) कहते हैं। अब यदि ४ रु० मन के भाव से चना बिके तो अ दर्जे के किसान को २०) बचत होगी और ब दर्जे के १२) बचत होगी। बस इसी बचत को आर्थिक लगान कहते हैं।

लगान पर दस्तूर, आबादी, स्पर्द्धा का प्रभाव :—भूमि के पास पास के दो टुकडों मे भिन्न भिन्न गुण होते हैं। अतः गुणों के अनुसार दोनों समान क्षेत्र वाले टुकडों का लगान भिन्न-भिन्न होता है। जब आबादी या कारखानों की वृद्धि या रेल के खुलने के कारण जमीन की माँग बढती है, तो लगान भी बढता है और जब कारखाने टूटने लगते हैं, आबादी कम होने लगती है, तो लगान कम हो जाता है। पहले यहाँ जब तक कोई कृषक दस्तूर के माफिक लगान देता रहता था, तब तक वह अपनी इच्छा के विरुद्ध बेदखल नहीं कराया जा सकता था। पीछे समय समय पर युद्ध, महँगी, और बीमारियों के कारण भारतवर्ष के उपजाऊ भागो की आबादी कम हो गई और जमीदारों को दूर दूर के कृषकों की अपनी अपनी भूमि की ओर आकर्षित करने के लिये आपस मे स्पर्द्धा और कृषको के साथ रियायत करनी पडी। इस प्रकार लगान सम्बन्धी दस्तूर टूटने लगा। किन्तु आजकल

एक दूसरे कारण से भी दस्तूर टूट रहा है। जनता की वृद्धि होने और उपज के बाजार का क्षेत्र बढने से भूमि की माँग बढ गई है।

लगान का नियम और भारतवर्ष—लगान का रिकार्डो का उपर्युक्त नियम भारतवर्ष मे बराबर लागू नही होता। लगान के नियम के लागू होने के लिए यह अनिवार्य है कि किसान और भूमि के मालिक के बीच अबाधित प्रतियोगिता होवे। परन्तु कुछ तो दस्तूर के कारण और कुछ सरकारी कानून के कारण भारत मे यह बात नहीं है। घरेलू उद्योग-धन्धों की अवनति तथा जन-संख्या मे वृद्धि होने के कारण लोग खेती की ओर झुकते हैं। पर भूमि तो परिमित है, अस्तु, प्रतियोगिता के कारण भूमि का लगान बहुत बढ जाता है। अतएव किसानों की भलाइ के लिए यह आवश्यक है कि सरकार बीच मे पडे और कानून द्वारा किसानो को अत्यधिक लगान देने से बचावे।

भारतवर्ष मे प्रचलित मालगुजारी-प्रथा:—भारतवर्ष मे दो प्रकार की मालगुजारी-प्रथा पाई जाती थी—जमीदारी और रैयतवारी।

जमींदारी-प्रथा के अतर्गत किसी गाँव या गाँवों के समूह की मालगुजारी (Land Revenue) सरकार को अदा करने का जिम्मेवार जमींदार होता है।

उस इलाके के समस्त गाँवों की मालगुजारो एकत्रित करने का भार जमींदार पर होता है। भारतवर्ष मे इस प्रथा का चलन मुसलमान काल से प्रारम्भ हुआ। इस प्रथा द्वारा वसूली उगाहने मे बहुत सहूलियत रहती है, तथा बन्दोबस्त के लिए सरकार को अधिक दिक्कत का सामना नही उठाना पड़ता। जमीदार भूमि के मालिक होने से वे भूमि चाहे जिस किसान को दे सकते है। वे स्वत. तो खेती करते नही। भूमि के मालिक होने से किसानों पर चाहे जैसा अत्याचार करना स्वाभाविक ही है। जमीदारो से भी सरकार को अत्यत लाभ है। कारण यह है कि एक निश्चित सख्या के व्यक्ति उनकी आज्ञा को पालन करने के लिये सदैव तैयार रहते हैं। कष्ट के समय तन मन धन से जमीदारो ने सरकार की सहायता की है। इस प्रथा से सरकार एव जमीदार को तो लाभ अवश्य है परन्तु समस्त कृषक जनता को अत्यत कष्ट है। जमींदार किसानों से नजराना लेते हैं। उनसे बेगार भी काफी ली जाती है। जमीदारों का एक ध्येय तो केवल यही रहता है कि जिस तरह बने किसानों से रुपया ऐंठा जाय। किसानो के अशिक्षित होने के कारण जमींदार इस अज्ञानता का लाभ उठाकर नाना प्रकार से किसानो को कष्ट देते हैं। इन सब कारणों के देखते हुए जमींदार तो केवल सरकार और किसानों के बीच में बेकार ही व्यक्ति मालूम होता है।

कारण यह है कि यदि किसानों को लगान जमा करने की सुविधा पचायत के पास कर दी जाय तो जमीदारों की जरूरत ही न पड़े। इन्हीं सब कारणों के देखते हुए वर्तमान समय मे जमीदारी प्रथा को उठा देने का प्रयत्न राष्ट्रीय सरकार कर रही है।

रैयतवारी- प्रथा मे हर एक किसान स्वय सरकार को लगान अदा करता है। जमींदारी की तरह इसमे किसान और सरकार के बीच में कोई व्यक्ति नही होता। मद्रास प्रात के कुछ भाग और बबई प्रात मे रैयतवारी प्रथा प्रचलित है। जमीदार या किसान सरकार को कितनी मालगुजारी देगा यह बन्दोबस्त (Settlement) के समय निश्चित किया जाता है। भारत मे दो प्रकार के बन्दोबस्त हैं—स्थायी और अस्थायी।

स्थायी बन्दोबस्त—ईस्ट इडिया कम्पनी के समय बगाल के जमींदार किसानो पर बहुत ज्यादती करने लगे और उनसे मनमाना लगान वसूल करने लगे। फलस्वरूप जमीन परती पड़ी रहने लगी और किसान भूखो मरने लगे। इन बुराइयों को देख कर लार्ड कार्नवालिस ने जमीदारों से स्थायी बन्दोबस्त किया अर्थात् यह तय हुआ कि किसानों से मिलनेवाले लगान का करीब ९०% भाग सरकार मे जमा किया जाएगा। सोचा गया था कि पहले होने वाले हरसाल के खर्च और तरद्दुद तो दूर हो ही जाएँगे, जमींदार स्वय सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करेंगे। परन्तु यह आशा पूर्ण नहीं हुई। बगाल, बिहार, और युक्तप्रान्त की बनारस कमिश्नरी में स्थायी बन्दोबस्त है।

स्थायी बन्दोबस्त के गुण-दोष—स्थायी बन्दोबस्त के पक्ष मे ये बाते कही जाती रही हैं:—(१) इससे सरकार को निश्चित और स्थायी आय हो जाती है, तथा उसे बारबार लगान निश्चित करने तथा वसूल करने की आवश्यकता नहीं होती। (२) सामाजिक दृष्टि से जमीदार रैयत के स्वाभाविक नेता बनने और उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य आदि कार्यो मे सहायता करने योग्य हो गए हैं। (३) आर्थिक दृष्टि से इससे कृषि सम्बन्धी उन्नति और जनता की सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है, इससे आदमी अकाल आदि के सकट का सामना करने मे अधिक क्षमतावान हो गए हैं।(४) इससे अस्थायी बन्दोबस्त की दशा मे होनेवाली बुराइयाँ दूर हो गई हैं, उदाहरण के लिए नए बन्दोबस्त मे होनेवाला बेशुमार खर्च और किसानो की परेशानी, बन्दोबस्त की अवधि के अतिम दिनो मे लगान वृद्धि से बचने के लिए किसानो की उदासीनता के कारण होनेवाली खेती की हानि, मालगुजारी-विभाग के कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता आदि।

अब स्थायी बन्दोबस्त के विपक्ष की बात लीजिए:—

(क) इससे सरकार को मिलनेवाली आय स्थायी और निश्चित तो रहती है, पर कृषि से होनेवाली आय बढने के साथ सरकार अपने हिस्से को नही बढा सकती, जैसा कि वह दूसरी आमदनी के सम्बन्ध मे करती है। इस प्रकार सरकार बहुत सी आय से वचित रहती है, और उस सीमा तक सार्वजनिक उपयोगिता के कामो म खर्च करने मे असमर्थ रहती है।

(ख) यद्यपि कोई कोई जमींदार उदार और परोपकारी होता है, परन्तु स्थायी बन्दोबस्त से जो यह आशा की गई थी कि जमीदार सामूहिक रूप से समाज का नेतृत्व, और सार्वजनिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करनेवाले होंगे, वह आशा पूरी नही हुई।

(ग) बगाल का सुख-समृद्धि का श्रेय स्थायी बन्दोबस्त को न होकर दूसरी बातो का है, जैसे किसानो की काश्तकारी (टेनेंसी) कानूनों द्वारा रक्षा, जलवायु का बहुत कुछ निश्चित होना, आमदरफ़्त के साधनो का होना, जूट का प्राय: एकाधिकार और कलकत्ते से होनेवाला व्यापार-व्यवसाय आदि।

(घ) अब इतने वर्षो के अनुभव और कार्य के बाद नया बन्दोबस्त करने म पहले की तरह बेहद खर्च, तथा किसानों को उतनी असुविधा नहीं होती। स्थायी बन्दोबस्त की दशा मे लगान जितना कडाई से लगाया जाता है, अस्थायी बन्दोबस्त की दशा मे उतनी सख्ती नही की जाती।

सरकार को राष्ट्र हित सम्बन्धी नए-नए कार्य करने है, और उनके लिये अधिकाधिक धन की आवश्यकता होती है। इसलिए कितने ही विचारशीलों का मत है कि जनता पर कर-भार उचित मात्रा मे होने के लिए, और सरकार को यथेष्ट आय प्राप्त होने के लिए, आवश्यकता इस बात की है कि स्थायी बन्दोबस्त का सशोधन कर नया बन्दोबस्त किया जाय। यद्यपि ऐसा करने मे सरकार की पूर्व प्रतिज्ञा की बात बाधक है, तथापि किसी श्रेणी विशेष के स्वार्थ के लिए जनसाधारण के हितों को चिरकाल तक बलि नही दी जा सकती।

सन् १९३९-४० मे सरकार ने एक कमीशन मालगुजारी-प्रथा के विविध पहलुओं पर, विशेषतया स्थायी बन्दोबस्त के सम्बन्ध मे, विचार करने के लिए नियुक्त किया। इसके बहुमत की सिफारिश यह थी कि सरकार सब जमीन को खरीद ले, और स्थायी बन्दोबस्त के आधार पर भूमि-स्वत्व न रहे।

अस्थाई बन्दोबस्त—पहले कम्पनी का विचार था कि बगाल की तरह अन्य प्रान्तों मे भी स्थायी बन्दोबस्त कर दिया जाय। परन्तु पीछे उसने सोचा कि जमीन की उपज दिन-दिन बढ़ती जाती है, और उसके साथ सरकारी

मालगुजारी भी बढाई जा सकती है। इसलिए उसने अस्थाई प्रबन्ध ही जारी रखा। उत्तर-भारत मे यह निश्चय किया गया कि जमीन से मालगुजारी को लगान के रूप मे जो आमदनी हुआ करे, उसका ८३ फी सदी सरकार ले, और शेष केवल १७ फी सदी जमीदार को मिले। जब जमींदार इतनी ज्यादा मालगुजारी देने मे असमर्थ रहे, तो सरकार ने अपना हिस्सा क्रमशः घटा कर, सन् १८५५ ई० मे ५० फी सदी ठहराया। सन् १८६४ ई० में यही नियम भारतवर्ष के कुछ अन्य प्रान्तों मे कर दिया गया। इस समय सरकार लगान की रकम का ४० से ५० प्रतिशत तक मालगुजारी के रूप मे लेती है।

मालगुजारी का परिमाण निश्चित होने से लाभ जमींदारो को, और उनमे भी केवल बडे-बड़े जमींदारों को, हुआ।* अब, किसानों के बारे मे सुनिए। क्रमशः जनसख्या वृद्धि और औद्योगिक ह्रास के कारण अधिकाधिक भूमि में खेती होने लगी, और भूमि की माँग बढ़ती गई। परन्तु भूमि की मात्रा परिमित ही थी। जमींदारों ने अपनी भूमि का लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। इससे किसान बहुत कष्ट पाने लगे। सरकार ने इस विषय की ओर पहले-पहल सन् १८५६ ई० मे ध्यान दिया। सन् १८८५ मे बगाल-टेनेंसी (काश्तकारी) कानून पास हुआ। इससे काश्तकारों के अधिकारों की रक्षा की गई। यह व्यवस्था की गई कि जो किसान किसी भूमि मे ११ वर्ष तक काश्त करले, उसे उस भूमि पर मौरूसी अधिकार प्राप्त हो जाय। पश्चात् विविध कानूनों से इसमें आवश्यक सशोधन किया गया, लगान के बहुत अधिक न बढाये जाने की भी व्यवस्था की गई। अन्य प्रान्तो मे भी समय-समय पर काश्तकारी कानून बनाया गया। अस्थाई बन्दोबस्त वाले प्रान्तों मे सरकारी मालगुजारी एक बार केवल तीस, बीस या इससे कम सालों के लिए निश्चित की गई। इस अवधि के उपरान्त नया बन्दोबस्त हुआ है, जिसमें बहुधा मालगुजारी बढ़ती ही रही है।

अस्थाई बन्दोबस्त दो प्रकार का है—(क) जमींदारी, ताल्लुकदारी, महलवारी या ग्राम्य—इसमे जमीदार या ताल्लुकदार आदि अपने हिस्से की, अथवा गाँववाले मिलकर कुल गाँव की, मालगुजारी सरकार को चुकाने के लिए उत्तरदायी होते हैं। (ख) रैयतवारी—इसमे सरकार सीधे काश्तकारो से सम्बन्ध रखती है।

---

*बड़े जमीदारों को अपनी आय मे से ४०-५० प्रतिशत देना कठिन नही होता, परन्तु छोटे जमीदार को इतने परिमाण मे मालगुजारी देना बहुत अखरता है।

बन्दोबस्त का हिसाब—बन्दोबस्त की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का मोटा हिसाब इस प्रकार है :—(१) स्थाई बन्दोबस्त, बगाल में, बिहार के ५/६, आसाम के आठवे और उत्तर प्रदेश के दसवे भाग और उत्तरी मदरास में। (२) महलवारी या ग्राम्य बन्दोबस्त, उत्तर प्रदेश मे ३० वर्ष और पजाब तथा मध्यप्रदेश में २० वर्ष के लिए मालगुजारी निश्चित कर दी जाती है। (३) रैयतवारी बन्दोबस्त, बम्बई, सिन्ध, दक्षिणी मदरास और आसाम में, एव बिहार के कुछ भाग मे। बम्बई और दक्षिणी मदरास मे ३० वर्ष मे तथा अन्य प्रान्तो मे जल्दी-जल्दी बन्दोबस्त होता है।

सरकारी मालगुजारी नकदी मे ली जाती है, जिन्स (उपज) के रूप मे नही। वर्षा न होने या अधिक होने से, या किसी दूसरे कारण से फसल खराब हो जाने पर जब पैदावार कम हो जाती है, तो मालगुजारी का कुछ अश छोडने का नियम है। परन्तु प्रायः शिकायत रही है कि छूट, नुकसान के हिसाब से कम होती है, और, वैसे भी मालगुजारी वास्तविक उपज की दृष्टि से अधिक ही ली जाती रही है। भारतीय किसानों की दरिद्रता और कर्ज-दारी का एक मुख्य कारण यही माना गया है।

मालगुजारी और लगान निर्धारित करने की विधि—भारतवर्ष के अस्थायी बन्दोबस्त वाले भागों मे मालगुजारी और लगान निर्धारित करने के तीन तरीके हैं—(१) उत्तर प्रदेश मे मौरूसी काश्तकारो का लगान उस लगान के आधार पर निश्चित किया जाता है, जो गैर-मौरूसी काश्तकार ने पिछले बन्दोबस्त में जमींदारों को दिया है। लगान का करीब आधा भाग मालगुजारी ली जाती है। (२) मध्य प्रदेश मे लगान का निश्चय भूमि के गुण और स्थिति की जॉच करके किया जाता है, और, मालगुजारी लगान की करीब आधी होती है। (३) बम्बई प्रान्त में बन्दोबस्त-अफसर यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि प्रत्येक खेत में पिछले बन्दोबस्त के समय जो उपज हुई, उसकी कीमत क्या थी, और उसमे लागत-खर्च क्या हुआ था। उपज की कीमत मे से लागत-खर्च निकाल देने पर जो रकम शेष रहती है, साधारण-तया उसका लगभग आधा भाग आगामी बन्दोबस्त तक के लिए मालगुजारी निश्चित की जाती है।

भारत के सब प्रान्तों में मालगुजारी की दर निश्चित करने का एक ही ढग होना अच्छा है, और उसके लिए अतिम अर्थात् बम्बई प्रान्त वाली विधि सर्वोत्तम है। परन्तु उसमें भी कुछ सुधार होना आवश्यक है। वर्तमान समय में अनेक स्थानों में खेती बेमुनाफे की होती है। यदि किसान उसके कुटुम्ब के उन लोगों की मजदूरी का ठीक-ठीक हिसाब लगाया

जाय, जो खेती पर काम करते हैं तो बहुत-से खेत ऐसे निकलेंगे, जिनकी आमदनी लागत-खर्च से कम होगी।* इस प्रकार के खेत जोतनेवालों से तो मालगुजारी या लगान लिया जाना किसी दशा मे उचित नहीं कहा जा सकता।

जमींदारी प्रथा के दोष—जमींदारो से यह आशा की गई थी कि वे किसानों को अपने परिवार का अग समझेंगे और देश-हित के लिए समाज का नेतृत्व ग्रहण करनेवाले होंगे। खेद है कि अधिकाश जमींदारों ने अपनी उपयोगिता का परिचय नहीं दिया। प्रायः वे आरामतलबी और कुछ दशाओं मे तो विलासिता का जीवन बिताते रहे हैं। कितने ही जमींदार तो गाँवों को छोडकर, अपने शोक पूरा करने के लिए नगरों मे आ बसे। इनसे ग्रामसुधार की क्या आशा की जाय! जमींदारी प्रथा से ये हानियाँ हैं —

(१) जमींदार बिना श्रम किए धन पाते हैं, और उसका उपयोग वे अधिकाँश अपने व्यक्तिगत सुख के लिए करते हैं, समाज-हित के विचार से नहीं। इधर सरकार को राष्ट्र-निर्माणकारी कार्यों के लिए धन की बहुत आवश्यकता है।

(२) जमींदार गैर-मारूसी किसानो से मनमाना लगान वसूल करते हैं, और उन्हे पट्टा होने के समय बेदखल करने की धमकी देते हैं।

(३) जमींदार त्योहारों तथा विवाह-शादी के अवसरों पर किसानों से नजराना तथा अन्य अनेक कर लेते हैं।

(४ जमींदार किसानों से रसद और बेगार लेते हैं।

(५) प्रायः किसान जमींदारों के गुमाश्तों या कारिन्दो के अत्याचारों के शिकार होते हैं, तथा उन्हे मुकदमेबाजी आदि मे फँसना होता है।

(६) अधिकाँश जमींदार प्रतिक्रियावादी और सुधार-विरोधी होते हैं।

जमींदारी प्रथा हट रही है—ऊपर बताए हुए दोषों के कारण, जमींदारी प्रथा का बहुत समय से विरोध होता रहा है। काग्रेस इस प्रथा को हटाने के लिए प्रतीज्ञावद्ध रही है। प्रायः इस विषय मे तो कोई मत-भेद ही नहीं रहा कि यह प्रथा हटा दी जाय, विचारणीय विषय यही रहा कि

---

*ऐसी दशा मे किसान भूमि को रखते ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि उनके पास स्थायी आजीविका का और कोई साधन न होने से वे भूमि के थोडे-बहुत सहारे को छोडना नही चाहते। फिर, भूमि के, पैत्रिक सम्पत्ति होने के कारण भी किसानों को उसका मोह रहता है।

इसे किस प्रकार हटाया जाय, जमीदारो को मुआवजा दिया जाय या नही, मुआवजा दिया जाय तो किस हिसाब से दिया जाय, और जमीदारी प्रथा हटाने के बाद भूमि की व्यवस्था क्या हो। अब बगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, और मदरास की व्यवस्थापक सभाओ के सामने जमीदारी उन्मूलन के कानून सम्बन्धी प्रस्ताव मौजूद हैं। उनमे जमींदारो की क्षति-पूर्ति सिद्धान्त मान लिया गया है। केन्द्रीय सरकार ने भयकर रूप से बढ़े हुए मुद्रा-प्रसार और उसके कारण होने वाली महँगाई को रोकने के लिए, प्रान्तीय सरकारों को उनकी बड़े बडे खर्चवाली योजनाओं की पूर्ति के लिए, कोई आर्थिक सहायता न देने की जो घोषणा की है, उसके फल-स्वरूप सम्भव है कि जमीदारी हटाने का काम कुछ समय तक स्थगित रहे। परन्तु यह कार्य बहुत समय तक नही टल सकता।

आगे उत्तर प्रदेश का उदाहरण देते हुए जमीदारी-उन्मूलन सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर प्रकाश डाला जाता है।

उत्तर प्रदेश की बात—उत्तर प्रदेश की व्यवस्थापक सभा ने जमीदारी प्रथा को हटाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए अगस्त १९४६ मे एक कमेटी नियुक्त की थी। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हो गई है। कमेटी की योजना अमल मे आने से किसानो मे सामाजिक सुरक्षा का भाव जागृत होगा और उन्हे उन्नत कृषि-कार्य की प्रेरणा मिलेगी। भूमि का शासन और प्रबन्ध तथा मालगुजारी इकट्ठा करने का काम गाँव वालों के हाथ मे होगा। कमेटी द्वारा की गई मुख्य सिफारिशो के आधार पर जो नया कानून का प्रस्ताव व्यवस्थापक सभा मे पेश हुआ है उसकी मुख्य बाते नीचे लिखे अनुसार हैं

(१) जमीदार की सीर और खुदकाश्त बनी रहेगी और इसके सम्बन्ध मे जमीदारो को वही अधिकार होगे जो अन्य कृषको को मिलेंगे। जमीदारों के बाग भी उनके पास बने रहेंगे। व भूमिधर कहलावेंगे।

(२) जो सीर और खुदकाश्त किसानो को लगान पर दे दी गई हैं, वे किसान सीरदार कहलावेंगे।

(३) समस्त गैरमौरूसी किसान आसामी कहलावेंगे। इनको जमीन हस्तान्तरित करने का अधिकार न होगा।

(४) जगल, ऊसर भूमि, आबादी, मार्ग, समान रूप से प्रयोग मे लाए जाने वाले कुओं, तालाबो, नालो और ग्रामीण बाजारों पर गाँव की जनता का स्वामित्व होगा और वही उनकी व्यवस्था करेगी।

(५) सब मौरूसी काश्तकार सीरदार कहलावेंगे। जो सीरदार अपने लगान की दस गुनी रकम प्रान्तीय सरकार को देगा वह भूमिधर काश्तकार

कहलावेगा । भूमिधर को अपनी जमीन बेचने का अधिकार होगा । यह अधिकार सारदार को नहीं होगा ।

(६) भूमिधर किसान को अपने वर्तमान लगान की आधी रकम ही लगान के रूप मे ४० वर्षों तक देना होगा ।

(७) जमीदारों को लगान का आठ गुना मुआवजा दिया जायगा । ५,००० रु० से कम मालगुजारी देने वाले जमीदारों को पुनर्वास सहायता भी दी जायगी ।

कुल मुआवजा लगभग १४० करोड रुपए होगा । यह नकद या ऐसे रूप मे दिया जायगा जो प्रांतीय सरकार निश्चत करे ।

दातव्य तथा धार्मिक वक्फों और ट्रस्टों को इस प्रकार की आर्थिक सहायता दी जायगी, जो कि उनके वर्तमान सामाजिक तथा दातव्य कार्यो में होनेवाले खर्च के अनुरूप हो ।

मुआवजे का सवाल—जमीदारी प्रथा हटाने पर जमींदारा को कुछ मुआवजा दिया जाय, इस विषय पर सब लोग सहमत नहीं रहे हैं । खासकर समाजवादी विचार-धारा वालों का मत है कि जमींदारों ने पिछले डेढ सौ वर्षों मे उचित से अधिक लाभ उठा लिया है । उन्होंने भूमि की कोई उन्नति नहीं की, और काश्तकारो के हित के कार्य नहीं किए—इसलिए उन्हे कोई मुआवजा नही मिलना चाहिए । परन्तु इसके विरुद्ध यह विचारणीय है कि प्रथम तो जमीदारो मे इतने स्वार्थ-त्याग की भावना नही है । फिर जमींदारो के पास निर्वाह का कोई साधन न रहने देना कैसे ठीक कहा जा सकता है ? कुछ जमीदार ऐसे भी हैं, जिन्होंने काफी कीमत चुका कर जमीदारी खरीदी है, और उससे यथेष्ट लाभ नहीं उठाया है । इस प्रकार मुआवजा देना ही ठीक जचता है ।

मुआवजे का आधार—मुआवजे का आधार क्या हो, इस विषय में भी मत-भेद रहा है । जमीदार या उनके समर्थक आदि कुछ लोगों का मत है कि जमींदारों को उनकी जमीदारी की कीमत बाजार भाव से मिलनी चाहिए । पर यह सर्वथा अव्यावहारिक है । ऐसा करने से कोई लाभ नहीं होता, और जमींदारी हटाने का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है । दूसरा मत यह है कि जमीदारों को आधुनिक लगान का एक आनुपातिक भाग दिया जाय । स्मरण रहे कि जब सन् १७९५ मे जमींदारी प्रथा कायम की गई तो जमीदारों को लगान के दस फी सदी से अधिक नही मिलता था । पीछे समय-समय पर जमीदारो का हिस्सा बढाया गया, इसका कारण यह नहीं था

कि जमीदारो को अधिक आय का अधिकार था, वरन् इसका कारण राजनीतिक परिस्थितियाँ थी। विदेशी सरकार की स्वभावतः यह इच्छा रहती है कि कुछ आदमियो को प्रलोभन देकर अपना समर्थक बनाए रखे। अस्तु, मुआवजे के आधार के सम्बन्ध मे तीसरा मत यह है जमीदारों को एक साल मे जितना लाभ होता है, उसका १५-२० गुना दिया जाय, जिससे वे अथवा उनके उत्तराधिकारी पन्द्रह-बीस वर्ष के अन्दर अपने को नए युग के अनुसार बनाले। उत्तर प्रदेश मे जमीदारो को दी जानेवाली मुआवजे की रकम १४० करोड़ रु० हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि छोटी जमीदारी वालों को उनकी वार्षिक आय का जितने गुना मुआवजा मिलना चाहिए, बड़ी जमींदारी वालों को उतने गुना दिए जाने की आवश्यकता नही है। उत्तर प्रदेश के नए कानून के अनुसार इन जमीदरो को आठ श्रेणियों मे बाँट कर उनके लिए ८ गुना मुआवजा के अतिरिक्त वार्षिक आय का निम्नलिखित गुना पुनर्वास सहायता देने की व्यवस्था की गई है।

श्रेणी	मालगुजारी			पुनर्वास सहायता आय का
१		२५ रु० तक देनेवाले		२० गुना
२	२५ से	५० रु०	,, ,,	१७ ,,
३	५० से	१०० रु०	,, ,,	१४ ,,
४	१०० से	२५० रु०	,, ,,	११ ,,
५	२५० से	५०० रु०	,, ,,	८ ,,
६	५०० से	२००० रु०	,, ,,	५ ,,
७	२००० से	३५०० रु०	,, ,,	३ ,,
८	३५०० से	५००० रु०	,, ,,	२ ,,

भुगतान की पद्धति—जमीदार स्वभावतः यह चाहते हैं कि उन्हे मुआवजे की कुल रकम एक साथ दे दी जाय। परन्तु यह सम्भव नही है, क्योकि प्रान्तीय सरकारो को कितने ही राष्ट्र-निर्माणकारी कार्य करने हैं। फिर, यह भी आशा नहीं की जा सकती कि जमीदार एक साथ बडी बड़ी रकमे पाकर उसका लोकहित की दृष्टि से उपभोग करेंगे। सम्भव है, कितने ही जमीदार तो उस रकम को जल्दी ही भोग-विलास मे खर्च कर डाले, और पीछे अर्थ-हीन दरिद्र जीवन व्यतीत करने को विवश हो जायँ। इन बातो का विचार करके उत्तर प्रदेशीय जमीदारी- उन्मूलन कमेटी ने बडी-बड़ी रकमो को चालीस वर्ष की किश्तो मे देने की सिफारिश की है।

जमींदारी उठने के बाद कृषि-प्रणाली कैसी हो?—एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जमींदारी प्रथा उठ जाने के बाद कौनसी कृषि-प्रणाली ऐसी होगी, जिससे कृषि तथा किसानों की उन्नति हो। ऐसी प्रणाली आगे दी हुई तीन प्रणालियों में से ही कोई हो सकती है— (१) सामूहिक कृषि-प्रणाली, (२) सहकारी कृषि प्रणाली, और (३) वैयक्तिक स्वामित्व कृषि-प्रणाली।

सामूहिक कृषि प्रणाली मे सब भूमि राज्य की मानी जाती है। खेती करनेवालों को उनके कार्य के अनुसार मेहनताना मिलता है। यह प्रणाली सब से पहले रूस मे प्रचलित हुई, और वहाँ अच्छी सफल भी हुई। इस प्रणाली से खेती मे सुधार बहुत हो सकता है, कारण, सरकार सब आवश्यक खर्च लगाती है, विशाल खेतों मे बडे-बडे यत्रों द्वारा आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से काम होता है। पर यह प्रणाली हमारे देश मे व्यापक रूप से काम मे नहीं लाई जा सकती, क्योकि भारतीय किसानों मे वैयक्तिक स्वामित्व की भावना बहुत दृढ़ है। फिर यहाँ जन-सख्या काफी अधिक होने से यत्रो का बहुत अधिक उपयोग अभीष्ट नहीं है। कुछ विशेष दशाओं को छोड़कर यहाँ खेती के काम मे मशीनों का उपयोग करना जनता मे बेकारी का भयकर रोग बढाना है।

सहकारी कृषि-प्रणाली मे किसान मिलकर खेती करते हैं। वे अपने-अपने खेत के मालिक होते हुए भी बीज या बैल आदि खरीदने, खेती करने, तथा फसल काटने और पैदावार बेचने आदि मे एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं। भारतवर्ष मे सहकारिता का प्रचार हो रहा है, पर अभी उसमें यथेष्ट सफलता नहीं मिली, सहकारी समितियों के अनेक सदस्य अपनी जिम्मेदारी का पूरा विचार नही रखते। ऐसी दशा मे सहकारी कृषि-प्रणाली अभी बहुत बडे पैमाने पर नही चल सकती, हाँ, इस दिशा मे प्रयत्न होता रहना चाहिए। उत्तर प्रदेश के इस नये कानून मे इस प्रणाली द्वारा खेती क प्रोत्साहन दिये जाने की व्यवस्था की गई है।

वैयक्तिक कृषि प्रणाली मे हरेक आदमी अपनी-अपनी खेती करता है। उसमे वह खूब जी लगाता है। इस प्रणाली की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि किसान के पास भूमि इतनी कम या ऐसी खराब न हो कि उससे उसके परिवार का निर्वाह ही न हो सके। साथ ही किसी आदमी के पास भूमि इतनी अधिक भी न होनी चाहिए कि वह उसमे खुद खेती न करके दूसरों के द्वारा कराने लगे, और इस प्रकार वह जमींदार का रूप धारण करले।

भावी भूमि व्यवस्था; किसानों का सीमित अधिकार—कमेटी ने वैयक्तिक कृषि-प्रणाली को अच्छा मानकर किसानों को भूमि का स्वामी स्वीकार किया है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु का स्वामी तभी कहा जा सकता है जब उसको उसे बेचने, दूसरे को देने, गिरवी रखने या उसके आधार पर ऋण लेने का अधिकार हो। सरकार ने भूमिधर किसानो को यह अधिकार दिया है। परन्तु उसने इस बात का ध्यान रखा है कि इस अधिकार का ऐसा दुरुपयोग न हो, जिससे समाज का और स्वय किसान का अहित हो। प्रायः देखा गया है कि किसान ने रुपये की आवश्यकता होने पर अपनी जमीन बेच डाली, इससे एक ओर तो वह बेकार हो गया, दूसरे, कुछ दशाओं मे खरीददार के पास आवश्यकता से अधिक भूमि हो गई, और उसने उसे जोतने के लिए मजदूर रखे या उसे दूसरे आदमियो को मुनाफे पर उठा दिया और इस प्रकार वह शोषक बन गया।

यह शोचनीय परिस्थिति न आने देने के लिए, कमेटी ने किसान के भू-स्वामित्व पर कुछ प्रतिबन्ध लगाए हैं, और उन प्रतिबन्धों को अमल मे लाने का अधिकार ग्राम पचायतों को दिया है। कमेटी की सिफारिश है कि भूमि की बिक्री तथा मूल्य-निर्धारण पचायत द्वारा हो, और पचायत उसी किसान को अपनी भूमि बेचने की इजाजत दे, जिसके पास बिक्री के बाद १० एकड़ भूमि रहे, जो कि एक परिवार के लिए आवश्यक मानी गई है। पचायत इस बात का भी ध्यान रखे कि भूमि ऐसे ही आदमी के हाथ बेची जाय, जिसे उसकी आवश्यकता हो; कोई आदमी अपने पास ३० एकड़ से अधिक भूमि न रखे। भूमि की बिक्री पचायत द्वारा होने से यह भी लाभ होगा कि इस प्रसग मे 'पगडी' या नजराना आदि देने की कुप्रथा न रहेगी।

किसानो के भू-स्वामित्व पर दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध यह लगाया गया है कि यदि वह स्वय खेती करने योग्य है तो वह अपनी भूमि न तो शिक्मी काश्तकारों को ही उठा सकता है, न किसी को बँटाई पर दे सकता है, और न बिना बोई छोड़ सकता है। यदि उसने ऐसा किया तो पचायत उस भूमि को अपने अधिकार मे कर लेगी, और जिसे उचित समझेगी, दे देगी। केवल नाबालिगों, विधवाओं, बीमारों, फौज मे गये सैनिकों या कैदी किसानों को ही अपनी भूमि शिकमियों को देने का अधिकार दिया गया है, और वे भी शिक्मी से अपनी मालगुजारी का ड्योढा ही लगान ले सकते हैं, इससे अधिक नहीं।

पंचायतों के विशेष अधिकार—पचायतो के भूमि सम्बन्धी कुछ अधिकारों का उल्लेख ऊपर हुआ है। इनके अतिरिक्त, उन्हे कुछ अन्य

अधिकार भी रहेगे। उन्हे बजर या ऊसर भूमि के अलावा ऐसी सब भूमि का स्वामित्व होगा, जिसका उपभोग गॉव के सब निवासी करते हैं, जैसे तालाब, कुएँ, चरागाह और बाजार आदि, पंचायतों को ही लगान अर्थात् भूमि कर वसूल करने, कृषि की उन्नति की योजनाएँ अमल मे लाने, तथा गॉव के विकास की योजनाएँ बनाने का अधिकार दिया गया है। स्मरण रहे कि अब जो पचायते बनाई जा रही हैं, वे न केवल गॉव के आर्थिक जीवन का सचालन करेंगी, वरन् गॉवो की सर्वागीण उन्नति की जिम्मेदार होंगी।

जमींदारी उठा देने का प्रभाव कितने व्यक्तियों पर पड़ेगा?— पहले कहा जा चुका है कि भारतवर्ष मे अधिकाश व्यक्तियों के पास भूमि बहुत कम है। वे सिर्फ नाम के ही जमींदार हैं। उन पर जमींदारी प्रथा उठा देने का विशेष प्रभाव नही पडेगा। उत्तर प्रदेश के उदाहरण से इस विषय का अच्छी तरह अनुमान हो सकता है। इस प्रान्त की जमींदारी-उन्मूलन कमेटी ने हिसाब लगाकर बताया है कि प्रान्त के समस्त जमींदारों मे से ९८·५ प्रतिशत को तो किसान ही समझना चाहिए, क्योंकि उनमें कोई ऐसा नहीं है, जो २५०रु० वार्षिक मालगुजारी से अधिक देता हो। ऐसे कृषक जमींदारो की सख्या २०,१७,००० है। (परन्तु इनके पास कुल मिलाकर केवल ४२ प्रतिशत भूमि है)। जमींदारो की कुल जनसख्या का ८६ प्रतिशत भाग उन किसानो का है, जो वार्षिक मालगुजारी २५ रु० से भी कम देते हैं। इनकी सख्या १७,११,००० है। छोटे जमींदारो का पारिवारिक व्यय जमींदारी से, जिसकी आय अत्यल्प होती है, नहीं चल पाता, बल्कि सीर तथा खुदकाश्त से चलता है। इसलिए जमींदारी उठा देने का उनके हितों पर कोई विपरीत प्रभाव न पडेगा।

कमेटी ने बताया है कि २५० रु० से अधिक मालगुजारी देने वाले जमींदार केवल ३०,००० हैं, अर्थात् कुल जमींदार-संख्या के डेढ फी सदी। परन्तु इनके पास भूमि ५८ प्रतिशत है। जमींदारी प्रथा उठा देने का यथार्थ प्रभाव उन बडे जमींदारों की ही आर्थिक और समाजिक स्थिति पर पडेगा जो ५,००० रु० या अधिक वार्षिक मालगुजारी देते हैं। इनकी सख्या प्रात मे केवल ८०४ है। प्रान्त की कुल जनता मे, तथा जमींदारों की सख्या मे इनका अनुपात क्रमशः ०००० १४ तथा ००० ४ हैं। परन्तु इन्होने प्रान्त की चौथाई भूमि दबा रखी है। कमेटी ने अनेक दृष्टान्त और आकडे देकर सिद्ध किया है, कि भूत काल मे इन लोगों ने इतना धन सचित कर लिया है कि ये उससे पीढ़ियों तक काम चला सकते हैं। फिर भी कमेटी ने उनकी क्षति-पूर्ति की भी व्यवस्था की है।

रैयतवारी प्रथा का विचार—ऊपर उत्तर प्रदेश का उदाहरण देते हुए, जमींदारी-उन्मूलन सम्बन्धी आवश्यक प्रश्नो पर प्रकाश डाला गया है। आशा है, स्वतन्त्र भारत के जमींदारो प्रथा वाले सब प्रान्तों मे इसी प्रकार की, अथवा इससे मिलती-जुलती व्यवस्था होगी। परन्तु स्मरण रहे कि वर्तमान रैयतवारी प्रथा भी निर्दोष नही है। इसमे भी सुधार होने की आवश्यकता है। श्री० किशोरलाल मश्रूवाला का कथन है—"रैयतवारी प्रथा, जमींदारी प्रथा की अपेक्षा, राज्य तथा प्रजा के बीच एक मध्यस्थ कम होने के कारण, अच्छी हो सकती है, परन्तु सिद्धान्त से वह किसी भी दूसरी अनुपस्थित-भूस्वामी-प्रणाली से भिन्न नही है। कृषक तथा जनता के दृष्टिकोण से, जमीदार के स्थान पर, राज्य के अनुपस्थित भूस्वामी बन जाने से कोई भलाई नही होने वाली है। रैयतवारी प्रणाली मे सरकार, अनुपस्थित भूस्वामी से किसी भी प्रकार कम नही है, जिसका केवल लगान वसूल करने तथा अवसर पडने पर उसे बढ़ा देने में ही स्वार्थ रहता है। किसान को, लगान नकद अथवा जिन्स के रूप मे चुकाने की जिम्मेदारी के बिना, निर्वाह-वेतन दिया जाना चाहिए। जब तक राज्य भूमि के, जिसका कि वह स्वामी होने का दावा करता है, सुधारने की जिम्मेदारी अपने सिर पर नहीं लेता तथा स्वय मौसम तथा खेती की खराबी का उत्तरदायित्व वहन करते हुए किसान को, उसकी भूमि का वास्तविक ध्यान न करते हुए, उसका निर्वाह-वेतन नही दिलाता, वह अनुपस्थित भूस्वामि से किसी भी हालत मे अच्छा नहीं है, बल्कि उससे भी बुरा है, कारण कि यह एक अव्यक्तिगत लालफीता-शाही शासन ही तो है।"

लगान की उचित व्यवस्था—पहले बताया जा चुका है कि किसानों से लगान बहुत अधिक लिया जाता रहा है। आजकल मुद्रा-प्रसार तथा पैदावार की कीमत बढी हुई होने के कारण किसानों को लगान का यह परिमाण नहीं अखरता, परन्तु यह तो विशेष परिस्थिति है। साधारणतया उसके घटाए जाने की आवश्यकता है ही। उत्तर प्रदेश जमींदारी-उन्मूलन कमेटी ने जमींदारी प्रथा के उठाए जाने पर, काश्तकारो के लगान घटाए जाने पर भी विचार किया है और निम्नलिखित सिफारिश की है:—जिस किसान के पास एक एकड़ भूमि होगी, उसे रुपये मे ६ आना लगान छूट मिलेगी, २ से ४ एकड़ वालों को ४ आना, ४ से ६ एकड वालो को २ आना; ६ से ६ एकड वालों को एक आना प्रति रुपया छूट मिलेगी। ६ एकड से अधिक भूमि वालों का लगान नहीं घटाया जायगा। उत्तर प्रदेश मे जो नया कानून बनाया जा रहा है उसमे लगान कम करने की कोई व्यवस्था नही की गई है।

अब हम वे सुधार बतलाते हैं, जो अभी, अमल मे आजाने चाहिएँ:—

(१) बेमुनाफे की खेती करनेवालो से कोई लगान न लिया जाय। जिस खेती से किसान की और उसके परिवार के लोगो की मजदूरी आदि लागत खर्च निकल आने पर मुनाफा रहे, उस पर ही लगान लिया जाय। वह आर्थिक लगान से अधिक न हो। जैसे-जैसे मुनाफे की आय का परिमाण बढ़े, लगान की दर अधिक हो।

(२) किसान अपनी जमीन पर खुद ही खेती करे, न तो वह उसे किसी दूसरे आदमी को काश्त करने के लिये दे और न किसी को बॅटाई पर ही दे। हाँ, नाबालिग या विधवा को दूसरों के द्वारा खेती कराने का अधिकार रहे।

(३) रैयतवारी प्रान्तों मे किसान मालगुजारी देने से मुक्त किये जायँ। किसी किसान के पास औसत दर्जे की पाँच एकड से कम जमीन न हो। इतनी जमीन की खेती की आय से किसान और उसके परिवार का निर्वाह होने की आशा की जाती है। जिन किसानो की आय अधिक हो, उनसे आय कर लिया जाय, जिसकी दर आय के परिमाण के अनुसार बढती हुई हो।

इस व्यवस्था के अमल मे आने से मामूली आमदनी वाले बहुत से ग्रामवासियों की आर्थिक कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। उनके लिये, जब तक ऐसा न होगा, देश मे स्वराज्य स्थापित होने का विशेष अर्थ नहीं है।

अभ्यास के प्रश्न

१—आधुनिक काल की वितरण समस्या का सक्षेप मे विवेचन कीजिए। (१६३३)

२—वितरण के अन्तर्गत हम क्या अध्ययन करते है? हम किस वस्तु का वितरण करते हैं और कैसे? (१६२६)

३—वितरण से आप क्या समझते हैं? चीनी की एक मिल मे एक लाख मन चीनी जाडे मे तैयार होती है। बेचने पर दस लाख रुपया वसूल हुआ। इस रकम का किस प्रकार वितरण होगा? (१६३५)

४—लगान का नियम लिखिए व समझाइये। आपकी राय मे यह भारतवर्ष मे कहाँ तक लागू होता है? (१६३७)

५—किन अवस्थाओं मे जमीन की मिलकियत आदर्श होती है ? व्यवहार तथा कानून के द्वारा उ० प्र० की जमीन की मिलकियत पर क्या प्रभाव पडा है ? (१६३५)

६—आर्थिक लगान तथा इकरार द्वारा निश्चित लगान मे क्या अन्तर है ? लगान के नियम की परिभाषा लिखिये तथा बतलाइये कि वह कहाँ तक भारत भूमि पर लागू होता है। (१६३४)

७—"किसानों के प्रति सरकार का यह कर्त्तव्य है कि मिलकियत स्थिर कर देवे और उचित लगान लगावे।" उ० प्र० सरकार इस सम्बन्ध मे कहाँ तक सफल हुई है। (१६३३)

८—लगान का नियम बताइये। लगान किस प्रकार बढता है ? यह किस प्रकार नापा जाता है ? किन दशाओं मे लगान बढ जाता है ? उदाहरण सहित समझाइए। (१६३२)

६—उ० प्र० मे प्रचलित भूमि के बन्दोबस्त का वर्णन कीजिए। (१६३६)

१०—क्या निम्न दशाओं मे आर्थिक लगान पाया जायगा ? :—
(अ) यदि क्रमागत-ह्रास नियम न लागू हो।
(ब) यदि सारी भूमि सरकार की हो।
(स) यदि जमीन के मालिक ही खेती करे।
(द) यदि उत्तम भूमि अपरिमित हो। (१६२६)

११—जमीदारी प्रथा के गुण दोष लिखिये। उसको तोड़ देना कहाँ तक उचित है ?

१२—भूमिधर काश्तकार और सीरदार काश्तकार के भेद समझाइये। भूमिधर काश्तकार के अधिकारों का वर्णन कीजिये।

चौंतीसवाँ अध्याय

मजदूरी

प्राक्कथन—श्रम करनेवाले को उसके श्रम के बदले मे जो धन दिया जाता है, उसे 'मजदूरी' कहते हैं। मासिक मजदूरी प्रायः वेतन कहलाती है। सर्व-साधरण में 'वेतन' शब्द अधिक आदर-सूचक है, परन्तु अर्थशास्त्र में ऐसा कोई भेद नही। अपनी भूमि पर, अपने ही औजारों से काम करनेवाले बढई, लुहार आदि को जो मजदूरी दी जाती है, वह सब वास्तव

में केवल मजदूरी ही नही होती, उसमे उनकी भूमि का लगान तथा उस मूलधन का सूद भी मिला होता है, जो इन कारीगरो का अपने औजार खरीदने मे लगा है।

नकद और असली मज़दूरी--पहले बताया जा चुका है कि उत्पादकों को आजकल प्रायः उत्पन्न पदार्थ का कोई हिस्सा न देकर ऐसी रकम दी जाती है, जा उनके हिस्से के पदार्थ की कीमत हो। इस प्रकार श्रमजीवियों के श्रम से जो वस्तु पैदा होती है, वही वस्तु उन्हे नही दी जाती; यदि दो जाय, तो बडी असुविधा हो। मान लो, कोई श्रमजीवी लोहे या कोयले की खान मे काम करता है। यदि उसे उसके श्रम के बदले लोहा या कोयला ही दिया जाय, तो वह उसका क्या करेगा? उसे इनके बदले अपनी आवश्यकता के पदार्थ—अन्न वस्त्र आदि—प्राप्त करने होगे। और यह काम हर समय और हर स्थान मे सहज ही नहीं हो सकता। इसलिए आजकल श्रमजीवियों को उनके श्रम का प्रतिफल प्राय. रुपए-पैसे मे चुकाया जाता है। इसे नकद मजदूरी कहते हैं। यदि मजदूरी अन्न वस्त्र आदि पदार्थों मे दी जाय, तो इन पदार्था के परिमाण का मजदूरों की असली मजदूरी कहा जाता है। इसमे मकान, शिक्षा, या मनोरंजन आदि वे विशेष सुविधाएँ भी सम्मिलित होती हैं, जो मजदूरों को उनके मालिको की ओर से प्राप्त होता हैं।

नकद मजदूरी से श्रमजीवियों की दशा का ठीक अनुमान नहीं होता। उदाहरणार्थ अगर मोहन को रोजाना १) मिलते हैं, और उसके नगर मे गेहूँ का भाव तीन सेर का है, तथा सोहन को रोजाना १।) मिलते हैं, और उसके नगर मे गेहूँ का भाव दो सेर का है, तो सोहन की नकद मजदूरी अधिक होने पर भी, असली मजदूरी मोहन को ही अधिक मिलती है। इसी प्रकार अगर दोनो को अपनी विविध आवश्यकताओं का सामान बराबर ही मिले, परन्तु मोहन को रहने का मकान आदि मुफ्त मिलता है, अथवा कार्य करने के घटों के बीच मे अवकाश या मनोरजन का ऐसा अवसर मिलता है, जो सोहन को नही दिया जाता, तो भी मोहन की ही असली मजदूरी अधिक मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि दो श्रमजीवियो मे, जिसे असली मजदूरी अधिक मिलती है, उसकी दशा दूसरे की अपेक्षा अच्छी होगी।

भारतवर्ष मे पहले अधिकतर मजदूरी अन्न मे चुकाई जाती थी। इस दशा मे पदार्थों के मूल्य घटने-बढ़ने का श्रमजीवियों की आय पर बहुत कम प्रभाव पड़ता था। बहुत-से देहातों मे अब भी यही दशा है। कृषि-श्रमजीवी अपनी मजदूरी अन्न के रूप मे ही पाते हैं। परन्तु आधुनिक सभ्यता

के विकास से, नगरो या औद्योगिक गाँवों मे, मजदूरी नगद या रुपए-पैसे के रूप मे ही दी जाती है। इसमे श्रमजीवियों पर जीवन-रक्षक पदार्थों की तेजी-मन्दी का प्रभाव पडता है।

नकद वेतन मे प्रायः न तो इस बात का विचार किया जाता है कि वह श्रमजीवी के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है या नही, और न इसी बात का कुछ नियन्त्रण रहता है कि श्रमजीवी अपने वेतन के द्रव्य का किस प्रकार उपयोग करते हैं। वह उससे भोजन-वस्त्र खरीदता है या विलासिता की वस्तुएँ। अनेक मजदूर सबेरे से शाम तक मजदूरी करके अपने मालिक से कुछ गिने गिनाए पैसे पाते हैं, जो प्रथम तो उनके निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं होते, फिर उनमे से भी काफी पैसे मदिरा आदि के अर्पण कर दिए जाते हैं।

मजदूरी की दर, माँग और पूर्ति—हम पहले कह आए हैं कि पदार्थों का मूल्य माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार निश्चित होता है। यह नियम मजदूरी के संबन्ध मे भी लागू होता है।

श्रम की माँग तभी होती है, जब कोई आदमी श्रमियो से कुछ काम कराना चाहता है। किसी काम के करने मे उत्पत्ति के अन्य साधनों का भी उपयोग होता है। कल्पना करो कि किसी छोटे कारखाने में एक मास मे श्रम सहित सब साधनो द्वारा इतने पदार्थ की उत्पत्ति होती है, जिसकी कीमत २००) है। अब इस उत्पत्ति मे श्रम का भाग कितना है, यह मालूम करने के लिए दो सौ रुपये में से अन्य सब साधनो का प्रतिफल निकाल देना चाहिए—कच्चे पदार्थ की कीमत, भूमि का लगान, पूँजी का सूद, औजारों की घिसाई, व्यवस्थापक का प्रबन्ध और निरीक्षण व्यय, तथा बीमा आदि का व्यय। यदि यह सब व्यय १५०) है, तो श्रम का प्रतिफल २००−१५० = ५० रु० हुआ। काम कराने वाला अधिक से अधिक ५०) श्रमियों को दे सकता है। यदि उसे इससे अधिक देने की सभावना प्रतीत हो तो वह काम ही न कराये। इस प्रकार वेतन की चरम सीमा ५०) हुई।

अब यह विचार करे कि साधारण श्रमी कम से कम कितना वेतन लेना स्वीकार करेगा। श्रमी को मिलने वाला वेतन कम से कम इतना होना चाहिये, जिसमे उसका तथा उसके परिवार का भरण-पोषण हो जाय, इसमें उसके बालकों की शिक्षा आदि का व्यय भी सम्मिलित है। यदि श्रमी को इतनी प्राप्ति नहीं होती तो या तो वह स्वय अपनी आवश्यकता से कम पदार्थों का उपयोग करेगा, जिससे उसका स्वास्थ्य और शक्ति कम होगी, अथवा उसके बालकों को यथेष्ट पुष्टिकर और निपुणतादायक पदार्थ न मिलेंगे,

जिससे भावी श्रम की पूर्ति में तथा उसकी कुशलता मे कमी रहेगी। अस्तु, साधारणतः श्रमी यह विचार करता है कि उसे कम से कम इतना वेतन मिले जिसमें उसका तथा उसके परिवार का निर्वाह हो जाय, यदि इतना वेतन न मिले तो वह काम न करे। उदाहरणवत यदि निर्वाह व्यय ३०) हो, तो कम से कम वेतन ३०) होगा।

इससे स्पष्ट हुआ कि उपर्युक्त उदाहरण मे मजदूरी की ऊँची से ऊँची दर ५०) और न्यूनतम दर ३०) है। इन दोनों सीमाओ के बीच में ही मजदूरी ठहरेगी। काम करानेवाले का स्वार्थ इस बात में है कि वह कम से कम मजदूरी दे, इसके विपरीत मजदूर चाहता है कि अधिक से अधिक मजदूरी मिले।

मजदूरी की न्यूनतम और अधिकतम सीमा पहले बतायी गयी है। इन दोनों सीमाओं के भीतर रहती हुई, जब मजदूरी की दर बढ जाती है तो उसकी माँग कम हो जाती है और जब दर घट जाती है तो माँग बढ़ जाती है। काम करानेवालो मे बहुत से आदमी ऐसे रहते हैं जो इस सोच-विचार में रहते हैं कि काम अभी करायें, या कुछ समय बाद करायें। यदि मजदूरी की दर बढी हुई है तो हम काम अभी न करा, कर पीछे करा लेंगे, जब सम्भव है, मजदूरी की दर कम हो जाय। ये आदमी मजदूरी की दर कम होने पर काम करायेंगे। इससे स्पष्ट है कि मजदूरी की दर बढने की दशा में काम की माँग कम हो जायगी और मजदूरी की दर घटने पर माँग बढ जायगी।

माँग और पूर्ति के नियम मे व्यवहार की दृष्टि से मजदूरी और अन्य पदार्थों में कुछ अनिवार्य अन्तर है। प्रथम तो यही स्पष्ट है कि अनेक पदार्थों की तुलना में मजदूर का श्रम बहुत ही शीघ्र क्षय होने वाली वस्तु है। श्रमजीवी का जो समय व्यर्थ चला जाता है, वह हमेशा के लिये चला जाता है। इसलिए निर्धन श्रमजीवी अपने श्रम को जिस कीमत पर बने, बेच देना चाहता है। उसकी यह उत्सुकता मजदूरी की दर घटाने में सहायक होती है।

पुनः अन्य पदार्थों की पूर्ति की तरह मजदूरी की पूर्ति मे जल्द परिवर्तन नहीं होता। माँग होने पर अन्य पदार्थ प्रायः शीघ्र ही बाजार में पहुँचाए जा सकते हैं। उनकी दर बहुत समय तक चढी हुई नही रहती, परन्तु श्रमजीवियों को अपना घर और गाँव (या नगर) तुरन्त छोड़ने की इच्छा नहीं होती। इनकी पूर्ति होने मे बहुधा बिलम्ब भी लग जाता है। इसलिए नए कल-कारखाने खुलने के समय, आरम्भ मे कभी कभी बहुत समय तक

मजदूरी को दर, अन्य स्थानो की अपेक्षा, चढी रहतो है। इसी के साथ यह भी बात है कि जो श्रमजीवी एक बार वहाँ आकर रहने लग जायँगे, वे सहसा वहाँ से जायँगे भी नही। अतः यदि बाद मे, किसी घटना-वश, श्रमजीवियों का माँग कम रह जाय, तो वहाँ पूर्ति जल्दी न घटने से मजदूरी की दर का अन्य स्थानो की अपेक्षा, बहुत समय तक कम रहना सम्भव है।

अनुभव शून्य और अशिक्षित श्रमजीवियो के सम्बन्ध मे तो यह बात और भी अधिक लागू होती है। उन बेचारों को बहुधा यह मालूम ही नहीं होता कि किस जगह उनके श्रम की माँग अधिक है, उन्हे अपने श्रम के बदले कितनी अधिक मजदूरी कहाँ मिल सकती है। जब ठेकेदार आदि के द्वारा श्रमजीवियों को उनके श्रम की माँग का समाचार मालूम भी होता है, तो उन्हे उसके (ठेकेदार आदि के) स्वार्थ के कारण परिस्थिति का यथेष्ट परिचय नही मिलता। इसलिए कुछ हद तक सभी देशो मे—भारतवर्ष मे तो विशेषकर—बहुत से मजदूरो को, क्षमता के लिहाज से प्रायः कम मजदूरी मिलती है (और ठेकेदार आदि प्रायः इस परिस्थिति से लाभ उठाते हैं)। बहुधा ऐसा हो सकता है कि एक मजदूर किसी कार्य के लिए एक स्थान मे जो मजदूरी पाता है, उससे कही अधिक मजदूरी दूसरे पास के स्थान मे, वैसे ही कार्य के लिए, मिल रही हो। मजदूरनियों के सम्बन्ध मे यह बात और भी अधिक ठीक है। अज्ञान और स्थानांतर-गमन की कठिनाइयाँ उनके मार्ग मे, मजदूरो की अपेक्षा, बहुत अधिक होती हैं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि सब श्रमजीवियों मे स्वतंत्र रूप से प्रतियोगिता हो सके—अज्ञान और स्थानांतर-गमन आदि की बाधाएँ न हों—तो भिन्न-भिन्न स्थानों मे एक ही काम के लिए असली मजदूरी मे ऐसा भेदभाव न रहे। वह सब स्थानों मे समान, या लगभग समान हो।

भिन्न-भिन्न व्यवसायों में वेतन न्यूनाधिक होने के कारण—किसी किसी व्यवसाय मे, दूसरे व्यवसाय की अपेक्षा मजदूरी की दर कम या अधिक होने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे—

(१) व्यवसाय की प्रियता।
(२) व्यवसाय की शिक्षा।
(३) व्यवसाय की स्थिरता।
(४) व्यवसाय मे विश्वसनीयता आदि किसी विशेष गुण की आवश्यकता।
(५) निश्चित वेतन के अलावा, कुछ और मिलने की आशा।

(६) व्यवसाय मे सफलता का निश्चय।

(७) मजदूरों की सख्या।

(८) मजदूरों का सगठन।

अब हम इन कारणों मे से एक-एक पर विचार करते हैं। याद रहे कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन कारणों मे से दो या अधिक का प्रभाव एक-साथ इकट्ठा भी पड जाता है।

१—जिस व्यवसाय को लोग अच्छा समझते हैं, जिसके करने से समाज म प्रतिष्ठा होती है, उसके करनेवाले बहुत मिल जाते हैं। इसलिए उन्हे कम वेतन मिलता है। कुछ आदमी सरकारी दफ्तरों की नौकरी इस विचार से अच्छी समझते हैं कि लोग उन्हे 'बाबूजी' कहा करें और वे कुर्सी पर बैठकर काम करनेवाले 'सभ्य पुरुषों' की गणना मे आसकें। उन्हे वेतन कम मिलता है। इसके विपरीत, महाजनों या साहूकारों के यहाँ काम करने स, जनसाधारण मे प्रतिष्ठा कम होने के कारण, उनके यहाँ लिखा-पढ़ी करनेवाले अधिक वेतन चाहते हैं। अब यह विचार-धारा क्रमशः बदल रही है।

[टट्टी साफ करना, नालियाँ धोना आदि कार्य बहुत घृणित एव अप्रिय हैं। सिद्धान्त से ऐसे कार्य के लिए बहुत अधिक वेतन मिलना चाहिए। परन्तु इसमे भारतवर्ष का जाति भेद बाधक है। समाज, मेहतर आदि को पैतृक कार्य छोड़कर कोई दूसरा काम नही करने देता। इसलिए उन्हें कम वेतन पर ही सतोष करना पड़ता है।]

२—जिस काम की शिक्षा प्राप्त करने मे कठिनाई अथवा खर्च अधिक होता है, उसे सीखनेवाले बहुत कम होते हैं। इसलिए उन कामों के करने-वाले अधिक वेतन पाते हैं। उदाहरण के लिए डाक्टरी, ऍजिनियरींग आदि का काम सीखने में कई-कई वर्ष लग जाते हैं, और रुपया भी बहुत खर्च होता है। किन्तु बहुत कम आदमियों की स्थिति ऐसी होती है कि इतने समय बे-रोजगार रहकर और इतना खर्च करके ऐसा काम सीख सकें। यही कारण है कि डाक्टर, ऍजिनियर आदि का वेतन बहुत होता है।

३—कारखानों मे बहुत से कारीगर ४०-५० रु० मासिक पर काम करते हैं। परन्तु यदि कोई गृहस्थ उन्हे (या उनकी योग्यतावालों को) दो-चार दिन के लिए अपने यहाँ काम करने को रखे, तो वे उस अनुपात से वेतन लेना कदापि स्वीकार न करेंगे। सम्भव है, दो या ढाई रुपए रोज माँगें। कारण स्पष्ट है। उन्हे निरन्तर ऐसा काम मिलने का निश्चय नही होता, इस विचार से वे अधिक वेतन लेते हैं।

४—डाकखाने, बैंक या खजाने आदि का काम ऐसा है, जिसमे विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, हाँ, विश्वसनीयता आदि गुणों की बहुत जरूरत होती है, और ये गुण बहुत कम लोगो मे मिलते हैं। अतः इन कार्यों के करनेवालों मे जैसा योग्यता चाहिए, वैसी ही योग्यता के अन्य कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा खजानची आदि को अधिक वेतन मिलता है।

५—गत वर्षों म कुछ आदमी सोचते थे कि यदि हम पुलिस विभाग मे काम करने लगे तो जन साधारण का हमसे काम पडेगा, उन पर हमारा रोब-दाब रहेगा, और समय-समय पर 'ऊपर की आमदनी' (जो भेंट या रिश्वत का एक सुन्दर नाम है) मिलने के अवसर आते रहेंगे। इसलिए वे बहुधा अन्य काम में ४०-५० रु० मासिक की जगह छोड़ कर पुलिस की ३०-३५ रु० की नौकरी स्वीकार कर लेते थे। कहावत प्रचलित हो गई, 'छ. के चार कर दे, पर नाम दरोगा धरदे।' यही बात रेल तथा अदालतों की नौकरी के सम्बन्ध में रही है। अब इसमें कुछ परिवर्तन होने लगा है।

६—बहुत-से आदमी ४०-५० रु० मासिक वेतन पर काम कर रहे हैं। ये लोग उद्योग करें तो सम्भव है, किसी व्यापार मे लग कर अपनी आमदनी बहुत बढा सकें। परन्तु इसका कोई भरोसा नहीं। यह जोखिम की बात है, व्यापार चले या न चले। इसलिए उसके बखेड़े मे न पड़कर ये कम, परन्तु बँधे हुए निश्चित वेतन पर ही सन्तोष करते हैं।

७—मजदूरी की दर का देश की आबादी से घनिष्ट सम्बन्ध है। लम्बे युद्धकाल या नए उपनिवेशों को छोड़कर, साधारणतया किसी जगह मनुष्यों की सख्या जितनी अधिक होती है, मजदूरी की दर वहाँ उतनी ही कम हो जाती है। इसलिए विविध देशों में समय-समय पर जनसख्या कम करने के उपाय किए जाते हैं। अविवाहिता रहकर, वडी उमर मे विवाह करके, जान-बूझकर सन्तान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी विदेशों मे भेजकर जनसख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा सभ्यता और सुख की वृद्धि से सन्तानोत्पत्ति कम होती है। भारतवर्ष की जनसख्या के सम्बन्ध में विशेष विचार पहले किया जा चुका है।

८—मजदूरों के सगठन का भी उनके वेतन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्रायः कारखाने वालों या अन्य मालिकों की यह इच्छा रहती है कि वेतन कम-से-कम दिया जाय। निर्धन मजदूरों को प्रायः मालिक की दी हुई वेतन स्वीकार करनी होती है। परन्तु जब मजदूर अपना संगठन कर लेते हैं, तो वे अपने चन्दे आदि से ऐसी व्यवस्था कर सकते हैं कि मालिक पर प्रभाव डाल-कर कुछ अच्छी वेतन प्राप्त करलें।

मजदूरी पर सामाजिक और धार्मिक स्थिति का प्रभाव—भारतवर्ष मे आर्थिक विषयों पर सामाजिक तथा धार्मिक बातों का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। गावों मे खेतों पर काम करनेवाले मजदूरों, बढ़ई और लुहार आदि की मजदूरी बहुत कुछ रिवाज के अनुसार चली जाती है। नाई, धोबी, कुम्हार आदि के विषय मे भी यही बात है। कुछ अंश में शहरों मे भी रिवाज का प्रभाव दिखाई देता है; हाँ, अब कम होता जाता है।

घर के काम के लिए नौकर रखते समय आदमी उनकी जाति का विचार विशेष रूप से करते हैं। मिसाल के तौर पर हिन्दुओं मे अधिकतर ब्राह्मण रसोइया रखने का चलन है, दूसरा आदमी कुछ कम वेतन पर भी रसोई बनाने के लिए नहीं रखा जाता है। कोई हरिजन कम वेतन पर ही काम करना स्वीकार करे तो उसे अनेक घरों मे इस काम के लिए नहीं रखा जायगा।

रहन-सहन का दर्जा और मजदूरी—रहन-सहन के दर्जे के विषय में, पहिले लिखा जा चुका है। उनका भी मजदूरी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बात यह है कि हरेक आदमी स्वभावत यह चाहता है कि उसके रहन-सहन का दर्जा ऊंचा होता जाय, वह कभी नीचा न हो, उसके नीचे होने से आदमी को कष्ट होता है, तथा समाज में प्रतिष्ठा घटने की आशंका होती है। इस-लिए मजदूर यही चाहता है कि मुझे कम-से-कम इतनी मजदूरी तो अवश्य मिले—जितनी मेरे परिवार के निर्वाह के लिए तथा मेरा रहन-सहन का दर्जा बनाए रखने के लिए आवश्यक है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक काम करने वाले दो ऐसी श्रेणियों के मजदूर होते हैं, जिनका रहन-सहन का दर्जा अलग-अलग होता है। ऐसी दशा में नीचे दर्जे के रहन-सहन वाले मजदूर अपेक्षाकृत कम मजदूरी पर काम करने को तैयार हो जाते हैं। इससे उनका दूसरी श्रेणी के मजदूरों से विरोध होता है।

प्रायः जिन मजदूरों का रहन-सहन का दर्जा वास्तव मे ऊँचा होता है, उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है और उनकी कार्य-क्षमता भी अधिक होती है। इससे उन्हे मजदूरी अधिक मिलने की सम्भावना होती है।

युद्ध और वेतन—युद्ध-काल में युद्ध सामग्री तैयार करने की आवश्य-कता बहुत बढ जाती है; शस्त्रास्त्र, तोप, बन्दूक, हवाई जहाज, टैंक, टारपीडो, जहाज, रेल, मोटर, सैनिक की वर्दी, डेरे, थैले आदि अनेक चीजें चाहिएं। इनके बनाने के लिए कारखानों का उत्पादन बढ़ाया जाता है, या नए कार-खाने खोले जाते हैं। इनमे यथेष्ट मजदूरों को आकर्षित करने के लिए उन्हें

अच्छा वेतन दिया जाता है। जो आदमी युद्ध सम्बन्धी उद्योगों मे भाग लेते हैं, उनमे से कुछ तो ऐसे होते हैं, जो पहले बेकार थे, उन्हे अब रोजगार मिल जाता है। इनके अतिरिक्त, बहुत-से आदमी दूसरे धन्धों को छोड कर युद्ध सम्बन्धी कारखानों में आ जाते हैं। जिन धन्धों के आदमी काम छोड़ कर यहाँ आते हैं, उनमे नये आदमियों की माँग बढती है। इस प्रकार, विविध धन्धो में श्रमजीवियो की माँग मे, और उनके साथ ही वेतन मे वृद्धि होती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, युद्ध के फल-स्वरूप पदार्थों की कीमत बढ जाती है। बढी हुई कीमतों का समाज की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के आदमियों पर कैसा प्रभाव पडता है, इसका विचार पहले किया जा चुका है। बहुधा लोगों की वेतन उस अनुपात से कम बढती है, जिस अनुपात से पदार्थों की कीमत बढा करती है। इससे सर्वसाधारण जनता का कष्ट बढ जाता है। प्रायः प्रत्येक दीर्घ-कालीन युद्ध के कुछ समय आगे-पीछे मजदूरों के असतोष की सूचना देनेवाली घटनाएँ अनिवार्य रूप से आती हैं।

अब हम भिन्न-भिन्न प्रकार के श्रमियों को मिलने वाली मजदूरी तथा उनकी आर्थिक स्थिति का विचार करते हैं।

कृषि श्रमियों की मजदूरी—कृषि श्रमियों के तीन भेद किए जा सकते हैं—(१) खेत-मजदूर, जो खेतों में जुताई, बुआई, निराई, कटाई आदि करते हैं, (२) कारीगर, जो खेती के औजार तथा किसानों के काम मे आनेवाली अन्य उपयोगी वस्तुएँ बनाते हैं (३) साधारण श्रमी जो अन्य कार्य करते हैं। इनमे से दूसरे और तीसरे प्रकार के श्रमजीवियों को अपेक्षाकृत अच्छी मजदूरी मिल जाती है। पहले प्रकार के श्रमियों की दशा सब से खराब है। इन्हीं को लक्ष्य मे रख कर, कृषि-श्रमियों के विषय मे कुछ बातों का उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है। इन्हे मजदूरी अधिकतर जिन्स मे मिलती है, और प्रायः फसल के दिनों मे कुछ अच्छी मिलती है। परन्तु कुछ को तो उन दिनो मे भी इतनी मजदूरी नही मिलती, जिससे अपना निर्वाह अच्छी तरह कर सके। दूसरे दिनों में तो इनकी दशा बहुत ही खराब हो जाती है। बेकारी की हालत मे उन्हे जो-भी काम मिल जाय, उसे करने को ये तैयार रहते हैं। इनमें से कुछ को, पास की मिलों या कारखानों मे साधारण श्रम का कार्य मिल जाता है; कुशल श्रम की आवश्यकता वाले कार्य करने की इनमे योग्यता नही होती। अस्तु, साल भर का कुल हिसाब लगाने पर इनकी औसत मजदूरी बहुत ही कम रहती है। इनकी मजदूरी बढाने के लिए आवश्यक है कि ग्राम-उद्योग-धधों की वृद्धि की जाय, जिससे ये लोग अवकाश

के समय का, अपने घर पर रहते हुए भी समुचित उपयोग कर सकें, और कुछ और आय प्राप्त कर सकें।

खानों और कारखानों के श्रमजीवियों की मज़दूरी भिन्न भिन्न खानों तथा कारखानों में, और एक ही खान या कारखाने सम्बन्धी भिन्न-भिन्न कामों में मजदूरी का परिमाण भिन्न भिन्न होता है। हमारे अधिकतर श्रमी अकुशल होते हैं, उनसे इतना काम नहीं होता, जितना औद्योगिक देशों के कुशल श्रमी कर सकते हैं। फलस्वरूप इन्हें वेतन भी साधारण ही मिलता है; हाँ, कृषि श्रमियों की तुलना में, नकदी के विचार से, इनकी मजदूरी बहुत अधिक होती है। परन्तु शहर के रहन सहन तथा मकान किराए आदि का खर्च भी बहुत अधिक होने से (एवं निम्न श्रेणी के वातावरण के कारण शराबखोरी आदि के व्यसन में फँस जाने से) उन्हें उतना लाभ नहीं होता। इन की मजदूरी बढाने के लिए इनकी कार्य-कुशलता का बढ़ना बहुत आवश्यक है। इसके वास्ते इनके काम के घंटे कम करने के साथ, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि ये अपना कुछ समय व्यावहारिक तथा मानसिक और नैतिक ज्ञान बढाने में लगा सकें।

कारीगरों या स्वतन्त्र श्रमियों की मज़दूरी—देश में अधिकतर लोगों की आर्थिक दशा अच्छी न होने के कारण उनकी आवश्यकताएँ कम हैं। फिर, उन में से भी कितनी ही आवश्यकताओं की पूर्ति मशीनों से बने सस्ते माल से हो जाती है। इसलिए कारीगरी की वस्तुओं की माग कम है। इससे कारीगरों की मजदूरी कम होनेवाली ठहरी। फिर अनेक कारीगर भी ऐसी हीन अवस्था में हैं कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी चीज तैयार करके उसके दाम उठाने की फिक्र में रहते हैं, इससे उनकी कार्य कुशलता का यथेष्ट उपयोग तथा विकाश नहीं हो पाता। देश की आर्थिक अवस्था में सुधार होने तक, कारीगरों की मजदूरी बढने की विशेष आशा नहीं है।

शिक्षितों का वेतन—यहाँ शिक्षित आदमियों को सरकारी नौकरी या दफ्तर आदि का काम अधिक पसन्द होता है, और इसका क्षेत्र बहुत परिमित होने से ऐसी नौकरी चाहनेवालों में बहुत प्रतियोगिता होती है। एक साधारण सी जगह खाली होने की सूचना प्रकाशित होने पर उसके लिए सैकडों आदमी उम्मेदवार हो जाते हैं। ऐसी दशा में वेतन कम हो तो क्या आश्चर्य! अस्तु, यहाँ शिक्षितों का वेतन बढाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-पद्धति इस तरह की हो कि शिक्षित व्यक्ति एकमात्र नौकरी के आसरे न रह कर विविध कार्यों में लगा करें।

स्त्री श्रमियों का वेतन—यद्यपि भारतवर्ष में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र

विशेषतया सन्तान-पालन और घर का कार्य माना जाता है, कुछ स्त्रियों को आर्थिक आवश्यकताओं अथवा स्वाभिमान की भावना से अपनी आजीविका के लिए कोई काम करना आवश्यक होता है। प्रायः उन्हे कई बाधाओं का सामना करना पडता है। प्रथम तो उन्हे शारीरिक शक्ति, शिक्षा या योग्यता कम होने के कारण थोड़े से ही व्यवसायों मे काम मिल पाता है। सामाजिक रिवाज या दस्तूर के कारण वे कई प्रकार के कामों को नही कर पाती। फिर, बहुधा समान काम होते हुए भी उन्हे पुरुषों की अपेक्षा कम वेतन दिया जाता है। कन्यापाठशालाओं मे पढाने के लिए स्त्री-अध्यापिका को पुरुष-अध्यापक की अपेक्षा वेतन अधिक भी मिलता है, पर इसका कारण है कि स्त्री-अध्यापिकाएँ अभी कम मिलती हैं।

'समान काम के लिए समान वेतन'—यह तत्व अब व्यापक रूप से अमल में आना चाहिए। इसमें स्त्री-पुरुष का भेद रखना अनुचित है। स्त्रियों की वेतन मे सुधार करने के लिए यह भी आवश्यक है कि विविध व्यवसायों का वर्गीकरण करके कम परिश्रम वाले कुछ कार्यों मे स्त्रियों को प्राथमिकता दी जाय। उन व्यवसायों के अध्यक्षों को बाध्य किया जाय कि वे उनमें, जब कोई विशेष कारण न हो, स्त्रियों को ही नियुक्त करे। स्त्री-श्रमियों के सगठन बढाने की भी आवश्यकता है।

न्यूनतम मजदूरी—औद्योगिक देशों मे मजदूरी का बाजार सुव्यवस्थित है। खासकर जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धन्धों मे काम करने वालों के सघ बन गए हैं, और निश्चित नियमों के अनुसार काम होता है, वहाँ एक धन्धे के मजदूर एक नियत वेतन से कम पर मिल ही नही सकते। कुछ देशों मे तो कानून द्वारा यह तय हो गया है कि मजदूरों को इतनी मजदूरी अवश्य ही मिले, जिससे उसका और उसके आश्रितों का निर्वाह हो सके। इसे न्यूनतम मजदूरी कहते हैं। कुछ समय हुआ 'दि ह्यूमन नीड्स आफ लेबर'—नामक एक अँग्रेजी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उससे मालूम होता है कि इगलैंड के राउटी महाशय ने प्रथम महायुद्ध से पहले वहाँ, यार्क नगर मे, नीचे लिखे नियमों के अनुसार मजदूरी निश्चित की थी—

(१) यह मान लिया गया कि प्रत्येक कुटुम्ब मे प्रायः एक पुरुष, एक स्त्री और तीन बालक रहते हैं।

(२) मजदूरी इतनी चाहिए कि मजदूर उससे अपने कुटुम्ब का साधारण रीति से पालन-पोषण कर सके। (राउटी महाशय स्त्री और बच्चों की मजदूरी को कुम्टुब की आमदनी में शामिल नही करते। उनका कहना है

कि कुटुम्ब के बढने पर स्त्रियों को अपने घरों का काम करने के बाद, न तो समय ही रहता है, और न शक्ति ही। इसलिए उनमे मजदूरी नहीं कराई जानी चाहिए। और, लडकों से तो स्कूलों में पढने के अलावा मजदूरी कराना बहुत ही अनुचित है।)

(३) मजदूरों का निवास-स्थान काफी हवादार होना चाहिए, और उसमें एक कुटुम्ब के लिए कम से-कम एक बडा कमरा, तीन सोने के कमरे और एक रसोई घर होना चाहिए।

(४) मजदूरों के अन्य आवश्यक खर्चों का भी विचार किया जाना चाहिए।

इस प्रकार उन्होंने, सन् १६१४ ई० मे, एक मजदूर की दैनिक मजदूरी पाँच शिलिंग या लगभग तीन रुपए नौ आने निश्चित की थी। भारतवर्ष में विशेषतया ग्रामों में रहनसहन का दर्जा निम्न श्रेणी का है। यहाँ योरपीय महायुद्ध से पहले एक श्रमी के साधारण भोजन वस्त्र का न्यूनतम खर्च तीन आने अनुमान किया गया था। उसके परिवार के (उसके आश्रित) अन्य व्यक्तियों की आवश्यकताओं मे कुछ भेद होते हुए भी, उनके कुल परिमाण के मूल्य का अनुमान उतना ही अर्थात् तीन-तीन आने किया जा सकता है। इस प्रकार पाँच व्यक्तियों के कुटुम्बवाले आदमी के भोजन-वस्त्र के लिए पन्द्रह आने की आवश्यकता थी। यदि अन्य आवश्यकताओं के लिए केवल एक आना भी और रखा जाय, तो राउटी महाशय के पूर्वोक्त नियमों के अनुसार ग्रामवासी भारतीय श्रमी की दैनिक मजदूरी प्रथम योरपीय महायुद्ध से पहले कम से कम एक रुपया, और नगर-निवासी की इससे अधिक होनी चाहिए थी।

ग्राम-उद्योग-संघ और चर्खा-संघ का प्रयोग—मजदूरों के न्यूनतम वेतन की ओर, सरकारी एव गैर सरकारी संस्थाओं की यहाँ प्रायः उपेक्षा ही रही है। ऐसे वातावरण में किसी का इस दिशा में कदम बढाना निस्सन्देह बडे साहस का काम है। अखिल-भारत ग्राम-उद्योग सघ और चर्खा-सघ ने सन् १६३५ ई० में म० गाधी की प्रेरणा से कम-से-कम मजदूरी के प्रश्न का न केवल विचार करके, वरन् उसे व्यावहारिक स्वरूप देकर अपनी नीति में जो परिवर्तन किया, वह परिमाण मे कम दिखाई देने पर भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ग्राम उद्योग-सघ के २२ अगस्त १६३५ के प्रस्ताव के ये शब्द बडे मार्के के हैं कि 'संघ की सरक्षता मे तैयार होने या बेची जानेवाली तमाम चीजों के लिए हर कार्यकर्त्ता का आठ घन्टे के पूरे काम के हिसाब पर कम से-कम इतनी मजदूरी तो मिलनी ही चाहिए जो उसकी शास्त्रीय (वैज्ञानिक)

खुराक के लिए काफी हो। जैसे-जैसे और जब परिस्थिति अनुकूल हो, तब मजदूरी की दर मे उस दर्जे तक वृद्धि होती जानी चाहिए, जिससे कुटुम्ब के कार्यक्षम व्यक्तियों की कमाई मे सारे कुटुम्ब की ठीक तरह से गुजर हो सके।' इसी आशय का प्रस्ताव अ० भा० चर्खा-सघ ने कत्तिनों के सम्बन्ध मे स्वीकार किया।

इस योजना के अनुसार काम करने के लिए चार बातें आवश्यक थीं:—(१) यह मालूम करना कि साधारणतया किसी व्यक्ति के लिए कम से-कम आवश्यक भोजन क्या है, और, भिन्न-भिन्न प्रान्तों मे उसकी कीमत क्या है। (वस्त्र की आवश्यकता का अनुमान करना कुछ कठिन नहीं होता)। (१) ऐसी व्यवस्था करना कि श्रमी अपनी मजदूरी के पैसों को फजूलखर्ची में न उडाए, वरन् उनसे आवश्यक भोजन, आरोग्यता और शक्ति प्राप्त करें। (३) मजदूरी बढाने से खद्दर का दाम बढना, और फल-स्वरूप खद्दर की माँग घटना स्वाभाविक था, इसका उपाय सोचना। (४) दूसरी और तीसरी बात के लिए, अन्यान्य उपायों में, कत्तिनों को खादी का व्यवहार करने के लिए तैयार करना।

पहले यह मालूम किया गया कि कताई-क्षेत्र मे रहनेवाली जनता को किस प्रकार का भोजन अनुकूल होगा। फिर, इसके आधार पर योग्य डाक्टरों के साथ सलाह-मशवरा करके, कम-से-कम आवश्यक भोजन का परिमाण निश्चित किया गया। एक आदमी के साधारण आवश्यक दैनिक भोजन के मूल्य का, आहार की वस्तुओ के स्थानीय मूल्य के अनुसार, हिसाब लगाया गया, और इसे आवश्यक खादी की कीमत के साथ जोडकर दैनिक आठ घटे के सतोषजनक कार्य की कम-से-कम मजदूरी निश्चत की गई। यद्यपि देश के विविध हिस्सो के रहनेवाले लोगों के आवश्यकीय आहारों में काफी अन्तर है तो भी यह मालूम हुआ कि उक्त आधार पर हिसाब करके कम-से-कम दैनिक मजदूरी =) से ≡) तक होनी चाहिए। पहले कताई की रोजाना मजदूरी छः सात पैसे ही थी, और बहुतसी स्त्रियो को इतनी मजदूरी का काम भी नही मिलता था। नए आधार पर गिने हुए, कताई-दर पहले के दर से २५ से ७५ फी सदी तक बढ गए। यह बढा हुआ दर जुदा-जुदा सूबों में जारी कर दिया गया।

कुछ केन्द्रों में, प्रारम्भ मे कत्तिनो को खादी का व्यवहार करने के लिए राजी करना कठिन था। किन्तु मजदूरी की वृद्धि ने इन कठिनाइयों को दूर करने में मदद की और पर्याप्त सख्यक कत्तिनों ने नए कार्यक्रम के अनुसार काम करने के लिए सम्मति दी। कताई की मजदूरी मे वृद्धि होने

के कारण प्रायः खादी का दाम दस फी सैकड़ा बढ़ गया। परन्तु खादी-प्रेमी जनता ने खादी की बिक्री यथा सम्भव कम न होने दी। इसके अतिरिक्त कत्तिनों की मजदूरी बढ़ने से उनके काम का उत्थान हुई और खादी खरीदने वाली जनता पर बहुत अधिक भार नहीं पड़ा। पिछले वर्षों में कताई की दैनिक मजदूरी प्रायः छः आने से आठ आने तक रही है।

सरकार और न्यूनतम मजदूरी—केन्द्रीय व्यवस्थापक मंडल ने फरवरी १९४७ में न्यूनतम मजदूरी सम्बन्धी कानून बनाया है। उसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को निर्दिष्ट उद्योगों में न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने तथा उसमें संशोधन करने का अधिकार रहेगा। न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करने के लिए सरकार सलाहकार तथा उपसमिति नियुक्त करेगा। अन्यान्य उद्योगों में निम्नलिखित उद्योग न्यूनतम मजदूरी के लिए निर्दिष्ट किए गए हैं। ऊनी गलीचे अथवा कम्बल बनाने के कारखाने, चावल, आटा या दाल के कारखाने, बीड़ी बनाने का उद्योग, तेल का कारखाना, सड़क और मकान बनाने का कार्य, लाख और अभ्रक का उद्योग, कृषि-श्रम और गोशालाओं आदि का काम। प्रान्तीय सरकारों को इन उद्योगों में अन्य उद्योग सम्मिलित करने का अधिकार दिया गया है।

उपर्युक्त उद्योग-धन्धों की संख्या तथा उनमें लगे हुए श्रमिकों की संख्या को देखते हुए यह स्पष्ट है कि इस कानून का क्षेत्र व्यापक है, और यदि इसे अच्छी तरह अमल में लाया जाय तो देश की अर्थव्यवस्था पर इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा।

कुछ उद्योगपतियों तथा अन्य लोगों को यह आशंका है कि इस कानून से उद्योगों में मजदूरी की मद का व्यय बढ़ जायगा, कीमतों की दर चढ़ेगी, अथवा उत्पादन में कमी होगी, और जो उद्योग धन्धे इस भार को सहन नहीं कर सकेंगे, वे बन्द हो जायँगे। इस प्रकार देश में पदार्थों की कमी और उत्पादन-संकट उपस्थित हो जायगा। इसके जवाब में श्री श्रम-मंत्री ने व्यवस्थापक सभा में कहा था कि जो उद्योग अपने श्रमियों को न्यूनतम मजदूरी नहीं दे सकता, वह वास्तव में श्रमियों के शोषण पर चलता है, और राष्ट्र के हित में उसे बन्द करना ही ठीक होगा। यदि राष्ट्र को उसकी आवश्यकता है तो सरकार ऐसे उद्योग को इतनी अर्थ-सहायता देगी, जिससे वह अपने श्रमियों को न्यूनतम मजदूरी दे सके। श्रम-मंत्री का यह कथन भी ध्यान में रखने योग्य है कि आज जो कृषि श्रमी यथेष्ट मजदूरी न मिलने के कारण पूरे उत्साह से काम नहीं कर रहा है, वह न्यूनतम मजदूरी मिलने पर अवश्य ही अधिक श्रम और उत्साह से काम

करेगा, इससे खाद्य उत्पादन मे वृद्धि होगी। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन भी बढ़ेगा। वास्तव मे श्रमियों की कार्य-कुशलता बहुत-कुछ उनको दी जाने वाली मजदूरी पर निर्भर होती है, और न्यूनतम मजदूरी मिलने की व्यवस्था होने से श्रमियों का सन्तुष्ट होना और उनकी कार्य-कुशलता बढना स्वाभाविक ही है।

अस्तु, यहाँ न्यूनतम मजदूरी का कानून बनना औद्योगिक इतिहास की बहुत महत्त्व-पूर्ण घटना है, तथापि जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इसकी यथेष्ट सफलता इसके उपयोग पर निर्भर है, और यह कार्य बहुत कुछ प्रान्तीय सरकारों के करने का है।

प्रान्तीय सरकारों का कार्य—प्रान्तीय सरकारें इस विषय की ओर ध्यान दे रही हैं, पर अभी उनका कार्य सतोषप्रद नही है। उदाहरण के तौर पर उत्तर प्रदेशीय सरकार ने दिसम्बर १९४७ में मजदूर-जॉच समिति नियुक्त की थी। इसमें उद्योगपतियों के भी प्रतिनिधि थे। समिति ने स्वर्गीय निम्बकर की रिपोर्ट अप्रेल १९४८ मे उपस्थित की थी। इसमे मजदूरों का वेतन, महँगाई, भत्ता, बोनस, काम करने की स्थिति, भरती की प्रणाली, निवास की व्यवस्था, आदि बातों पर विचार किया गया है। सरकार ने इस आवश्यक रिपोर्ट पर अपना निर्णय देने में बहुत देर की। उसका निर्णय नवम्बर १९४८ मे प्रकाशित हुआ है। फिर, सरकार ने समिति की सिफारिशों को अंशतः ही स्वीकार किया है। उसने प्रस्तावित न्यूनतम मजदूरी की बात मान तो ली है, पर भिन्न भिन्न उद्योगो के लिए अलग-अलग न्यूनतम मजदूरी रखी है। यह बात 'न्यूनतम मजदूरी' के सिद्धान्त के विरुद्ध है, क्योंकि न्यूनतम मजदूरी उतनी मजदूरी होती है, जिससे निम्न श्रेणी के लोगों का निर्वाह हो सके। यह जुदा-जुदा स्थानों मे तो अलग-अलग हो सकती है, पर एक ही स्थान मे जुदा-जुदा धन्धों के लिए अलग-अलग नहीं होनी चाहिए। आवश्यकता है कि प्रान्तीय सरकारें इस युग की मॉग पर उदारतापूर्वक विचार करें।

वेतन सम्बन्धी समस्या—किसी प्रकार का श्रम करनेवाले को कितना वेतन मिले, भिन्न भिन्न श्रमियो के वेतन मे क्या अनुपात रहे, यह समस्या बहुत जटिल है, और इस पर प्रायः बहुत कम विचार किया जाता है। यहाँ भारतवर्ष मे वायसराय को मासिक वेतन पॉच हजार रुपये से अधिक मिलता है, (भत्ते और मार्ग व्यय आदि की रकमे अलग रही) उससे नीचे उतर कर भिन्न-भिन्न पदवालों को क्रमशः कम वेतन मिलता है, यहाँ तक कि अनेक निम्न कर्मचारियों को तीस तीस रुपये महीने मे सन्तोष करना पड़ता है। इस प्रकार यहाँ एक कर्मचारी दूसरे कर्मचारी की अपेक्षा एक सौ गुने से

अधिक वेतन पाता है। अनेक देशों में निम्न पदाधिकारियों का वेतन इतना कम और उच्च पदाधिकारियों का वेतन इतना अधिक नहीं होता।

अच्छा, शासन के अतिरिक्त अन्य क्षेत्र का बात सोचे। मिल का मैनेजर चार-चार पाँच पाँच हजार रुपये मासिक वेतन क्यों पाता है, जब कि यहाँ दिन भर सख्त मेहनत करने वाले अनेक मजदूरों को तीस पैंतीस रुपये महीना या इससे भी कम मिलता है। यह ठीक है कि मैनेजर की योग्यतावाले व्यक्तियों की संख्या बहुत कम होती है, इस योग्यता को प्राप्त करने में कई वर्ष का समय और हजारों रुपये की रकम खर्च होती है, इसके विपरीत, मजदूर तो अनेक मिल सकते हैं। इसलिए, माँग और पूर्ति के नियम के अनुसार मैनेजर का वेतन बहुत अधिक और मजदूर का बहुत कम होता है। किन्तु क्या वेतन की इतनी विषमता उचित है? और, क्या दो व्यक्तियों की, भोजन-वस्त्र आदि की मूल अर्थात् प्राकृतिक आवश्यकताओं में इतना अन्तर होता है? निपुणतादायक पदार्थों तथा कृत्रिम या सामाजिक आवश्यकताओं का विचार न करें तो भी वेतन में अन्तर न होना चाहिए।

श्रम की गतिशीलता (Mobility of Labour)—श्रम गतिशील है—वह एक स्थान से दूसरे स्थान तथा एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में जा आ सकता है। इसका प्रभाव भी मजदूरी पर पड़ता है। श्रम की गतिशीलता अधिक होने में कुछ बाधाएँ हैं। प्रथम तो लोगों का अपने घर-परिवार-नगर आदि का मोह छोड़ना कठिन है। फिर, दूसरी जगह जाने में खर्च पड़ता है। सम्भव है वहाँ चीजें कुछ महँगी हों। भिन्न भिन्न स्थानों का रहन-सहन, भाषा, आचार-विचार, जलवायु आदि भिन्न होता ही है। बहुधा दूसरे स्थान में आदमियों को यथेष्ट सहानुभूति की जगह विद्वेष भाव मिलता है। भारतवर्ष आदि देशों में कुछ सामाजिक या धार्मिक बाधाएँ भी हैं। तथापि जीवन-संग्राम का संघर्ष बढ़ने के कारण उपर्युक्त बाधाओं पर क्रमशः विजय प्राप्त की जा रही है। इसमें आमदरफ्त के साधनों की वृद्धि से बहुत सहायता मिलती है।

साधारणतया आदमी जो धन्धा करता है, उसी के लिये उसकी सन्तान भी तैयार हो जाती है, कारण, उस व्यवसाय की शिक्षा आदि उसे सहज ही, बहुधा घर पर ही मिल जाती है। अपनी विशेष रुचि के कारण कुछ युवक अपने पैत्रिक कार्य को छोड़ते हैं, तो इससे जैसे एक काम के करने वालों में कमी होती है, वैसे कुछ अन्य कार्य करने वाले युवक इस कार्य के करने वालों में शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिला कर प्रायः एक व्यवसाय वालों की संख्या, उस व्यवसाय में पूर्व पीढ़ी में लगे हुए लोगों की

संख्या पर निर्भर है, और कुल जन-संख्या के लगभग उसी अनुपात मे रहती है ।

भारतवर्ष मे श्रमियो के स्थान तथा व्यवसाय परिवर्तन मे एक बड़ी बाधा यहाँ की जाति-प्रथा है । अनेक आदमी विशेषतया ऊँची जातियों के ऐसे हैं, कि वे अपने स्थान मे बहुत कम वेतन पर काम करते हैं, अथवा बेकार भी रहते हैं, पर अत्यन्त लाचारी की दशा के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर जाकर काम करना स्वीकार नही करते । अपना पुश्तैनी पेशा छोड़ना तो उनके लिए और भी अधिक कठिन है । निम्न जातियों मे यह बात नहीं होती । यही कारण है कि प्रत्येक प्रान्त मे बाहर से आकर बसे हुए और साधारण वेतन पर काम करने वाले अधिकाश मे निम्न जातियों के ही आदमी होते हैं । प्रायः दफ़्तरो मे चपरासी आदि के काम के लिये ऐसे आदमी की जरूरत होती है, जो वहाँ के कर्मचारियों को पानी पिलाने के अतिरिक्त जूठे बर्तन भी माँज दे । बहुत से आदमी व्यक्तिगत रूप से जूठे बर्तन माँजने मे कोई आपत्ति नही समझते, पर उन्हे भय होता है कि ऐसा करने से वे कहीं जातिच्युत न कर दिये जायँ । इसलिए वे ऐसी नौकरी करना स्वीकार नहीं करते ।

कभी कभी ऐसा होता है कि किसी वस्तु की माँग कम रह जाने, या बाहर से उस वस्तु के बनाने वाले कुछ आदमियों के आ जाने या अन्य किसी कारण से, उस वस्तु के व्यवसाय में श्रमियों की संख्या का अनुपात इतना अधिक हो जाता है कि उसमे प्रति व्यक्ति धनोत्पत्ति का परिमाण कम होने लगता है । ऐसी दशा मे यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ श्रमी उसे छोड कर दूसरे अधिक उत्पादक व्यवसाय मे लगे । अब यदि पहला व्यवसाय ऐसा है कि साधारण श्रम से होता है, तो उन श्रमियों को उसे छोड कर दूसरा साधारण श्रम वाला व्यवसाय करने मे कुछ असुविधा नही होती । परन्तु यदि पहले व्यवसाय मे कुशल श्रमी लगे हुए हैं, तो इनके लिये उसे छोड़ कर दूसरा कुशल श्रम करने वाला व्यवसाय करने मे बहुत बाधा उपस्थित होती है, कारण, इस नये व्यवसाय के लिये उन्हे कुछ विशेष शिक्षा और योग्यता आदि की आवश्यकता होगी, जिसे प्राप्त करने में कुछ समय तथा व्यय लगेगा । यदि यह जान पडे कि इस नवीन व्यवसाय में सुदीर्घ काल तक श्रमियों की माँग रहेगी, और उसमे उनके पुराने कार्य की अपेक्षा अधिक धनोत्पत्ति होगी, तो सम्भव है, कुछ आदमी इस नये व्यवसाय का अवलंबन करने के लिये प्रोत्साहित हों । हाँ, वे अपने बालकों को नये व्यवसाय के लिये तैयार करने का सहज ही विचार करने लगेंगे ।

स्थान-परिवर्तन और व्यवसाय परिवर्तन मे होने वाली श्रम की गतिशीलता एक साथ अर्थात् इकट्ठी भी हो सकती है, और पृथक् पृथक् भी। उदाहरणवत् एक श्रमी को अपने व्यवसाय परिवर्तन के लिये अन्य स्थान में जाने की भी आवश्यकता हो सकती है, एव उसी स्थान मे भी उसको अवसर मिल सकता है।

एक दूसरे प्रकार की गतिशीलता यह है कि श्रमी अपने ही व्यवसाय मे उत्तरोत्तर उन्नति करे। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति पहले सब-ओवरसियर हो, वह पीछे ओवरसियर हो जाय; और पश्चात क्रमशः उन्नति करते हुए इंजीनियर बन जाय। शिक्षित व्यक्ति ही ऐसी उन्नति करने मे समर्थ हो सकते हैं, उन्हे एक व्यवसाय मे उन्नति करने की सुविधा अधिक होती है।

वेतन पर सामाजिक बातों का प्रभाव—वेतन की दर सामाजिक रिवाजों से भी प्रभावित होती है, भारतवर्ष मे तो पुरानी प्रथाओं तथा रीति-रस्मों का प्रभाव और भी अधिक होता है। गाँवों मे किसान प्राय: अपने व्यवहार में सामयिक स्थिति का इतना विचार नहीं करते, जितना इस बात का कि वर्षों से क्या होता आ रहा है। इस प्रकार प्रायः खेत पर काम करने-वाले मजदूर, और कुछ दशाओं मे बढई और लुहार आदि को मिलने वाला वेतन चिरकाल से एक-सा ही चला आता है। यह बात कुछ अशों में शहरों में भी है। जिन घरों में कोई खास पुश्तैनी धोबी या नाई आदि लगा हुआ है, वहाँ उसकी मजदूरी रिवाज के अनुसार बँधी हुई है, उसमें सहसा परिवर्तन नहीं होता। अनेक स्थानों मे मेहतरों को माहवारी उतने ही पैसे मिलते हैं, जितने बीस तीस वर्ष पहले मिलते थे, यद्यपि इस बीच मे पदार्थों की दरों में भारी उतार-चढाव हो चुका है।

यह तो रिवाज की बात हुई। अन्य सामाजिक बातों मे जनसख्या का प्रभाव उल्लेखनीय है। ऊपर कहा जा चुका है कि मजदूरी की दर का देश की आबादी से घनिष्ठ सबध है। साधारणतया मनुष्यों की सख्या जितनी अधिक होती है मजदूरी की दर उतनी ही कम हो जाती है। इसलिए विविध देशों में समय-समय पर, जन सख्या कम करने के उपाय किए जाते हैं। अविवाहित रहकर, बडी उमर मे विवाह करके, जान बूझकर सतान कम पैदा करके, अथवा कुछ आदमी विदेशों में भेजकर जन-सख्या की वृद्धि रोकी जाती है। शिक्षा, सभ्यता और सुख की वृद्धि से संतानोत्पत्ति कम होती है। भारतवर्ष की जन-सख्या पर्याप्त है, यद्यपि प्रकृति महँगी और रोगों द्वारा यहाँ सहार का कार्य खूब करती है, तथापि सतानोत्पत्ति भी अधिक होने के कारण यहाँ की जनसख्या घटती नहीं है। जीविका-प्राप्ति के मार्ग

कम और जन-सख्या अधिक होने के कारण, यहाँ मजदूरी की दर, अन्य देशों की अपेक्षा, बहुत कम है। इसलिए मजदूरों की दशा सुधारने के वास्ते यह बहुत ही आवश्यक है कि उनकी योग्यता बढ़ाने और उद्योग-धधों की वृद्धि करने के अतिरिक्त, यहाँ की जन-सख्या यथा-सभव कम रहे।

वेतन का आदर्श—भिन्न-भिन्न श्रमियों के वेतन का आधार क्या हो? आर्थिक जगत मे माँग की पूर्ति का नियम चल रहा है। क्या यह नीतियुक्त है? हमारी आदत ऐसी पड़ गई है कि जिस बात को नित्य होते देखते हैं, उसमें हमें कोई अनौचित्य नहीं जान पडता। हम कह देते हैं कि श्रमी को काम करने की स्वतन्त्रता है, यदि उसे अपना वेतन कम जँचता है तो वह काम छोड सकता है। इस कथन मे सत्यता है, पर निष्ठुरता भी कम नहीं। उपर्युक्त श्रमी अवश्य हो उस का को छोड़ने मे कानून से स्वतन्त्र है, पर अपनी उदरपूर्ति की बात से, अपनी भौतिक आवश्यकताओं की थोडी बहुत पूर्ति से किस प्रकार मुक्त हो सकता है? अगर एक बेकार और भूखे आदमी को कोई पैसेवाला यह कहता है कि तू दिन भर काम कर, तुझे चार पैसे दिए जायँगे, तो श्रमी यह जानते हुए भी कि यह वेतन उसके निर्वाह के लिए निताल कम है, उससे कैसे इनकार कर सकता है? वह सोचता है कि कुछ न मिलने की अपेक्षा तो जो कुछ मिल जाय, वही अच्छा है। इस प्रकार यदि वह लाचारी से चार पैसे स्वीकार करता है तो क्या उसका उचित वेतन है? क्या वेतन-सम्बन्धी वर्तमान विषमता ही आधुनिक अशान्ति, असन्तोष और समाजवाद आन्दोलन का एक मुख्य कारण नहीं है?

पाठकों के विचारार्थ वेतन सम्बन्धी आदर्श के विषय में हम कुछ बातें नीचे देते हैं। ये बातें तुरन्त ही पूर्ण रूप से कार्य में परिणत की जानी कठिन हैं, तथापि इन्हें आदर्श मान कर इस दिशा में क्रमशः कदम बढाया जाना, हम उचित और आवश्यक समझते हैं।

१— जो व्यक्ति दिन भर मे अधिक से अधिक आठ घंटे† और सप्ताह में छः दिन ईमानदारी से परिश्रम-पूर्वक कोई कार्य करे, उसे इतना वेतन दिया जाना चाहिए जिससे उसका तथा उसके आश्रित (काम न कर सकने वाले) व्यक्तियों का साधारणतया निर्वाह हो सके।

२—कार्य करने के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार

---

† अनेक स्थानों में श्रमियो से काम करने के घटों का औसत इससे बहुत कम है, अथवा बहुत कम करने का आन्दोलन चल रहा है। हम भारतवर्ष में अभी अधिकाश जनता के विचार से इसे ही उचित समझते हैं।

काम दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसे काम न मिल सके, उसके निर्वाह की व्यवस्था राज्य की ओर से रहनी चाहिए।

३—समाज में जिस-जिस प्रकार के श्रम की आवश्यकता होती है, उनके कम से कम वर्ग बना दिए जाने चाहिए। प्रत्येक वर्ग में निर्धारित समय पर काम करने वाले का वेतन समान होना चाहिए। निम्नस्थ और सर्वोच्च वर्ग के पदाधिकारी के वेतन में यथा-सम्भव साम्य रखने का प्रयत्न किया जाय। किसी भी दशा में उनके वेतन में एक और दस से अधिक का अनुपात न हो।

४—शिक्षा प्राप्ति काल में बालक बालिकाओं का भरण-पोषण उनके संरक्षकों के वेतन से होना चाहिए; जिनके-संरक्षक समर्थ या जीवित न हों उनकी शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था राज्य द्वारा होनी चाहिए।

५—देश में कोई भी पद किसी रंग, जाति या धर्मविशेष के व्यक्तियों के लिए सुरक्षित न होना चाहिए। प्रत्येक पद प्राप्त करने का मार्ग प्रत्येक नागरिक के लिए प्रशस्त रहे।

६—निम्न श्रेणी के श्रमियों को, विशेषतया जिनके विषय में यह आशंका हो कि वे अपने जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी वस्तुओं को खरीदने में कमी करके भी वेतन का काफी भाग मादक द्रव्य आदि विलासिता की वस्तुओं में खर्च कर देंगे, उन्हें वेतन का निर्धारित भाग उन वस्तुओं में दिया जाय, जो उनके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हों।

अभ्यास के प्रश्न

१—"रहन-सहन का दर्जा" से आप क्या समझते हैं? मजदूरों के रहन-सहन का दर्जा बढ जाने से उनकी मजदूरी पर क्या असर पड़ता है? (१६३८)

२—मजदूरी निर्णय करने में भारतीय सामाजिक बातों का कहाँ तक प्रभाव पडता है? (१६३७,१६२६)

३—नकद मजदूरी और असली मजदूरी में क्या अन्तर है? भारतीय उदाहरण सहित समझाइए कि रहन-सहन के दर्जे का मजदूरी पर क्या प्रभाव है? (१६३६)

४—"उत्पादक यह समझने लगे हैं कि महँगी मजदूरी का काम सस्ता और सस्ती मजदूरी का काम महँगा पड़ता है।" उक्त कथन को भली प्रकार समझाइए। (१६३५)

५—"श्रम की गतिशीलता" समझाइए। भारतीय किसान, मजदूर और कारीगर की गतिशीलता का सकारण आभास कराइए। (१९३४)

६—आपकी राय मे भारत मे प्रचलित व्यवहार के कारण मजदूरी और उसकी कार्य-क्षमता मे कहाँ तक विषमता रहती है ? (१९३३)

७—"श्रम की गतिशीलता" किन बातों पर निर्भर है ? भारत मे मजदूरी की गतिशीलता के मार्ग मे कौन से रोडे अटकते हैं ? समझाइए।

८—"वेतन सम्बन्धी विषमता ही आधुनिक अशाति और आदोलन का कारण है।" उक्त कथन की विवेचना करिए तथा बताइए कि वेतन का आदर्श क्या होना चाहिए ?

९—"मजदूरी उसी प्रकार निश्चित होती है जैसे किसी वस्तु की कीमत।" आपकी क्या राय है ? (१९२९)

१०—"श्रम नश्वर पदार्थ है।" उक्त कथन को समझाइए। मजदूरी निश्चित करने मे इसका क्या असर पड़ता है ? (१९२९)

११—कारीगर, घरेलू नौकर तथा पुलिस के सिपाही की मजदूरी को दृष्टि मे रखते हुए असली मजदूरी को विस्तार पूर्वक समझाइए। (१९२८)

१२—न्यूनतम मजदूरी किस प्रकार निश्चित की जाती है ?

पैंतीसवाँ अध्याय

सूद (Interest)

प्राक्कथन—पूँजी का व्यवहार करने देने के बदले मे पूँजीवाले को जो द्रव्य आदि दिया जाता है, उसे सूद या ब्याज कहते हैं। कुछ आदमी अपने उत्पन्न धन में से सब खर्च न कर, यथा-शक्ति कुछ जमा करते जाते हैं। इस सचित धन से वे धनोत्पादन का कार्य अथवा भावी आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करते हैं। असमर्थता, अज्ञान या अराजकता आदि की दशा में बहुधा आदमी अपना धन जमीन मे गाड़कर रखते हैं। परन्तु जब कोई ऐसी अवस्था न हो, और साथ ही पूँजीवाला व्यापार-व्यवसाय की जोखिम भी न उठाना चाहे, तो वह अपनी पूँजी दूसरे लोगों को व्यवहार करने के लिए दे सकता है। ऐसा करने में उसे अपनी आवश्यकताओं की तत्कालीन पूर्ति से मिलनेवाले संतोष का त्याग करना पड़ता है। इसके प्रतिफल स्वरूप जी का सूद मिलता है।

सूद पर रुपया उधार देना साधारणतः उतना लाभदायक नहीं होता जितना उसे व्यापार व्यवसाय में लगाना। परन्तु यह इससे तो अच्छा ही है कि वह व्यर्थ पड़ा रहने दिया जाय। सूद पर रुपया देने वाला औरों का धन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इससे उसका धन (सूद द्वारा) बढ़ता है, और जिन्हें वह उधार देता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

सूद के दो भेद, कुल और वास्तविक—अर्थशास्त्र की दृष्टि से ब्याज के दो भेद हैं— कुल सूद, और वास्तविक सूद। 'कुल सूद' को व्यवहारिक भाषा में प्रायः 'सूद' ही कहते हैं। इसमें असली ब्याज के अतिरिक्त (क) पूँजीवाले के जोखिम उठाने का प्रतिफल, (ख) ऋण की व्यवस्था करने का खर्च और (ग) पूँजीपति की असुविधाओं का प्रतिफल होता है।

पूँजीवाले को जोखिम यह उठानी पड़ती है कि कहीं उधार लेने वाले की बेईमानी या उसके धन्धे की असफलता के कारण पूँजी मारी न जाय। ऋण की व्यवस्था करने के खर्च में वह खर्च शामिल है, जो पूँजीवाला हिसाब रखने, पहरा देने या रुपया वसूल करने आदि के लिए नियुक्त कर्मचारियों पर करता है। पूँजीपति की असुविधा इस प्रकार हो सकती है कि कभी-कभी कर्जदार कर्ज बहुत अधिक समय के लिए चाहता है, अथवा वह ऋण ऐसे समय चुकाता है, जब वह रकम कहीं अच्छे सूद पर नहीं लगाई जा सकती।

सूद के प्रति लोगों की भावना—प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में सूद का विरोध किया गया है। इसका कारण यह मालूम होता है कि बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के चलने के पहले, बहुत दुःखी और लाचार आदमी ही ऋण लेते थे, और उनसे सूद लेना निर्दयता या बेरहमी का कार्य समझा जाता था। भारतवर्ष में सूद का एक दम निषेध न करके सूद की दर नियमित करने की ओर ध्यान दिया गया है। गिरवी आदि से सुरक्षित ऋण पर मनु जी ने प्रतिमास ऋण के अस्सीवें भाग, अर्थात् सालाना १५ फी सदी सूद की अनुमति दी है, और अरक्षित ऋण के लिए दो फी सदी माहवार भी अनुचित नहीं ठहराया है। सूद की दर, ऋण लेने वाले की जाति पर भी निर्भर रहती थी। नीच जातिवालों से सूद अधिक लिया जाता था।* कुछ शास्त्रकारों ने 'दामदुपट' का नियम ठहराया है, अर्थात् सूद की रकम बढ़ाने की सीमा यह नियत कर दी है कि वह मूलधन के दुगुने तक हो सके, उससे

---

* इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन लोगों से रुपया वसूल होना अधिक कठिन होता है।

अधिक नहीं। सूदखोरी अर्थात् अत्यन्त अधिक व्याज का, धार्मिक दृष्टि से, यहाँ बहुत निषेध है। मुसलमानों के यहाँ तो सूद की बिलकुल मनाही ही है। परन्तु अब आर्थिक युग है। कितने ही अच्छी स्थिति के मुसलमान भी व्याज की कमाई से परहेज नहीं करते।

समाजवादियों का मत है कि सम्पत्ति केवल श्रम का फल है। पूँजीपतियों के पास जो सम्पत्ति है, वह उन्होंने मजदूरों को कम मजदूरी देकर, अर्थात् उनके हिस्से की कुछ-कुछ सम्पत्ति अपने लिए बचा कर संग्रह की है। यह उनके द्वारा मजदूरों का शोषण किए जाने से, जमा हुई है। इस पर वास्तव में उनका कोई अधिकार नहीं है। इस प्रकार इस सम्पत्ति को उधार देकर उस पर सूद लिया जाना अनुचित है। परन्तु जब तक राज्यों में नागरिकों को व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकारी माना जाता है, पूँजी पर सूद लिया और दिया ही जायगा, अन्यथा उद्योग धन्धे और व्यापार के लिए पूँजी नहीं मिलेगी।

विविध-ऋणदाता—अब हम भिन्न-भिन्न ऋण-दाताओं के विषय में विचार करते हैं। बैंकों के विषय में पहले लिखा जा चुका है। यहाँ ग्रामों में बैंकों की व्यवस्था होने की बड़ी आवश्यकता है, जिससे वहाँ वालों को कम सूद पर रुपया उधार मिल सके। यदि मिश्रित पूँजी की कम्पनियों का ऐसा संगठन हो जाय कि वे गाँववालों के जेवर आदि गिरवी रखकर उन्हें महाजनों की तरह रुपया उधार दे सकें तो बहुत उत्तम हो।

देहातों में बनिए या महाजन खेती के लिए पूँजी उधार देते हैं। कभी-कभी अनुत्पादक कार्य या फजूलखर्ची के वास्ते भी उनसे ऋण ले लिया जाता है। महाजन के खिलाफ बहुत-सी बातें कही जाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि उसकी कार्य-प्रणाली में कई दोष हैं, पर वह सर्वथा गुणहीन भी नहीं हैं। उसमें गुण दोष दोनों का मिश्रण है। प्राचीन काल में महाजन ने ग्रामों के आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कृषि के धन्धे को समय-समय पर पूँजी की आवश्यकता होती है, और महाजन ने इसकी विविध प्रकार से पूर्ति की है। वह निरा निर्दयी भी नहीं होता। पहले वह किसान की सुख-समृद्धि में ही अपना हित समझता था। पर क्रमशः स्थिति बदलती गई। सरकारी लगान जिन्स की जगह नकदी में लिये जाने लगा। विगत शताब्दी की राजनैतिक उथल-पुथल में लगान का परिमाण बहुत बढ़ गया, और उसे वसूल करने में सहृदयता का भाव कम रह गया। अन्य सरकारी कर भी बढ गए। उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए। आर्थिक आवश्य-

कताओं और पूंजीवाद के भावों ने महाजन को लोभी बना दिया। इसके अलावा मालगुजारी और लगान चुकाने की जिम्मेदारी सब से अधिक मानी जाने से, और इसके बाद सहकारी समितियों के ऋण को मुख्य स्थान दिए जाने के कारण, महाजन को अपना रुपया डूबने का भय बना रहता है। इसलिए भी वह सूद अधिक लेने लगा, तथा हिसाब गढने और झूठा जमा-खर्च करने, आदि के दूसरे बुरे-भले उपायों से भी अपनी आय बढाने लगा।

शहरों में सेठ साहूकार जायदाद रेहन करके अथवा जेवर गिरवी रखकर ऋण देते हैं। ये लोग बहुधा अपने पास रेहन रखी हुई जमीन को मोल लेकर जमींदार बन गए हैं। ये कभी कभी व्यापारियों और दस्तकारों को भी रुपया उधार देते हैं। बहुत से जमींदार, महन्त आदि भी सूद की आमदनी पैदा करते हैं।

गत वर्षों में, ऋणदाताओं में काबुली पठान का भी खास स्थान रहा है। यह सौदागरी के साथ सूदखोरी करता था। उसके शिकार अधिकतर शहरों के मजदूर तथा हरिजन आदि होते थे। वह इन्हें एक आने, दो आने, या इससे भी अधिक फी-रुपया प्रति मास सूद पर ऋण देता था, और अनेक बार सूद की रकम को मूलधन के साथ मिलाकर उसका पक्का कागज लिखा लेता था। उसकी रकम खूब बढती रहती थी। उसका लोगों पर इतना आतंक रहता था कि वे उसका रुपया जैसे-भी बने चुकाते रहते थे। फिर, पठान कानूनी कार्रवाई से अधिक अपने डंडे का भरोसा रखता था, मार पीट आदि क्रूर उपाय काम में लाने में उसे कुछ संकोच नहीं होता था। अब ऐसी बातें कम हो गई हैं।

सरकार अकाल के समय बहुधा किसानों को भूमि की उन्नति करने और पशु, बीज तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीदने के लिए, सन् १८८३ के एक्ट के अनुसार, 'तकावी' देती है और इस रुपये को अच्छी फसल के अवसर पर वसूल कर लेती है। किन्तु राजकर्मचारियों का व्यवहार प्रायः अच्छा नहीं रहा। फिर, रकम भी, कृषकों की संख्या और आवश्यकता को देखते हुए, बहुत कम दी गई। अब इसमें क्रमशः सुधार हो रहा है।

सूद की दर—सूद की दर 'माँग और पूर्ति' के नियमानुसार निश्चित होती है। किसी स्थान में एक व्यवसाय के लिये आवश्यक पूंजी की दर वही होगी, जिस पर पूँजीपति उतना रुपया उधार दे सके, जितने की माँग है। किसी खास समय में भिन्न-भिन्न व्यवसायों की पूँजियों के कुल सूद

की दर, सुरक्षा और जमानत आदि पर निर्भर रहती है। बहुत-से आदमी जमान, मकान या जेवर आदि गिरवी रखकर रुपया उधार देते हैं। इसमें रुपया डूबने का डर नहीं रहता, इसलिए कुछ कम सूद पर ही सतोष कर लिया जाता है। दस्ती दस्तावेज लिखकर दिए हुए ऋण का रुपया वसूल होने मे खतरा जान पडता है। खतरा जितना अधिक होगा, उतना ही सूद अधिक लिया जायगा। सुरक्षा या हिफाजत के विचार से कुछ आदमी अपना रुपया सरकारी अथवा सार्वजनिक सस्थाओं को उधार दे देते हैं, अथवा डाकखाने के सेविंग-बैंको मे जमा कर देते हैं। इनमे सूद कम मिलता है।

देश मे पूँजी अधिक होने पर सूद की दर घटती है, और कम होने पर दर बढती है। अमरीका मे इतना धन है कि वहाँ विविध व्यवसायों में खर्च होने पर भी बच रहता है और दूसरे देशवाले ऐसे व्यवसायी उसे सूद पर ले लेते हैं, जिन्हे अपने देश में अधिक सूद देना पडता है। इसके विपरीत भारतवर्ष में सूद की दर, पूँजी बहुत कम होने के कारण, अधिक है। साधारण उत्पादक के पास अपनी निजी पूँजी नही होती। उसे सूद की भयकर दर पर रुपया उधार लेना पड़ता है। अनेक स्थानों मे अधन्नी रुपये (प्रतिमास) का साधारण नियम है। यह सूद ३७||) सैकडा सालाना पड़ता है। बहुत-से महाजन दस के बारह करते हैं। वे दस रुपये उधार देकर प्रतिमास एक-एक रुपये की किश्त तय करते हैं, जिसे वे साल-भर तक लेते रहते हैं। यदि किसी महीने मे किश्त न चुकाई जाय, तो उसका सूद अलग लेते हैं। यह सूद भी बहुत अधिक बैठता है। सूद-दर सूद (चक्रवृद्धि व्याज से) तो कभी-कभी दो-चार साल में ही सूद की रकम असल के बराबर होकर मूल धन को दुगना कर देती है। इस दशा मे किसी ऋणी का ऋण-मुक्त होना कभी-कभी असभव ही हो जाता है। महाजनों का रुपया मारा जाता है, वे नालिश करते फिरते हैं। इससे ऋणी की साख जाती है, पर महाजन को भी विशेष धन प्राप्त नहीं होता। उधर, ऋणी किसानों या व्यवसाइयों की साख गिर जाने के कारण, सूद की दर गिरने मे बाधा होती है।

जान-माल की रक्षा, शिक्षा प्रचार और महाजनी, तथा बैंकों के विस्तार के कारण यहाँ, गत कुछ वर्षो से, सूद की दर साधारणतः धीरे-धीरे गिरने लगी है। सहकारी-साख समितियों की स्थापना से भी इस कार्य में सहायता मिली है। तथापि अन्य अनेक औद्योगिक देशों की अपेक्षा यहाँ सूद की दर अधिक ही है। भिन्न-भिन्न स्थानों में, तथा पृथक्-पृथक् परिस्थितियों

में, यहाँ किसानों और मज़दूरों से प्रायः ९० फी सदी से लेकर ३०० फी सदी तक वार्षिक सूद लिया जाता रहा है।

युद्ध-काल में सूद की दर—पहले कहा जा चुका है कि युद्ध-काल में सैनिक सामग्री आदि बनाने का काम बढ़ता है, इसके लिए पूँजी की आवश्यकता बढ़ जाती है। इससे सूद की दर चढ़ने की सम्भावना रहती है। फिर, युद्ध के समय पदार्थों की कीमत बढ़ने से लोगों का खर्च बढ़ जाता है, अनेक आदमियों का अपनी आमदनी से गुज़ारा नहीं हो सकता, उन्हें ऋण लेने की आवश्यकता होती है। उधर; ऋण देनेवाले साहूकार आदि ऐसे समय में रुपया उधार देने में जोखिम अधिक समझते हैं, इसलिए वे सूद अधिक लेते हैं।

युद्ध में ग्रस्त राष्ट्रों का सैनिक व्यय बढ़ जाने से उन्हें कभी कभी अन्य देशों से भी रुपया उधार लेने की बहुत आवश्यकता हो जाती है। शत्रु-पक्ष के देशों से ऋण मिलता ही नहीं है, इससे ऋण मिलने का क्षेत्र परिमित हो जाता है, रुपया पहले के समान गतिशील नहीं होता। इसलिए कभी-कभी सरकारों को भी ऋण, अधिक सूद पर मिलता है।

कर्जदारी या ऋण ग्रस्तता—भारतवासियों की ऋण ग्रस्तता पर विचार करने से पहले यह जान लेना ठीक होगा कि ऋण-ग्रस्तता हमेशा बुरी ही नहीं होती। एक समय ऐसा अवश्य था कि जब ऋण लेना बहुत बुरा समझा जाता था; कारण उस समय वे ही आदमी कर्ज लेते थे, जो आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन अवस्था में होते थे। अब तो अच्छे-अच्छे धन-वान और पूँजीपति भी ऋण लेते हैं; अनेक संस्थाएँ, कम्पनियाँ और सर-कार तक ऋण लेती है, इसमें उनकी प्रतिष्ठा नहीं जाती। प्राचीन काल और आधुनिक काल के ऋण सम्बन्धी इस भेद का रहस्य यह है कि अब आदमी अपने जीवन निर्वाह के अलावा धन कमाने के लिए भी ऋण लेते हैं। व्यवसाय-कुशल आदमी अपनी ही पूँजी से सन्तोष न कर व्यक्तिगत या सामू-हिक रूप में, अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं से रुपया उधार लेते हैं, कल-कार-खानों की स्थापना करते हैं, जिनसे कुछ समय बाद वे अपना सब ऋण चुका देते हैं, तथा धन कमाते भी हैं। इसी प्रकार अनेक देशों की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र में औद्योगिक उन्नति करने के लिए करोड़ों रुपये का ऋण लेने में सकोच नहीं करतीं। यह रुपया धीरे-धीरे चुकाया जाता है, और कुछ दशाओं में इसके लिए कई-कई शताब्दियों तक सूद देते रहना लाभदायक समझा जाता है। इस प्रकार ऋण लेने का अच्छा या बुरा होना बहुत कुछ परि-स्थिति पर निर्भर है।

यदि भारतीय कृषकों आदि की कर्जदारी को बुरा समझा जाता है, तो इसका कारण यह है कि किसान उस ऋण से अपनी आर्थिक उन्नति नहीं करता, ऋण के सूद से उसका बहुत समय तक छुटकारा नही होता। अनेक किसान तथा अन्य व्यक्ति ऋण के कारण दासता का जीवन बिताते हैं। प्रो० राधाकमल मुकर्जी ने इस सम्बन्ध मे कहा है कि कुछ किसान पेशगी रुपया लेकर जमींदारो से समझौता कर लेते है और जन्म-भर उनके दास बने रहते हैं। यों तो ऐसे दास बम्बई, मदरास आदि मे भी है, पर बिहार और छोटा नागपुर मे इनकी हालत बहुत बुरी है, वे अपने वेतन के लिए कोई शर्त पेश नही कर सकते, उन्हे काम मिलने की कोई गारन्टी नहीं दी जाती, और उन पर 'निग्रो' लोगों के जैसा कड़ा निरीक्षण रहता है। वे किसी दूसरे जमींदार के यहाँ शरण नहीं ले सकते, और, कहीं-कही तो उनकी खरीद-फरोख्त तक होती है। यह बात उन लोगों के सम्बन्ध मे और भी अधिक लागू होती है, जिनकी अपनी कुछ भी जमीन नहीं होती, जो आजीविका के साधनों से सर्वथा वचित तथा दूसरे के ही आसरे रहते हैं।

किसानों का कर्ज-भार—भारतवर्ष मे जनता का अधिकाश भाग किसानों का है, अतः यहाँ की ऋण-समस्या का विचार करने के लिये उनकी कर्जदारी का विचार करना जरूरी है। सन् १९२८ ई० में शाही कृषि-कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था, 'ये लोग कर्ज मे पैदा होते हैं, कर्ज में पलते हैं, और कर्ज मे जीवन व्यतीत कर देते हैं, और आखिर मे उसे अपने वशजो के लिए विरासत में छोड जाते हैं।' कमीशन ने यह भी कहा था कि यह स्थिति देश की राजनैतिक व्यवस्था के लिए अच्छी नहीं है। यह होते हुए भी किसानों की कर्जदारी दूर करने के लिए कुछ गभीर प्रयत्न नहीं किया गया।

सन् १९३० ई० तक तो यही मालूम न था कि भारतीय किसानों पर कुल ऋण-भार कितना है। उक्त वर्ष केन्द्रीय बैंकिंग-जाँच-कमेटी ने जाँच आरम्भ की, उसके साथ सहयोग करनेवाली प्रान्तीय कमेटियों ने अपने-अपने प्रात के कर्ज के जो आँकडे उपस्थित किए, वे अपूर्ण हैं; और अनेक दशाओं में केवल अनुमान के आधार पर होने के कारण यथेष्ट विश्वसनीय भी नहीं हैं। परन्तु अभी तक उससे अच्छा कोई अन्य हिसाब सामने नही आया। इसलिए उसी से काम चलाया जाता है। उसके अनुसार भारत के प्रान्तों में किसानों का ऋण लगभग ९०० करोड रुपये होने का अनुमान किया था। सन् १९३१ ई० के बाद, फसल की कीमत में कमी हो जाने के कारण यह ऋण बहुत बढा है। सन् १९३९-४० से खेती की पैदावार की कीमत बढी है।

अब उपर्युक्त ऋण १५०० करोड़ रुपये होने का अनुमान है, प्रति किसान ७५ रुपये से भी अधिक।

अब देशी राज्यों की बात लीजिए। इनके अक वैसे अपूर्ण रूप में भी प्राप्त नहीं हैं, जैसे प्रान्तों के हैं। हां, यह सर्व-विदित है कि देशी राज्यों के गाँववालों की दशा प्रान्तों के गाँववालों की अपेक्षा, अच्छी कदापि नहीं है। यदि उनके ग्राम-ऋण को प्रान्तों के ऋण का एक तिहाई मान लें तो भारतवर्ष का कुल ग्राम ऋण दो हजार करोड़ रुपए से अधिक होगा।

प्रांतीय कमेटियों ने यह मालूम करने की भी प्रयत्न किया था कि फी-सैंकड़ा कितने व्यक्ति कर्जदार नहीं हैं। भिन्न-भिन्न जिलों के ऋणमुक्त किसानों की औसत-सख्या भिन्न भिन्न होने से यह नहीं ज्ञात होता कि वास्तव मे कुल मिलकर कितने किसान ऋण-भार से मुक्त हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार ७० प्रतिशत किसान ऋण-ग्रस्त हैं। दूसरे महायुद्ध के कारण जो महँगाई हुई और कृषि-पदार्थों की कीमत बढ़ी, उससे किसानों की आय में वृद्धि हुई है, और ऋण की मात्रा में कमी अवश्य हुई है, तथापि अभी किसानों पर ऋण भार बहुत है, इसमे सशय नहीं।

कर्जदारी के कारण—अब हम यह बतलाते हैं कि कर्जदारी के मुख्य कारण क्या हैं। ऋण का पहला कारण यह है कि देश मे उद्योग-धन्धों की कमी है, और जनसख्या क्रमशः बढती जा रही है। इस प्रकार खेती के काम में अधिकाधिक आदमी लगते जा रहे हैं। एक-एक आदमी के हिस्से में भूमि बहुत कम परिमाण मे आती है, उसमें खेती करने से औसत-लागत खर्च बहुत बैठता है, आय कम होती है। आवश्यकता है कि देश मे उद्योग-धन्धों की उन्नति की जाय और जनसख्या भी यथा-सम्भव कम रहे। इन दोनों बातों के सम्बन्ध मे विशेष पहले लिखा जा चुका है।

ऋण का दूसरा कारण यह है कि पचायतों की पुरानी प्रथा न रहने से उनका ऋण-सम्बन्धी मामलों मे नियत्रण नहीं रहा। पहले पचायतें यह जानती थीं कि ऋण लेनेवाले और देनेवाले की स्थिति कैसी है, उनके दबाव के कारण ऋण आवश्यक कार्य के लिए ही लिया जाता था, और सूद की दर पर प्रतिबन्ध रहता था। उस समय ऋण सम्बन्धी मामलों का निपटारा अच्छी तरह, बिना खर्च के ही हो जाता था। पीछे अदालतों की कार्रवाई बहुत जटिल और खर्चीली हो गई। अब पचायतों की नए ढग से स्थापना हो रही है, आशा है, इससे कर्जदारी दूर होने में भी सहायता मिलेगी।

ऋण का तीसरा कारण किसानो की साख और हैसियत कम होना, तथा उनसे व्याज अधिक लिया जाना है। यहाँ किसानों को जरूरत के समय कम दर पर, यथेष्ट मात्रा में, और समुचित अवधि के लिए रुपया उधार देने की व्यवस्था नही है। दूसरे देशों मे सरकार किसानों को नाम-मात्र के व्याज पर, बड़ी-बडी रकमे पचास-साठ साल तक के लिए उधार देती हैं। भारतवर्ष मे ऐसी व्यवस्था की बहुत आवश्यकता है।

किसानो की ऋण-ग्रस्तता का एक कारण खेती की अनिश्चितता भी है। फसल के लिए तीन-चार साल साधारण या अच्छे आते हैं तो एक-दो खराब भी आते हैं। अच्छे साल मे ऋण कुछ कम होता है और साधारण साल मे वह वैसा ही बना रहता है, तो खराब साल मे वह बढनेवाला ठहरा। फिर किसानों की बीमारी भी ऋण को बढानेवाली होती है। पशुओ के रोगों के कारण जब बैल मर जाते हैं तो किसानो को दूसरे बैल खरीदने होते हैं, और इसके लिए ऋण लेना पड़ता है।

प्राय: किसानों पर लगान का भार बहुत अधिक रहा है। उन्हे बहुधा लगान देने तथा बीज आदि खरीदने के लिए ऋण लेना पड़ता है। उनका ऋण अनेक दशाओं मे पीढी-दर-पीढी चलता रहता है। उन्हे उससे मुक्ति नहीं मिलती।

ऋण का कुछ कारण किसानों का, अनुत्पादक कार्यों के लिए रुपया उधार लेना बताया जाता है, परन्तु यह कहाँ तक ठीक है? प्रायः फसल तैयार होते ही, और कुछ दशाओं मे उससे भी पहले, किसान पर महाजन औ जमींदार या सरकार का भार लदा रहता है, और फसल में से उसके निर्वाह के वास्ते कुछ बचने नहीं पाता। इस प्रकार उसे अन्न या रुपये के रूप में ऋण लेना पडता है। यह ऋण अनुत्पादक कार्यों के वास्ते लिया जानेवाला नही कहा जा सकता। कारण, खेती करने का, किसान वैसा ही आवश्यक साधन है, जैसा बैल, हल, बीज आदि, वरन् किसान का महत्त्व अन्य सब साधनों की अपेक्षा अधिक है।

क्या ऋण का कारण किसानों की 'फजूलखर्ची' है? कुछ किसान विवाह-शादी या जन्म-मरण सम्बन्धी सामाजिक रीति-व्यवहार में अपनी हैसियत से अधिक खर्च करते हैं। निस्सदेह इसमें यथा सम्भव सुधार होने की आवश्यकता है, परन्तु मनुष्य की प्रकृति और सामाजिक आवश्यकताओं का विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे खर्च से पूर्णतया बचा नहीं जा सकता।

ऋण-ग्रस्त किसानों की रक्षा—विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि किसानों की ऋण ग्रस्तता का बहुत-कुछ उत्तरदायित्व इस देश की गत वर्षों की शासन पद्धति पर है। अंग्रेजों के शासन-काल में सरकार ने बहुत अर्से तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। सन् १८७४ में दक्षिण में तथा १८६१ में अजमेर में किसानों ने कर्जदारी से तंग होकर हिंसात्मक विद्रोह किया, और महाजनों की हत्या तक कर डाली। तब सरकार किसानों की दयनीय दशा पर विचार करने को बाध्य हुई। दक्षिण के उपद्रवों की जाँच करने के लिए जो कमीशन बैठाया गया था, उसकी सिफारिश पर सन १८७६ में दक्षिणी किसान-सहायता कानून बनाया गया। इससे किसानों को विशेष लाभ न हुआ। सन १८८२-८३ में किसानों को अपेक्षाकृत कम सूद पर तकावी-ऋण देने की व्यवस्था की गई। प्रायः किसानों ने इसका उपयोग कम ही किया, क्योंकि ऋण थोड़ी मात्रा में, बहुत परेशानी से मिलता है, और इसकी वसूली कड़ाई से की जाती है।

सन् १९०४ में कानून बना कर सहकारी साख समितियाँ स्थापित की जाने लगीं। परन्तु ये किसानों को थोड़े समय के लिए ही ऋण देती हैं। इनसे उनको पुराने ऋण चुकाने की सुविधा नहीं होती। अब भूमि बधक बैंकों की स्थापना हो रही है, जो किसानों की भूमि गिरवी रख कर उन्हें बीस-तीस साल के लिए उचित सूद पर रुपया उधार देते हैं।

सन् १९१८ ई० में भारतीय व्यवस्थापक सभा ने एक कानून बनाया था, जिसका उद्देश्य यह था कि यदि रुपया उधार देनेवाले ने सूद की दर अधिक ठहराई हो, तो अदालतों को अधिकार हो कि वे उसे कम करके फिर से सूद का हिसाब लगवावें। भिन्न भिन्न प्रान्तों में स्थानीय परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए, महाजनों द्वारा निर्धारित की हुई सूद की दर नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में कानून बनाए गए। इन कानूनों से किसानों को यथेष्ट लाभ नहीं होता। प्रथम तो खर्च बहुत होने के कारण अदालतों में मामले बहुत कम जाते हैं। फिर, ऐसे कानूनों के कारण, किसानों को महाजनों से रुपया उधार मिलना कठिन होता है। और, किसानों को रुपया मिलने की दूसरी कोई समुचित व्यवस्था है नहीं।

कुछ प्रान्तों में ऋणदाताओं के लिए लेसेन्स-कानून बनाया गया है। इसके अनुसार, लेन-देन का काम करनेवाले महाजन को सरकार से लेसेन्स लेना होता है। उसके लिए यह आवश्यक है कि वह नियमानुसार हिसाब रखे, और प्रत्येक कर्जदार को छठे महीने (या साल भर में) उसके ऋण का हिसाब लिखकर दे, तथा जब जब कोई कर्जदार कुछ ऋण अदा करे

तो उसे उसकी रसीद देवे। यह व्यवस्था अच्छी है, पर इससे लोगों की ऋण-ग्रस्तता मे विशेष कमी नही होती।

भारतवर्ष के कुछ प्रान्तो मे 'कर्ज-समझौता बोर्ड' स्थापित किए गए हैं। ये बोर्ड ऋण के मूलधन और व्याज का विचार करते हुए, साहूकार और कर्जदार की सहमति से ऋण की ऐसी रकम निर्धारित करते हैं, जिसका दिया जाना उचित है। फिर, किसान की हैसियत, तथा आय व्यय और बचत के लिहाज से इस रकम की किश्तें ठहरा दी जाती हैं। इन बोर्डों से कृषक जनता को कुछ लाभ हो रहा है।

इस प्रकार सरकार ने गत वर्षों में किसानो को ऋण चुकाने मे मदद देने के लिए कुछ व्यवस्था की, पर इससे उन्हे विशेष लाभ नही हुआ। इसके लिए तो उनकी आय ही बढनी चाहिए, इसके विविध उपायो के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है।

किसानों की ऋण-मुक्ति—किसानों का ऋण-भार और अधिक न बढे, और उन्हे सूद की चिन्ता से छुटकारा मिले, इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हे, पुराने ऋण से मुक्ति दिलाने के उपायों को अच्छी तरह अमल में लाया जाय। स्थूल रूप से ऐसी योजना की रूप-रेखा कुछ इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक प्रान्त में प्रातीय व्यवस्थापक सभा द्वारा निर्वाचित कुछ व्यक्तियों की एक कमेटी रहे, जिसके निरीक्षण और नियत्रण मे प्रत्येक जिले के कुछ सरकारी और गैर-सरकारी अनुभवी आदमी अपने अपने जिले के गाँवो क प्रत्येक किसान के विषय मे यह मालूम करें कि उस पर कुल ऋण कितना है, उनमें कितना भाग मूल ऋण है, और कितना व्याज; तथा व्याज मद्दे कितनी रकम दी जा चुकी है। जिस-जिस ऋण के मूलधन या व्याज के मद्दे कुल रकम, मूलधन के दूने के बराबर, दी जा चुको है, वे सब ऋण पूरे तौर से चुकाए हुए समझे जायँ। शेष ऋणों की व्याज की रकम मे, और एक निर्धारित अवधि से अधिक के ऋणों के मूलधन की रकम मे भी काफी कमी की जाय, और वह रकम निर्धारित की जाय, जो वास्तव में दी जानी उचित है। जो किसान इस कम की हुई रकम को न दे सके, उनका ऋण एकदम या धीरे धीरे चुकाने का दायित्व सरकार अपने ऊपर ले, और किसानो से मालगुजारी के साथ छोटी-छोटी किश्तों मे वसूल करे।* स्मरण रहे कि इस व्यवस्था का एक आवश्यक अग यह है कि सरकार मालगुजारी मे काफी कमी करे।

---

*भावनगर राज्य ने इसी प्रकार महाजनों को इकट्ठी रकम देकर किसानों को उनके ऋण से मुक्त करने का अच्छा उदाहरण उपस्थित किया है।

किसानों को एक बार ऋण-मुक्त कर देना ही काफी नहीं है। इस बात की भी आवश्यकता है कि ऋण-मुक्त होने के बाद किसान फिर अनुपयोगी कार्यों के लिए ऋण न लें। खेती तथा अन्य आवश्यक कामों के वास्ते उन्हें सहकारी साख समितियों से, अथवा पञ्चायतों द्वारा ऋण दिए जाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

मजदूरों के ऋण की समस्या—मजदूरों की ऋण ग्रस्तता, उनके ऋणी होने के कारण, तथा उन कारणों के दूर किए जाने के सम्बन्ध में कुछ बातें वही हैं, जो किसानों के विषय में ऊपर कही जा चुकी हैं। ऋण-भार की चिन्ता के कारण मजदूर का स्वास्थ्य ही नष्ट नहीं होता, उसकी कार्य क्षमता भी क्षीण होती है। ऋण चुकाने के लिए वह अपनी शक्ति के बाहर परिश्रम करता है, इससे वह बीमार पड़ता है, और ऋण-मुक्त होने के बजाय, और अधिक कर्जदार बनता जाता है। प्राय. उससे, किसान की अपेक्षा, अधिक ब्याज लिया जाता है, कारण, उसके पास भूमि या जेवर आदि कोई ऐसी सम्पत्ति नहीं होती, जिसे वह रेहन या गिरवी रख सके।

मजदूरों का ऋण-भार कम करने के लिए आवश्यक है कि उन्हें वेतन मासिक के बजाय, साप्ताहिक दिया जाय, जिससे उन्हें अपने भरण-पोषण की वस्तुएँ खरीदने में सुभीता हो, और ऋण लेने की जरूरत कम रहे। इसके अलावा मजदूरों की आवश्यकताओं का विचार करके उन्हें आवश्यक ऋण अच्छी शर्तों पर और साधारण ब्याज पर मिलने की सुविधा होनी चाहिए। साथ ही बहुत से धन्धों में मजदूरी की दर बढ़ाने तथा न्यूनतम मजदूरी स्थिर की जाने की बहुत आवश्यकता है। इसके लिए उनकी कार्य-क्षमता बढ़ाने की भी व्यवस्था होना चाहिए, इसके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है।

मजदूर-सगठनों को चाहिए कि मजदूरों में ऐसा प्रचार करें कि वे अपनी आय का बहुत सा भाग मद्यपान आदि में न खर्च कर किफायत से रहें, यथा-सम्भव कभी कोई चीज़ उधार न लें, और अपनी आवश्यकताओं का सामान सहकारी स्टोर आदि से लें।

अन्य ऋण-ग्रस्तों का विचार—किसानों और मजदूरों के अतिरिक्त देश में और भी बहुत से आदमी ऋण ग्रस्त हैं। इनमें मध्य श्रेणी के आदमियों की दशा विशेष चिन्तनीय है। यदि ये लोग अपनी आवश्यकता कम रखें, किफायत से काम लें, दूसरों के देखा-देखी सामाजिक रीति-व्यवहार में अथवा अपनी 'प्रतिष्ठा' बनाए रखने के भ्रम में अपनी हैसियत से अधिक

खर्च न करें तो इनमे से बहुत-सों का सहज ही उद्धार हो सकता है। शिक्षा-प्रचार, मितव्ययिता, बैंको, सहकारी समितियों, और मिश्रित पूँजीवाली कम्पनियों की वृद्धि से सभी ऋण ग्रस्तों की रक्षा मे सहायता मिलेगी।

सूद लिया जाना कहाँ तक उचित है?—आजकल आदमी प्रायः सूद लेते हैं, इसलिए प्राय. उसके उचित होने मे कोई शका नहीं की जाती। तथापि समय-समय पर कुछ सज्जनों ने ऐसा मत प्रकट किया है कि सूद लेना उचित नही है। मुसलमानो के यहाँ इसकी मनाही है। समाजवादी भी सूद का अनुचित मानते हैं, इसका जिक्र पहले किया जा चुका है। दूसरे भी कितने ही सज्जन सूद न लेने के विरुद्ध हैं। मिसाल के तौर पर श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने 'लोकजीवन' मे कहा है—"रुपये का कोई व्याज न होना चाहिए, क्योंकि रुपया स्वय कुछ उत्पन्न नही कर सकता। रुपया औद्योगिकता को प्रोत्साहन देने का एक मात्र अथवा मुख्य साधन नही है, और न उसे बनाया जाना चाहिए।" परन्तु अगर रुपए का सूद न मिले तो कोई आदमी रुपया उधार देगा ही नहीं, और, वर्तमान दशा मे बहुत से आदमी आवश्यक पूँजी न मिलने से, अपनी आजीविका का काम भी न कर सकेंगे।

अस्तु, आवश्यकता है कि सामाजिक व्यवस्था इस तरह की हो कि साधारण तौर से आदमियों को रुपया उधार लेने की जरूरत न रहे, विशेष कार्यों के लिए रुपये का प्रबन्ध सरकार की ओर से हो। ऐसी स्थिति कब आएगी, यह नहीं कहा जा सकता। तथापि यह दृष्टिकोण विचार करने योग्य है। स्वतत्र भारत में इसका विचार होना चाहिए।

पूँजी की गतिशीलता (Mobility of Capital)—पिछले अध्याय में, श्रम की गतिशीलता के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि श्रम घटाया-बढाया और स्थानान्तर किया तो जा सकता है, परन्तु प्रायः बहुत मन्द गति से। पूँजी मे भी कुछ ऐसी ही बात है। परन्तु श्रम और पूँजी में एक खास अन्तर है, श्रम देने में तो श्रमजीवी को निर्धारित समय के लिए अपने आपको दूसरे के सुपूर्द कर देना होता है। अतः उसे यह सोचना पड़ता है कि जहाँ उसे काम करना होगा, वहाँ की जलवायु तथा अन्य वातावरण कैसा है, पर, पूँजीवाला पूँजी दूसरे व्यक्ति को दे देता है, और स्वय स्वतत्र रहता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जब कि श्रम और श्रमजीवी एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते, पूँजी और पूँजीवाला दो सर्वथा पृथक् वस्तु हैं। पूँजीवाला मजे से अपने घर बैठा रहता है, या

अपनी इच्छानुसार सैर सपाटा करता रहता है और वह अपनी पूँजी भिन्न-भिन्न व्यवसायों मे लगा देता है। बहुधा ऐसा भी होता है कि एक पूँजीवाले की पूँजी भिन्न-भिन्न और दूर-दूर के स्थानों मे काम करती रह सकती है।

इन कारणों से श्रम की अपेक्षा पूँजी अधिक गतिशील है, जहाँ इसकी सुरक्षा का आश्वासन होता है, अर्थात्, इसके डूबने का डर नही होता, और जहाँ लाभ अर्थात् सूद की आशा अधिक होती है, वहाँ पूँजी श्रम की अपेक्षा कही अधिक शीघ्रता-पूर्वक जा सकती है। यातायात आदि के साधनो की उन्नति के साथ, पूँजी के स्थानान्तर होने का ख़र्च भी बहुत कम हो गया है। मनिआर्डर, पोस्टल आर्डर, टेलिग्राफिक मनिआर्डर, बीमा, हुँडी, चेक, नोट आदि के रूप मे पूँजी सहज ही, सैकडो हजारों मील की दूरी पर, विलक्षण गति से जा आ सकती है। हॉ, यह बात नकद अथवा चल पूँजी के सम्बन्ध मे ही है। अचल या स्थायी पूँजी की बात और है। मशीनो, नहरो, रेलो या इमारतो आद मे लगी हुई पूँजी को दूसरे कार्यों मे तभी लगाया जा सकता है, जब इन चीजों का पूर्ण उपयोग हो चुके। अथवा इन चीजों को बेच कर इनकी कीमत उठायी जाय और बेच कर अच्छी कीमते उठाना प्रत्येक दशा मे सहज नहीं होता, कितनी ही दशाओं मे तो नुकसान ही उठाना पडता है। इस प्रकार इसमे समय लगने पर भी कभी-कभी अभीष्ट सिद्धि नही होती। इससे अचल पूँजी की गति की कठिनाइयाँ स्पष्ट हैं। भारतवर्ष मे तो नकद अथवा चल पूँजी भी यथेष्ट गतिशील नही है। ग्रामों मे तो पूँजी की कमी बनी ही रहती है।

भारत के काम में न आनेवाला धन—भारतवर्ष में कुछ धन ऐसा है, जो काम मे नही आता, आदमी उसे जमीन मे गाड़ कर रखते हैं, अथवा आभूषणों आदि मे लगा देते हैं, उद्योग-धन्धों आदि उत्पादक कार्यों मे नही लगाते। रुपये को जमीन मे गाड़ कर रखने से वह अधिक उत्पत्ति नहीं करता, उतना का उतना ही बना रहता है और जेवरों मे लगाने से ता वह क्रमशः कम होता जाता है। विगत वर्षो मे अनेक स्थानों में ऐसा दृष्टि-गोचर हुआ है कि जमीन मे गाडी हुई सपत्ति का पता घर के केवल बडे-बूढ़े को था, उसकी कही कुछ स्पष्ट सूचना न थी, सयोग से घर का बड़ा बूढा ऐसी अवस्था मे मर गया कि वह अपने उत्तराधिकारियों को उसके विषय मे कुछ न बता सका। इसका परिणाम यह हुआ कि घर में सम्पत्ति गड़ी रहने पर भी उस परिवार के व्यक्ति बहुधा बडे आर्थिक

सकट मे ग्रस्त रहे। इस समय भी किसी-किसी देशी राज्य मे पूर्वजो के समय का सचित ऐसा द्रव्य मौजूद है, जिसका स्वय शासक को ठीक-ठीक पता नहीं। राज्य पर ऋण हो जाता है, उसका सूद देना पडता है, परन्तु सचित द्रव्य का उपयोग नही किया जाता, अथवा यो कहे कि उपयोग किया नही जा सकता। इसी प्रकार कुछ मदिरो मे भी आरती आदि की और मठों मे धर्मादे की, कुछ सम्पत्ति ऐसी रहती है, जो किसी उपयोग में नहीं आती। यह सम्पत्ति क्रमशः बढ़ती रहती है। ऐसी सम्पत्ति ने प्राचीन काल मे कभी कभी विदेशी आक्रमणकारियों को आकर्षित किया है, आजकल भी उसके कारण कभी कभी मन्दिरो या मठों मे चोरी होने के उदाहरण सामने आते हैं।

अस्तु, सचित धन को यथासम्भव किसी उपयोग अर्थात् उत्पादक काम मे लगाते रहना चाहिए। भारतवर्ष मे, उसे वृथा पड़े रखने का दोष विशेष रूप से यहाँ की अशान्ति और अनिश्चित राजनैतिक परिस्थित के समय से बढा हुआ है, अब इसमे क्रमशः शिक्षा, बैंकों और उद्योग धन्धों की वृद्धि से सुधार हो रहा है, साथ ही जनता की आर्थिक कठिनाइयो ने भी इसे दूर करने में भी सहायता दी है।

भारतीय पूँजी की वृद्धि के उपाय—पूँजी बचत का फल है। आदमी जितना धन पैदा करते हैं, यदि उस सब को खर्च कर डाले, भविष्य मे धनोत्पादन करने के लिए, उसमे से कुछ बचा कर न रखे, तो पूँजी कहाँ से आए। अतः इस कार्य मे मितव्ययिता का विचार रहना आवश्यक है, फजूलखर्ची रोकी जानी चाहिए। असभ्यता या अराजकता की दशा मे मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं के वास्ते अथवा भविष्य मे धनोत्पादन करने के लिए, अपनी उपार्जित सम्पत्ति का कुछ भाग बचा कर रखना नहीं चाहते। जहाँ आदमी अधिकतर पारलौकिक विषयों का चिन्तन करते और यही सोचते रहते हैं कि न मालूम कब मर जायँ वहाँ भी धन का विशेष सचय नही होने पाता। भारतवर्ष में पूँजी की वृद्धि के लिए जनता मे शिक्षा के अतिरिक्त, मितव्ययिता और दूरदर्शिता के भावों का प्रचार होना चाहिये। व्याह-शादी, नाच-रग और जन्म-मरण आदि सम्बन्धी फिजूलखर्ची की विविध रीति-रस्में हटानी चाहिए तथा खेती, उद्योग-धन्धों और वाणिज्य-व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के बैंकों के खोलने की आवश्यकता है, इनके विषय मे विशेष रूप से पहले लिखा जा चुका है।

अभ्यास के प्रश्न

१—'कुल सूद' और 'वास्तविक सूद' का अन्तर बताइए। क्या कारण है कि भारतीय ग्रामों में सूद की दर बहुत ऊँची होती है? इन्हे दूर करने का उपाय बताइए। (१६३७, १६३३)

२—"पूँजी की गतिशालता" किसे कहते हैं? भारत मे पूँजी की गतिशीलता के रास्ते में कौन से रोड़े अटके हुए हैं? उन्हे दूर करने के उपाय बताइए। (१६३६)

३—"भारत में प्राकृतिक धन, मज़दूरी तथा बहुत से बेकार धन की बाहुल्यता है।" भली प्रकार समझाइए कि इस देश-के प्राकृतिक धन का उपयोग करने के लिए कौन-कौन से मार्ग खुले हैं। (१६३५)

४—'श्रम की अपेक्षा पूँजी अधिक गतिशील है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

५—पूँजी के विकास तथा सूद की दर म क्या सम्बन्ध है? विवेचनापूर्वक समझाइए। (१६२६)

६—धन को गाड़ रखने से क्या हानियें हैं?

७—सचित धन से चाँदी सोने के आभूषण बनवा लेने से क्या हानि-लाभ होते हैं?

छत्तीसवाँ अध्याय

मुनाफा (Profit)

मुनाफा—साहस का फल—उत्पन्न पदार्थ से उसके उत्पादन का सब व्यय, कच्चे माल का मूल्य, सचालन शक्ति का व्यय, यत्रों की घिसाई, विज्ञापन तथा बीमा-खर्च, लगान, मजदूरी और सूद निकाल देने पर जो शेष रहता है, वह मुनाफा है। यह व्यवस्था का प्रतिफल है, व्यवस्था में प्रबन्ध और साहस, दोनों सम्मिलित हैं, यह पहले बताया जा चुका है। कुछ महाशय 'प्रबन्धक की कमाई* का विचार स्वतत्र रूप

* प्रबन्धक या मैनेजर का कार्य धनोत्पादन में एक आवश्यक अग है। वह अन्य श्रमजीवियो के काम की देख-भाल करता है। उसकी आय को, जो बहुधा निश्चित होती और प्रति मास मिलती है, वास्तव मे मजदूरी नहीं कह सकते। अर्थशास्त्र मे उसे एक पृथक् सज्ञा दी जाती है, इसे प्रबन्ध की कमाई कहते हैं।

से करते हैं। इस दशा मे मुनाफा केवल साहस करने या जोखिम उठाने का प्रतिफल रह जाता है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहुधा कारखाने वाले उत्पादक श्रम (एव उत्पत्ति के अन्य साधनों) का प्रतिफल कम-से-कम देकर बहुत लाभ उठाते हैं। इससे धन-वितरण मे धन का बड़ा भाग मुनाफे के रूप मे रहता है। कुछ कामो मे मुनाफे का सहसा हिसाब नही लग सकता। कभी-कभी तो दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह वर्ष या इससे भी अधिक समय के आय-व्यय का हिसाब लगाने पर मुनाफे की मात्रा मालूम होती है। पुन. यह भी आवश्यक नही कि हर एक काम मे मुनाफा होवे ही। बहुतेरे कामों मे हानि भी होती है। परन्तु जब हानि होता है, तो उस काम को पद्धति मे परिवर्तन किया जाता है, अथवा वह बिलकुल बन्द कर दिया जाता है। निस्सन्देह ऐसा करने मे समय लगता है।

मुनाफे के दो भेद—अर्थशा की दृष्टि से मुनाफे के दो भेद हैं—वास्तविक मुनाफा, और कुल मुनाफ। कुल मुनाफे मे बहुधा वास्तविक मुनाफे के अतिरिक्त (क) साहसी की निजी पूँजी का सूद, (ख) उसका अपनी जमीन का किराया, (ग) बीमे आदि का खर्च और (घ) साहसी की विशेष सुविधाओं से होनेवाला लाभ सम्मिलित है। साधारण बोलचाल मे कुल मुनाफे या उसके कुछ अशों को ही प्रायः मुनाफा कहते हैं।

मुनाफे के न्यूनाधिक्य के कारण—कुल मुनाफे का कम-ज्यादा होना कई बातों पर निर्भर है—

(१) उत्पादन-व्यय जितना कम होगा, उतना ही मुनाफ अधिक रहेगा। उत्पादन-व्यय के सम्बन्ध मे उत्पत्ति के खड मे विचार किया जा चुका है।

(२) मुनाफे का समय से भी गहरा सम्बन्ध है। माल बिक कर मुनाफा मिलने मे जितना ही कम समय लगेगा मुनाफे की दर उतनी ही अधिक होगी।

(३) एक-समान श्रम के लिए मजदूरी की दर कम होने से मुनाफा अधिक होता है; और मजदूरी बढने के मुनाफा कम रह जाता है।

(४) कारखानेवालों की बुद्धिमानी, दूरदेशी और प्रबन्ध करने की योग्यता पर भी मुनाफे की कमी-बेशी बहुत-कुछ निर्भर है। देश मे अयोग्य कारखानेवालों की सख्या अधिक होने से चतुर कारखाने के मालिकों के मुनाफे की दर बढ़ जाती है। शिक्षा और कला-कौशल की वृद्धि

के साथ-साथ अयोग्य कारखानेवालों की सख्या कम होती है, और चतुर कारखानेवालो की सख्या बढती जाती है। इससे मुनाफे की दर दिनों-दिन घटती जाती है।

(५) मुनाफे की दर कुछ विशेष सुविधाओं पर भी निर्भर रहती है— जैसे, भूमि का अच्छा होना, पूँजी का सस्ता मिल जाना, आबपाशी का समय पर तथा अच्छा हो जाना, नजदीक ही मडी बन जाना या रेल की लाइन निकल जाना आदि।

(६) मुनाफे मे प्रतियोगिता का भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। आजकल बहुत से व्यवसायों में चढा-ऊपरी है। जिस व्यवसाय में अधिक मुनाफा होता है, उसे दूसरे व्यवसाई भी करने लगते हैं। वे उसमें अधिक पूँजी लगाकर माल कम खर्च में तैयार करने और सस्ता बेचने का प्रयत्न करते हैं। इससे पहले व्यवसाई को भी कीमत की दर घटानी पड़ती है। फलतः मुनाफे की मात्रा कम हो जाती है।

भारतवर्ष मे साहसी के लिए क्षेत्र—प्रायः प्रत्येक देश मे थोड़ा-बहुत धन ऐसा रहता है, जिसे उसके स्वामी किसी उत्पादक कार्य मे नहीं लगाते। उन्हे डर रहता है कि ऐसा न हो कि वे धन को जिस कार्य में लगाएँ वह अच्छी तरह न चले, उसमें हानि हो जाय। इस विचार से वे अपने धन की उसी मात्रा को बनाये रखने मे सन्तोष मानते हैं। वे रुपये को गाड़ कर रखते हैं। कुछ आदमी तो अपने धन को जेवरो मे लगा देते हैं। यद्यपि वे जानते हैं ऐसा करने से जेवरों की घड़ाई आदि के रूप में, उन्हे कुछ हानि होगी, पर वे सोचते हैं कि यह उस हानि की अपेक्षा कम ही है, जो उस रुपये को किसी ऐसे काम में लगा देने से हो सकती है, जो पीछे बिगड़ जाय। यह सब धन बेकार पड़े रहने का कारण यह होता है कि देश में ऐसे व्यक्ति यथेष्ट सख्या मे नही होते जो साहसी हों, जो हानि-लाभ की जोखम उठाकर नये नये व्यवसाय खोलनेवाले हों। जिन देशों मे साहसी आदमी अधिक होते हैं, वहाँ धन बेकार नहीं पड़ा रहता, वह और अधिक धनोत्पादन मे लगाता है, पूँजी की वृद्धि करता है और व्यवसायों को बढाता है। व्यवसायो की वृद्धि से जनता को शिक्षा, सभ्यता, सस्कृति, स्वास्थ्य आदि सम्बन्धी नाना प्रकार के लाभ होते हैं। इन लाभों की प्राप्ति के लिये, जनता की इस दृष्टि से उन्नति होने के लिये, साहस की आवश्यकता स्पष्ट है।

भारतवर्ष आधुनिक औद्योगिक देशों से कई बातों मे बहुत पीछे है,

इसका एक कारण यह है कि यहाँ ऐसे व्यक्तियों की बहुत कमी है, जिनमे साहस की यथेष्ट मात्रा हो, जो हानि-लाभ की जोखम उठा कर विविध व्यवसायो का सुयोग्यतापूर्वक सचालन करे। इस बात का अनुभव बात-बात में होता है कि भारतवर्ष मे साहस के लिए कितना क्षेत्र पडा है।

कृषि मे—खेती की ही बात लीजिए। ससार के अनेक देश भारतवर्ष की अपेक्षा कृषि-कार्य मे आगे बढे हुए हैं और यहाँ कितनी ही भूमि बजर, या दलदल आदि ऐसी पडी है, जिसका उपयोग नही हो रहा है। यह ठीक है, कि कृषकों की सख्या अधिक होने और उनके निर्धन होने तथा प्रत्येक कृषक के पास भूमि का परिमाण कम होने क कारण विस्तृत खेती के लिए यहाँ अधिक क्षेत्र नही हैं, परन्तु जिन लोगों को विस्तृत खेत करने के साधन प्राप्त हैं, व भी तो इस दशा मे आगे नही बढ रहे हैं। फिर गहरी खेती के लिए तो यहाँ अनन्त क्षेत्र पडा है। अच्छे बीज, वैज्ञानिक खाद, उत्तम पशु और औजारों आदि के उपयोग से खेती की पैदावार का परिमाण एव गुण बढाने की बहुत आवश्यकता है। यह काम आरम्भ मे जोखम उठा कर साहस करने वालों का है।

उद्योग-धन्धों मे—विदेशी व्यापार के प्रसग मे यह बताया जा चुका है कि भारतवर्ष अनेक प्रकार के कच्चे पदार्थों की निर्यात करता है और उन्हीं पदार्थों से तैयार होनेवाले माल को विदेशों से मँगाता है। यदि हमारे यहाँ साहसी आदमी यथेष्ट हों तो इस व्यापार मे महत्त्वपूर्ण अन्तर हो जाय, हम कच्चे पदार्थों की आयात कम कर दें और उन पदार्थों का उपयोग इस देश की आवश्यकताओं के लिए तैयार माल बनाने में लग जायँ। यह अत्यन्त खेद का विषय है कि कपडे जैसी रोजमर्रा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी हम पर्याप्त अश मे परमुखापेक्षी हैं। जब कि हमारे यहाँ कपास काफी पैदा होती है, तो रुई का निर्यात और विदेशी वस्त्र का आयात हमारे साहस की न्यूनता का अपमानजनक प्रमाण है। जूते, साबुन, चित्र, कागज, ऊनी और रेशमी वस्त्र, स्टेशनरी, बिस्कुट, छतरी, औषधियों आदि मे प्रतिवर्ष हम करोड़ों रुपये विदेशों को भेजते हैं। हम अपने बालकों के लिए खिलौने तथा अन्य खेलों का सामान, इमारतों के लिए लकड़ी, लोहे तथा चीनी मिट्टी का सामान विदेशों से कब तक मँगाते रहेंगे? आवश्यकता है कि साहसी व्यक्ति एक एक वस्तु की आवश्यकता की पूर्ति का बीडा उठावें और जनसाधारण उन्हे भरसक सहायता दें। निस्सन्देह अनेक कार्यों में सफलता तभी हो सकती है, जब सरकार का समुचित एवं क्रियात्मक सहयोग प्राप्त हो।

व्यापार-कार्यों में—बैंकों के सम्बन्ध में लिखते हुए यह कहा जा चुका है कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यहाँ उनकी बहुत कमी है। किसानों, कारीगर तथा छोटे व्यापारियों आदि को उनकी परिस्थिति के अनुसार बैंकों की सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। यह बात वर्तमान स्थिति में बहुत ही कम परिमाण में हो रही है। इस कार्य के लिए भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में, एक एक काम के लिए जिले में बहुत क्षेत्र विद्यमान हैं।

हमारा विदेशी व्यापार तो प्रायः पूर्णतया विदेशी बैंकों, या विदेशियों द्वारा सचालित भारतीय बैंकों के हाथों में हैं। विदेशी बैंकों के विशाल कारोबार के सामने भारतवासियों द्वारा सचालित बैंक नगण्य से प्रतीत होते हैं। यदि भारतीय साहसी क्षेत्र में आवें और दृढतापूर्वक कार्य करें तो कोई कारण नहीं कि वे कम से कम अपने देश की आयात और निर्यात सम्बन्धी बैंकिंग आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सकें।

यातायात के साधनों में—भारतवर्ष में रेलों का निर्माण तथा सचालन सरकार तथा विदेशी कम्पनियों के अधिकार में है। यदि सरकार की अनुकूल नीति हो तो इसमें भी भारतीय साहसियों के लिए महान् क्षेत्र है। हवाई जहाजों और विशेषतया मोटरों के काम में उत्तरोत्तर वृद्धि होने वाली है, यदि भारतीय साहसी सतर्क रहे तो वे इस क्षेत्र को अपने अधिकार में कर सकते हैं।

जहाजों के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। यदि भारतीय साहसी इस देश के आयात-निर्यात का काम अपने जहाजों द्वारा करें, तो उन्हें प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये (जो अब विदेशों को जाते हैं) किराए के बचते रहें, और भिन्न-भिन्न श्रेणियों के हजारों आदमियों को रोजगार मिल जाय। परन्तु यहाँ भारत-सरकार इस ओर से उदासीन थी। व्यापारिक जहाज-निर्माण करना या इस उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिए आर्थिक सहायता देना तो दूर रहा, वह स्वय अपने लिए जो सामान मँगाती है या अपनी ओर से सामान बाहर भेजती है, उसके भी लाने-लेजाने का अवसर देशी कम्पनियों को नहीं देती। इसमें सन्देह नहीं कि सरकार की बाधाओं और उदासीनता की वर्तमान नीति अत्यन्त हानिकारक है। इसका परित्याग होना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि भारतवर्ष में साहस के लिए अनन्त क्षेत्र विद्यमान हैं, उनका समुचित उपयोग किया जाना चाहिए।

युद्ध और मुनाफा—पहले बताया जा चुका है कि युद्ध-काल में

पदार्थों की कीमत बढ जाती है । इसका एक मुख्य कारण यह होता है कि व्यापारियों की इच्छा बहुत अधिक लाभ कमाने की रहती है । इसके लिए वे अपने माल के स्टाक को छुपा कर रख लेते हैं, और बाजार मे पदार्थों की कमी को कृत्रिम रूप से बढा देते हैं । सरकार इसे यथा-सम्भव रोकने का प्रयत्न करती है, फिर भी कुछ व्यापारी उसकी पकड़ मे नही आते । वे अपना माल धीरे-धीरे निकाल कर चढ़े हुए दाम पर बेचते हैं । यद्यपि युद्ध-काल मे सरकार द्वारा कीमत नियत्रित कर दी जाती है, अनेक व्यापारी इसकी अवहेलना कर पदार्थों को अधिक-से अधिक मुनाफा लेकर बेचते हैं । कल-कारखाने वालों की तो युद्ध मे खूब चाँदी होती है । यद्यपि सरकार उनके बढ़े हुए मुनाफे पर कभी कभी सत्तर-अस्सी फीसदी तक 'अतिरिक्त-मुनाफा-कर' ('एक्सेस प्राफिट टैक्स') लगा देती है, तथापि उन्हे कुछ दशाओं मे मुनाफे की काफी आमदनी हो जाती है ।

यही नही कि व्यापारी या कल कारखाने वाले युद्ध से उत्पन्न स्थिति में खूब मुनाफा कमाते हैं, अनेक बार मुनाफे के लिए ही युद्ध शुरू कराए जाते हैं । इसमे विशेष भाग उन कल-कारखानों के मालिकों का होता है, जो युद्ध-सामग्री—तोप, बन्दूक, हवाई जहाज, मशीनगन, टैंक आदि—बनाते हैं । प्रथम महायुद्ध के बाद अमरीका और इगलैंड आदि के कई एक ऐसे कारखानों का पता लगा था जिन्होंने मुनाफा कमाने के लिए गौण रूप से युद्ध को प्रोत्साहन दिया था । इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने तथा जारी रहने मे व्यापारियों की मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति का बड़ा भाग है । आवश्यकता है कि व्यापारी लोकहित या समाज-सेवा का काफी ध्यान रखें ।

मुनाफे का नियन्त्रण—इस अध्याय मे यह कहा गया है कि कल-कारखानेवालो का तथा आयात-निर्यात करनेवालों का मुनाफा प्रायः बहुत होता है । अनेक दुकानदार भी चाजों के दाम निर्धारित करने मे बड़ी मनमानी करते हैं, अथवा ग्राहक को देखकर, एक चीज के भिन्न-भिन्न दाम लेते हैं । समाज-हित के लिए इसका नियन्त्रण होना आवश्यक ही है । सरकार कुछ दशाओं में तो मुनाफे का नियत्रण करती भी है । उदाहरण के लिए बहुत से स्थानों में सरकार पाठ्य पुस्तकों का मूल्य निर्धारित कर देती है, अथवा ऐसा नियम बना देती है कि उनकी कीमत प्रति रुपया इतने पृष्ठ के हिसाब से रखी जाय । इस प्रकार इन पुस्तकों मे मुनाफा बहुत नियन्त्रित रहता है ।

कल-कारखानों अथवा मिश्रित पूँजीवाले कपनियों के मुनाफे को नियन्त्रित करने की विधि यह है कि निर्धारित प्रतिशत से अधिक मुनाफा होने की

दशा में सरकार उन पर ऐसा अतिरिक्त-कर लगा दे, जो मुनाफे की वृद्धि के साथ-साथ बढ़ता जाय। इस प्रकार सरकार मुनाफे में से खासा भाग ले लेती है।

ऐसा भी हो सकता है कि मुनाफे का नियन्त्रण, बिना सरकारी कार्रवाई के ही हो जाय। कहीं-कहीं कारखाने के मालिक और मजदूर आपस में यह निश्चय कर लेते हैं कि फी-सदी अमुक मुनाफे से अधिक जितना मुनाफा होगा, वह सब, या उसका निर्धारित अंश मजदूरों को बाँट दिया जायगा। इससे मजदूरों का उत्साह बढ़ जाता है, उनकी मेहनत और अधिक उत्पादक हो जाती है, और मुनाफा भी अधिक होने लगता है। यह अधिक मुनाफा मजदूरों के अधिक दिल लगाकर काम करने का फल होता है। इसे मजदूरों को देने से पूँजीवालों की हानि नहीं होती, उलटा, उनका और मजदूरों का सम्बन्ध दृढ़ हो जाता है।

ये, मुनाफे के नियन्त्रण के थोड़े-से उदाहरण हुए, जिनका सम्बन्ध देश के थोड़े से ही आदमियों से है। मुनाफा लेनेवालों की कुल संख्या तो कहीं बड़ी है। उन सब के मुनाफे का नियन्त्रण किस प्रकार हो? समस्या बहुत जटिल है।

पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ यह बताया जाता है कि अब से सवा दो हजार वर्ष पूर्व मौर्य-काल में यहाँ क्या व्यवस्था थी। आचार्य कौटिल्य के विचार से व्यवसाय द्वारा अपरिमित या बेहद मुनाफा लेना और धनवान बनना चोरी और डकैती के बराबर था। इसलिए उसने व्यवसाइयों को 'चोर न कहे जानेवाले, चोर' कहा है। वह तैयार वस्तुओं की बिक्री से होनेवाला लाभ साधारण तौर से उनकी लागत का पाँच प्रति सैकड़ा निश्चित करता है। कुछ दशाओं में वह इसका परिमाण दस प्रति-सैकड़ा तक उचित समझता है। व्यापारी निश्चित मुनाफे से अधिक न लें, इसके लिए उसने कई नियम बनाए हैं, उदाहरण के लिए उसका आदेश है कि शुल्काध्यक्ष शुल्क अर्थात् चुंगी वसूल करने के पदार्थों के परिमाण और गुण का निरीक्षण करे, और प्रत्येक पदार्थ की कीमत निश्चित की जाय। इस कीमत को व्यापारी गुप्त न रखे, वह इसकी घोषणा करे। इस दशा में वह मनमाना मुनाफा ले ही नहीं सकता था।*

अब अधिक-से-अधिक मुनाफा लेना व्यवसाय-कुशलता का लक्षण माना जाता है, स्वतन्त्रता के नाम पर, व्यापार में किए जानेवाले सरकारी हस्तक्षेप

* हमारे 'कौटिल्य के आर्थिक विचार' के आधार पर।

का विरोध होता है तथापि लोकहित के लिए मुनाफे का नियन्त्रण है बहुत उपयोगी। जहाँ बहुत आवश्यक हो, इसके लिए कानून का आश्रय लिया जाय। अच्छा तो यह है कि लोकमत ही ऐसा हो जाय कि आदमी साधारण मुनाफे से सतोष किया करे। आजकल उपभोग के पदार्थों की संख्या बहुत अधिक होने से; सब वस्तुओं के लिए मुनाफे की दर एक-सा निर्धारित करना उचित न होगा, तथापि यह सहज ही मालूम हो सकता है कि सर्वसाधारण की दृष्टि से किस वस्तु पर अधिक-से-अधिक कहाँ तक मुनाफा लिया जाना ठीक है, जो व्यक्ति उस सीमा का उल्लघन करे, वह समाज मे निन्दा-योग्य माना जाना चाहिए।

मुनाफा और आदर्श—आज-कल आदमी जितने व्यापार-व्यवसाय आदि करते हैं, सब मे उनका उद्देश्य कुछ मुनाफा कमाना रहता है। क्या किसी कार्य की उपयोगिता की कसौटी उसके द्वारा मिलने-वाला द्रव्य है, और उपयोगिता का माप मुनाफे के परिमाण के अनुसार समझा जाना उचित है? क्या मानव-जीवन की उपयोगिता केवल यह है कि किसी भी प्रकार मुनाफे के रूप मे द्रव्य सग्रह किया जाय?

यह सर्वमान्य है कि मनुष्य का उद्देश्य सुख-शाति प्राप्त करना है, और यद्यपि मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह के भोजन-वस्त्र आदि विविध पदार्थों की जरूरत होती है, और जहाँ तक द्रव्य मे ये चीजे खरीदने की क्षमता है, वहाँ तक वह अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु क्या द्रव्य ही मनुष्य को सुख-शान्ति प्रदान करता है, अर्थात् क्या अपना निर्वाह करनेवाले सौ आदमियों में सबसे अधिक सुखी वह व्यक्ति है, जिसके पास सबसे अधिक द्रव्य है? ऐसा तो देखने मे नही आता है। इसके विपरीत, बहुधा वे आदमी कहीं अधिक सुख और शान्ति प्राप्त करते हैं, जिनका जीवन अपने ही सुख-दुख की चिन्ता मे न व्यतीत होकर दूसरों की सेवा और परोपकार मे लगा रहता है, अथवा यों कह लें कि जिनका विचार क्षेत्र अधिक विस्तृत है, अपने ही शरीर की अथवा अपने परिवार की परिधि से आगे बढकर जो अपने ग्राम या नगर, अथवा राष्ट्र के व्यक्तियों मे अपनेपन का अनुभव करते हैं, जो "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श रखते हैं। इसलिए विचारशीलों की दृष्टि मे मुनाफे की अपेक्षा जन सेवा का उद्देश्य रखना श्रेयस्कर समझा जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१—मुनाफा क्या है? आप किस प्रकार से मुनाफा लेना जायज सिद्ध करते हैं? (१६३७)

२—मुनाफा साहस का फल है । इस कथन को समझाइए । क्या कारण है कि मजदूरी और सूद की अपेक्षा मुनाफे में अधिक विषमता पाई जाती है ? (१६३६)

३—मुनाफे का उसके विविध भागों मे विभाजन कीजिए तथा बताइए कि किसी उद्योग-धंधे मे यह क्या महत्त्व रखता है ? (१६३४)

४—आधुनिक आर्थिक पद्धति के अन्तर्गत मुनाफा लेना कहाँ तक आवश्यक है ?

५—"भारत मे साहस के लिए अनन्त क्षेत्र पडा है परन्तु साहसी बहुत धीरे धीरे आगे आते हैं।" इसका सकारण उपाय बताइए। (१६३२)

६—"न केवल विचारशीलों बल्कि अर्थशास्त्रियों की दृष्टि से भी व्यवसाय में मुनाफे की अपेक्षा सेवा का हेतु रखना श्रेयस्कर है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए ।

७—मुनाफे से आप क्या समझते हैं ? आप अन्वेषक की आय को मजदूरी में गिनिएगा या मुनाफे मे ? (१६२६)

सैंतीसवाँ अध्याय

वितरण और असमानता

समानता का युग—पहले, प्राचीन काल मे जबकि मनुष्य समाज शिशु-अवस्था में था, समानता का विचित्र युग था, गरीब और अमीर का, किसान और जमींदार का, या मजदूर और पूँजीपति का कोई भेद-भाव न था। लोगों में स्वामित्व और मिलकियत का विचार न था। आदमी अपनी आवश्यकता के अनुसार भूमि जोतते और उसकी पैदावार का उपभोग करते थे, जमींदार का उसमे कोई दखल न था, जमींदार उस समय था ही नहीं। दस्तकार और कारीगर अपने हाथों से वस्तुएँ तैयार करते, और उनके बदले मे अपनी आवश्यकताओं के पदार्थ दूसरो से ले लेते। अपने काम लायक साधारण पूँजी उनके पास होती थी, उनके लिए वे किसी पूँजीपति का आसरा नही ताकते थे।

असमानता का जन्म और वृद्धि—धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। आबादी बढी, सभ्यता का विकास हुआ, जरूरतें बढीं, लोगों मे स्वामित्व का

भाव आया। जिसका जहाँ तक वश चला, उसने उतनी भूमि पर अधिकार कर लिया, वह उसका स्वामी बन बैठा। जिस किसी ने 'भूस्वामी' से जोतने बोने के लिए जमीन ली, उससे लगान लिया जाने लगा। 'भूमिपति' को घर-बैठे आमदनी होने लगी और किसान को पसीना बहाने पर भी काफी भोजन-वस्त्र मिलने का निश्चय न रहा। यह कृषि सम्बन्धी उत्पादन की बात हुई। कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन उद्योग-धन्धों में हुआ। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति होने और मशीन या यन्त्रों का उपयोग होने की दशा में दस्तकारियो का ह्रास हो गया, कल-कारखाने वाले ही उत्पन्न माल के अधिकारी होने लगे, मजदूर दिन-भर कडी मेहनत करने पर भी मामूली मजदूरी पानेवाले रह गए। सब मुनाफा पूँजीपतियों की जेब मे आने लगा। इस प्रकार सम्पत्ति का वितरण असमान रूप से होने लगा। इस समय 'उन्नत' देशो मे एक ओर तो मुट्ठी भर आदमी पूँजीपति हैं, जिन्हे यही चिन्ता रहती है कि इतने धन का क्या करें, दूसरी ओर, उनके लाखों करोडों देशबन्धु घोर परिश्रम करने पर भी अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ पूरी नही कर पाते।

आर्थिक विषमता भारतवर्ष में भी है, और बढती ही जा रही है। तनिक विचार कीजिए कि जमीदार, महाजन, कल-कारखाने के मालिक और उच्च राजकर्मचारियों आदि का जीवन कैसा है, जमीन-आसमान का अन्तर है। एक ओर मुट्ठी-भर राजा महाराजाओं, और गवर्नरों तथा कुछ पूँजी-पतियों के इन्द्रभवन हैं, दूसरी ओर असख्य लोगों की घास-फूस की टूटी-फूटी झोपडी है, या उनका भी अभाव है। एक ओर कुछ धनवान तरह-तरह के पकवानों का इतना उपभोग करते हैं कि उन्हे प्रायः बदहज्मी का रोग रहता है। दूसरी ओर उनकी जूठन को उठाने वाले गरीब आदमी आपस में चील कौवों और कुत्तों से सघर्ष लेते हैं। कुछ आदमी दिन मे कई-कई बार अपनी पोशाक बदलते हैं, दूसरी ओर लाखो आदमी दिगम्बर-भेष वाले हैं, और अर्द्ध-नग्नों की तो कुछ सीमा ही नही। कहाँ तक लिखे, पाठक स्वय विचार करले।

मजदूरी से पूँजी और राज्य का झगड़ा—इस युग में किसानो और जमींदारों का, तथा मजदूरों और पूँजीपतियों का झगडा मुख्य है। भारतवर्ष कुछ समय से कृषि-प्रधान है, इसलिए यहाँ आर्थिक विषमता बहुत कुछ किसानों और बडे जमींदारों मे मिलती रही है। अब जमीदारी प्रथा हट रही है। और, इधर कल-कारखानों का विस्तार हो रहा है। इससे मजदूरों और पूँजीपतियों का भी सघर्ष बढता जा रहा है। उन्नत औद्योगिक देश में तो मजदूरी और पूँजी का ही झगडा प्रमुख होता है। प्रत्येक अपने को उत्पन्न

धन में से अधिक-से अधिक का अधिकारी मानता है। राज्य की सहानुभूति बहुधा पूँजी के साथ होती है, इसलिए वह भी इस झगडे में शामिल हो जाता है। इनमे से प्रत्येक का दावा संक्षेप मे इस प्रकार कहा जा सकता है:—

मजदूर कहता है—"सब धन मैं पैदा करता हूँ। शरीर (और दिमाग) को पूरी तरह थका देने पर भी मुझे और मेरे कुटुम्ब को खाने-पहनने के लिए, काफी धन नहीं मिलता। मेरे परिश्रम से पूँजीपति मौज उडाता है। मेरी ही बदौलत उसे देश के कानून बनाने का अधिकार मिला है, और वह ऐसे कानून बनाता रहता है जिससे वह तो अधिकाधिक सुखी हो, और मैं ज्यादह-ज्यादह दुखी होता जाऊँ। कारखाने का बाननेवाला असल में मैं हूँ, यह ठीक है कि पूँजीपति ने उसमें बडे-बडे वैज्ञानिक लगाए हैं, परन्तु, उसे उनको वेतन देकर रखने की शक्ति भी तो मुझसे ही मिली है। उन वैज्ञानिकों के दिमाग से निकली हुई बातों को अमल मे मैं ही लाता हूँ। तभी व्यवसाय मे सफलता होती है। फिर भी मैं भूखा मरता हूँ, मेरी मानसिक उन्नति नहीं होने पाती। मै भी अपने देश का वैसा ही नागरिक हूँ, जैसा पूँजीपति। पूँजीपति राज्य को ऐसे कार्य मे क्यों सहायता देता है, जिससे मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार मारा जाता है! क्या मै देश के धनोत्पादन में दिन-रात पसीना नही बहाता ?"

उधर पूँजीपति कहता है—"मेरे कारखाने मे शारीरिक कार्य मे से घटिया दर्जे का काम है, और मैं उसका वैसा ही प्रतिफल (मजदूरी) दे देता हूँ। मजदूरों की सहायता से बने हुए माल के लिए उपयुक्त मडी मैं ही तलाश करके उसे वहाँ ले जाता हूँ। (पूँजीपति यहाँ यह भूल जाता है कि माल लेजाने के लिए रेल, जहाज आदि सब साधन मजदूरों के सहयोग से ही चलते हैं)। मैं वैज्ञानिको को अपने काम मे लगाता हूँ। मैं पहले मजदूरों की मजदूरी चुकाता हूँ, उसके बाद मुनाफा मेरी जेब मे आता है। बाजार के उतार-चढाव, ससार की बडी बडी घटनाओं, स्वदेश या विदेश की माँग, नए फेशन और नई आवश्यकताओं आदि के कारण मुझे मुनाफा मिलता है। इसमे मजदूर कुछ नहीं करते। इसलिए उन्हे मेरे लाभ का कोई हिस्सा पाने का क्या अधिकार! फिर भी मै समय-समय पर उनकी मजदूरी बढाता रहता हूँ। लेकिन उनकी माँग हद से ज्यादा बढी हुई है। मैं जितना ही ज्यादा दबता हूँ, उतना ही वे हडताल की धमकी अधिक देते हैं। मजदूरों के नेता शाति से विचार करें। उनकी उचित शिकायतें सुनने और

उन्हें दूर करने को मैं सदा तैयार हूँ। लेकिन वे वृथा ही मुझ से द्वेष करें, तो इसका क्या इलाज !"

और, अब राज्य कहता है—"हमने मजदूरों के काम करने के घंटे कम कर दिए हैं। उनके सघों और सम्मेलनों के संगठित होने की अनुमति दे दी है। उनकी स्त्रियों और बच्चों की सुविधा के नियम बना दिए हैं। मजदूरी की उचित दर निश्चित कर दी है। उन्हे दुर्घटनाओं से बचाने के लिए कानून भी बना दिए हैं, व्यवस्थापक सभाओं में उनके प्रतिनिधि ले लिए हैं। परन्तु हम पूँजीपतियों को इस बात के लिए मजबूर नहीं कर सकते कि वे उन्हे मुनाफे मे अधिक हिस्सा दें। राज्य का आधार देश का धन है। जब धन थोडे-से आदमियों के हाथ मे होता है, तो उससे बड़े बड़े काम आसानी से हो सकते हैं। अगर देश का धन असख्य जनता में बँटा हुआ हो तो बड़े बडे काम करने मे उतनी सुविधा नहीं होती। पूँजीपतियों के रहने में ही राज्य और देश को सुख है। इसलिए हमारा पूँजीपतियों से घनिष्ठ सम्बन्ध होने मे मजदूरों को बुरा न मानना चाहिए।"

मजदूर पूँजीपति और राज्य के उपर्युक्त कथन मे कहाँ तक सचाई है, इस विषय में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों मे कुछ मत-भेद हो सकता है। पर इसमें तो कोई सन्देह नही है कि आर्थिक असमानता बहुत हानिकर है।

असमानता से हानि—आर्थिक विषमता से बहुत सी हानियाँ हैं—(१) इसके कारण गरीब आदमी अपने आपको राज्य के लिए यथेष्ट उपयोगी नही बना पाते, उनका अधिकाश समय अपने जीवन-निर्वाह की चिन्ता मे ही व्यतीत होता है। (२) अमीर या पैसे वाले आदमी गरीबों का शोषण करते हैं, और दोनो श्रेणियों मे सघर्ष और द्वेष भाव रहता है। कुछ धनवान व्यक्ति गरीबों पर दया करके उनकी सहायता या कुछ दान धर्म आदि करते हैं। पर कुल मिलाकर वह बहुत सीमित ही होता है, और उससे समस्या हल नही होती। (३) प्रायः धनवान व्यक्ति शासन-यत्र पर अनुचित प्रभाव डाल कर मनमाने कानून बनवा लेते हैं। राज्य-पद्धति दूषित हो जाती है, वह लोकहितकर नही रहती। इससे अन्त मे विद्रोह और क्रान्ति होकर रहती है, जिसमे धन-जन आदि का भयकर विनाश होता है।

असमानता के कारण--असमानता के खासकर दो कारण होते हैं—प्रकृति और परिस्थिति। कल्पना करो एक आदमी जन्म से अधा है, या लँगडा लूला है, या उसके दिमाग मे कोई खास विकार है। ऐसा आदमी तन्दुरुस्त और हृष्ट पुष्ट आदमी से बराबरी नही कर सकता। इन दोनों मे

प्राकृतिक या कुदरती असमानता है। इसे दूर करने में विशेष सफलता नहीं मिल सकती।

अब दूसरे प्रकार की असमानता का विचार करें। एक आदमी गरीब और निम्न श्रेणी के परिवार में पैदा होने के कारण यथेष्ट शिक्षा नहीं पा सका; उसके पास ऐसी पैत्रिक सम्पत्ति नहीं, जिससे वह कोई अच्छा कारोबार चला सके। अपनी आजीविका के लिए उसे मामूली नौकरी करने को मजबूर होना पड़ता है। दूसरी ओर अमीर खानदान का आदमी आसानी से उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है, और अपनी पूँजी के बल पर कोई कारखाना आदि स्थापित करके बहुत से नौकर रख सकता है। इन दोनों आदमियों में जो असमानता है वह उनकी परिस्थितियों की भिन्नता के कारण है। इसे दूर करना समाज और राज्य का कर्तव्य है।

प्राचीन व्यवस्था—आर्थिक असमानता दूर करने के आंदोलन आज-कल क्यों इतने तीव्र होते जाते हैं, और पहले क्यों नहीं उठते थे? इसका एक कारण तो यही है कि गृह-शिल्प या छोटी छोटी दस्तकारियों की दशा में, धन के वितरण में उतनी असमानता नहीं होती, जितनी आधुनिक बड़ी मात्रा की उत्पत्ति वाले कल-कारखानों में। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि पहले पूँजीपतियों और निर्धनों की एक-दूसरे के विरुद्ध दलबन्दी नहीं थी, वरन् एक बड़े परिवार के सदस्यों की भाँति वे आपस में यथेष्ट सहानुभूति और प्रेम रखते थे। धनिकों को अपने धन का अभिमान नहीं था। वे अपने धन को सर्वसाधारण के उपयोग में लगाते थे। उनके बगीचे, पुस्तकालय, अजायबघर, विश्राम शालाएँ आदि सबके लिए खुली थीं।

भारत का विचार—भारतवर्ष की ही बात लीजिए। रामायण में बड़े बड़े नगर, लम्बे-चौड़े बाजार, बहुत कीमती जेवर, तथा पुष्पक विमान आदि का वृत्तान्त होने से यह सिद्ध है कि यहाँ उस प्राचीन काल में भौतिक उन्नति काफी हो गई थी। थोड़े समय में बहुत सा माल तैयार करनेवाले विशाल यन्त्रों का बन सकना असम्भव नहीं था। परन्तु कई नीतिकारों ने उनके निर्माण और प्रचार आदि का स्पष्ट निषेध किया है। निदान, यहाँ बड़ी मात्रा की उत्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से मालूम होता है कि यद्यपि उस समय भिन्न भिन्न व्यवसाय-संघों में बहुत-से आदमियों के मिलकर काम करने की व्यवस्था थी, परन्तु वहाँ उनके पास अपने-अपने औजार होते थे। सब अपने-अपने काम के स्वयं निरीक्षक होते थे। उसका प्रतिफल वे अपनी योग्यता के अनुसार पाते थे। काम करने-वाले

व्यक्ति श्रमजीवी होने के साथ-साथ छोटे-छोटे पूँजीपति भी होते थे। इस प्रकार देश का अधिकाँश धन मुट्ठी-भर के पूँजीपतियों के हाथ मे जाना, और बेशुमार आदमियो का मजदूर अथवा बेकार बनाना रोका गया था।

फिर, प्राचीन भारत मे कानून किसी आदमी को अपनी सम्पत्ति का मनमाना उपभोग नही करने देता था। आचार्य कौटिल्य ने लिखा है कि 'जो पुरुष अत्यधिक व्यय करनेवाला हो, अथवा अहितकर कार्य करनेवाले हो, उसकी सूचना 'गोप' अथवा स्थानीय अधिकारी को दी जाय।' इससे स्पष्ट है कि अपने स्वार्थ, ऐश्वर्य या भोग-विलास आदि मे अधिक व्यय करने को कौटिल्य ने अपराध समझा है। अस्तु, प्राचीन काल मे पहले तो आर्थिक असमानता बहुत होने न पाती थी; दूसरे, जो थोडी बहुत होती थी, उसका परिणाम समाज के लिए अहितकर न होने पाता था।

हिन्दुओं की प्राचीन रीति-रस्मो मे इस बात का बहुत विचार रखा जाता था कि धनवान और निर्धन सुख दुख मे, हर्ष एव शोक मे, एक-दूसरे से यथेष्ट सहयोग करे, निर्धनों को कभी भी अपनी निर्धनता के कारण विशेष कष्ट न पाना पडे। जन्म-मरण, विवाह-शादी, तीज-त्योहार—प्रत्येक अवसर पर एक बिरादरी के सब आदमियो मे आर्थिक स्थिति के भेद-भाव बिना, कुछ वस्तुओं का आदान-प्रदान होता था। धनवानो की सहायता और दान-पुण्य से निर्धनो का आर्थिक कठिनाइयाँ दूर होती थी, और, निर्धनों की साधारण भेट स्वीकार कर धनवान इस बात का परिचय देते थे कि उनमे अहकार या घमड नही है। अब आदमी अनेक बातों का असली रहस्य भूल गए हैं, कुछ बातों की धुधली यादगार कुरीतियो के रूप मे बनी हुई है।

वर्णाश्रम धर्म और आर्थिक व्यवस्था--आजकल हिन्दुओं मे जो चार वर्ण माने जाते हैं, ये पहले श्रम विभाग या मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार थे। कुछ आदमी बुद्धि-प्रधान होते हैं, दूसरे बल-प्रधान, वासना-प्रधान या सेवा प्रधान होते हैं। प्राचीन भारत मे बुद्धिमान मनुष्यों (ब्राह्मणों) का, धन हीन होने पर भी, बहुत आदरमान था। उन्हीं का परामर्श लेकर राजा अपना कार्य करता था। क्षत्रिय धनवान न होने पर भी शक्तिशाली थे और वे उसी मे सुखी थे। वैश्य धनवान होते थे, परन्तु जब वे अपने धन से दूसरों का उपकार करते रहते थे, तो किसी को उनसे ईर्ष्या क्यों होती? शूद्र शारीरिक श्रम करते थे; परन्तु अपने भोजन-वस्त्र आदि के लिए तरसते न रहकर पूर्ण रूप से निश्चिन्त रहते थे। इस प्रकार प्राचीन काल मे समाज के एक अग को दूसरे से डाह नही होती थी। परन्तु अब वह आदर्श

लुप्त-सा हो गया है। जाति प्रथा मे ऊँच-नीच का भाव आ गया है, धनी मनुष्य दूसरों के हित या भलाई की चिन्ता नहीं करते। लोगों मे वैश्य वृत्ति प्रधान है, और वह भी बहुधा बडे खराब रूप मे।

इसी प्रकार आश्रम-धर्म की बात लीजिए। पहले यहाँ चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। इनमे से पहला आश्रम विद्या प्राप्त करने के लिए था। लडके और लड़कियाँ जब अलग-अलग गुरुकुलों मे रहती थी उनमे धनी-निर्धन का कोई भेद-भाव नहीं माना जाता था। राजा और रक दोना की सन्तान से एकसा व्यवहार होता था, सबका खान-पान रहन-सहन आदि समान था। पाठक जानते हैं, कृष्ण और सुदामा ने एक ही गुरु के यहाँ शिक्षा पाई थी। अस्तु, इसी प्रकार वानप्रस्थ और सन्यास मे भी आर्थिक असमानता न होती थी। निदान, चार आश्रमो मे से तीन आश्रमों मे आर्थिक भेद-भाव न था। जो कुछ भेद-भाव हो सकता था, वह केवल एक आश्रम मे, गृहस्थाश्रम में, हो सकता था। (इसमे सयुक्त-परिवार की परिपाटी के कारण, असमानता विशेष नहीं हो पाती थी)। परन्तु अब तो हम जल्दी ही गृहस्थ बन जाते हैं, और मरने तक इसी म बने रहते हैं। इस प्रकार हम लोग अपना जीवन ज्यादहतर उस आश्रम मे व्यतीत करते हैं, जिसमे आर्थिक भेद-भाव अधिक होने की सभावना होती है। अब सयुक्त-परिवार की प्रथा भी प्रायः हट गई है। ऐसी दशा मे आर्थिक विषमता का बोलबाला क्यो न हो?

समानता के आधुनिक उद्योग—औद्योगिक देशों के बहुत से आन्दोलन की तह में मुख्य प्रश्न यही है कि वहाँ धन की असमानता दूर हो जाय, और निर्धनों पर धनवानों या व्यवसायपतियों के अत्याचार न हों। किन्तु अभी तक कोई सन्तोषजनक मार्ग नहीं निकला। यदि देश के सारे धन को वहाँ की जनता मे बराबर-बराबर बाँट दिया जाय, और उससे होनेवाली साधारण कुव्यवस्था और कठिनाइयों का सामना किया जाय तो भी कुछ समय के बाद भिन्न भिन्न मनुष्यों की कार्यक्षमता मे अन्तर होने के कारण, उनकी आर्थिक अवस्था मे भी असमानता हो जाना स्वाभाविक है।

कुछ सज्जनों का विचार है कि विरासत, या पैतृक सम्पत्ति मिलने का नियम उठा दिया जाय। प्रत्येक आदमी के मरने पर, उसकी जायदाद की मालिक (राष्ट्रीय) सरकार हो, और वह उसके उत्तराधिकारियों के निर्वाह की समुचित व्यवस्था कर दिया करे। यह बात भी कहाँ तक उपयोगी तथा

व्यावहारिक है, इस सम्बन्ध में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव है इससे लोगों मे ज्यादह धन-सग्रह करने और पूँजीपति बनने की अभिलाषा कम हो जाय, और समाज मे कुछ अधिक समानता आ जाय।

समानता और समाजवाद—आर्थिक विषमता और पूँजीवाद से समाजवाद की लहर आगई है। यह विशेषतया रूस में प्रचलित है। इसके अनुसार, मुख्य आर्थिक बात यह है कि उत्पत्ति और विनिमय के सब साधनों पर राज्य का अधिकार होता है, और राज्य का सगठन इस प्रकार किया जाता है कि शासन एव व्यवस्था मे श्रमजीवियो अर्थात् मजदूरों का प्रभुत्व रहता है। समाजवादियों का मत है कि उत्पत्ति के चार साधनों मे से भूमि तो प्रकृति का ही देन है, पूँजी श्रम से ही सचित होती है, और व्यवस्था भी एक प्रकार का श्रम ही है। इस प्रकार धन की उत्पत्ति का केवल एक ही साधन रहता है, वह है श्रम। इसलिए श्रमजीवियों का ही, उत्पन्न धन पर स्वामित्व रहना चाहिए। समाजवादियो के मतानुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रहेगी, खेती और कल-कारखानों का मालिक सरकार होगी, प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार मेहनत करेगा; और, उनके परिश्रम से जो धन पैदा होगा, वह सरकार द्वारा, उनकी आवश्यकतानुसार वितरण किया जायगा। आजकल मुद्रा मे पदार्थों को खरीदने की शक्ति है, इसलिए कुछ आदमी इससे भूमि खरीदकर या कल-कारखाने आदि चलाकर अपनी सम्पत्ति बढ़ाते हैं, अथवा धन को जोड़कर रखते हैं। उनके लडके बिना परिश्रम लखपति और करोड़पति बनते हैं, जबकि दूसरों को उनकी अधीनता मे घोर श्रम करते हुए भी यथेष्ट भोजन-वस्त्र नहीं मिल पाता। समाजवादी व्यवस्था में ऐसा न होगा, सब की आवश्यकताएँ सरकार द्वारा पूरी होगी और सब ही परिश्रम करनेवाले होंगे। फिर यह आर्थिक विषमता न रहेगी।

भारतीय आदर्श—भारत का प्राचीन आदर्श यह था कि धन को व्यय करते समय धनवान व्यक्तिगत भोग का ख्याल न करके समाज के हित को ध्यान में रखते थे और अपनी रुचि के अनुसार अपने धन से जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरजन आदि की व्यवस्था करते थे। क्या ही अच्छा हो यदि हम समाजवाद का स्वागत करने के पहले उस पर अपनी भूत-कालीन सस्कृति की छाप लगा सकें, ताकि भारतीय समाजवाद भारतीय जनता का हित तो करे ही पर ससार के लिए शिक्षाप्रद तथा कल्याणकारी भी हो।

अभ्यास के प्रश्न

१ - पूँजीवाद में असमानता बढने के प्रधान कारण लिखिये ।

२—असमानता की वृद्धि से जो हानियाँ होती हैं उनका दिग्दर्शन कराइये ।

३—असमानता करों द्वारा किस प्रकार कम की जा सकती है ?

४—सरकार द्वारा वस्तुओं का उत्पादन कार्य करने से देश को क्या हानिलाभ होते हैं ?

५—भारत में असामनता के उदाहरण दीजिये ।

६—रूस मे समाजवाद के जमाने मे जनता को क्या लाभ हुए ? सक्षेप में लिखिये ।

७—परोपकार के भावों के प्रचार से असमानता किस प्रकार दूर की जा सकती है ?

छठवाँ खंड

राजस्व

अड़तीसवाँ अध्याय

सरकारी आय-व्यय का साधारण परिचय

प्राक्कथन—'राजस्व' मे इस बात का विचार किया जाता है कि सरकार देश में क्या क्या कार्य करती है कि जिनके लिए उसे खर्च करना होता है और यह रुपया किस किस मद से, किस प्रकार वसूल किया जाता है। यहाँ पर सरकार का आशय केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार से तो है ही, म्युनिसिपैलिटियाँ और जिला-बोर्ड आदि स्थानीय सस्थाएँ भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

सरकारी आय-व्यय में व्यय का महत्त्व—सरकारी आय-व्यय मे और लोगों के निजी आय में एक विशेष अन्तर है। साधारण आदमी अपनी आमदनी के अनुमान से ही निश्चित करते हैं कि उन्हे अमुक अमुक कार्य करना चाहिये। परन्तु सरकार की बात दूसरी है। वह पहले यह सोचती है कि उसे इस वर्ष अमुक अमुक कार्य करने हैं, वह उनके लिए आवश्यक खर्च का अनुमान करती है और इसके आधार पर वह विचार करती है कि उसे किस किस मद से कितनी आय वसूल करनी चाहिए, जिससे उसका सब खर्च चल जाय। लेकिन यह बात नहीं है कि वह जितना खर्च सोचती है उतनी आय वसूल करती ही हो। अन्य लोगों की तरह उसे भी इस बात का ध्यान रखना पडता ही है कि वह कितनी आय वसूल कर सकती है।

सरकार के कार्य—सरकार के कार्यों के निम्नलिखित भेद होते हैं:—
(१) देश की बाहर के शत्रुओं से रक्षा, (२) देश के भीतर शान्ति और सुव्यवस्था; (३) जनता की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और नैतिक उन्नति (४) ऐसे कार्य जिनके लिए बडी पूँजी की आवश्यकता हो, तथा जिन्हे जन-साधारण सुगमता और मितव्ययिता-पूर्वक न कर सके। आज-कल सरकार के कार्यों का क्षेत्र बढता जा रहा है। प्राचीन काल मे अनेक स्थानों मे, सरकार का मुख्य कार्य देशरक्षा और शान्ति सुव्यवस्था होता था। अब जनता चाहती है कि सरकार न केवल शिक्षा, स्वास्थ्य आदि राष्ट्र-निर्माणकारी कार्य करे, वरन् सामाजिक और आर्थिक उन्नति के कार्यों मे भी सहायक हो। उदाहरणवत् भारतवर्ष मे बालविवाह आदि का निषेध, हरिजनों की सामाजिक बाधाएँ हटाना, किसानों की ऋण ग्रस्तता दूर करना,

स्वदेशी उद्योग-धन्धों की उन्नति और सरक्षण करना, देश की बेकारी एव निर्धनता हटाना आदि ।

आय-व्यय का अनुमान-पत्र (Budget)—इसमे आगामी वर्ष की अनुमानित आय और व्यय व्योरेवार लिखे जाते हैं । इसके अतिरिक्त, तुलना की सुविधा के लिए इसमें गत वर्ष का आय व्यय के वास्तविक अक दिये जाते हैं, और प्रचलित वर्ष की आय-व्यय के नौ-दस महीने के वास्तविक, और शेष दो-तीन महीनों के अनुमानित अकों का योग दिया जाता है, जिसे सशोधित अनुमान कहते हैं। सरकारी हिसाब के लिए किसी वर्ष की पहली अप्रैल से अगले वर्ष की इकत्तीस मार्च तक एक साल समझा जाता है ।

सन् १६१६ ई० के शासन-सुधारों के बाद से प्रान्तीय सरकारों के आय-व्यय के अक केन्द्रीय सरकार के बजट में नही रखे जाते । प्रत्येक प्रान्त अपने आय-व्यय का अनुमान-पत्र अलग-अलग बनाता है। इस प्रकार समस्त भारत के लिए एक बजट न होकर कई बजट होते हैं।

आय के मुख्य भेद—सरकार की आय के मुख्य भेद निम्नलिखित हैं —

(१) कर।

(२) सरकारी शुल्क ।

(३) व्यावसायिक आय ।

इसके अतिरिक्त आय के कुछ साधन ये हैं :—सरकारी सम्पत्ति और नजूल (सरकारी जमीन), लावारिस सम्पत्ति, युद्ध आदि के लिए लोगों का दिया हुआ दान, चन्दा या सहायता, और जब्त किया हुआ माल तथा जुर्माना।

कर—कर, सरकार को उसके उन कार्यों के लिए अनिवार्य रूप से दिया हुआ धन है, जो सार्वजनिक हित के लिए किये जायँ, चाहे उन कामों से कर-दाता को व्यक्तिगत लाभ हो या न हो । कर सर्वसाधारण से वसूल किए जाते हैं, अतः जनता को यह ज्ञात होना चाहिए कि करों से प्राप्त धन किन-किन कार्यों में व्यय होता है । प्रत्येक कर जनता के प्रतिनिधियों के मतानुसार निर्धारित होना चाहिए ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर—कर दो प्रकार के होते हैं, प्रत्यक्ष और परोक्ष । प्रत्यक्ष कर उस कर को कहते हैं, जिसका भार उसी आदमी या संस्था पर पड़ता है जिससे वह लिया जाता है । इसे देते समय कर-दाता यह भली भाँति जान लेता है कि वह कितना कर, और किस रूप में, सरकार

को देता है। उदाहरणवत आय कर और मालगुजारी आदि प्रत्यक्ष कर है। परोक्ष कर उस कर को कहा जाता है, जिसका भार उसके चुकाने वाले दूसरों पर डाल देते हैं। उदाहरणवत, व्यापारी आयात या निर्यात पर जो 'कर' देते हैं, उसे माल बेंचने के समय अपने ग्राहकों से वसूल कर लेते हैं। व्यवहारोपयोगी चीजें—कपडे, नमक, शराब, अफीम आदि पर लगने वाले कर परोक्ष कर हैं।

प्रत्यक्ष कर लोगों को बहुत अखरते हैं, परन्तु परोक्ष करों की भरमार होनी भी बहुत हानिकर होती है। जीवनोपयोगी पदार्थों पर लगाये हुए करों से दरिद्र-से दरिद्र आदमी भी नहीं बच सकता। इनसे निर्धनों का कष्ट बहुत बढ जाता है, अतः ये कर यथा-सम्भव न लगाये जाने चाहिएँ। हाँ विलासिता के पदार्थों पर लगे हुए करों से यह बात नहीं होती, कारण इन पदार्थों को प्रायः अमीर लोग खरीदते हैं, और वे कर-भार सहज ही सह सकते हैं।

कर सम्बन्धी नियम—आडम स्मिथ ने कर लगाने के सम्बन्ध में चार सिद्धातों को बतलाया है। वे निम्न प्रकार के हैं:—

(१) समानता (Equality) (२) निश्चितता (Certainty) (३) सुविधा (Convenience) (४) मितव्ययिता (Economy),

(१) **समानता**:—इस समानता-सिद्धान्त के अनुसार देश की कर-प्रणाली इस प्रकार होनी चाहिए कि सब प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का बोझ प्रत्येक व्यक्ति पर जहाँ तक हो सके समान हो। यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी हैसियत के अनुसार सरकार को कर देवे। जैसे-जैसे व्यक्ति की आमदनी बढती जाती है उसकी कर देने की शक्ति उससे अधिक अनुपात में बढ़ती है। यदि किसी मनुष्य की आमदनी १००) मासिक से २००) मासिक हो जाय तो उसकी कर देने की शक्ति भी दूने स अधिक हो जायगी। यदि उससे पहिले ३% कर लिया जाता हो तो अब ७% या उससे अधिक कर होने पर ही उसका बोझ पहिले के बराबर होगा। इसी को क्रमागत वर्द्धमानता नियम कहते हैं।

(२) **निश्चितता**:—इस नियम का अर्थ यह है कि जिस व्यक्ति को जितना कर देना है वह निश्चित हो। कर दाता को समय और कर की मात्रा निश्चित रूप से मालूम होनी चाहिये। कर की मात्रा कर वसूल करने वालों की स्वेच्छाचारिता पर नहीं छोडना चाहिये। प्रत्येक देश की कर-प्रणाली में इसका पूरा ध्यान रखा जाता है।

(३) **सुविधाः**—इस नियम के अनुसार कर-दाता की सुविधा का कर वसूल करने मे पूरा ध्यान रखा जाता है—जैसे मालगुजारी। यह उसी समय वसूल की जाती है जब किसानों की फसल तैयार रहती है। आय कर तनख्वाह मिलने के समय ही मे लिया जाता है।

(४) **मितव्ययिताः**—कर वसूल करने का खर्च कम से कम होना चाहिये और कर अधिक से अधिक मात्रा मे सरकारी खजाने मे जमा होना चाहिये।

उपर्युक्त चार सिद्धान्तों के अतिरिक्त कर के विषय मे यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर इस प्रकार हो कि वे समयानुसार घटाये बढाये जा सकें। परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उन करों से जनता को कष्ट हो। बोझ का ध्यान रखते हुए जो कर आसानी से घटाये बढाये जा सकें वही कर उपयुक्त कहा जा सकता है।

फीस या शुल्क—यह न्याय, शिक्षा, रजिस्टरी करने या पेटेंट देने आदि कुछ विशेष कार्यों के लिए सरकार द्वारा अनिवार्य रूप से लिया हुआ धन है। यह उसी व्यक्ति या व्यक्ति-समूह से लिया जाता है, जो उक्त किसी कार्य से लाभ उठाना चाहता है। इसका 'अनिवार्य रूप' समझने के लिए कल्पना करो कि एक आदमी को कोई अदालती डिग्री सरकार से मान्य कराना है। उसे किसी ऐसे अदालत मे ही अपने मुक़द्दमे का फैसला कराना होगा, जो सरकार द्वारा स्थापित या अनुमोदित हो। इसी प्रकार किसी व्यक्ति की शिक्षा सम्बन्धी डिग्री, सनद या डिप्लोमा सरकार तभी मान्य करती है, जब उसने सरकारी या सरकार-सम्बद्ध सस्था में शिक्षा पायी हो, या परीक्षा दी हो, इसलिए शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता को सरकार द्वारा मान्य कराने के लिए उसे उक्त सस्थाओं की फीस या शुल्क देना अनिवार्य है। साधारणतया फीस का परिमाण किये हुए कार्य की तुलना मे कम रहता है। उदाहरण के लिए एक स्कूल के चलाने मे जितना खर्च पडता है, उस स्कूल मे पढनेवालों की फीस से आमदनी उसमे कम ही रहती है। भारतवर्ष मे न्याय-शुल्क खर्च की अपेक्षा कही अधिक है, इससे सरकार को काफ़ी आय होती है, यह अनुचित है।

करों के सम्बन्ध मे पहले लिखा जा चुका है। उनमें और फीस में यह अन्तर है कि कर उन कामों के वास्ते लिये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से न हो, जो सब के लिए लाभदायक समझे जाते हों; इसके विपरीत फीस केवल उन व्यक्तियों से ली जाती है, जो फीस के उपलक्ष्य मे प्रत्यक्ष तथा व्यक्तिगत रूप से लाभ उठाते हैं।

व्यावसायिक आय—भारतवर्ष मे सरकार के व्यावसायिक कार्य रेल, डाक, तार, जगल और आबपाशी हैं।* यदि इन कार्यों में बहुत अधिक मुनाफा होता है तो यह स्पष्ट ही है कि इनके सचालन अर्थात् प्रबन्ध आदि में जो व्यय होता है, उसकी अपेक्षा प्रजा से धन अधिक वसूल किया जाता है। कुछ आदमी इस आय को बहुत अच्छी समझते हैं, कारण कि यह उन लोगों से वसूल की जाती है, जो इसे देना सहन कर सकते हैं। परन्तु यदि फजूलखर्ची होती हो या मुनाफा अधिक रहता हो तो यह आय भी प्रजा को बहुत दुःसह्य हो जाती है, और इससे व्यापार आदि मे बाधा हो सकती है।

सरकारी आय की मद्दें—भारतवर्ष मे सरकारी आ— की मद्दे इस प्रकार हैं।

मद	वर्ग
१—आय कर	प्रत्यक्ष कर
२—मालगुजारी	प्रत्यक्ष कर
३—आयात निर्यात-कर	परोक्ष कर
४—नमक	परोक्ष कर
५—आबकारी	परोक्ष कर
६—अफीम	परोक्ष कर
७—अन्य कर—प्रान्तों का मनोरजन कर	
८—स्टाम्प	
९—रजिस्टरी	फीस या शुल्क
१०—पुलिस	फीस या शुल्क
११—न्याय	फीस या शुल्क
१२—शिक्षा	फीस या शुल्क
१३—स्वास्थ्य और चिकित्सा	फीस या शुल्क
१४—निर्माण कार्य	फीस या शुल्क
१५—टकसाल	
१६—रेल	
१७—डाक, तार	व्यावसायिक आय
१८—जगल	व्यावसायिक आय
१९—आबपाशी	व्यावसायिक आय

*रेल, डाक, तार, नहर आदि से जो कुल आय होती है, उसमें से इन कार्यों के प्रबन्ध और सचालन आदि में खर्च होने वाला रुपया निकाल कर हिसाब में विशुद्ध आय ही दिखायी जाती है।

२०—सूद की आय—म्युनिसिपैलिटियों या किसानों आदि को उधार दिये हुए रुपये का सूद।

२१—सैनिक आय—सैनिक स्टोर आदि की बिक्री से आय।

२२—विविध—स्टेशनरी और रिपोर्टो की बिक्री से आय।

केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय आय—सरकारी आय के तीन भेद किये जा सकते हैं—केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय। कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जिनको देश भर मे समान रूप से करना आवश्यक होता है; उनमें एक ही प्रकार की नीति तथा कार्य पद्धति काम मे लायी जाती है। उदाहरणवत यह आवश्यक है कि विदेशों से आने वाले, तथा यहाँ से बाहर जाने वाले माल के सम्बन्ध में एक ही प्रकार की नीति रहे; आयात-निर्यात पर लगने वाले करों की दर मे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की दृष्टि से भेद न हो; डाक-तार के नियम तथा दर सर्वत्र समान हों, सरकारी मुद्रा या सिक्का भी सब प्रान्तों मे एक समान ही प्रचलित हो। ऐसे कार्यों को भारत-सरकार करती है, और उनसे होने वाली आय केन्द्रीय आय गिनी जाती है।

इसके विपरीत, कृषकों से भिन्न-भिन्न स्थानों मे सरकार का सम्बन्ध एक ही प्रकार का नहीं है, कहीं स्थायी बन्दोबस्त है, कही अस्थायी; कहीं जमींदारी या ताल्लुकेदारी प्रथा है, कहीं रैय्यतवारी। अतः यह विषय प्रांतीय सरकारों के सुपुर्द है। प्रत्येक प्रान्त मे इससे होने वाली आय वहाँ की प्रान्तीय सरकार वसूल करती है। इसी प्रकार आबपाशी, जगल और न्याय आदि सम्बन्धी आवश्यकताएँ तथा परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों की पृथक् पृथक् हैं। इन मद्दों से होनेवाली आय प्रान्तीय समझी जाती है। हाँ, छोटे छोटे (चीफ कमिश्नरो के) प्रान्तो का प्रबन्ध वास्तव मे केन्द्रीय सरकार करती है, अतः उनकी सब आय केन्द्रीय ही होती है।

गत महायुद्ध के पहिले, भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों की कुल वार्षिक आय लगभग दो सौ करोड़ रुपये रही है—लगभग १२० करोड़ रुपये की आय भारत सरकार की, और शेष प्रान्तीय सरकारों की। अब यह रकम तिगुनी से अधिक हो गई है। प्रत्येक मद्द से होने वाली आय प्रति वर्ष कुछ घटती-बढती रहती है। कुछ कार्यों को जिनका सम्बन्ध किसी नगर या ग्राम-समूह से ही होता है, करने का अधिकार स्थानीय संस्थाओं अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों या जिला-बोर्डों को दिया हुआ है। इन सस्थाओं को कुछ करों आदि की आय होती है, यह आय स्थानीय आय कहलाती है।

व्यय के मुख्य भेद—सरकार के द्वारा होने वाले व्यय का स्थूल वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) देशरक्षा के लिए—स्थल-सेना, जल-सेना, वायु सेना और सैनिक सामग्री का व्यय।

(२) शान्ति सुव्यवस्था के लिए—इसमें पुलिस, न्याय, जेल और शासन सम्मिलित हैं। शासन में राष्ट्रपति, राज्यपालों और मजिस्ट्रेटों आदि के सम्बन्ध में किया जाने वाला खर्च सम्मिलित होता है। केन्द्रीय व्यवस्थापक मडली और सेक्रेटरियो की मद्द में होने वाले खर्च का, और कर वसूल करने के खर्च का भी समावेश इसी में होता है।

(३) जन-हितकारी—शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि उद्योग, सिविल निर्माण-कार्य, मुद्रा, टकमाल और विनिमय, मनुष्य गणना, दुर्भिक्ष निवारण आदि का खर्च।

(४) व्यावसायिक कार्य—रेल, डाक, तार, जगल और नहर आदि का खर्च। इन मद्दों के व्यय के हिसाब में, विविध कर्मचारियों के वेतन आदि का खर्च न दिखा कर, केवल इन कार्यो मे लगी हुई पूँजी का सूद ही दिखाया जाता है।

केन्द्रीय, प्रांतीय और स्थानीय व्यय—सेना, रेल, डाक, तार, मुद्रा और टकमाल आदि जो कार्य सम्पूर्ण राज्य के लिये किये जाते हैं, उनके वास्ते खर्च भारत-सरकार करती है। यह खर्च केन्द्राय व्यय कहलाता है। जो कार्य किसी खास प्रान्त के वास्ते आवश्यक होता है, और जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धति वर्ती जाती हैं, उसके लिये उस प्रान्त की सरकार खर्च करती है। यह खर्च प्रान्तीय व्यय कहलाता है, यथा शिक्षा, स्वास्थ्य, कृषि, आबपाशी, जगल, उद्योग, पुलिस, न्यायालय, और जेल आदि। [चीफ कमिश्नरों के प्रातों मे होने वाला खर्च भारत-सरकार ही करती है।] जो कार्य किसी नगर, ग्राम या ग्राम-समूह के लिये किया जाता है, उसके लिए खर्च स्थानीय सस्थाएँ करती हैं। यह स्थानीय व्यय कहलाता है।

सरकारी व्यय और लोक-नियंत्रण—सन् १९३५ ई० के विधान के अनुसार प्रान्तों मे बहुत कुछ उत्तरदायी सरकरों की स्थापना हो गई है। वे विशेषतया काग्रेसी सरकारें, बहुत सोच समझ कर खर्च करती हैं, उन पर लोक-प्रतिनिधियों का नियत्रण है। स्थानीय सस्थाएँ प्रान्तीय सरकारों के अधीन हैं, अतः उनके द्वारा होने वाला व्यय भी, (जिसका परिमाण अपेक्षाकृत कम ही होता है) जनता के हित की दृष्टि से ही किया जाता है।

स्मरण रहे कि उत्तरदायी शासन की स्थापना केवल राज्यपालों के प्रान्तों

में की गयी है, चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों मे नही। गवर्नरों के प्रान्त निम्न-लिखित हैं :—(१) बम्बई (२) मद्रास, (३) उत्तर प्रदेश (४) बिहार, (५) उड़ीसा, (६) मध्य प्रदेश और बरार, (७) आसाम, (८) पूर्वी पंजाब और (९) पश्चिमी बगाल।

चीफ कमिश्नरों के प्रान्त निम्नलिखित हैं:—(१) देहली, (२) अजमेर, मेरवाड़ा (३) कुर्ग, (४) अन्दमान-निकोबार।

अभ्यास के प्रश्न

१—सरकार की आय के मुख्य साधन उदाहरणों सहित समझाइये।

२—निम्नलिखित मदों मे से कौन सी टैक्स (कर) हैं और कौन सी शुल्क या व्यावसायिक आय के साधन—
चुगी, कोर्टफीस, डाक का महसूल, साइकिल रखने की लाइसेंस फीस, आबपाशी शुल्क।

३—निम्नलिखित करों मे से कौन प्रत्यक्ष हैं और कौन से परोक्ष—दियासलाई पर कर, नमक कर, मालगुजारी, जायदाद पर कर, विवाह कर, कृषि आय कर।

४—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों मे क्या फर्क होता है? अपने देश के लिए आप किस प्रकार के कर पसन्द करते हैं और क्यों?

५—स्पष्ट रूप से बताइए कि आप प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों से क्या समझते हैं? परोक्ष करों के विरुद्ध कौन कौन सी दलीलें पेश की जाती हैं?

उन्चालीसवाँ अध्याय

केन्द्रीय सरकार का आय-व्यय

सरकारी आय व्यय का साधारण परिचय दे चुकने पर अब हम केन्द्रीय आय-व्यय का विचार करते हैं। पहले केन्द्रीय सरकार की आय की बात लीजिये।

केन्द्रीय सरकार की आय—अगले पृष्ठ पर दिये हुए नक्शे से ज्ञात होगा कि भारत-सरकार को भिन्न-भिन्न मद्दों से कितनी-कितनी आय होती है। स्मरण रहे कि (१) चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों की (प्रान्तीय विषयों की)

आय केन्द्रीय सरकार के हिसाब में शामिल की जाती है, कारण इसका सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार से ही रहता है। (२) हिसाब में शुद्ध आय ही दिखायी गयी है। रेल, डाक, तार, नहर आदि व्यावसायिक कार्यों से जो कुछ आय होती है, उसमें से इन कार्यों के सचालन आदि में खर्च होनेवाला रुपया निकाल दिया गया है।

केन्द्रीय सरकार की अनुमानित आय

मद्द	लाख रुपये	
	१६३८-३६	१६४६-५०
१—आयात-निर्यात-कर	४३,८१	१०७,२५
२—उत्पादन कर (चीनी आदि पर)	७,७६	६१,७३
३—आय-कर	१२,४२	६७,०६
४—कारपोरेशन कर	१,५५	४१,८१
५—नमक	८,३५	×
६—अफीम	४५	१,२८
७—अन्य-करों से आय	१,०७	५,३७
८ - रेल	३२,५७	४,७२
६—आबपाशी	१	—
१०—डाक, तार	७५	४,४७
११—सूद की आय	६६	१,१६
१२—सिविल शासन	१,००	६,७८
१३—मुद्रा टकसाल	६७	६,७०
१४—सिविल निर्माण-कार्य	३१	१,०२
१५—सैनिक आय	५,६०	
१६ विविध— स्टेशनरी, प्रिंटिंग, पेन्शनादि	१,५५	५,४७
		३४७,८८
आय कर का भाग जो प्रांतों को दिया गया		४०,८५
योग	११८,५३	३०७,०३

अब नक्शे की मुख्य मुख्य मद्दों का कुछ विशेष विचार करते हैं।

आयात-निर्यात-कर—आयात निर्यात-कर भारतवर्ष में बाहर से आने

वाले, तथा यहाँ से विदेश जाने वाले माल पर लगता है। आयात-कर खेती के औजारों, कागज बनाने के मसाले, किताबों, सिक्कों आदि को छोड़ कर अधिकाश विदेशी माल पर लगता है। इसके दो उद्देश्य हैं, (१) सरकारी आय; साधारणतया यह कर वस्तुओं के मूल्य के हिसाब से लगाया जाता है। (२) स्वदेशी वस्तुओं का सरक्षण, यह ऐसी विदेशी वस्तुओं पर लगाया जाता है, जिनकी प्रतियोगिता से यहाँ की बनी वैसी वस्तुओं का सरक्षण करना अभीष्ट होता है। चीनी पर कम से कम ३॥) फी हडरवेट और दियासलाई पर १।=) फी कोड़ी बक्स सरक्षण कर लगता है। आयात-कर उन व्यापारिक समझौते का विचार करते हुए लगाये जाते हैं, जो भारतवर्ष और इगलैंड में, अथवा भारतवर्ष और जापान में हुए हैं। इगलैंड के माल पर दस फी सदी कर की रियायत है, अर्थात् उस पर अन्य विदेशी माल की अपेक्षा इतना कर कम लगता है। इसके बदले में इगलैंड भारतवर्ष के माल पर इतना ही कर कम लगाता है। लोहा, कागज, कपड़ा इत्यादि के आयात पर सरक्षण कर लगाया गया है।

उत्पादन-कर—यह कर भारतवर्ष में बनने वाली चीनी और दियासलाई पर लगता है। विदेश से आने वाली इन वस्तुओं पर भारी सरक्षण कर लगने के कारण वहाँ से इन वस्तुओं का आयात कम होती है, और फल स्वरूप सरकार की उस मद्द से आय भी कम होती है। उसकी पूर्ति के लिए केन्द्रीय सरकार ने यहाँ कारखाने की बनी चीनी पर २) प्रति मन, खाडसारी चीनी पर ॥=) प्रति मन कर लगाया है, और, दियासलाई के ४०, ६० तथा अधिक सीक वाले बक्सो पर प्रति कोड़ी क्रमशः १), १॥) और २) उत्पादन कर लगाया जाता है। बारीक कपडे पर भी उत्पादन कर लगाया गया है।

आय-कर—यह कर विशेषतया मुनाफे या वेतन पर लगता है। किसी भी वर्ष आय-कर उससे पिछले वर्ष की आमदनी पर लगाया जाता है। अतः कुल आय-कर और उसकी वसूली के आधा पर देश की, पिछले वर्ष की आर्थिक स्थिति का अन्दाज लगाया जा सकता है।

भारतवर्ष में आय-कर सन् १८६० ई० से लगने लगा है। इस समय तीन हजार रुपये से कम आमदनी पर कर नहीं लगाया जाता, कारण, कि यह माना जाता है कि इतनी आय एक परिवार के निर्वाह के लिए आवश्यक है। व्यक्तियों, रजिस्टरी न की हुई फर्मों (कोठियों) और

संयुक्त परिवारों की (तीन हजार रुपये या इससे अधिक) आय पर इस कर का स्वरूप वर्द्धमान है। अर्थात् जितनी आय अधिक होती है उतनी ही कर की दर बढ़ती जाती है। प्रत्येक कम्पनी, और रजिस्टरी की हुई फर्म से आय-कर एक निर्धारित दर से लिया जाता है।

सुपर-टैक्स योरपीय महायुद्ध के समय से लगाया गया है। यह पचास हजार या इससे अधिक की आय पर लगता है। आय-कर की भाँति इसकी दर भी वर्द्धमान है।

नमक-कर—यह एक उत्पादन कर है, और उस नमक पर १।) प्रति मन के हिसाब से लगता था, जो यहाँ बनाया जाता था। विक्रय के लिए नमक तैयार कराने का अधिकार एकमात्र सरकार को है, नमक तैयार कराने का खर्च बहुत थोड़ा होता है, कुछ खर्च किराये मे लगता है। परन्तु इस पर जो कर लगता है, वह इस लागत से कई गुणा होता है। नमक भोजन का आवश्यक पदार्थ होने से उस पर लगने वाला कर जीवन-रक्षक वस्तु पर कर है और इसका भार गरीब से गरीब आदमी पर भी पड़ता है। इस प्रकार इस कर का अनुचित होना स्वय सिद्ध है। इसलिए इस कर का यहाँ घोर विरोध किया गया और १९४७ मे वह उठा लिया गया।

स्मरण रहे कि यद्यपि भारतवर्ष में विशाल समुद्र-तट, नमक की झील, तथा नमक के पहाड़ होने के कारण, यहाँ जनता की नमक की आवश्यकता सहज ही पूरी हो सकती है, तथापि यहाँ कुछ नमक बाहर से भी आता है। इसका कारण सरकार की इस कर सम्बन्धी नीति है। सरकार स्वाभाविक रूप से पाये जाने वाले या सहज ही बनाये जा सकने वाले इस पदार्थ का जनता को स्वेच्छा पूर्वक उपयोग नहीं करने देती थी। वह इस पर अपना एकाधिकार रखती थी, और भारी कर लगाती थी। उधर, विदेशी कम्पनियों का विलायती तैयार माल लाने के लिए जितने जहाजों की जरूरत होती है, यहाँ से कच्चा माल ले जाने के लिए उनसे अधिक जहाज लाने पड़ते हैं। जहाजों को खाली लाना कठिन है। अतः वे इन अधिक जहाजों मे नमक (तथा कोयला आदि वजनी सामान) नाममात्र के किराये पर ले आती हैं, उसे वे आयात-कर देकर भी भारत क नमक से सस्ते दामों पर बेच सकती हैं, और बेचती हैं।

अफीम-कर—अब से तीस वर्ष पहले अफीम की, चीन आदि देशों में खूब निर्यात होती थी, और भारत-सरकार को इस मादक पदार्थ के कर से खूब आमदनी होती थी। अब भारतवर्ष से, औषधि के रूप के

सिवाय, इसकी कही निर्यात नही होती, फल-स्वरूप इस मद्द की आय भी बहुत ही कम, पहले की अपेक्षा तो नगण्य सी ही (लगभग ४५ लाख रुपये वार्षिक) हो गयी है।

रेल.—भारतवर्ष मे रेलों मे लगभग नौ सौ करोड रुपये लगे हुए हैं। परन्तु सिचाई और सड़को आदि के कही अधिक उपयोगी कार्यों में पूँजी भयकर कजूसी करके लगायी गयी है। इसके अतिरिक्त, रेलों मे अधिकाश पूँजी एव प्रबन्ध विदेशी है, जनता के हितों की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया जाता। तीसरे दर्जे के यात्रियों को, जिनकी सख्या अन्य सब दर्जों के यात्रियों से अधिक होती है, बहुत शिकायतें रहती हैं। यदि माल ले जाने की दरों मे आवश्यक परिवर्तन किया जाय और जनता को सुविधाओं का यथेष्ट विचार रखा जाय, तो रेलों के द्वारा होने वाले व्यापार और यात्रा की वृद्धि हो और फलत. उनकी आय भी बढे।

इस मद्द की आय के हिसाब के वास्ते सरकारी रेलों की कुल आय में से उनके चलाने का खर्च तथा कम्पनियों को दिया हुआ मुनाफा घटा दिया जाता है, और शेष मे कम्पनियों की रेलों से होने वाली आय जोड दी जाती है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है। सन् १९२५ ई० से रेलों का हिसाब अन्य सरकारी हिसाब से पृथक् कर दिया गया है। इस समय यह व्यवस्था है:—रेलों मे लगी हुई पूँजी का एक प्रतिशत सरकारी आय में सम्मिलित किया जाता है, इसके अतिरिक्त जिस वर्ष निर्धारित से अधिक मुनाफा होता है, उस वर्ष के अधिक मुनाफे का पचमाश भी सरकार को मिलता है। अगर सैनिक महत्त्व वाली रेलों से नुकसान हो तो उतनी रकम सरकार को दी जाने वाली रकम से काट ली जाती है। अगर सरकार को दी जाने वाली रकम चुकाने के बाद रेलवे रिजर्व फड के लिए तीन करोड़ से अधिक रुपया रह जाय, तो जितना रुपया अधिक हो, उसका तृतीयाश सरकार को दिया जाता है। सन् १९४९-५० मे रेल से केन्द्रीय सरकार को खर्च निकालने के बाद ४,७२ लाख रुपये मिलने का अनुमान किया जाता है।

डाक और तार—इस मद्द की आय में वह रकम दिखायी जाती है जो कुल आय में से सचालन-व्यय निकाल कर शेष रहती है। कुल आय में (क) भारतवर्ष में होने वाली डाक और तार की आय, मनीआर्डर कमीशन और इडो-योरोपियन तारों की आय तथा (ख) इगलैंड में होने वाली इडो-योरोपियन तारों की आय सम्मिलित होती है। व्यय मे (१) भारतवर्ष के कार्यालयों का व्यय, स्टेशनरी, और छपाई, डाक लाने और ले जाने का खर्च; तार की लाइन आदि का खर्च, (२) इगलैंड मे ईस्टर्न

मेल के लिये दी जाने वाली रकम तथा (३) भारतवर्ष और इगलैंड में होने वाले इडो-योरोपियन तारो का खर्च सम्मिलित है।

भारतवर्ष मे सरकार ने जनता की सामर्थ्य और सुविधा का विचार न करते हुये लिफाफो का मूल्य बढ़ा रखा है, इससे लोगो के पारस्परिक व्यवहार-वृद्धि में बड़ी रुकावट है। पार्सलों के महसूल की दर बढ़ने से अब जन साधारण को वी० पी० से पुस्तकें मॅगाने का खर्च बहुत कष्टप्रद हो गया है। सन् १६४६ ५० में इस विभागों से ४ करोड़ ४७ लाख रुपयों की आय खर्च निकालने के बाद प्राप्त होने की आशा है।

सूद की आय—सूद की आय मे भारत-सरकार द्वारा प्रान्तो को दिये हुए ऋण और पेशगी का सूद, रेलवे कम्पनियो को दी हुई पेशगी का सूद तथा प्रोविडेंड फड की सिक्यूरिटियों का सूद, तथा इगलैंड मे होने वाली सूद की कुछ आय सम्मिलित है।

निर्माण-कार्य —इस मद्द मे सरकारी मकानो का किराया, उनकी बिक्री का रुपया, तथा इस प्रकार की अन्य विविध आय सम्मिलित है।

मुद्रा, टकसाल और विनिमय—इस मद्द मे सरकार के 'पेपर करेंसी रिजर्व' नामक कोष मे जो—सिक्यूरिटियाँ रखी जाती हैं, उनकी रकम का सूद तथा भारतवर्ष के लिये पैसा इकन्नी आदि सिक्के ढालने का लाभ सम्मिलित है। रुपया ढालने का लाभ 'गोल्ड स्टैंडर्ड रिजर्व' अर्थात् मुद्रा ढलाई-लाभ-कोष में डाला गया है। विनिमय की आय के सम्बन्ध मे, इस मद्द में होने वाले व्यय के प्रसग मे लिखा जायगा।

स्टेशनरी और प्रिंटिग आदि—भारत-सरकार की अपनी स्टेशनरी और छापेखाने की व्यवस्था है। इस मद्द मे सरकारी गजट, रिपोर्टों तथा पुस्तकों आदि की बिक्री से होने वाली, तथा प्रेस की अन्य आय सम्मिलित है।

केन्द्रीय सरकार का व्यय—अगले पृष्ठ पर दिये हुए नक्शे में यह बताया गया है कि भारत-सरकार किन-किन मद्दों मे कितना कितना रुपया प्रतिवर्ष खर्च करती है। स्मरण रहे कि—

(१) चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों का (प्रान्तीय विषयों का) व्यय केन्द्रीय सरकार के हिसाब में शामिल किया गया है, कारण, इस व्यय के लिए केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी है।

(२) केन्द्रीय व्यय की मद्दों मे, कर वसूल करने के खर्च मे आयात

निर्यात- कर, आय-कर, अफीम और नमक आदि विभागों के खर्च के अतिरिक्त अफीम तैयार करने का खर्च भी सम्मिलित है।

(३) हिसाब मे विशुद्ध व्यय ही दिखाया गया है। रेल, डाक, नहर आदि व्यावसायिक कार्यों के व्यय मे इनके विविध कर्मचारियों के वेतन आदि का खर्च न दिखा कर, केवल इन कार्यों में लगी हुई पूँजी का सूद ही दिखाया गया है।

केन्द्रीय सरकार का अनुमानित व्यय

मद्द	लाख रुपये	
	१९३८-३९	१९४९-५१
१—कर प्राप्ति का व्यय:—	४,३४	१०,०६
२—सूद	१४,६२	३६,२९
३—आबपाशी	११	१२
४—सिविल शासन:—	११,३१	४०,५०
५—मुद्रा, टकसाल	३७	२,२३
६—सिविल निर्माण-कार्य	३,१२	७,३२
७— सैनिक व्यय	५०,७८	१५७,३७
८—अन्न खरीदने मे सहायता		३२,९७
९ शरणार्थियों पर खर्च		९,८५
१०—विविध:—		
स्टेशनरी, प्रिंटिंग, पेन्शनादि	३,६३	२३,०९
योग	८८,३८	३२२,८०

अब मुख्य मुख्य मद्दों का कुछ परिचय दिया जाता है।

कर-प्राप्ति का व्यय—इस व्यय मे आयात-निर्यात-कर, उत्पादन कर (चीनी आदि का) आय-कर अफीम आदि विभागों के कर्मचारियों के वेतनादि के अतिरिक्त, अफीम और नमक तैयार करने का खर्च भी सम्मिलित है। यह खर्च यहाँ अन्य देशों की अपेक्षा अधिक होने का एक कारण यह है कि भारतवर्ष में विशेषतया भारत-सरकार के अधीन काम करनेवाले अधिकतर अंग्रेज थे, और उन्हें वेतन बहुत अधिक दिया जाता था।

रेल, आबपाशी, डाक और तार—ये कार्य मुख्यतया आय के लिए किए जाते हैं। इसलिए आय के नकशे में इनकी आय दी गई है। आबपाशी का पूरा व्यय प्रांतीय बजट मे देखिए।

सिविल शासन—इस मद् में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित होता है :—राष्ट्रपति तथा भारत-सरकार के सदस्यों, भारतीय व्यय-स्थापक-सभा और राज्य-परिषद्-सम्बन्धी खर्च, केन्द्रीय सेक्रेटेरियट और हेड क्वार्टरों के आफिस का खर्च, बदरगाहों, हवाई जहाजों, स्वगृह (होम) विभाग, राजनैतिक विभाग, तथा हिसाबे की जाँच सम्बन्धी खर्च, चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों में होने वाला (चीफ कमिश्नरों, जिलाधीशों, और उनके अधीन कर्मचारियों पुलिस, न्याय, और जेल, विज्ञान, शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, कृषि और उद्योग धन्धे सम्बन्धी) खर्च। भारतवर्ष में उच्च अधिकारियों को इतना वेतन मिलता है जितना ससार के अनेक धनी देशो में भी नहीं मिलता।

मुद्रा, टकसाल और विनिमय—यह मद् केन्द्रीय भी है, और प्रान्तीय भी है। इस मद् के केन्द्रीय हिसाब में, इन विषयों के कार्यालयों तथा टकसालों को चलाने का खर्च शामिल है। विनियम की कानूनी दर एक शिलिंग छः पेंस फी रुपया है। इस प्रकार इगलैंड में भारतवर्ष-सम्बन्धी जो खर्च होता है, उसे चुकाने के लिए, एक पौंड पीछे, तेरह रुपये पाँच आने चार पाई दिया जाता है। जब कभी यह दर गिर जाती है, उदाहरण के लिए फी रुपया एक शिलिंग चार पेंस हो जाती है, और प्रति पौंड १५ रु० देने पड़ते हैं, तो इससे जो क्षति होती है, वह विनिमय की मद् के खर्च में डाल दी जाती है। (यदि विनिमय की दर बढ़ जाय तो उससे होनेवाला लाभ, विनिमय की आय में शामिल किया जाता है)

सिविल निर्माण कार्य—इस मद् मे भारत-सरकार से सम्बन्ध रखने वाली इमारतें तथा दफ़्तर, एवं समुद्रों में रोशनी घर आदि बनाने तथा उनकी मरम्मत करने का व्यय सम्मिलित है।

सैनिक व्यय—भारतवर्ष में कुल स्थाई (रेगुलर) सेना में लगभग दस लाख सैनिक या अफसर हैं। उपर्युक्त स्थाई सेना के अतिरिक्त और भी सेना है जो सहायक या 'आग्ज़िलियरी' कहलाती है; इसमें भारतीय होते हैं जो सैनिक शिक्षा पाये हुए, अथवा कुछ समय नौकरी किए हुए होते हैं। ये अपना निजी कार्य करते हैं और आवश्यकता होने पर लड़ने के लिये बुला लिये जाते हैं। यह तो स्थल सेना की बात हुई। अब जल-सेना की बात लीजिये।

अब से कुछ समय पहले तक भारतवर्ष ब्रिटिश सरकार को प्रति वर्ष प्रायः दस लाख रुपये देता था, और ब्रिटिस सरकार भारतवर्ष के सामुद्रिक सरक्षण के लिए ज़िम्मेदार थी। पर अब भारतीय नौ सेना बनाने की योजना की गई है। छः जहाजों का जगी बेडा कायम किया गया है, इसका नाम है 'रायल इण्डियन नेवी' अर्थात् भारत की शाही जलसेना।

वायुसेना 'रायल एयर फोर्स', कहलाती है। हवाई जहाजों मे बैठ कर उड़ने की शिक्षा देने के लिए कुछ स्थानो मे 'मिलिटरी फ्लाइङ्ग स्कूल' खोले गये हैं।

भारतवर्ष के सैनिक व्यय मे (क) काम करने वाली (इफेक्टिव), और काम न करने वाला सेना, (ख) समुद्री बेड़ा और (ग) सैनिक मकान आदि व्यय सम्मिलित हैं। इनमे (क) सम्बन्धी कुछ व्यय भारतवर्ष के अतिरिक्त इगलैंड मे भी होता है। भारतवर्ष मे व्यय विशेषतया निम्नलिखित विषयों मे होता है :—स्थाई सेना, शिक्षा, सैनिक अस्पताल, डिपो, सेना का सदर मुकाम (हेड क्वार्टर), जल-सेना, हवाई फौज, वायुयान आदि सहायक और टेरीटोरियल विशेष कार्य कर्त्ता, स्टाक-हिसाब।

सन् १८५६ ई० मे भारतवर्ष का सैनिक-व्यय साढ़े बारह करोड़ रुपये था। अगले वर्ष यहाँ राज्यक्रान्ति हुई, उसके बाद यह व्यय साढ़े चौदह करोड़ रुपये हुआ। सन् १८८५ ई० मे यह सत्रह करोड़ हो गया। योरोपीय महायुद्ध से पूर्व सन् १९१३-१४ ई० मे यह लगभग ३० करोड़ था। यहाँ तक भी गनीमत थी, महायुद्ध में यह और बढ़ा। सन् १९२१-२२ ई० मे यह ७८ करोड़ पर जा पहुँचा। इस वर्ष किफायत कमेटी नियत हुई। पश्चात् व्यय कुछ घटा। सन् १९४९-५० मे वह १५७ करोड़ रुपये से अधिक है।

भारतवासियों का आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह व्यय अत्यन्त अधिक है। भारतीय नेताओं, राजनीतिज्ञों तथा व्यवस्थापक सभाओं ने इसका घोर विरोध किया है। इस व्यय के बहुत अधिक होने के कारण यहाँ अन्य लोकोपयोगी कार्यों के लिए धन की चिन्तनीय कमी होती है। अतः यह आवश्यक है कि इसे शीघ्र काफी घटाया जाय, यदि अधिक नहीं तो इसमे इतनी कमी तो की ही जाय कि यह १०० करोड़ से अधिक न हो।

भारत मे अन्न की कमी को पूरा करने के लिये अनाज बाहर से मँगाना पड़ता है। उसमे जो नुकसान होता है उसके लिए ३२ करोड़ ९७ लाख रुपयों की रकम सन् १९४९-५० के बजट में रखी गई है। इसी वर्ष शरणार्थियों का सहायता के लिए ९ करोड़ ८५ लाख रुपये दिये जाने की व्यवस्था की गई है।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारत की केन्द्रीय सरकार के व्यय की मुख्य मदें कौन कौन सी हैं ? उन्हे उनके महत्त्व के लिहाज से लिखकर प्रत्येक की आलोचना कीजिए।

२—भारत सरकार के आय-व्यय को मदों का पर्चा बनाइए और अन्दाज से हरेक मद की रकम भरिए।

३—भारत की केन्द्रीय सरकार के आय बढ़ाने के साधन लिखिये।

४—भारत की वर्तमान केन्द्रीय सरकार के व्यय कम करने के तरीके समझाइये।

५—भारत का सैनिक खर्च किस प्रकार घटाया जा सकता है ?

६—भारत में रेलों से क्या हानि-लाभ हुए हैं ?

७—नमक कर के पक्ष और विपक्ष की दलीलें लिखिये।

८—भारतीय आय-कर के दरों की आलोचना कीजिये।

९—भारत मे वर्तमान आयात निर्यात दरों से उद्योग-धधों को कहाँ तक लाभ पहुँचता है ?

१०—भारत मे सिविल शासन का खर्च किस प्रकार कम किया जा सकता है ?

चालीसवाँ अध्याय

प्रान्तीय आय-व्यय

पिछले अध्याय मे केन्द्रीय सरकार के आय-व्यय के विषय मे विचार कर चुकने पर अब प्रान्तीय सरकारों के आय-व्यय के सम्बन्ध मे लिखा जाता है। प्रान्तीय सरकारो से आशय यहाँ गवर्नरों वाले प्रान्तों को सरकारों से ही है, (चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों का आय-व्यय केन्द्रीय हिसाब मे सम्मिलित होता है।)

उत्तर प्रदेश की आय—पहले प्रान्तीय आय के विषय को लीजिए। उदाहरण स्वरूप नीचे उत्तर प्रदेश की सरकार की आय के अक दिये जाते हैं:—

उत्तर प्रदेश की अनुमानित आय

आय की मदें	लाख रुपए १६३८-३६	लाख रुपए १६४७ ४८
१ मालगुजारी	६२२	६६८
२—आबकारी	१२६	५२५
३—स्टाम्प	१४६	२१०
४—जगल	४८	१७८
५—रजिस्टरी	११	१५
६—मोटर आदि कर	१०	२२
७—अन्य कर*	५	१४६
८—आबपाशी	१६४	१६७
६—सूद	११	२२
१०—सिविल निर्माण-कार्य	१५	३२
११—न्याय	११	२७
१२—जेल	६	१५
१३—पुलिस	६	६१
१४—शिक्षा	१४	२०
१५—स्वास्थ्य-चिकित्सा	६	२१
१६—कृषि और सहकारिता	२६	७०
१७—उद्योग धधे	६	३३
१८—शासन-सम्बन्धी अन्य आय†	३	२
१६—विविध**	२१	१५
२०—आयकर का भाग जो केंद्रीय सरकार से मिला		५२७
२१—केंद्रीय सरकार से सहायता		७५०
योग	१२,५७	३४,५६

*इसमें मनोरंजन कर तथा अन्य छोटे-छोटे कर सम्मिलित हैं।

† इसमें वैज्ञानिक विभाग की तथा शासन सम्बन्धी ऐसे विभागों की आय सम्मिलित है, जिनका नक्शे में उल्लेख नहीं है।

**स्टेशनरी प्रिंटिंग सम्बन्धी आय, तथा पेन्शन के लिए दिया हुआ चन्दा आदि।

मालगुजारी—इस मद में साधारण मालगुजारी, सरकारी इस्टेट की बिक्री, जमीन का महसूल तथा अव्वाब के अतिरिक्त निम्नलिखित आय भी सम्मिलित होती है:—मालगुजारी, खास अदालतों से किया हुआ जुर्माना, कुछ जगहों में खास पटवारी रखने के उपलक्ष्य में होने वाली आमदनी, खेतों का हद्द ठीक करने के लिए अमीनों की फीस, उन जगहों या जमीन से होने वाली खनिज पदार्थों की आय, जो जगल-विभाग के प्रबन्ध में न हों।

प्रान्तीय सरकार की आमदनी का प्रमुख साधन मालगुजारी है। इसकी (एव लगान की) अधिकता के कारण अधिकाश कृषकों को, जो भारतीय जनता का बृहदश हैं, इस समय बुरी दशा है। उन्हें मालगुजारी अपनी मजदूरी में से देनी पड़ती है, इसलिए उनको कई महीनों तक अध-भूखे रहना पडता है।

अस्तु, किसानों और छोटे जमींदारों के उद्धार के लिए यह आवश्यक है कि उनकी जमीन उनकी ही मौरूसी जायदाद समझी जाय और उनसे मिलने वाली सरकारी मालगुजारी में काफी कमी हो। हर्ष की बात है कि अब प्रान्तीय सरकारें इस ओर ध्यान दे रही हैं। उत्तर प्रदेश की सरकार ने कुछ नियमों के साथ लगान और मालगुजारी में कमी करने का विचार किया है।

आबकारी-कर—मादक पदार्थों पर लगाया जाने वाला कर आबकारी-कर कहलाता है। यह कर प्रान्तीय है और भाँग, चरस, शराब, अफीम आदि मादक पदार्थों पर लगाया जाता है। यहाँ मादक पदार्थों को बनाने या तैयार करने का सरकार को प्रायः एकाधिकार है। इनकी बिक्री से जो आय होती है, उसमें से उत्पादन व्यय निकालने पर जो शेष रहे, सरकारी मुनाफा है और आय में सम्मिलित होता है। इस मद का ब्यौरा यह है—लाइसेंस, डिस्टलरी (शराब की भट्टी) की फीस, शराब और अन्य मादक पदार्थों की बिक्री पर महसूल, आबकारी विभाग का अफीम की बिक्री से लाभ, मादक पदार्थों के सेवन सम्बन्धी जुर्माना, आदि।

विगत वर्षों में इस मद की आय में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही थी, प्रान्तीय सरकारों ने आमदनी घटने की आशका के कारण मादक पदार्थों के प्रचार को रोकने का विशेष प्रयत्न नहीं किया। परन्तु अब सन् १६३७ ई० में प्रान्तीय सरकारों, और उनमें से भी विशेषतया काग्रेसी सरकारों ने मादक वस्तुनिषेध के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट नयी नीति घोषित कर दी और अन्यान्य

प्रान्तों के समान उत्तर प्रदेश के कुछ-कुछ जिलो मे मद्य-पान-निषेध का प्रयोग उत्साह-पूर्वक किया जा रहा है।

स्टाम्प—यह दो प्रकार का होता है, अदालती और गैरअदालती। अदालती स्टाम्प की आय मे कोर्ट फीस या अदालतो मे पेश होने वाले मुकद्दमों के कागजों और दरख्वास्तों पर लगाये जानेवाले टिकटों की आमदनी शामिल है। गैर-अदालती स्टाम्प मे व्यापार और उद्योग-सम्बन्धी कागजों (हुंडी, पुर्जे, चेक, रुपयों की रसीद आदि) पर लगाने वाले टिकटों की आमदनी गिनी जाती है।

अदालती स्टाम्प प्रत्यक्ष रूप से न्याय पर कर है। गैर-अदालती स्टाम्प भी, परोक्ष रूप मे, न्याय कर ही है। रुपया लेने की रसीद पर या हुंडी आदि पर स्टाम्प इसीलिए तो लगाया जाता है कि पीछे आवश्यकता होने पर न्याय के लिए प्रमाण रहे।

जंगल—इस मद की निम्नलिखित आय होती है:—लकडी या अन्य पैदावार (बाँस, घास, ईंधन, कोयला, राल आदि) जो सरकार ले, लकड़ी या अन्य पैदावार जो जनता के आदमी ले, जगल का लावारसी और जब्त किया हुआ माल, विदेशी लकड़ी या अन्य जगल की पैदावार पर महसूल, इस विभाग सम्बन्धी जुर्माना, जब्ती आदि।

रजिस्टरी—इस मद की आय निम्न विषयों मे होती है:—दस्तावेजों की रजिस्टरी कराने की फीस, रजिस्टरी की हुई दस्तावेजों की नकल की फीस या जुर्माने आदि। कागजों की रजिस्टरी होने से लोगों को बेईमानी करने का अवसर कम होता है।

आबपाशी—इस मद की आय, कुल आय में से सचालन-व्यय निकाल कर दिखायी जाती है। कुल आय मे कुछ आय तो प्रत्यक्ष होती है, और कुछ वह होती है जो आबपाशी के कारण मालगुजारी के बढ़ने से होती है। भारतवर्ष मे नहरों और बड़े तालाबों का कार्य बहुत बढ़ाने की आवश्यकता है। कार्य बढने के साथ आय का बढना अनुचित नहीं, परन्तु इसकी व्यवस्था इस प्रकार होनी चाहिए कि जनता की सुविधा का सम्यक् ध्यान रखा जाय, और दर नियमित रहे।

सूद—सूद की प्रांतीय आय जिला और अन्य 'लोकल फड' कमेटियों, म्युनिसिपैलटियों, जिला-बोर्डों, जमींदारों, किसानों तथा सहकारी समितियों आदि को दिये हुए ऋण के सूद से होती है।

न्याय—इस विषय में निम्न प्रकार की आय होती है, अनाधिकृत माल

की बिक्री, कोर्ट-फीस जिसमें दीवानी अदालत के अमीन और कुडक-अमीन आदि की फीस शामिल है, हाइकोर्ट या उसके अधीन दीवानी अदालतों की फीस, मजिस्ट्रेटों का किया हुआ जुर्माना, और जब्ती आदि, वकालत की परीक्षा फीस, अन्य फीस और जुर्माने आदि।

सरकारी हिसाब में प्रायः न्याय की आय खर्च की अपेक्षा बहुत कम दिखाई जाती है। वास्तव मे यह बहुत अधिक होती है। सरकारी हिसाब में कम दिखाने का कारण यह है कि स्टाम्प की बहुत सी आमदनी, जो कि पृथक् दिखायी जाती है, वास्तव में न्याय सम्बन्धी ही होती है, इसके विषय में पहले कहा जा चुका है।

पुलिस—इस मद मे निम्नलिखित विषयों की आय होती है—सार्वजनिक विभागों या प्राइवेट संस्थाओं आदि को दी गया पुलिस सम्बन्धी आय, हथियार रखने के कानून से आय, मोटर आदि की रजिस्टरी कराने आदि की फीस, जुर्माने और जब्ती।

शिक्षा—इस मद में निम्नलिखित आय का समावेश होता है.—सरकारी आर्ट तथा औद्योगिक कालिजों की फीस, माध्यमिक तथा प्रारम्भिक स्कूलों की फीस, सुधारक स्कूलों के कारखानों की आय, सहायता, या दान। विविध, परीक्षा-फीस, सिविल ऐंजिनियरिंग कालेज, किताबों और अन्य सामान की बिक्री, प्रान्तीय परीक्षाओं की फीस आदि।

सर्व साधारणोपयोगी शिक्षा जितनी सुलभ और सस्ती हो, उतना ही अच्छा है। प्रारम्भिक शिक्षा तो निःशुल्क (एव अनिवार्य) ही होनी चाहिए। भारतवर्ष में अभी बहुत थोडे स्थानों में ऐसा है। अब शिक्षा-प्रचार का यथा-सम्भव प्रयत्न हो रहा है।

स्वास्थ्य और चिकित्सा—इस मद की आय निम्न विषयों से होती है—(अ) स्वास्थ्य—दवाइयों और टीका लगाने की चीजों की बिक्री, और सहायता। (आ) चिकित्सा—मेडिकल स्कूलों और कालिजों की फीस, अस्पतालों की आय, पागलखानों की आय, जिसमें ऐसे पागलों को रखने से होनेवाली आय भी सम्मिलित है, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो, म्युनिसिपैलटियों और छावनियों की सहायता, रसायनिक विश्लेषण की फीस, आदि।

अन्य आय—'विविध' मद में सरकारी गजट, रिपोर्टों, पुस्तकों आदि की बिक्री तथा प्रेस की छपाई आदि से होने वाली आय सम्मिलित है।

प्रान्तो को पुराने स्टोर और सामान की, तथा जमीन और मकान (नजूल) की बिक्री के, सरकारी लेखा-परीक्षक आदि की फीस से और जमीन और मकानों के किराये आदि से भी कुछ आय प्राप्त होती है।

जेलो की आय का भी यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह आय विशेषतया उस सामान की बिक्री से होती है, जो जेलो के कारखानों मे कैदियो द्वारा तैयार कराया जाता है।

प्रान्तीय सरकारों की आय बढ़ने की आवश्यकता—प्रान्तीय सरकारों की आय बहुत परिमित है। पुनः वे एक ओर तो मालगुजारी कम करने और शराब बन्द करने के कार्यक्रम से अपनी आय घटा रखी है, दूसरी ओर शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-रक्षा, ग्राम-सुधार आदि अनेक जन-हितकारी कार्यों के लिए चिन्तित हैं। अत. उनकी आय बढने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कृषि-आय-कर—प्रान्तीय सरकारों की आय-वृद्धि का एक उपाय यह है कि कृषि से होने वाली आय पर भी कर लगे। भारतवर्ष मे अनेक जमीदार, ताल्लुकेदार और नवाबों आदि को कृषि से काफी आय है, और उनको प्रायः कुछ भी परिश्रम नही करना पड़ता। इससे उनका जीवन बहुधा आनन्दोपभोग में ही बीतता है। उन्हे कर से मुक्त रखने से सरकार बहुत-सी आय से वंचित रहती है, उन पर कर लगाया जाना उचित ही है।

कुछ आदमी कृषि-आय कर को गैर-कानूनी बताते हैं। पर स्मरण रहे कि सन् १९२४ ई० का कर-जाँच-समिति ने अपनी एक सिफारिस यह भी की थी कि खेती की आमदनी पर भी आय-कर उसी दर से लगाना आवश्यक है, जिस दर से, वह अन्य आय पर लगता है। पुनः सन् १९३५ ई० के विधान में प्रान्तीय सरकारों को कृषि-आय-कर प्राप्त करने का अधिकार दिया गया, यदि यह कर गैर-कानूनी होता, तो विधान मे ऐसी व्यवस्था न की जाती। इस प्रकार इस कर को गैर-कानूनी कहने मे कुछ सार नहीं है। बिहार मे, जहाँ कि जमींदारों की सख्या और प्रभाव पर्याप्त है, कांग्रेसी मन्त्री-मडल ने कृषि-आय-कर लगा दिया है।

यह कर सर्वथा वैधानिक, कानूनी और आर्थिक दृष्टि से तो जायज है। नैतिक दृष्टि से तो इसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त होना चाहिए।

बिक्रीकर—सन् १६४८ से उत्तर प्रदेशीय सरकार ने बिक्रीकर लगाया है। इस कर से सन् १६४६-५० में प्रान्तीय सरकार को करीब ६ करोड़ रुपये प्राप्त हुए थे। इस कर का भार गरीब उपभोक्ताओं पर अधिक पड़ता है। इस कर में सुधार की बहुत गुंजाइश है।

पेट्रोल पर कर—मध्य प्रदेश की सरकार ने पेट्रोल पर कर लगाने का विचार किया तो भारत सरकार ने इसका वैधानिक अधार पर विरोध किया। उसका मत था कि शासन-विधान के अनुसार किसी प्रान्तीय सरकार को ऐसा कर लगाने का अधिकार नहीं है। अन्ततः यह विषय संघ न्यायालय में उपस्थित किया गया। उसने अपना निर्णय मध्य प्रदेश की सरकार के पक्ष में दिया। अब प्रांतीय सरकारों को इस कर के द्वारा अपनी आय वृद्धि करने का अधिकार है और कई सरकारें इसका उपयोग कर रही हैं।

वस्तुओं की बिक्री पर कर—मदरास में प्रांतीय सरकार ने अपनी आय बढाने के लिए वस्तुओं की बिक्री पर कर लगाया है। यह कर दुकानदारों से उनकी बिक्री की कुल रकम पर बहुत अल्प परिमाण में लिया जाता है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी सन् १६४८ से इस कर को जारी कर दिया है।

जायदाद और पूँजी पर कर—जायदाद और पूँजी पर कर लगाने का भी कुछ लोगों का विचार हो रहा है। स्थिर सम्पत्ति के मूल्य का ठीक अनुमान करना कठिन होता है। इसलिए भूमि और मकान के अतिरिक्त यह कर मृत्यु कर या विरासत कर के स्वरूप में ही लगाया जाता है। जब किसी आदमी की जायदाद उसके मरने पर उसके उत्तराधिकारी को मिलती है और उस पर कर लगाया जाता है, तो उसको मृत्यु-कर ('डेथ ड्यूटी') या विरासत-कर ('सक्सेशन ड्यूटी') कहते हैं। यह प्रायः बहुत हल्के और क्रमशः वर्द्धमान रखे जाते हैं। यह उन आदमियों पर पड़ते हैं, जो उस जायदाद के उत्पादक नहीं हैं जिस पर कर लगाये जाते हैं, इसलिए यह उन्हें बहुत अखरते नहीं।

उत्तर प्रदेश का व्यय—प्रान्तीय सरकारें किस किस मद में खर्च करती हैं, इसका कुछ अनुमान अगले पृष्ठ पर दिये हुए उत्तर प्रदेश के सरकारी खर्च के नक्शे से हो जायगा।

कर-प्राप्ति का व्यय—इसमे मालगुजारी, आबकारी, स्टाम्प, जंगल, रजिस्टरी आदि के कर वसूल करनेवाले कर्मचारियों का वेतन आदि सम्मिलित है।

उत्तर प्रदेश का अनुमानिक व्यय

व्यय की मदें	लाख रुपये १६३८-३६	१६४७-४८
१—कर प्राप्ति का व्यय	१,५६	३ करोड़ ७० लाख
२—आबपाशी	१,१५	३ ,, १४ ,,
३—सूद	६०	६६ ,,
४—शासन	१, ५	२ ,, ५६ ,,
५—न्याय	७१	१ ,, ०४ ,,
६—जेल	३१	८० ,,
७—पुलिस	१,६७	४ ,, ६६ ,,
८—शिक्षा	२११	४ ,, १७ ,,
६—स्वास्थ्य-चिकित्सा	६०	२ ,, ४६ ,,
१०—कृषि	७६	२ ,, ५४ ,,
११—सहकारिता	६	३५ ,,
१२—उद्योग-धन्धे	२१	६८ ,,
१३—अन्य शासनव्यय	१	२४ ,,
१४—सिविल निर्माणकार्य	६४	६ ,, १८ ,,
१५—अकाल-निवारण	१	१ ,,
१६—पेन्शन	१०४	१ ,, ३४ ,,
१७—स्टेशनरी-प्रिंटिंग	१५	३४ ,,
१८—विविध	१०	१ ,, ०६ ,,
योग	१३,१७	३६ ,, १२ ,,

अब व्यय की मुख्य मुख्य मदों पर क्रमश. विचार करते हैं :—

आबपाशी—यह मुख्यतया आय की मद है, इसके सम्बन्ध मे पहले कहा जा चुका है। भारतवर्ष में जहाँ रेलों में अपार द्रव्य खर्च किया गया है, इस मद में अपेक्षाकृत बहुत कम, और विशेषतया इसी शताब्दी मे खर्च किया गया है।

शासन—इस मद में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैं—गवर्नरों और

उनके मन्त्रियों का वेतन और दौरे का खर्च, प्रान्तीय व्यवस्थापक मडलों सम्बन्धी खर्च, प्रान्तीय सेक्रेटेरियट, रेवन्यू बोर्ड, कमिश्नरों, कलेक्टरों और उनके सहायकों तथा तहसीलदारों और उनके अधीन कर्मचारियों का वेतन और आफिस खर्च, हिसाब की जाँच सम्बन्धी खर्च।

केन्द्रीय शासन के व्यय के सम्बन्ध में पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। उसकी ही तरह प्रान्तीय शासन भी कुछ अशों में बहुत महँगा है। सन् १६३५ ई० के शासन विधान से प्रान्तो में उत्तरदायी शासन स्थापित हो गया है, तथा प्रान्तों की सरकारों को अनेक जनहितकारी कार्यों के लिए रुपये की बहुत आवश्यकता है। अतः प्रान्तीय नौकरियाँ अब प्रान्तीय सरकारों के अधीन हो गई हैं।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कांग्रेस ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया है कि साधारणतया किसी नौकर का अधिक-से-अधिक मासिक वेतन १५००) रु॰ हो। आरम्भ में बहुत से आदमियों ने इसका उपहास तथा आलोचना की। परन्तु समय आया, कांग्रेस ने अपनी बात को क्रियात्मक रूप देकर दिखा दिया। इस समय सब प्रान्तों मे कांग्रेस वादी सज्जन मन्त्री-पदों पर नियुक्त हैं, और केवल पद्रह सौ रुपये मासिक ले रहे हैं। इनकी योग्यता किसी भी सिविल पदाधिकारी से कम नहीं है। इन्होंने इतने वेतन पर काम करके प्रमाणित कर दिया है कि कांग्रेस का प्रस्ताव उत्तर दायित्वयुक्त एव व्यावहारिक है। कहना नहीं होगा कि यह प्रस्ताव भारतवासियों की वर्तमान परिस्थिति के सर्वथा अनुरूप है, और जिन व्यक्तियों को किसो कारण अधिक वेतन मिल रहा है, उन्हे स्वेच्छापूर्वक अपनी अधिक आय का परित्याग करना चाहिए। यथेष्ट कानून बना कर इस मद मे बचत की जानी चाहिए।

न्याय—इस मद में निम्नलिखित व्यय सम्मिलित है:—हाईकोर्ट, ऐडवोकेट-जनरल, जुडीशियल कमिश्नर, दीवानी और सेशन कोर्ट, जिला और सेशन जज, सबार्डिनेट जज, मुन्सिफ, और अदालत खफीफा आदि का खर्च।

हाईकोर्ट के जजों के वेतन और भत्ते आदि को छोड़ कर, न्याय-सम्बन्धी खर्च प्रान्तीय सरकारों के अधीन हैं, और वे, विशेषतया कांग्रेस सरकारें, इसमें यथा-सम्भव मितव्ययिता कर रही हैं। यद्यपि आनरेरी (अवैतनिक) मजिस्ट्रेट पहले भी होते थे, परन्तु अनेक दशाओं में अधिकारियों के कृपा-पात्र होने के अतिरिक्त उनमें न्यायकार्य सम्पादन

करने की कुछ योग्यता न होती थी। अब उत्तर प्रदेश. आदि में जिन व्यक्तियों को इन पदों पर नियुक्त किया गया है, उनकी शिक्षा, योग्यता आदि का समुचित विचार रखा गया है। इस प्रकार इस विभाग का खर्च बढाए बिना भी कार्य-क्षमता बढाई जा रही है।

गाँवों के छोटे-छोटे मामलों का फैसला करने आदि के लिए ग्राम-पचायतों की भी अधिकाधिक स्थापना हो रही है। पचायतों से विशेष लाभ यह है कि पच स्थानीय व्यक्ति होने से मामले मुकद्दमे के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी रखते हैं, और इसलिए न्याय अच्छा कर सकते हैं। क्योंकि पचायतों मे वकील लोग पैरवी नही कर सकते, अतः इनके द्वारा मुकद्दमे का फैसला कराने मे लोगों का खर्च भी कम होता है।

जेल-विभाग—इस मद मे जेल-प्रबन्ध, तथा जेलों के समान-सम्बन्धी खर्च सम्मिलित हैं। जेलों के प्रबन्ध-व्यय मे इन्सपेक्टर-जनरल और उनके दफ्तर आदि, सेन्ट्रल जेल, जिला जेल, हवालात, जेल सम्बन्धी पुलिस, जरायम पेशा जातियों के सुधारार्थ किया हुआ व्यय, और कैदियों के जेल से छूटने पर उन्हे निर्वाहार्थ दिया हुआ रुपया शामिल है। जेलों के खर्च मे कैदियों के वास्ते लिया हुआ खाद्य पदार्थ खरीदने मे तथा जेल के कारखानों में काम करने वाले नौकर, क्लर्क, आदि के वेतन में, तथा पत्र व्यवहार आदि मे होने वाला खर्च गिना जाता है।

इस समय तक भारतवर्ष के जेलों मे नागरिको का जीवन सुधरने के बजाय बिगड़ता ही रहा है। शासन-सूत्र ग्रहण करने पर कांग्रेस वालों ने जेल की प्रणाली में आमूल परिवर्तन करने का निश्चय किया। कई सुधार कार्य में परिणत हो गये हैं। आशा है, अब जेल केवल दड भोगने की जगह न रह कर, जीवन को सुधारने, उसे नागरिकता की दृष्टि से अधिक उपयोगी बनानेवाली सस्था होगी।

पहले जेलों मे बहुत से आदमी केवल इसलिए कैद करके रखे जाते थे, कि ये तत्कालीन शासन-पद्धति को दूषित मानते तथा इसका विरोध करते थे। अब कांग्रेसी सरकारों के पदाधिकारी तक शासन-पद्धति की आलोचना करते हैं और दूसरों द्वारा की जानेवाली उचित, लोक-हितैषिता-मूलक आलोचना का स्वागत करते हैं। अत. कांग्रेसी प्रान्तो मे राजनैतिक कैदियों को छोड़ दिया गया है। इसके फल स्वरूप जेलों का वह खर्च कम हो रहा है।

पुलिस—इसमें निम्नलिखित व्यय सम्मिलित हैः— (क) इन्सपेक्टर-जनरल, डिप्टी इन्सपेक्टर-जनरल इत्यादि बडे बड़े अफसरों का, तथा

जिला-सुपरिन्टेंडेन्ट, उनके अधीन कर्मचारी, और पुलिस के सिपाहियों आदि का वेतन, और आफिस-खर्च, (ख) खुफिया विभाग (सी० आई० डी०) का खर्च, (ग) गाँवों की पुलिस का खर्च, (घ) रेलवे पुलिस का खर्च।

गत वर्षों में प्रान्तीय सरकारों का और जनता का पारस्परिक सम्बन्ध सन्तोषप्रद नहीं था। अधिकतर पुलिसवाले अपने आपको जनता का सेवक न मान कर, लोगों पर अपना रोब गाँठते थे। अब प्रान्तों मे जनता की ही सरकार होने से उपर्युक्त स्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया है। प्रान्तीय सरकारें इस बात की ओर भी ध्यान दे रही हैं कि पुलिस कर्मचारी संख्या में यथा-सम्भव कम हों, पर हों अधिक योग्य, शिक्षित और सभ्य। वे यह प्रयत्न कर रही हैं कि उच्च पदाधिकारियों का वेतन कुछ कम करके, भारतवासियों को अधिकाधिक नियुक्ति करें और इस प्रकार कुल मिला कर इस मद का खर्च घटावें।

गाँवों की पुलिस के खर्च बहुत अधिक घटने की सम्भावना नहीं है, उसका अधिकांश भाग चौकीदार का वेतन होता है, जो कम ही है।

स्वास्थ्य और चिकित्सा—इस मद मे इन विषयों का खर्च सम्मिलित है:—

(अ) स्वास्थ्य—कार्यालय व्यय, भत्ता और सामान आदि, स्वास्थ्य के लिए जिला बोर्डों और अन्य संस्थाओं को, तथा यात्रा के स्थानों की सहायता; नगरों या देहातों में स्वास्थ्य की उन्नति, प्लेग, मलेरिया और छूत की बीमारियों का निवारण।

(आ) चिकित्सा—कार्यालय-व्यय; सुपरिन्टेन्डेन्ट, जिला चिकित्सा-अफसर और अन्य कर्मचारी, अस्पताल और शफाखाने; सामान, मकान किराया, विविध कर्मचारियों का वेतन और भत्ता आदि: रोगियों के वस्त्र और भोजन; चिकित्सार्थ सहायता, दवाइयाँ, सेवासमिति, आयुर्वेदिक कालिज आदि, मेडिकल स्कूल और कालिज, पागलखाना, रासायनिक परीक्षक।

देश में मृत्यु संख्या बहुत बढ़ी हुई है, बुखार, चेचक, हैजा, आदि बीमारियों ने घर कर रखा है। प्रति वर्ष लाखों आदमी इनके शिकार होते हैं और पाश्चात्य देशों के अनुभव से यह कहा जा सकता है, कि यथेष्ट वैज्ञानिक उपायों का अवलम्बन करने से इनमे से अधिकांश व्यक्तियो के प्राण बचाये जा सकते हैं। अतः प्रत्येक प्रान्तीय सरकार का कर्तव्य है कि इस दिशा में आगे बढ़े। अन्यान्य कांग्रेसी सरकारो मे उत्तर प्रदेश की सरकार इस विषय मे प्रयत्न कर रही हैं।

शिक्षा—इस मद मे इन विषयो का खर्च होता है:—विश्वविद्यालय और कालेज, हाई और मिडिल स्कूल, प्रारम्भिक शिक्षा, अन्य खास खास पेशों आदि के स्कूल; डायरेक्टर, इन्सपेक्टर और इनके सहायकों आदि का वेतन, आफिस खर्च, छात्रवृत्ति। शिक्षा कार्य मे सब प्रान्तों मे कुल मिल कर लगभग बीस करोड रुपये प्रतिवर्ष खर्च होता है, प्रायः बारह करोड रुपये प्रान्तीय सरकारो द्वारा, कुछ म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों द्वारा तथा शेष प्राइवेट सस्थाओं द्वारा खर्च होता है।

विगत वर्षों मे शिक्षा मे बहुत ही कम व्यय हुआ है। और जो व्यय हुआ है, उसका भी राष्ट्रीय दृष्टि से जनता को यथेष्ट लाभ नही मिला है। उच्च शिक्षा पर अपेक्षाकृत अधिक व्यय होना, शिक्षा सस्थाओं की इमारतों आदि का बहुत ध्यान रखना, सर्वसाधारण की शिक्षा की अवहेलना, विविध पेशों की यथेष्ट शिक्षा की व्यवस्था न होना आदि बातें सर्वविदित हैं। इन दोषों का परिणाम यह है कि देश मे निरक्षरता का भयकर साम्राज्य है। केवल बारह फीसदी स्त्री-पुरुष कुछ पढना लिखना जानते हैं। कालेजों से निकले हुए अधिकतर युवक नौकरी की तलाश मे इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। शिक्षितों की बेकारी बहुत बढ गयी है।

प्रान्तों मे प्रजातन्त्रात्मक सरकारों की स्थापना हो जाने तथा शिक्षा के प्रान्तीय विषय होने, प्रान्तीय सरकारों, विशेषतया काग्रेस-सरकारों ने उपर्युक्त बातों का विचार करके शिक्षा-पद्धति मे आमूल परिवर्तन करने का निश्चय किया है, जिससे उपर्युक्त दोषों का निवारण हो।

अन्यान्य प्रान्तों में, उत्तर प्रदेश मे भी, स्थान स्थान पर वाचनालय और पुस्तकालय स्थापित किये जा रहे हैं और प्रौढ शिक्षा-प्रचार का भी आन्दोलन हो रहा है। जनता से निरक्षरता दूर करने का कार्य बहुत भारी है, तथापि भरसक प्रयत्न किया जा रहा है।

कृषि—इस मद का खर्च नीचे लिखे विषयों में होता है—

(अ) निरीक्षण—अधीन कर्मचारी; पशुपालन, कृषि प्रयोग, कृषिइजिनियरिंग; कृषि-कालिज और अन्वेषण शाला, अन्य निरीक्षण कर्मचारी; कृषि-फार्म, नुमाइश और मेले, वनस्पतिशाला, जिलों के और अन्य बाग, कृषि-स्कूल।

(आ) पशु-सम्बन्धी व्यय-निरीक्षण; नुमाइश या मेलों में इनाम; अस्पताल और शफाखाने, पशु-पालन-क्रिया, अधीन कर्मचारी।

(इ) सहकारी —रजिस्ट्रार, डिप्टी और सहायक रजिस्ट्रार, क्लर्क

और नौकर, हिसाब की जाँच, सफ़र का भत्ता, आकस्मिक व्यय; छोटे नौकरों का वेतन; टाइप राइटर, किताब, कपडे आदि।

प्रान्तीय सरकारों की आय का एक मुख्य साधन किसानों से प्राप्त मालगुजारी है और, किसान ही देश के अन्नदाता हैं। उनकी भलाई के लिए जितना अधिक खर्च किया जा सके, अच्छा है। कृषि विभाग के प्रयत्नों पर ही किसानों की, और इसलिये अधिकाश जनता की उन्नति निर्भर है। हर्ष का विषय है कि अन्यान्य प्रातीय सरकारो में उत्तर प्रदेश की सरकार इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील है।

उद्योग-धन्धे—इस मद में खर्च इन विषयों मे होता है—निरीक्षण, उद्योग-धन्धे की सहायता, अन्वेषण-सस्थाएँ, उद्योग और शिल्प सस्थाएँ, औद्योगिक बोड की इच्छा से किया जाने वाला खर्च।

इस विभाग मे भी विगत वर्षों में बहुत कम व्यय हुआ है, स्वदेशी उद्योग-धन्धों को बहुत कम प्रोत्साहन मिला है। अब प्रातीय सरकारें इस ओर ध्यान दे रही हैं। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में लगभग पचास प्रार्थियों को निम्नलिखित उद्योग सम्बन्धी तथा अन्य कार्य आरम्भ करने के लिए आर्थिक सहायता देने का निश्चय किया गया -अलमारा बनाना और लकड़ी का अन्य कार्य, तेल पेरना, जूते बनाना, रँगाई और छपाई, रगीन खड़िया और स्लेट की पेन्सिलें बनाना, मिश्रित धातुओं का बनाना, मोजे, ताले और साबुन बनाना, कपडे बुनना आदि। प्रात के व्यवसाय तथा उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये प्रान्तीय सरकार कम सूद पर रुपया उधार देने को भी तैयार है। अखिल भारतवर्षीय चर्खा-सघ तथा ग्राम-उद्योग सघ को प्रांतीय सरकारों की सहानुभूति और सहयोग प्राप्त है। आशा है अब छोटे उद्योग-धन्धों की क्रमशः उन्नति होगी। प्रांतीय सरकारें बड़े उद्योग-धधों सबन्धो विविध समस्याएँ सुलझाने और उनकी उन्नति मे सहायक होने का भी विचार कर रही है। पिछले दिनों जहाँ-जहाँ पूँजीपतियों तथा मजदूरों का सघर्ष अथवा हड़तालें हुईं, उस प्रात की सरकार ने तत्परता-पूर्वक उसका अन्त कराने का प्रयत्न किया। यही नहीं, इस बात का सदैव ध्यान रखा गया कि श्रमजीवियों का भावी जीवन अधिक सुखमय तथा उन्नत हो, एव पूँजीपति कुछ स्वार्थ-त्याग के भाव से काम लें।

पेशों सम्बन्धी शिक्षा का कार्य अग्रसर करने का भी प्रयत्न हो रहा है। कुछ व्यक्तियों को विशेष रूप से ऐसी शिक्षा दी जायगी कि वे अमली तरीके से गाँव वालों को शिक्षित बनावे। प्रातीय सरकारें कुछ छात्रवृत्तियाँ भी

देती हैं, जिनकी सहायता से छात्रवृत्ति पाने वाले व्यक्ति विदेशों मे जाकर व्यापार या व्यवसाय सम्बन्धी औद्योगिक या शिल्प विषयों की शिक्षा प्राप्त कर सके, या इस प्रकार के व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित कर सके जिनसे प्रात के उद्योगों द्वारा तैयार की हुई वस्तुओं की बिक्री में ठोस सहायता मिले।

उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिये एक अत्यन्त आवश्यक बात यह है कि तैयार पदार्थों की खपत हो। यह तय हुआ है कि कौन्सिल और असेम्बली के अध्यक्षों, मन्त्रियों तथा पार्लिमैंटरी सेक्रेटरियों के इस्तेमाल के लिये हाथ का बना कागज, और बाकी सरकारी कर्मचारियों को भारत मे बना कागज दिया जायगा।

निर्माण-कार्य—इस मद मे निम्नलिखित खर्च होता है :—नयी इमारतों का खर्च, नयी सड़कों का खर्च, सड़कों और इमारतों की दुरुस्ती का खर्च, अफसरों का वेतन और आफिस खर्च, औजार इत्यादि खरीदने का खर्च, म्युनिसिपैलिटी, जिला-बोर्ड और कस्बों की इमारतों के लिए दी जाने वाली रकम, स्वास्थ्य-रक्षा के लिए निर्माण-कार्य, इमारतें तथा पुल आदि।

अब तक इस मद सबधी खर्च मे सर्वसाधारण की आवश्यकताओं का विचार बहुत कम किया गया। राजधानियों की सरकारी इमारतों तथा सड़कों आदि पर ही विशेष ध्यान दिया गया। जिलों मे भी सदर-मुकाम और सब-डिवीजन के केन्द्र में बीच की सडके तो कुछ अच्छी हालत में रखी गयीं, परन्तु अन्य रास्तों पर कृपा दृष्टि नहीं की गयी। सड़कों का काम अब से कुछ समय पूर्व तक अधिकांश मे जिला बोर्डों तथा म्युनिसिपल बोर्डों के हाथ में रहा, जिसका ध्यान अपने ही इलाके भर में रहता है, और जिनके पास सदैव ही कार्यों को अच्छी तरह पूरा करने के लिए रुपये की कमी होती है। दफ्तरों आदि की कुछ खास-खास इमारते तथा इनी गिनी सड़के बनवा दने में इनके कर्त्तव्य की इति-श्री समझी जाती रही। अब कई सड़के प्रातीय कर दी गयी हैं, और वैसे भी प्रान्तीय सरकारे इस कार्य की ओर अधिक ध्यान दे रही हैं। अतः सड़कों की दशा सुधर रही है तथापि अभी बहुत काम करना शेष है।

अभ्यास के प्रश्न

१—उ० प्र० सरकार के प्रधान आय-व्यय के मदो का वर्णन कीजिए। प्रजा की आर्थिक भलाई की उन्नति के लिए आपकी राय में उ०

प्र० सरकार व्यय की किन मदों में बचत कर सकती है तथा अन्य किन मदों से आय बढा सकता है ? कारण सहित उत्तर दीजिए।

२—उत्तर प्रदेश की सरकार के कौन कौन से मुख्य मुख्य आय के साधन व व्यय के मद हैं ? उन्हें महत्त्व के हिसाब में लिखिए और प्रत्येक की विवेचना कीजिए।

३—उत्तर प्रदेश में प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य कर देने में जो अधिक व्यय करना पड़ेगा वह किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा ?

४—उत्तर प्रदेश की सरकार उद्योग-धन्धों की उन्नति के लिए क्या कर रही है ?

५—प्रान्तीय ग्रामसुधार योजना की आलोचना कीजिये।

६—उत्तर प्रदेश की सरकार की आय बढाने के मुख्य साधन क्या हैं ?

७—मादक वस्तुओं का निषेध कहाँ तक व्यावहारिक है ? यदि आदोलन सफल हुआ तो प्रांतीय सरकार और जनता को क्या हानि-लाभ होंगे ?

८—इस प्रान्त की मालगुजारी प्रथा के गुण दोष लिखिये।

९—इस प्रान्त की सरकार के खर्च घटाने के तरीके समझाइये।

इकतालीसवाँ अध्याय

स्थानीय राजस्व

पिछले दो अध्यायों मे केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के आय-व्यय के सबन्ध में लिखा जा चुका है। अब हम स्थानीय राजस्व अर्थात् म्युनिसिपैलिटियों, जिला-बोर्डों आदि स्थानीय सस्थाओं के आय-व्यय का विचार करते हैं। ये संस्थाएँ प्रान्तीय सरकारों की अधीनता और नियत्रण में कार्य करती हैं। यद्यपि एक परिमित सीमा तक इनकी अपनी आय है, और उसे ये कुछ बढा भी सकती हैं, तथापि अभी तक ये बहुत कुछ सरकारी सहायता के ही आश्रित हैं।

स्थानीय करों का विचार—कर सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातें इस खड के पहले अध्याय में बतायी जा चुकी हैं। यहाँ स्थानीय करों के विषय मे विचार करते हैं। ये कर विशेषतया निम्नलिखित हैं :—

१—व्यापार पर कर

२—मकान-कर

३—यात्री-कर
४—हैसियत-कर

व्यापार पर कर—भारतवर्ष में कई प्रान्तो मे स्थानीय सस्थाओ की अधिकतर आय उस महसूल से होती है जो इस देश के ही दूसरे स्थानों से इन सस्थाओं की सीमा के अन्दर आनेवाले माल पर लगता है। इसे चुगी कहते हैं। इस कर का भार उन आदमियों पर पड़ता है जो इस माल का उपयोग करते है।

इस कर से होने वाली आय अनिश्चित रहती है। कर-दाता को बडी असुविधा रहती है। उसे जब अपने परिवार के आदमियो के साथ नगर मे प्रवेश करते समय चुगी की चौकी पर ठहरना पड़ता है तो बुरा लगता है। यह कर जब जीवन-रक्षक पदार्थों पर लगता है तो इसका भार धनिकों की अपेक्षा गरीबों पर अधिक पड़ता है। इसके वसूल करने का खर्च अपेक्षाकृत अधिक होता है, और इसमे धोखा देकर कर से बचने की बहुत गुजाइश है। इस कर के कारण आदमियों तथा गाडियो आदि की आवा-जाई मे बाधा उपस्थित होती है। इसलिए अनेक लोगों का मत है कि यह कर उठा दिया जाना चाहिए।

मकान-कर—यह कर मकान के वार्षिक किराये पर निर्धारित दर से लगाया जाता है, और बहुधा मकान के मालिक पर न पड कर उसके किरायेदार पर पड़ता है, क्योंकि मालिक किराये के साथ ही प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप से इसे वसूल कर लेता है। देहातों मे इस कर के समान 'अब्वाब' लिया जाता है, यह प्रायः मालगुजारी के साथ उस पर एक आना फी रुपये के हिसाब से लिया जाता है। इसे सरकार वसूल करती है, और पीछे जिला बोर्डों को दे देती है।

यात्री-कर—कुछ तीर्थ-स्थानों आदि मे यात्री-कर लिया जाता है। इसका भार वहाँ आने वालों पर पड़ता है, जो यह समझा जाता है कि उन स्थानों से लाभ उठाते हैं। यह कर प्रायः रेलवे टिकट के मूल्य के साथ सुभीते से वसूल कर लिया जाता है।

हैसियत कर—यह आय-कर की भाँति प्रत्यक्ष कर है, इसका परिमाण बहुत कम रखा जाता है। इसे प्रायः जिला-बोर्ड लेते हैं। कुछ स्थानों मे नौकर रखने वालों से भी कर लिया जाता है।

फीस आदि—कुछ विशेष कार्यों के उपलक्ष्य मे स्थानीय सस्थाएँ नागरिकों से फीस या शुल्क लेती हैं, जैसे पानी (नल) का शुल्क, रोशनी

का शुल्क (बिजली आदि), स्कूल फीस आदि। कुछ शुल्क विलासिता की वस्तुओं पर, अथवा सुव्यवस्था की दृष्टि से लिये जाते हैं, यथा मोटर, साइकिल, ताँगा, कुत्ता आदि रखने का शुल्क।

भारतवर्ष की स्थानीय स्वराज्य संस्थाएँ—भारतवर्ष की वर्तमान स्थानीय संस्थाओं के निम्नलिखित भेद मुख्य हैं:—

१—पंचायत।

२—स्थानीय बोर्ड, जिला-बोर्ड।

३—म्युनिसिपैलिटियाँ, कारपोरेशन।

४—पोर्ट ट्रस्ट।

५—इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट।

पंचायतें—ग्रामपंचायत और पंचायत अदालत के सदस्य ग्रामवासियों द्वारा चुने जाते हैं। पंचायत अदालत छोटे मोटे दीवानी तथा फौजदारी मामलों का फैसला करती हैं। इन्हें गाँवों में सफाई और आवारा फिर कर नुकसान पहुँचाने वाले मवेशियों के सम्बन्ध में कुछ अधिकार होता है। ये साधारण अपराध करने वालों पर कुछ जुर्माना कर सकती हैं; मुकदमा लड़ने वालों (वादी प्रतिवादी) से कुछ फीस ले सकती हैं। ग्रामसुधार के कार्यों के लिये पंचायतों को जिला-बोर्ड या सरकार से कुछ रकम मिलती है। इसके अतिरिक्त, ये निर्धारित नियमों के अनुसार अपने क्षेत्र के आदमियों पर कुछ कर लगा सकती हैं, तथा अपराधियों पर कुछ जुर्माना भी कर सकती हैं।

बोर्ड—देहातों में प्रारम्भिक शिक्षा और स्वास्थ्य आदि का एवं पशुओं की उन्नति के कार्य करने वाली मुख्य संस्थाएँ बोर्ड कहलाती हैं। इनके तीन भेद हैं, किसी-किसी प्रान्त में तो इनमें से तीनों ही प्रकार के बोर्ड हैं और कहीं-कहीं केवल दो या एक ही तरह के हैं।

१—लोकल बोर्ड, यह कुछ ग्रामों के समूह में होता है।

२—ताल्लुका या सब-डिवीजनल बोर्ड; यह एक ताल्लुके या सब-डिवीजन में होता है। यह लोकल बोर्डों के काम की देखभाल करता है।

३—जिला-बोर्ड, यह एक जिले में होता है, और जिले भर के लोकल बोर्डों (या ताल्लुका-बोर्डों) का निरीक्षण करता है। भारत में दो सौ से कम जिला-बोर्ड, और लगभग छः सौ अधीन-जिला-बोर्ड हैं। जिला-बोर्डों के क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों की संख्या बाईस करोड़ से भी अधिक है। उपर्युक्त कार्यों तथा इस जन-संख्या को देखते हुए बोर्डों की कुल वार्षिक

आय, जो लगभग सत्रह करोड़ रुपये हैं, बहुत कम है। आय अधिकतर उस महसूल से होती है जो भूमि पर लगाया जाता है, और जो सरकारी वार्षिक लगान या मालगुजारी के साथ ही प्रायः एक आना, या इससे अधिक, फी रुपये के हिसाब से वसूल करके इन बोर्डों को दे दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य किन-किन कार्यों से आय होती है, यह नीचे दिये हुए इलाहाबाद के जिला-बोर्ड के आय के नकशे से ज्ञात हो जायगा। व्यय के नकशे से जिला-बोर्ड के कार्यक्षेत्र की कल्पना अच्छी तरह हो सकती है।

इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की आय-व्यय का बजट

आय

	सन् १६३६—४० ई०	१६४६–५० ई०
प्रांतीय सरकार से सहायता	रुपये	रुपये
शिक्षा	२,६६,३६८	४,६३,७३६
चिकित्सा	१२,५५०	१७,६००
स्वास्थ्य	११,३२८	७३,५००
अन्य	५६,४००	१,५०,०००
मीजान	३,४६,६४६	७,०४,८३६
अव्वाब	२,५१,५७४	४,३७,७८२
टैक्स हैसियत व जायदाद	३०,०००	६५,०००
मवेशीखाना	१७,६००	३२,०००
यातायात	३६,०००	× ×
शिक्षा-शुल्क	१०,५००	३२,१००
चिकित्सा	१,१५०	३,४४५
पब्लिक हेल्थ	१,५००	१,०००
पशुचिकित्सा	१३०	...
बाजार	१,३००	८,०००
किराया	२,०००	३,१५०
दरख्त लगाना	७००	२,३००
अन्य	५,०००	७,२४०
कर्ज	१४,२००	७५,६००
बैलेन्स (वर्ष के आरम्भ में)	१६,६६६	२३,०२८
कुल	७,३८,२६६	१३,६५,७८१

व्यय

	रुपये	रुपये
आम इतजाम	३६,२८०	६६,७००
मवेशी खाना	१२,०१५	२०,१००
शिक्षा	४,१७,८६७	६,८३,४२६
चिकित्सा	४१,०६६	८०,८३१
स्वास्थ्य	१६,१०३	३३,६७२
टीका चेचक	११,२६५	६,५३५
मवेशी अस्पताल	१२,६४०	१२,०००
मेला व नुमायश	५००	३५०
दरख्त लगाना	१,४७०	४,३६०
सिविल निर्माण-कार्य	४६,७६०	५५,६००
अन्य	७,५००	६,३३०
कर्ज	१४,२००	६६,६६०
बैलेन्स (वर्ष के अंत मे)	१७,५४३	२२,६१७
कुल	७,३८,२६६	१३,६५,७८१

जैसा कि स्पष्ट है, डिस्ट्रिक बोर्ड की आय का सब से बड़ा जरिया गवर्मेन्ट ग्रान्ट है। अधिकतर सरकार पढाई का खर्च देती है। चिकित्सा और स्वास्थ्य की मदों में सरकार से करीब ६० हजार रुपया मिलता है। बोर्ड स्वय भी इन मदों से चार हजार रुपया पैदा कर लेता है। इसके अलावा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भूमि पर कर लगाता है। यह कर सरकारी मालगुजारी का १० फीसदी तक हो सकता है, यह प्रातीय सरकार द्वारा मालगुजारी के साथ ही वसूल किया जाता है और इसे अव्वाब कहते हैं। "टैक्स हैसियत व जायदाद" मकानों तथा अन्य मालियत की कीमत पर तथा अन्य ग्रामीण धधों से होने वाली आय पर लगाया जाता है।

लोगों का नुकसान करनेवाले जानवरों के मालिकों के ऊपर होनेवाले जुरमाने से मवेशीखाने में ३२००० रु० की खासी रकम आती है।

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूलों में पढने तथा वहाँ के बोर्डिगों मे रहने वाले विद्यार्थियों से फीस के रूप में बत्तीस हजार रुपये मिलते हैं। बोर्ड की जमीन मे जो बाजार लगते हैं अथवा बोर्ड की जो दूकानें किराए पर उठी हैं उनसे करीब ग्यारह हजार रुपए आते हैं। १९४९-५० में इलाहाबाद

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को करीब १३ लाख ६५ हजार रुपयों की सब मदों से आमदनी थी।

बोर्ड की आय का सबसे बड़ा भाग शिक्षा पर व्यय होता है। बोर्ड की ओर से ट्रेनिंग व मिडिल स्कूल खुले हैं। दस्तकारी की शिक्षा भी दी जाती है। अछूतों के लिए अलग इन्तजाम है। प्राइमरी स्कूल तथा इस्लामियाँ मकतबों पर कई लाख रुपया व्यय होता है।

चिकित्सा व स्वास्थ्य की मदो पर इलाहाबाद डिस्ट्रिक्ट बोर्ड करीब १ लाख १४ हजार रु० खर्च करता है। पश्चिमी तथा देशी दोनों तरह की दवाइयों का इन्तजाम रहता है। जगह जगह पर सफाई का ख्याल रक्खा जाता है। बच्चों को टीका लगाने के लिए बोर्ड का करीब दस ग्यारह हजार रुपया खर्च होता है। जानवरों के इलाज मे भी साढ़े बारह हजार लग जाते हैं।

मवेशीखानों की देखरेख में १२००० रु० व्यय हो जाते हैं। नुमायश लगाने अथवा मेलों के प्रबन्ध में तो केवल पाँच सौ रुपए व्यय किए जाते हैं। हाँ पेडों को लगाने तथा उनके इन्तजाम मे चार हजार खर्च होते हैं। इमारतों की देखरेख व मरम्मत पर करीब ५५ हजार रुपये लगते हैं। इन मदों के अलावा आम इन्तजाम करने मे ६६,७०० रुपये खर्च होने का अनुमान किया गया है।

म्युनिसिपैलिटियाँ और कारपोरेशन—इनका क्षेत्र शहरों या नगरों में है। स्वतन्त्र भारत मे (जिसमे अब बर्मा नहीं है) सब म्युनिसिपैलिटियो की संख्या ७२७ और कुल आय १४ करोड़ रुपये हैं। इनमे से कलकत्ता, बम्बई और मदरास की म्युनिसिपैलिटियों को कारपोरेशन कहते हैं, केवल इन तीनों की ही आय तीन करोड रुपये से अधिक है।

आगे इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के आय व्यय का नक्शा दिया जाता है। इससे ज्ञात होगा कि साधारणतया म्युनिसिपल बोर्डों की आय किन-किन साधनों से होती है, तथा वे कैसे-कैसे कार्य किया करते हैं।

इस बजट से स्पष्ट है कि म्युनिसिपल बोर्ड की आय के चार मुख्य साधन हैं:—

(१) म्युनिसिपल कर—इसमे चुंगी उस माल पर लगाई जाती है जो बाहर से म्युनिसिपल बोर्ड की हद्द के अन्दर आता है। चुंगी के कारण इलाहाबाद में बिकने वाले माल के दाम बढ ही जाते हैं इसमे चोरी करके

माल लाने तथा घूसखोरी बढ़ती है। म्युनिसिपैलिटी के टैक्सों में चुंगी से ही सबसे अधिक रुपया आता है। इसके बाद पानी का टैक्स से आय होती है। यह अधिकतर नल की टोंटी के छेद के हिसाब से निश्चित होता है। मकान व जायदाद पर जो टैक्स लगाया जाता है वह उक्त मकान व जायदाद की कीमत का ख्याल करके लगाया जाता है। यात्रियों पर लगाया जाने वाला टैक्स रेलवे टिकट में ही शामिल कर लिया जाता है। फिर रेलवे यह रकम साल के अंत में म्युनिसिपैलिटी को दे देती है।

इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी का बजट

अनुमानित व्यय

	१९३९-४०	१९४५-४६
आमइंतजाम	१ लाख ९८ हजार	१ लाख १४ हजार
रोशनी	६२ ,,	६५ ,,
पानी	३ ,, ७२ ,,	३ ,, ८० ,,
नाली व मोरी	२ ,, २१ ,,	१ ,, १६ ,,
सफाई	२ ,, ७० ,,	१ ,, ८७ ,,
अस्पताल व टीका	५० ,,	१ ,, ८ ,,
आग से रक्षा	११ ,,	१० ,,
पार्क	९ ,,	१२ ,,
मवेशीखाना, मवेशी अस्पताल	२४ ,,	२६ ,,
जन्म मरण रजिस्टर	४ ,,	५ ,,
सड़क	६४ ,,	६७ ,,
इमारत इत्यादि	४५ ,,	५६ ,,
शिक्षा	१ ,, ५६ ,,	१ ,, ८३ ,,
लायब्रेरी, म्यूजियम	३२ ,,	५६ ,,
अन्य	१ ,, २ ,,	२ ,, २२ ,,
कर्ज व सूद	१ ,, ७४ ,,	२ ,, ५ ,,
मीजान	१८ ,, ५७ ,,	१८ ,, ६४ ,,

अनुमानित आय

	१६३६-४०	१६४५-४६
म्युनिसिपल कर		
चुंगी	४ लाख ७२ हजार	६ लाख ७० हजार
मकान व जायदाद पर कर	१ ,, ६६ ,,	२ ,, २५ ,,
पानी कर	३ ,, ८२ ,,	२ ,, २६ ,,
घरेलू जानवर व सवारी	५३ ,,	२७ ,,
यात्री कर	७६ ,,	१ ,, २५ ,,
अन्य	१२ ,,	२० ,,
मीजान	११ ,, ६४ ,,	१५ ,, २६ ,,
खास कानून के अनुसार		
मवेशीखाना, इक्का, ताँगा इत्यादि	२३ ,,	४६ ,,
जमीन मकान का किराया और उपज की बिक्री	१ ,, ४ ,,	१ ,, ३६ ,,
स्कूल, दवाखाना, बाजार इत्यादि की फीस	२५ ,,	२८ ,,
पानी की बिक्री	१ ,, ३२ ,,	६४ ,,
अन्य फीस व जुर्माना	३३ ,,	१६ ,,
सूद आदि	१ ,,	२४ ,,
प्रान्तीय सरकार से सहायता	५० ,,	१ ,, ७६ ,,
कुल	१५ ,, ३४ ,,	२० ,, २२ ,,
इलाहाबाद की प्रत्येक जनता पर		
म्युनिसिपल कर का भार		रु० ६।११।८
म्युनिसिपल आय का भार		,, ८।१५।७

(२) खास एक्ट के अनुसार टैक्स—इसमें इक्के-ताँगों पर लगने वाले टैक्स से ही साढ़े तेईस हजार की रकम आती है।

(३) म्युनिसिपल जायदाद आदि—बजट में इसके अन्तर्गत आने वाली मदें स्पष्ट हैं।

(४) प्रांतीय सरकार से सहायता—इलाहाबाद म्युनिसिपैलिटी को सरकार से आवश्यक सालाना सहायता मिलती है।

व्यय—इलाहाबाद म्युनिसिपल बोर्ड के व्यय की खास मदें निम्न-लिखित हैं—

(१) आम इन्तजाम—यह खर्च म्युनिसिपल दफ्तर पर और कर इकट्ठा करने आदि में होता है।

(२) जनता की रक्षा—इस साल म्युनिसिपैलिटी फायर ब्रिगेड रखने में करीब बारह हजार रुपये खर्च करेगी। सड़कों और गलियों में रोशनी करने मे करीब ६२ हजार रुपया खर्च होंगे।

(३) स्वास्थ्य—म्युनिसिपल बोर्ड की ओर से जनता के लिए पानी का इन्तजाम करने में लगभग पौने चार लाख रुपया खर्च हो जाता है। गन्दा पानी बहाने के लिए जो नालियाँ बनी हैं उनकी सफाई व देखरेख में सवा दो लाख की बड़ी रकम खर्च होती है। अन्य प्रकार की सफाई मे पौने तीन लाख रुपये खर्च होते हैं।

(४) सिविल निर्माण-कार्य—म्युनिसिपैलिटी की सड़क व इमारतों की मरम्मत यह विभाग करता है।

(५) शिक्षा—इस मद के अन्तर्गत हिन्दी व अगरेजी के स्कूलों व दस्तकारी के काम सिखाने वाली सस्थाओं को सहायता दी जाती है। स्थानीय लाइब्रेरी व वाचनालयों को भी आर्थिक सहायता दी जाती है।

(६) कर्ज व सूद—म्युनिसिपैलिटी कुछ रुपया तो पुराने कर्ज की अदायगी मे और कुछ सूद के रूप मे खर्च करती है।

पोर्ट ट्रस्ट—बन्दरगाहों का स्थानीय प्रबन्ध करने वाली सस्थाएँ 'पोर्ट-ट्रस्ट' कहलाती हैं। ये घाटों पर मालगोदाम बनवाती हैं, और व्यापार के सुभीते के लिए नाव और छोटे जहाजों की सुव्यवस्था करती हैं। प्रधान पोर्टट्रस्ट कलकत्ता, बम्बई, कराँची, मदरास और चटगाँव में हैं। इनकी कुल आय साढे सात करोड रुपये हैं।

इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट—बडे बडे शहरों की उन्नति या सुधार के लिए कभी कभी विशेष कार्य करने होते हैं, जैसे सडकों को चौड़ी करना, घनी

बस्तियों को हवादार बनाना, गरीबो और मजदूरो के लिए मकानों की सुव्यवस्था करना आदि। ये कलकत्ता, बम्बई, इलाहाबाद, लखनऊ और कानपुर आदि मे हैं।

उपसंहार—किसी गाँव या नगर मे सडक बनवाना, नालियाँ बनवाना या साफ कराना, बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करना आदि स्थानीय कार्य उसी स्थान के निवासियों के प्रतिनिधि विशेष उत्साह और कुशलता-पूर्वक कर सकते हैं। इससे स्थानीय सस्थाओ के महत्त्व का अनुमान हो सकता है। हमारी पचायतों और जिला-बोर्डो की ही नही म्युनिसिपैलिटियों तक की आर्थिक स्थिति अच्छी नही है। उनकी आय बहुत कम है और उन्हे अपने कार्य सम्पादन करने के लिए आवश्यक द्रव्य के वास्ते सरकार का मुखापेक्षी रहना पडता है। उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यो का असन्तोषप्रद रहना स्वाभाविक ही है। अब प्रान्तीय सरकारों का इन सस्थाओ के प्रति बहुत सहानुभूति तथा सहयोग का भाव है।

अभ्यास के प्रश्न

१—उत्तर प्रदेश के म्युनिसिपल बोर्डों के आय-व्यय की मुख्य मुख्य मदों को सक्षेप मे बताइए। विशेष महत्त्व रखने वाली मदों का विवेचन कीजिए।

२—उ० प्र० जिला बोर्डों के आय के प्रधान साधन व व्यय की प्रधान मदे कौन कौन सी हैं ? हर एक मद पर अपनी राय सक्षेप मे दीजिए।

३—चुगी के गुण-दोष लिखिए।

४—उत्तर प्रदेश मे म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डो की आय बढ़ाने के मुख्य साधन क्या हैं ?

५—इस प्रात की म्युनिसिपैलिटियों और जिला बोर्डों के खर्च कम करने के तरीके समझाइये।

६—यदि आप अपने नगर की म्युनिसिपैलिटी के सदस्य निर्वाचित कर दिये जायें तो नगर की दशा सुधारने के लिए आप कौन सी योजना पेश करेंगे ?

७—जिला बोर्डों द्वारा देहातों में शिक्षा-प्रचार का कार्य अधिक जोरों से कैसे किया जा सकता है ?

———

परिशिष्ट—१

भारत के विभाजन का आर्थिक प्रभाव

विभक्त भारत का स्वरूप, पाकिस्तान और भारतीय संघ—१५ अगस्त १९४७ का दिन भारतवर्ष की स्वतन्त्रता-प्राप्ति का दिन है। पर इसी दिन से भारत के दो टुकडे हो गए, पाकिस्तान और भारतीय सघ। पाकिस्तान के दो भाग हैं, पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान। मुख्य भाग पश्चिमी पाकिस्तान है, इसमें पश्चिमी पजाब, सिन्ध, बिलोचिस्तान और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा इस ओर की रियासतें हैं। पूर्वी पाकिस्तान में पूर्वी बगाल, और आसाम के सिलहट जिले का अधिकाँश भाग है।

भारत के ये हिस्से निकल जाने पर जो शेष रहा, वह अब भारतीय सघ कहलाता है। इसमे बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्यदेश, बिहार, मदरास उड़ीसा, आसाम, पश्चिमी बगाल, पूर्वी पजाब, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा और कुर्ग तथा इन प्रान्तों के बीच आनेवाली या इनसे मिली हुई रियासतें हैं।

पाकिस्तान और भारतीय सघ मे जो प्रान्त इस समय हैं, वे सब अपने पहले पूरे-पूरे रूप मे नहीं हैं। दो प्रान्त—बगाल और पजाब—दोनों राज्यों में बँट गए हैं। बगाल के कुल क्षेत्रफल (७७ हजार वर्गमील) का ६६ प्रतिशत और पजाब के कुल क्षेत्रफल (९९ हजार वर्गमील) का ६२ प्रतिशत से कुछ अधिक पाकिस्तान में चला गया है; और इन प्रान्तों का शेष भाग भारतीय सघ में रहा है। आसाम के सिलहट जिले का अधिकाश भाग अब पाकिस्तान में और शेष भारतीय सघ में है।

विस्तार और जनसंख्या—रियासतों सहित, पाकिस्तान का क्षेत्रफल ३ लाख ६३ हजार वर्गमील अर्थात् कुल भारत का २३ प्रतिशत है। उसकी कुल जनसख्या सन् १९४१ की गणना के अनुसार ६ करोड ६८ लाख अर्थात् कुल भारत की जनसख्या का १७ प्रतिशत है। विभाजन के बाद दोनों राज्यों के कितने ही आदमी एक राज्य को छोड़कर दूसरे मे गए हैं, कुछ बेचारे रस्ते में मर ही गए। यह स्पष्ट है कि भारतीय सघ की तुलना मे पाकिस्तान बहुत छोटा राज्य है। फिर इसके दो भाग एक दूसरे से बहुत दूर दूर होने से उनका आपस में यथेष्ट सम्बन्ध नहीं रह सकता।

विभाजन में आर्थिक दृष्टिकोण का अभाव—भारतवर्ष का इन दो राज्यों मे विभाजन किसी आर्थिक योजना के अनुसार नहीं हुआ। यह वास्तव मे मुसलिम साम्प्रदायिकता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के गठबधन का फल है। मास्को रेडियो ने इसके सम्बन्ध मे कहा था कि मि० चर्चिल के समर्थन से यह योजना भारत मे ब्रिटेन का सैनिक तथा आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उपस्थित की गई है।' प्रमुख आयरिश पत्र 'आयरिश प्रेस' ने लिखा था कि ब्रिटेन ने हटते समय भारत का आयर्लैंड की तरह विभाजन करके उसे निर्बल बना दिया।'

सन् १९३५ के विधान से अँग्रेजों ने बर्मा को भारत से अलग करके यहाँ चावल और मिट्टी के तेल की भारी कमी कर दी थी। सन् १९४७ मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होनेवाले इस विभाजन ने देश पर नया आर्थिक प्रहार कर डाला। यह विभाजन भारतीय सघ और पाकिस्तान दोनों के लिए हानिकर है, इससे पाकिस्तान की हानि बहुत अधिक है। साम्प्रदायिक नेताओं का यह दावा कि पाकिस्तान एक आर्थिक प्रदेश होगा, इसे किसी अन्य प्रदेश पर निर्भर होने की आवश्यकता न होगी—कितना निरर्थक था; यह आगे दिए हुए तथ्यों से भली भाति प्रमाणित हो जायगा।

भूमि, जलवायु और नहरें—पहले हम यह जानलें कि पाकिस्तान बननेवाले भू-भाग की भूमि और जलवायु आदि कैसी है। पाकिस्तान की भूमि उपजाऊ है। पूर्वी पाकिस्तान मे वर्षा यथेष्ट होती है। परन्तु पश्चिमी पाकिस्तान की भूमि मे पानी बहुत कम बरसता है, इसके विविध भागों में वर्षा का औसत ५ से १५ इन्च तक है। हाँ, सतलज, झेलम, चनाव तथा सक्खर के बाध की नहरों से पश्चिमी पजाब और सिंध मे सिंचाई खूब होती है। इसलिए इस क्षेत्र मे खेती की अच्छी उन्नति हो सकती है।

पजाब की बड़ी-बड़ी नहरों से सींचा जानेवाला क्षेत्र अब अधिकाश में पाकिस्तान में चले जाने से भारतीय सघ मे बहुत कम रह गया है। केवल जमुना और सरहिन्द नहर पूर्वी पजाब को सींचती हैं। सतलज की नहर से बीकानेर की कुछ भूमि सींचा जाती है।

कृषि और खाद्य पदार्थ—पूर्वी बगाल मे पश्चिमी बगाल की अपेक्षा खेती करने योग्य भूमि के साधन कम हैं। कृषि-भूमि सीमित है, और जन-सख्या का घनत्व बहुत है—कुछ जिलों में जनसख्या प्रति वर्गमील एक हजार से भी अधिक है। दूसरे महायुद्ध से पूर्व भी बंगाल मे खाद्य सामग्री की कमी थी, बर्मा और आसाम के चावल से उसकी पूर्ति की

जाती थी। हाँ जूट उत्पादन का अधिकाश क्षेत्र अब पूर्वी पाकिस्तान में है। परन्तु जूट की सब मिलें पूर्वी बगाल से बाहर होने के कारण उसे इसका सामान बनाने से होनेवाला लाभ नहीं मिल सकता।

कृषि और खाद्य सामग्री की दृष्टि से पश्चिमी पाकिस्तान की स्थिति अच्छी है। पश्चिमी पंजाब और सिंध में सिंचाई के साधन पर्याप्त होने से यहाँ गेहूँ, चावल और कपास खूब पैदा होता है। ये चीजे इस प्रदेश की जनता के लिए काफी होती हैं, और कुछ बच भी रहती हैं। परन्तु यहाँ ज्वार, बाजरा, मक्का आदि अन्न कम होते हैं, जो निर्धन जनता के मुख्य भोजन हैं।

पाकिस्तान मे गन्ना उत्पन्न करनेवाली भूमि, वहाँ की जनता की आवश्यकता की दृष्टि से बहुत कम है, इसलिए उसे शक्कर के लिए आयात पर निर्भर रहना होगा। यहाँ तेलहन भी, क्षेत्रफल और जन-सख्या के हिसाब से, बहुत कम पैदा होता है। कहवा और रबर यहाँ पैदा नहीं होता (ये चीजें दक्षिण भारत मे ही होती हैं)। चाय पूर्वी बगाल तथा सिलहट जिले में होती है, परन्तु वह कम ही है।

भारतीय सघ में जूट की मिलें पश्चिमी बगाल में हैं, पर जूट पैदा होने का सारा क्षेत्र उसके बाहर होने से, अब वह अपनी मिलों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने में परमुखापेक्षी हो गया। इसी प्रकार वह अब सिंध में पैदा होनेवाली बढिया किस्म की कपास से भी वचित हो गया है। बिलोचिस्तान और सीमाप्रदेश के अलग हो जाने से भारतीय सघ में सेव, अगूर, किसमिस, छुहारे आदि मेवा और फलों की कमी हो गई है। सब से अधिक हानि तो यह हुई कि अब इसमें पश्चिमी पजाब और सिध के अतिरिक्त उपजवाले प्रान्त नहीं रहे, जिनसे दूसरे प्रान्तों की उपज की बहुत-कुछ कमी दूर हो जाती थी।

वन सम्पत्ति—पूर्वी पाकिस्तान मे वन-प्रदेश की बहुत कमी है। पश्चिमी पाकिस्तान के प्रान्त—सीमाप्रान्त, बिलोचिस्तान, सिन्ध और पश्चिमी पजाब—बहुत सूखे हैं, इनमे वन नहीं हैं। इसका परिणाम यह होगा कि यहाँ, वन-सम्पत्ति से होने वाले धन्धों के लिए अनुकूलता नहीं होगी। भारत के वन-प्रदेश या तो हिमालय के भागो मे हैं, या दक्षिण मे। ये सब भाग भारतीय सघ के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार विभाजन के करण भारतीय सघ की वन-सम्पत्ति मे कोई न्यूनता नही आई।

खनिज सम्पत्ति—पाकिस्तान में कोयला केवल पश्चिमी पजाब और

विलोचिस्तान मे ही मिलता है, वह भी घटिया तथा थोडे ही परिमाण मे। सिन्ध तथा पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त मे तो कोयला है ही नही। पाकिस्तान मे कोयले की खानों के पास लोहा आदि न होने के कारण यहाँ धातुओं को शुद्ध करने का कोई धंधा नही चलाया जा सकता। खनिज पदार्थों में से यहाँ केवल नमक की पहाडियाँ हैं। भारतवर्ष मे जितना कोयला पाया जाता है उसका ९८ प्रतिशत से अधिक भाग पश्चिमी बगाल, विहार और गोंडवाना मे मिलता है। ये सब प्रदेश भारतीय संघ मे हैं। भारतवर्ष का ८० प्रतिशत अभ्रक विहार मे होता है। पाकिस्तान मे यह बिल्कुल नहीं होता। यह बिजली का सामान बनाने के लिए जरूरी होता है। भारतीय सघ मे वार्क्साइट भी अच्छी मात्रा मे मिलता है, जो अल्यूमीनियम के उद्योग के लिए उपयोगी होता है। सिमेंट और तेल (पेट्रोलियम) की दृष्टि से भी भारतीय सघ की स्थिति पाकिस्तान की अपेक्षा अच्छी है।

उद्योग-धंधे—खनिज पदार्थों की कमी के कारण पाकिस्तान उद्योग-धधों मे बहुत पिछ्डा हुआ है। यहाँ कल-कारखाने बहुत ही कम हैं, जो हैं वे अपेक्षाकृत छोटे आकार के हैं, और उनमें मौसमी कारखानों की अधिकता है। इस प्रकार यहाँ औद्योगिक व्यवसाय मे स्थायित्व कम है, इससे श्रमजीवी जनता को बहुत कष्ट होता है। पाकिस्तान के कुल कारखानों मे ७० फीसदी अकेले पश्चिमी पजाब मे, और २८ प्रतिशत सिन्ध में ही हैं। सन् १९४२ मे सारे भारत के सूती कपडे के ३९६ कारखानों में से पश्चिमी पाकिस्तान मे केवल ८ ही थे। इसी प्रकार ऊनी कपड़े के १६ कारखानों मे से यहाँ केवल एक था, यह था पश्चिमी पजाब में। सिन्ध, बिलोचिस्तान और सीमाप्रान्त मे एक भी नहीं था। अब पूर्वी पाकिस्तान की बात लीजिये। बंगाल की ९७ जूट मिलें सबकी-सब पश्चिमी बगाल में अर्थात् भारतीय सघ मे हैं; पूर्वी पाकिस्तान में एक भी नहीं। कपडे की २९ मिलों मे से केवल ६ पूर्वी बगाल मे हैं। लोहे और फौलाद का एक भी कारखाना पूर्वी या पश्चिमी पाकिस्तान में नहीं है।

यातायात के साधन—उद्योग-धधों के विकास के लिए यातायात के साधनों की आवश्यकता स्पष्ट ही है। भारतवर्ष अन्य औद्योगिक देशों की अपेक्षा बहुत पीछे है, और पाकिस्तान तो भारतीय संघ से भी पीछे है। रेलें भारतीय सघ में ३२,६१२ मील हैं और पाकिस्तान मे ७,९०० मील। सड़कें भारतीय सघ मे २,४६,६०५ मील हैं, और पाकिस्तान में ४९,८६३ मील। भारतवर्ष के जिन प्रान्तों में यातायात के

साधन बहुत कम थे, वे अब पाकिस्तान के अग हैं। सीमाप्रान्त तथा बिलोचिस्तान मे इन साधनों का अभाव सा ही समझना चाहिए। जो थोडी सी रेलें इस प्रदेश मे हैं, वे प्रायः सैनिक आवश्यकता के कारण बनाई गई थी, और बहुत घाटे पर चलती हैं। भूमि विषम और पहाड़ी होने के कारण यहाँ रेले तथा सड़कें बनाना बहुत कठिन तथा व्यय-साध्य है। पजाब और सिन्ध में भूमि चौरस या हमवार होने से, यहाँ रेलें और सड़कें बनाने में इतना खर्च नहीं होता, पर इस क्षेत्र की पैदावार अधिकतर खेती के पदार्थों की होने से यहाँ व्यापार छोटे पैमाने पर होता है। इसलिए यहाँ रेलें और सड़कें बनाने में रुपया खर्च करना कुछ लाभदायक नहीं रहता। पूर्वी पाकिस्तान में यातायात के साधनों की दशा पश्चिमी पाकिस्तान की अपेक्षा अच्छी है पर वह भी विशेष सन्तोषप्रद नहीं।

भारतीय सघ में यातायात, पाकिस्तान की अपेक्षा, कहीं अच्छा है; कारण यहाँ उद्योग-धधे और व्यापार अपेक्षाकृत उन्नत अवस्था मे हैं। हाँ, आसाम में यातायात की व्यवस्था कम है, इसे बढाने की आवश्यकता है। इस का प्रयत्न हो रहा है।

व्यापार—पाकिस्तान के पास खासकर जूट, कपास, गेहूँ, चावल, नमक और मेवा अपनी जरूरत से अधिक है। वह इन्हीं चीजों की निर्यात करेगा। दूसरी ओर उसे कोयला, लोहा, और कपड़ा, तथा चीनी, कागज आदि तरह-तरह की बहुत सी तैयार चीजों की जरूरत होगी। इस विषय में उसका भारतीय सघ से जो समझौता हुआ है, उसका उल्लेख 'विदेशी व्यापार' अध्याय में किया जा चुका है। यह स्पष्ट है कि जब तक पाकिस्तान अपने उद्योग-धधों की उन्नति न करे, उसकी आयात, निर्यात से अधिक रहेगी। इस प्रकार उसका विदेशी व्यापार उसके विपक्ष मे रहेगा। यह बात हर दशा में अहितकर ही नहीं होती, परन्तु जब कि उसके चिरकाल तक बने रहने की सम्भावना हो तो अवश्य ही अहितकर होती है।

विभाजन के कारण भारतीय सघ को जो जूट, गेहूँ, कपास और नमक आदि की आयात करनी पडेगी, उसका संकेत ऊपर हो चुका है।

पाकिस्तान की आर्थिक उन्नति की योजना—पाकिस्तान का निर्माण चाहे जिन कारणों और परिस्थितियों से हुआ हो, वह अब एक स्वतत्र राज्य है। उसके लिए आवश्यक है कि वह आर्थिक

दृष्टि से उन्नत हो, और खेती तथा उद्योग-धन्धों मे यथेष्ट प्रगति करे। उसके पास खेती के लिए आवश्यक भूमि तथा खेती करने वाले आदमियों की कमी नही । इसलिए वह इस दिशा मे सहज ही उन्नति कर सकता है। परन्तु औद्योगिक उन्नति के लिए पाकिस्तान के पास यथेष्ट खनिज साधनों की बहुत कमी है। अभी वहाँ औद्योगिक श्रमियो की भी कमी है। हाँ, पश्चिमी पजाब तथा पूर्वी बगाल मे जल-विद्युत् पैदा करने की अनुकूलता है।

पाकिस्तान को सबसे अधिक आवश्यकता होगी, पूँजी की। इसकी वहाँ पहले ही कमी थी। फिर, उसने हिन्दुओं (व्यापारियों और पूँजी-पतियों) को निकाल कर तथा काशमीर मे भारतीय सघ से लडाई छेडकर अपने आपको दिवालिया ही बना डाला। अब उसके पास इगलैंड, अमरीका आदि से ऋण लेने के सिवा और कोई चारा नही है। परन्तु, ऐसा करने से पाकिस्तान पर साहूकार राष्ट्रो का हानिकारक राजनैतिक प्रभाव पडने की बहुत आशका है। पाकिस्तान की शैशवावस्था की स्वतत्रता का सहज ही दम घुट सकता है।

इसलिए बेहतर है कि वह भारतीय सघ से मित्रतापूर्ण व्यवहार करे; काशमीर आदि की लड़ाई मे अपना जन-धन बर्बाद न करे और अपने वृथा अहकार को त्याग कर आर्थिक सधियों और समझौतो से काम ले, उसे जिन तैयार चीजो की जरूरत हो, वे यथा-सम्भव भारतीय सघ से ले, और इस प्रकार अन्य देशों से व्यापार बढाने और उनका कर्जदार होने की अपेक्षा भारतीय सघ से ही अपना सम्बन्ध बढाव।

भारतीय संघ सम्बन्धी विचार—भारतीय सघ मे औद्योगिक साधन और सम्भावनाएँ बनी हुई हैं। विभाजन के बाद भी इस राज्य मे ६८ प्रतिशत औद्योगिक श्रमी और अधिकाश महत्त्वपूर्ण खनिज सम्पत्ति विद्यमान है। हाँ, इसकी कृषि पैदावार की स्थिति कुछ कमजोर हो गई है, क्योंकि अतिरिक्त उत्पादन करनेवाले कुछ क्षेत्र अब उससे बाहर हो गए हैं। खाद्यान्नों के अलावा अब उसे अपने कारखानों के लिए जूट और कपास आदि की अधिक आवश्यकता होगी। जूट तो उसे पाकिस्तान से ही लेना होगा। अस्तु, अच्छा है कि भारतीय सघ, पाकिस्तान से सद्व्यवहार-पूर्वक आर्थिक सधियाँ करे। उसे जिस कृषि-पैदावार आदि की आवश्यकता हो, वह जहाँ तक पाकिस्तान से मिल सके, वहाँ से ही ली जाय। हमें ध्यान रखना है कि पाकिस्तान

आखिर हमारा पड़ोसी है; यदि वह निर्बल और निस्तेज हुआ और वहाँ विदेशी राष्ट्र का अड्डा जमा तो यह भारतीय सघ के लिए भी हितकर न होगा।

विशेष वक्तव्य—निदान, हम भारतवर्ष के इन दोनों राज्यों के पारस्परिक सहयोग मे ही दोनों का कल्याण मानते हैं। राष्ट्र-पिता म० गाधी का कहना था कि 'अगर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का बॅटवारा ही हो तो वह दो भाइयों के बीच के बॅटवारे या एक कुटुम्ब के लोगों के आपसी बॅटवारे की तरह हो।' अफसोस! सम्प्रदायवाद के उन्माद ने हमे ऐसा न करने दिया। इसका दुष्परिणाम भी हमारे सामने आगया। अस्तु, अब तो हम महात्मा जी की इच्छानुसार दो भाइयों, या एक कुटुम्ब के आदमियो की तरह रहें। एक दूसरे की भूतकाल की भूलों और त्रुटियों को भुलाकर हम इस तत्व को ग्रहण करें कि यदि सम्प्रदायवाद ने हमे एक दूसरे से पृथक् किया है तो हमारी आर्थिक आवश्यकताएँ हमें एक-दूसरे से प्रेम-पूर्वक व्यवहार करने के लिए आमत्रित कर रही है। हम गम्भीरतापूर्वक सोचें और अपना कर्तव्य निर्धारित करें। शुभम्।

परिशिष्ट २

पारिवारिक व्यय-संबंधी बातें कैसे प्राप्त की जायँ ?

जैसा कि पहले अध्याय में बतलाया जा चुका है, अर्थशास्त्र में मनुष्यों के धन-सबधी प्रयत्नों का विवेचन होता है। मनुष्यों के अधिकाश आर्थिक प्रयत्न धन को प्राप्त करने और उसके खर्च करने से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये यदि कुछ मनुष्यों की मासिक या वार्षिक आमदनी और खर्च की मदों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय तो अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को अच्छी तरह से समझने में बड़ी सहायता मिलती है। अर्थशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को कुछ पारिवारिक आय-व्यय-पत्र (बजट) स्वय इकट्ठा करके अध्ययन करना चाहिये।

पारिवारिक व्यय उपभोग के लिये अथवा धन की उत्पत्ति के लिये किया जाता है। जो रकम उपभोग के लिये खर्च की जाती है उससे परिवार की

आर्थिक दशा का पता लगता है। जो रकम धन की उत्पत्ति के लिये खर्च की जाती है उससे वस्तु के लागत खर्च और मुनाफा का पता लगता है।

नवें अध्याय में पारिवारिक आय-व्यय के सम्बन्ध मे विचार किया जा चुका है और उसमे एक किसान और एक क्लर्क के वार्षिक पारिवारिक व्यय के अंक दिये गये हैं। बीसवें अध्याय मे एक किसान के उत्पादन व्यय का विवरण भी दे दिया गया है। इन अध्यायों मे यह नहीं बतलाया गया है कि पारिवारिक आय-व्यय-सम्बन्धी सब बातें किस प्रकार प्राप्त की जाती हैं। इस परिशिष्ट मे इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है।

उपभोग सम्बन्धी व्यय का बजट—प्रत्येक विद्यार्थी को अपने परिवार के व्यय का एक वर्ष का हिसाब रखना चाहिये। यदि एक वर्ष का न होसके तो कम से कम एक मास का हिसाब तो अवश्य ही रखना चाहिये। हिसाब रखने मे निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

(१) रकम जिस दिन खर्च की जाय उसका हिसाब उसी दिन लिख लिया जाय। ऐसा न करने से हिसाब गलत होने की सम्भावना होती है।

(२) उपभोग के लिये उन वस्तुओं का उपयोग होता है जो मोल ली जाती हैं और जो मोल नहीं ली जातीं या जो पहिले से ही मोल ली गई हैं, इन सब का पूरा पूरा हिसाब रखना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रति दिन भोजन के लिये जो सामग्री खर्च होती है यदि उसमे से कुछ भाग मोल न लिया गया हो तो उसे भी खर्च मे सम्मिलित कर लेना चाहिये।

(३) हिसाब इस तरह से लिखना चाहिये कि जिससे कोई भी खर्च दो बार न दिखाया जावे। उदाहरणार्थ यदि किसी मास मे ५) का गेहूँ खरीदा गया और वह खर्च मे दिखा दिया गया तो फिर भोजन के खर्च मे गेहूँ नहीं दिखाना चाहिये।

वर्ष या महीने के व्यय का सब हिसाब पूरा पूरा तैयार होने पर फिर उसका बजट तैयार करना चाहिये। हिसाब में से वे सब खर्च अलग कर देना चाहिये जो उपभोग के लिये नहीं है अर्थात् जो अधिक धन प्राप्त करने के लिये अर्थात् उत्पत्ति के लिये किये गये हैं। हिसाब मे कुछ खर्च ऐसी वस्तुओं पर रहते हैं जो अधिक समय तक उपयोग मे आती हैं। उनके उपयोग में आने का समय जानकर यह हिसाब लगाना चाहिये कि वर्ष या महीने में उसका औसत खर्च क्या होता है। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि किसी एक व्यक्ति ने एक कुर्सी ४) में खरीदी। यदि कुर्सी का जीवन चार वर्ष का मान लें तो उस पर एक वर्ष के लिए खर्च १) और एक

महीने के लिये सवा आना ही माना जायगा और यही खर्च व्यय के बजट में दिखलाया जायगा। इस प्रकार व्यय के बजट की प्रत्येक मद का खर्च जानकर बजट तैयार कर लेना चाहिये। बजट तैयार करने में इस परिशिष्ट के अन्त मे दिये हुए फार्म का उपयोग करना लाभदायक होगा।

बजट तैयार होने पर उसके अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से मालूम हो जायगा कि पारिवारिक व्यय कहाँ तक अच्छे ढग से हो रहा है और उसमें सुधार की कहाँ तक गुंजाइश है। यदि विलासिता या ऐश आराम की वस्तुओं पर या मादक वस्तुओं पर अधिक खर्च हो रहा है और निपुणता-दायक या जीवन-रक्षक पदार्थों पर काफी खर्च नहीं हो रहा हो तो परिवार की भलाई इसी मे है कि वह मादक वस्तुओं का उपयोग बन्द कर दे, विलासिता और ऐश आराम की वस्तुओं का उपयोग कम कर दे और जीवन रक्षक पदार्थों का उपयोग बढा दे।

अपने निजी बजट तैयार कर लेने पर फिर किसी किसान, मजदूर या क्लर्क का बजट तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस व्यक्ति का बजट तैयार करना हो उससे घनिष्ठता प्राप्त की जाय और उसको अपना विश्वास पात्र बनाया जाय। कोई भी व्यक्ति अपने खर्च का सच्चा हाल तब तक न देने को तैयार होगा जब तक उसको यह विश्वास न हो जायगा कि आप उसकी बतलाई हुई बातों का दुरुपयोग न करेंगे। इसलिये प्रत्येक विद्यार्थी को परिचित और विश्वसनीय व्यक्ति से ही खर्च का हिसाब प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि वह उस व्यक्ति के खर्च का हिसाब प्रतिदिन उसी प्रकार लिख लिया करे जिस प्रकार वह अपना हिसाब लिखता है और हिसाब लिखने में उसको उन सब बातों का ध्यान रखना चाहिये जो ऊपर बतलाई गई हैं।

यह अक्सर देखा गया है कि ऐसे सज्जन जो पारिवारिक व्यय के संबध मे सामग्री इकट्ठी करते हैं, किसी अपढ किसान या मजदूर के पास जाकर एक दो घंटे मे उससे अपनी वर्ष भर की सब आमदनी और खर्च का हाल पूछ लेते हैं। इस प्रकार जो सामग्री प्राप्त होती है उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। अधिकाँश किसान या मजदूर अपढ हैं। जो थोडे बहुत पढ़े हुए भी हैं वे भी अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब नहीं रखते। एक दो घंटे के अन्दर वे जो कुछ बतलाते हैं वह अनुमान के आधार पर ही रहता है। इस अनुमान के गलत होने की बहुत अधिक सम्भावना रहती

है। इसलिये इस प्रकार सामग्री इकट्ठी करने से कुछ लाभ नहीं है। विद्यार्थी को चाहिये कि वह प्रतिदिन अपने चुने हुए किसान, मजदूर या अन्य किसी व्यक्ति का पूरा पूरा हिसाब लिखता जाय। तब ही उसे विश्वसनीय आंकड़ों का पता लगेगा।

लागत खर्च का हिसाब—किसी वस्तु का लागत खर्च जानने के लिये यह आवश्यक है कि खेती के लिये कम से कम एक वर्ष और अन्य छोटे उद्योग-धंधों के लिये कम से कम एक माह का आय-व्यय का पूरा पूरा हिसाब प्राप्त किया जाय। खेती का लागत खर्च जानने के लिये किसी किसान की आमदनी और खर्च का हिसाब एक वर्ष तक रखना होगा। हिसाब रखने में उन सब बातों का ध्यान रखना होगा जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। एक वर्ष का हिसाब तैयार होने पर आमदनी में से वे सब रकमें निकाल दी जावेंगी जिनका सम्बन्ध खेती से नहीं है। यदि उस किसान ने नजदीक के शहर में मजदूरी करके वर्ष भर में ३०) कमा लिये तो यह रकम उसकी आमदनी के हिसाब से कम कर दी जावेगी। उसके खर्च के हिसाब से वे सब रकमें निकाल दी जावेंगी जो उसके परिवार के उपयोग के लिये व्यय की गई हैं। इनका विचार अलग किया जायगा। लागत खर्च में तो केवल वे ही रकमें ली जावेंगी जिनका उपयोग वस्तु की उत्पत्ति करने में किया गया है। लागत खर्च का हिसाब लगाने में निम्नलिखित बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना आवश्यक है:—

(१) यदि जमीन पर कोई लगान या किराया न दिया जाता हो तो उसका अनुमान अलग लगाना चाहिये और उसे लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये।

(२) जितने दिन उत्पादक या उसके परिवार के व्यक्तियों ने काम किया हो उनकी मजदूरी का अनुमान अलग लगाना चाहिये और उसे लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये।

(३) अचल पूँजी की घिसावट का अनुमान लगा कर उसे भी लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये। घिसावट का अनुमान लगाने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि मशीन, या वस्तु कितने समय तक चलेगी।

(४) उत्पादक ने अपनी जो कुछ पूँजी लगाई हो उसका बाजार की दर से व्याज (सूद) का अनुमान लगा कर उसे भी लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये।

(५) उत्पन्न की हुई वस्तुओं की बिक्री से जो रकम प्राप्त हुई हो उसमे से उसके उत्पादन मे जो खर्च हुआ उसे घटा देने पर जो रकम बचे उसे मुनाफा मानना चाहिये। मुनाफे की रकम को भी लागत खर्च में जोड़ देना चाहिये। यदि मुनाफे के बदले हानि हो तो उसका उल्लेख स्पष्ट रूप से कर देना चाहिये।

उपभोग-संबंधी व्यय का फार्म

परिवार के मुखिया का नाम

परिवार मे व्यक्तियो की संख्या··· · ···

मनुष्य ···· ··

स्त्री· · ·····

बच्चे ·····

पेशा·· ·······जाति· · · ·· ···

खर्च का हिसाब· ········· · से········ ·तक

१—भोजन

वस्तु का नाम	परिणाम	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(अ) अनाज			
गेहूँ			
जौ			
बाजरा			
चना			
चावल			
उर्द			
अन्य			
(ब) फल व तरकारी			
(स) दूध			
घी			

वस्तु का नाम	परिमाण	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(क) मास			
मछली			
अंडे			
(ख) नमक			
मसाला			
तेल			
गुड			
चीनी			
मिठाई			
अन्य			
मीजान भोजन सामग्री			

२—कपड़ा

वस्तु का नाम	परिमाण	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(अ) मर्दों के लिए			
धोती			
कुरता-कमीज			
कोट			
टोपी			
अन्य			
(ब) औरतों के लिये			
धोती			
अन्य			

वस्तु का नाम	परिमाण	दर रु० आ०	मूल्य रु० आ०
(स) बच्चो के लिये			
(क) अन्य			
रजाई			
चद्दर			
अगोछा			
अन्य			
मीजान कपड़े			

३—मकान

मकान का किराया—

मकान की मरम्मत- –

मीजान मकान संबधी खर्च

४—लकड़ी व रोशनी

खर्च की मद	परिमाण	दर	मूल्य
जलाऊ लकड़ी			
मिट्टी का तेल			
बिजली			
अन्य			
मीजान			

५—घर का सामान

खर्च की मद	परिमाण	दर	मूल्य
टेबुल, कुर्सी चारपाई बर्तन सन्दूक अन्य			
मीजान			

६—स्वास्थ्य

दैद्य या डाक्टर की फीस
दवाई का मूल्य
सफाई का खर्च
अन्य

मीजान स्वास्थ्य

७—शिक्षा

फीस
पुस्तक
स्लेट
अध्यापक का वेतन
अन्य

मीजान शिक्षा

८—मादक वस्तुएँ

वस्तु का नाम	परिमाण	दर	मूल्य
शराब			
अफीम			
भाँग, गाँजा, चरस			
सिगरेट, बीड़ी			
तम्बाकू			
चाय (यदि आदत पड़ गई हो)			
मीजान			

९—सूद

सूद की रकम जो दी गई

१०—फुटकर खर्च

सामाजिक और धार्मिक रु० आ०

मुडन

विवाह

यज्ञोपवीत

श्राद्ध

कथा

दान

मेहमान

कर और अदालती खर्च

अदालती खर्च

वकील

जुर्माना

टैक्स (कर)

अन्य

कानूनी खर्च

अन्य फुटकर खर्च

पान

सिनेमा

नाई

धोबी

मेहतर

नौकर

साबुन

रिस्तेदारों को सहायता

मनोरंजन खर्च

डाक खर्च

समाचार पत्र

यात्रा खर्च

अन्य

मीजान फुटकर खर्च

उपभोग के खर्च का संक्षिप्त विवरण

खर्च की मद	रु० आ०	प्रतिशत
१—भोजन		
२—कपडा		
३—मकान		
४—लकडी व रोशनी		
५—घर का सामान		
६—स्वास्थ्य		
७—शिक्षा		
८—मादक वस्तुएँ		
९—सूद		
१० फुटकर		
मीजान···· ·		

खेती के लागत खर्च का फार्म

किसान का नाम.. ....
पूरा पता........ ... .
जमीन का रकबा... . . . . . एकड़
खर्च का हिसाब.......... ...से.. .....तक

१—लगान

लगान जो जमींदार को दिया, रुपया ..... .

२—मजदूरी

(अ) जो मजदूरी मजदूरों को दी, रुपया.... . ...
(ब) किसान और उसके परिवार के
व्यक्तियों की मजदूरी, रुपया ...
मीजान

३—बीज व खाद

बीज	
रबी के लिये	रु०
खरीफ के लिए	रु०
खाद गोबर का	रु०
अन्य खाद	,,
मीजान	

४—सूद

कर्ज जो केवल खेती के लिये लिया गया—रु०
सूद को दर प्रतिशत
सूद का परिमाण रु०

५—घिसावट

सामान	कीमत	अनुमानित जिंदगी	वार्षिक घिसावट रु० आ०
बैल			
औजार			
कुआँ			
अन्य			
मीज़ान			

६—बिक्री-खर्च

किराया गाड़ी रु०
चुंगी ,,
कमीशन ,,
अन्य ,,

मीज़ान

७—आमदनी

फसल	परिमाण	दर रु०	मूल्य रु० आ०
गेहूँ			
बाजरा			
जौ			
चना			
अन्य			
भूसा			
कर्बी			
मीज़ान			

लागत खर्च का संक्षिप्त विवरण

खर्च की मद	खर्च	प्रतिशत
१—लगान		
२—मजदूरी		
३—बीज व खाद		
४—सूद		
५—घिसावट		
६—बिक्री खर्च		
७—मुनाफा		
मीजान		

उपर्युक्त फार्म में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करने से किसी अन्य वस्तु के लागत खर्च निकालने का फार्म आसानी से तैयार किया जा सकता है।

परिशिष्ट ३

सहायक पुस्तकों की सूची

हम नीचे चुनी हुई हिन्दी और अंग्रेजी पुस्तकों की सूची देते हैं। इनके पढ़ने से अर्थशास्त्र के समझने मे सहायता मिलेगी।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्त

सपत्तिशास्त्र—पडित महावार प्रसाद जी द्विवेदी (इन्डियन प्रेस प्रयाग)

उत्पत्ति – डाक्टर बालकृष्ण जी

सपत्ति का उपभोग—श्री दयाशकर दुबे और श्री मुरलीधर जोशी।

धन की उत्पत्ति—श्री दयाशकर दुबे और श्री भगवानदास जी केला (श्री रामनारायण लाल, बुकसेलर, प्रयाग)

अर्थशास्त्र की रूपरेखा—श्री दयाशकर दुबे (श्री रामनारायण लाल, प्रयाग)

भारतीय अर्थशास्त्र

भारत की साम्पत्तिक अवस्था—श्री राधाकृष्ण जी झा (हिन्दी पुस्तक एजेंसी)

भारतीय अर्थशास्त्र (तीसरा सस्करण)—श्री भगवानदास जी केला (भारतीय ग्रन्थमाला, प्रयाग)

हमारी आर्थिक समस्यायें—श्री दयाशङ्कर दुबे और श्रीनारायण अग्रवाल

बैंक

भारतीय बैंकिंग—श्री द्वारकालाल गुप्त (राय साहब रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग)

आर्थिक भूगोल

औद्योगिक और व्यापारिक भूगोल—श्री शकरसहाय सक्सेना (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)

भारत का आर्थिक भूगोल—श्री दयाशकर दुबे और श्री शकर सहाय सक्सेना

राजस्व

राष्ट्रीय आय-व्यय शास्त्र—श्री प्राणनाथ विद्यालंकार

सरल राजस्व—श्री दयाशंकर दुबे

ग्राम्य अर्थशास्त्र

ग्राम्य अर्थशास्त्र—श्री दयाशंकर दुबे और श्री शंकर सहाय सक्सेना

ग्रामों का पुनरुद्धार—श्री ब्योहार राजेन्द्र सिंह (हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

ग्रामीण अर्थशास्त्र—श्री ब्रजगोपाल भटनागर (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग)

ग्राम सुधार—श्री गंगाप्रसाद पांडेय और श्री रामेश चन्द्र पांडेय

सुखी जीवन—श्री देवीसहाय श्रीवास्तव (श्री रामप्रसाद सिन्हा, पटकापुर, कानपुर)

अर्थशास्त्र के कोष

अर्थशास्त्र शब्दावली—श्री दयाशंकर दुबे, श्रीभगवानदास केला और श्री गदाधर अम्बष्ठ (भारतीय ग्रंथमाला)

हिन्दी वैज्ञानिक कोष—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी।

अँग्रेजी पुस्तकें

Marshall—Economics of Industry.

Clay—Economics for General Reader.

Robinson F H—Elements of Economics, Books I and II

Lettice Fisher—Getting and Spending

B G. Bhatnagar—Outlines of Economics for Biginners.

Shanker Lal Agarwal and Ram Narain Gupta—First Principles of Economics.

E C Bhatty—A Hand Book of Practical and Written Work in Economics.

K. L Agarwal and G. N. Saharia—Practical and Written Work in Intermediate Economics (Ram Narain Lal, Allahabad.)

Daya Shanker Dubey and Shanker Lal Agarwal—Simple Diagrams (Indian Press Ltd., Allahabad)

परिशिष्ट ४

पारिभाषिक शब्दों की सूची

Agents of Production	उत्पत्ति के साधक
Alluvial Soil	दोमट मिट्टी
Altruism	परमार्थवाद
Balance of Trade	व्यापार की बाकी
Barter	अदल बदल
Bill of Exchange	हुण्डी
Birth-Control	संतान-निग्रह
Boom	व्यापारिक धूम
Budget	बजट, अनुमानित आय-व्यय
Capital	पूँजी
Cess	अब्वाब
Circulating Capital	चल पूँजी
Coin	सिक्का, मुद्रा
Comfort	ऐश-आराम की वस्तुएँ
Competition	प्रतिस्पर्धा
Consolidation of holdings	खेतों की चकबन्धी
Consumption	उपभोग
Conventional necessaries	कृत्रिम आवश्यकता की वस्तुएँ
Co-operation	सहकारिता
Cost of production	लागत खर्च, उत्पादन व्यय
Cottage Industries	घरेलू उद्योग-धन्धे
Credit Instruments	साखपत्र
Customs Duty	आयात-निर्यात कर
Demand Schedule	माँग की सारिणी
Density of Population	जनसंख्या का घनत्व
Depreciation through wear and tear	घिसावट

Depression	व्यापारिक मन्दी
Desire	इच्छा
Diagram	रेखाचित्र
Direct Tax	प्रत्यक्ष कर
Distribution	वितरण
Division of Labour	श्रमविभाग
Economics	अर्थशास्त्र, सपत्तिशास्त्र
Economic Rent	आर्थिक लगान
Efficiency	कार्यकुशलता, कार्यक्षमता
Elasticity of Demand	माँग की लोच
Enterprise	साहस
Equilibrium of Supply and Demand	माँग और पूर्ति की समता
Ethics	नीतिशास्त्र
Exchange	विनिमय
Export	निर्यात
External Economics	बाह्य बचत
Factors of Production	उत्पत्ति के साधन
Factory	कल कारखाना
Family Budget	पारिवारिक आय-व्यय-पत्र
Famine	दुर्भिक्ष, अकाल
Fee	शुल्क
Feeling	अंतर्वेदना
Finance	राजस्व
Fixed Capital	अचल पूँजी
Foreign Trade	विदेशी व्यापार
Handicraft Stage	कारीगरी अवस्था
Human Geography	मानव भूगोल
Hydro-Electricity	जल-विद्युत्
Gold Standard Reserve	मुद्रा ढलाई लाभ कोश
Government Security	सरकारी सिक्यूरिटी कर्जपत्र
Import	आयात
Income-Tax	आय-कर

Indirect-Tax	परोक्ष कर
Inequality	असमानता
Insurance	बीमा
Intensification of Demand	माँग की प्रबलता
Internal Economics	आभ्यतरिक बचत
Irrigation	सिचाई
Joint Stock Company	मिश्रित पूँजी वाली कपनियाँ
Labour	श्रम
Land Mortgage Bank	भूमिबधक बैंक
Land Revenue	मालगुजारी
Large-Scale Production	बडी मात्रा की उत्पत्ति
Law of Equimarginal Utility	समसीमात उपयोगिता नियम
Legal Tender	कानूनन ग्राह्य
Localisation of Industry	उद्योग-धधे का स्थानीयकरण
Luxuries	विलासिता की वस्तुएँ
Machine	मशीन
Management	प्रबध
Managing Director	प्रधान सचालक
Manufactured Goods	तैयार माल
Marginal Utility	सीमात उपयोगिता
Market	बाजार
Matter	पदार्थ
Maximum Satisfaction	अधिकतम सन्तुष्टि
Means of Communication	सवाद वाहन के साधन
Minerals	खनिज पदार्थ
Mobility	गतिशीलता
Money	रुपया पैसा, द्रव्य
Moral-Self restraint	इद्रिय निग्रह
National Wealth	राष्ट्रीय सपत्ति
Necessaries for Efficiency	निपुणतादायक पदार्थ
Necessaries for Life	जीवन रक्षक पदार्थ
Occupancy Tenant	मौरूसी काश्तकार

Octroi Duty	चुंगी
Organisation	व्यवस्था
Paper Money	कागजी मुद्रा
Partnership	साझेदारी
Permanent Settlement	स्थायी बंदोबस्त
Plateau	पठार
Politics	राजनीति शास्त्र
Preventive Checks	प्रतिबंधक उपाय
Principle of Substitution	प्रतिस्थापन सिद्धात
Price	कीमत
Productive Canal	उत्पादक नहर
Profit	मुनाफा
Protection to Industries	उद्योग-धधों का सरक्षण
Public Finance	राजस्व
Raw Material	कच्चा माल
Real Interest	वास्तविक सूद
Real Wages	असली मजदूरी
Satisfaction	संतुष्टि, संतोष
Savings	बचत
Social Customs	रीति-रिवाज
Socialism	समाजवाद
Sociology	समाजशास्त्र
Sources of Power	शक्ति के स्रोत
Standard Coin	प्रामाणिक सिक्का
Standard of Living	रहन-सहन का दर्जा
Statutory Tenant	कानूनी काश्तकार
Sub-tenant	शिकमी दर शिकमी काश्तकार
Supply	पूर्ति
Token Coin	साकेतिक सिक्का
Total Utility	कुल उपयोगिता
Transport	यातायात
Utility	उपयोगिता

Value in Exchange	मूल्य
Wants	आवश्यकताएँ
Weakening of Demand	माँग की शिथिलता
Wealth	धन, संपत्ति

परिशिष्ट (५)

उ० प्र० बोर्ड के अर्थशास्त्र के प्रश्नपत्र

१९४८.

अर्थशास्त्र—प्रथम प्रश्नपत्र

किन्हीं भी **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सब प्रश्नों के अंक बराबर हैं।

(१) अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विद्याओं से क्या संबंध है ? समझाइये।

(२) भारत के खनिज पदार्थों का वर्णन कीजिए और भारत के भावी विकास के लिये उनका महत्त्व समझाइये।

(३) भारत में शक्ति के प्रधान साधन क्या है ? इस संबंध में जल-विद्युत् के विकास को संभावना का वर्णन कीजिए।

(४) जनसंख्या के घनत्व का अर्थ समझाइये। भारत के भिन्न भिन्न भागों में घनत्व भिन्न भिन्न होने के क्या कारण हैं ?

(५) पूँजी की परिभाषा लिखिये। आजकल उत्पत्ति में पूँजी का क्या स्थान है ?

(६) रेखाचित्र की सहायता से उपयोगिता ह्रास नियम समझाइये।

(७) मनुष्य की इच्छाओं की क्या विशेषताएँ हैं ? अर्थशास्त्र के अध्ययन में उनका क्या महत्त्व है ?

(८) भारतीय संघ के आय और व्यय की मुख्य मदें क्या हैं ? वे बढ़ते हुए खर्च के लिए कहाँ तक उपयुक्त हैं ?

(९) निम्नलिखित किसी **चार** पर टिप्पणियाँ लिखिये :—

(अ) चल और अचल पूँजी

(ब) बचत और खर्च

(स) आवश्यक और आराम की वस्तुएँ

(द) भूमि प्रधान और पूँजी प्रधान खेती

(क) जन्म और मरण के अंक

(ख) प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

अर्थशास्त्र – द्वितीय प्रश्नपत्र

किन्हीं भी पाच प्रश्नों के उत्तर दीजिये सब प्रश्नों के अक बराबर हैं :

(१) क्या यह सच है कि विनिमय उन वस्तुओं का होता है जो अधिक आवश्यक हों, उनके बदले मे जो कम आवश्यक है ? विनिमय के लाभ उदाहरण सहित समझाइये ।

(२) भारत मे कागजी मुद्रा निकालने के सबध मे जो नियम है उनका वर्णन कीजिये । पुराने नियमों से वे किन बातों में अच्छे हैं ?

(३) बैंक उत्पत्ति के कार्य मे किस प्रकार सहायता पहुँचाते हैं ? देशी महाजनों के कार्यों का वर्णन कीजिये ।

(४) चेक क्या है ? चेक से जमा करने वाले और बैंक दोनों को क्या सुविधाएँ होती हैं ?

(५) भारत के आयात और निर्यात की क्या विशेषताएँ हैं ? गत वर्षों मे भारत का विदेशी व्यापार क्यों कम हो गया है ?

(६) उत्तर प्रदेश के आराजी कानून की विशेषताएँ समझाइये ।

(७) मजदूरी पर रहन-सहन का दर्जा और जाति प्रथा के क्या प्रभाव पड़ते हैं ?

(८) मुनाफे से आप क्या समझते हैं ? क्या भारत मे साहस का क्षेत्र वर्तमान समय में बढ़ गया है ? उदाहरण भी दीजिए ।

(९) निम्नलिखित मे से किन्हीं चारों पर टिप्पणियाँ लिखिये

(अ) स्वर्ण स्टैंडर्ड

(ब) अदल-बदल का असुविधाएँ

(स) अपरिमित जिम्मेदारी का सिद्धातें

(द) हुडी

(क) उद्योग की असल बचत

(ख) मूल्य वृद्धि और मूल्य ह्रास

१९४९

अर्थशास्त्र—प्रथम प्रश्नपत्र

१—"उपयोगिता" का क्या अर्थ है ? ह्रासोन्मुख उपयोगिता के नियम बताइए । "दूसरी वस्तुएँ तुल्य होने पर" इस वाक्याश का क्या तात्पर्य है ? यह दूसरी वस्तुएँ क्या हैं ?

२—"कुटुम्ब के बजट" क्या होते हैं? उनका (अ) गृहस्थ (इ) अर्थशास्त्र के विद्यार्थी और (उ) समाज-सुधारक क्या उपयोग करते हैं?

३—समसीमान्त उपयोगिता का नियम समझाइए। जीवन में रीति-रिवाज और फैशन के प्रभाव से उनमे क्या परिवर्तन होता है?

४—उत्पादन का अर्थ बताइए। रूप, स्थान और समय की उपयोगिताओं मे विश्लेषण कीजिये।

५—श्रम की कार्यशीलता पर जिन कारणों का प्रभाव पड़ता है उनकी परीक्षा करिए।

६—भारत के ग्रामीण उद्योग और कृषि पर यातायात और ससर्ग की रीतियों की उन्नति का क्या प्रभाव पड़ा है?

७—आदर्श जोखिम उठाने वाले के क्या आवश्यक लक्षण हैं? भारत और अमरीकन संयुक्त राष्ट्र के कुछ सफल जोखिम उठाने वालों के नाम बतलाइए।

८—किसी म्यूनिसिपैलिटी (और स्वराज्य सभा) की आय के प्रधान स्रोत क्या हैं?

९—निम्नलिखित मे से किन्ही चार पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(अ) पशुपालक अवस्था

(आ) विलासिताएँ

(इ) बचत और सचय (धन गाड़ना)

(ई) साझा

(उ) नैसर्गिक और प्रतिबन्धक निरोध

(ऊ) यातायात-कर

अर्थशास्त्र—द्वितीय प्रश्नपत्र

१—किसी वस्तु के बाजार (मडी) का विस्तार किन कारणों पर निर्भर रहता है? विस्तृत बाजार को पाने के लिए किसी वस्तु को किन गुणों की आवश्यकता होती है?

२—"किसी वस्तु का मूल्य उसके उत्पादन-व्यय से बहुत ऊँचा या नीचा स्थायी रूप से नहीं हो सकता।" इस वाक्य को पूर्ण रूप से समझाइए।

३—कागजी द्रव्य क्या होता है? उसके प्रधान गुण क्या होते हैं? भारत में कागजी द्रव्य का चलन कैसे किया जाता है?

४—निम्नलिखित दोनों के प्रधान कर्तव्य बताइए :—

(अ) भारत का रिजर्व बैंक (रक्षित अधिकोष)

(आ) भारत का इम्पीरियल बैंक (राष्ट्रीय अधिकोष)

५—लगान का सिद्धान्त बताइए। भारतीय परिस्थितियों के उपयुक्त होने को उसके लक्षणों का वर्णन करिए।

६—"लाभ उद्यमशीलता का पारितोषिक है" इस वाक्य को सक्षेप में समझाइए। भारत मे आजकल उद्यमशीलता का क्षेत्र बतलाइए।

७—"कोई व्यापार अपनी द्रव्य की कमाई से आकर्षक नहीं होता परन्तु अपने वास्तविक गुणों से होता है।" इस वाक्य को पूर्ण रूप से समझाइए।

८—"देश मे पूँजी की जितनी माँग और पूर्ति होगी उसी के अनुसार ब्याज की दर होगी।" पूर्ण रूप से समझाइए कि देश में किन कारणों से माँग और पूर्त्ति होती है।

९—निम्नलिखित मे से किन्ही चार पर छोटी टिप्पणियाँ लिखिए :—

(अ) ग्रेशम का नियम।

(आ) साहूकारो की निकासी कोठी।

(इ) जमींदारी प्रणाली।

(ई) साहूकारी और सराफी प्रणालियाँ।

(उ) श्रम की गतिशीलता।

(ऊ) पूर्ण और वास्तविक ब्याज।

१९५०

अर्थशास्त्र—प्रथम प्रश्नपत्र

टिप्पणी—किन्ही **पांच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सब प्रश्नों के अंक बराबर हैं। जो विद्यार्थी रेखाचित्र सहित उत्तर लिखेंगे, उनको लाभ होगा।

१. अर्थशास्त्र का विषय कौन २ मुख्य भागों में विभक्त है। उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझाइए।

२. आपको १६ रु तीन वस्तुओं क, ख, ग पर जिनकी सीमान्तोपयोगिता नीचे दी गई है, व्यय करना है। वस्तुओं की प्रत्येक इकाई का मूल्य एक रुपया है। बताइये इन तीनों वस्तुओं पर आप किस प्रकार धन व्यय करेंगे ?

(क) १००, ६०, ७८, ६८, ६०, ५०, ४२
(ख) ८०, ७६, ७०, ६२, ५२, ४०, २८
(ग) ७६, ६४, ५४, ४६, ३८, ३०, २०

३. 'पारिवारिक' बजट क्या है ? किसी किसान अथवा कारखाने के श्रमजीवी का कल्पित मासिक बजट तैयार कीजिए।

४. 'उपयोगिता की बचत' से क्या आशय है ? उसको समझाइए। इसके बढने से क्या क्या लाभ हैं ?

५ धन्धों के स्थानीयकरण के कारण, लाभ व हानि समझाकर लिखिए।

६. "जनसंख्या की घनता" का अर्थ समझाइएं। भारतवर्ष के भिन्न २ भागों मे यह भिन्न २ क्यों है ? कारण लिखिए।

७. "भारतीय कारखाने का श्रमिक अमरीकन कारखाने के श्रमिक से कम कार्यकुशल है" आप क्या इस मत से सहमत हैं ? यदि हैं तो कारण दीजिये।

८. भारतवर्ष मे रेलों का (अ) कृषि पर (ब) घरेलू धन्धों पर और (स) बड़े २ धन्धों पर क्या प्रभाव पडा ? इसकी विवेचना कीजिए।

९. भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार के प्रधान आय-स्रोतों तथा व्यय विषयो का विवरण लिखिए।

१० निम्नलिखित मे से किन्ही तीन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिएः—

(अ) प्रत्यक्ष कर अथवा परोक्ष कर
(ब) विस्तृत कृषि अथवा प्रकृष्ट कृषि
(स) नैसर्गिक (स्पष्ट) बाधायें अथवा प्रतिबधक बाधायें
(द) भारत की खनिज सम्पत्ति
(इ) सहकारी उत्पत्ति

—:o:—

अर्थशास्त्र – द्वितीय प्रश्नपत्र

टिप्पणी :—किन्हीं पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिए। सब प्रश्नों के अंक समान हैं।

१. अर्थशास्त्र में 'विनिमय' की क्या समस्याएँ अध्ययन की जाती हैं ? विनिमय की आवश्यकता ही क्या है बतलाइए।

२. "किसी वस्तु के मूल्य पर दो कारणों के प्रभाव की प्रवृत्ति होती है—माँग की थोडे कालवाले और पूर्ति की अधिक कालवाले"। इस कथन की परीक्षा कीजिए और उदाहरण दीजिए।

३. भारतवर्ष के आयात और निर्यात की प्रधान विशेषताएँ बताइए। आजकल विदेशों से भोजन और कल मँगाने में भारतवर्ष को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है?

४. चेक के प्रयोग से क्या लाभ है? क्या चेक "द्रव्य" होती है?

५. भूमि की आसामी प्रथा की आदर्श प्रणाली के नियमों का उल्लेख कीजिए। वर्तमान आसामी प्रथा अथवा भविष्य भूमिधारी प्रथा कहाँ तक इस आदर्श प्रणाली के अनुकूल है?

६. "अधिक पारिश्रमिक कम पारिश्रमिक होता है। कम पारिश्रमिक अधिक पारिश्रमिक होता है।" इन विरोधात्मक वाक्यों का वास्तविक अर्थ स्पष्ट रूप से समझाइए। उदाहरण भी दीजिए।

७. भारतवर्ष मे किसानों की ऋण की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के क्या वर्तमान साधन हैं? उनमे क्या उन्नति शक्य है?

८. "अवशिष्ट लाभ" के भाव की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। भारतवर्ष मे किन व्यवसायों मे आपकी सम्मति के अनुसार अधिक लाभ प्राप्त करने का अवसर है? क्यों?

९. निम्नलिखित में से किन्ही चार पर व्याख्यान की टिप्पणियाँ लिखिए:

(क) केन्द्रीय अधिकोष
(ख) स्वर्ण मान
(ग) वास्तविक पारिश्रमिक
(घ) ड्राफ्ट
(च) आर्थिक किराया या लगान
(छ) श्रम की चलायमानता
(ज) ग्रेशम का नियम
(झ) मुद्रा प्रसार

पटना विश्वविद्यालय के प्रश्नपत्र

इंटरमिडियेट परीक्षा

अर्थशास्त्र प्रथम प्रश्नपत्र

१९४७ समूह (अ)

(इस समूह से केवल ३ प्रश्नों के उत्तर दीजिये)

(१) प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार की दशा में वस्तु के लागत खर्च और मूल्य का संबंध क्या है ?

(२) भिन्न भिन्न देशों मे मजदूरी की दर भिन्न भिन्न होने के क्या कारण हैं ?

(३) मुनाफे से आप क्या समझते हैं ? मुनाफा दिया जाना कहाँ तक न्यायसगत है ?

(४) क्या मशीनों के उपयोग से बेकारी बढ़ती है ? मशीनों के उपयोग से क्या लाभ हैं ?

(५) बैंकों से समाज की क्या सेवाएँ होती हैं ?

(६) कर के प्रधान नियम क्या हैं ? भारत में नमक-कर कहाँ तक उचित है ?

१९४८ समूह (अ)

(इस समूह से केवल ३ प्रश्नों के उत्तर दीजिये)

(१) क्रमागत ह्रास नियम लिखिये और समझाइये। उसकी सीमाएँ क्या हैं ?

(२) अर्थशास्त्र की परिभाषा लिखिये। उसका क्षेत्र भी समझाइये।

(३) माँग की लोच का नियम समझाइये। उदाहरण रेखाचित्र सहित दीजिये।

(४) आर्थिक लगान की परिभाषा लिखिये। उसका अनुमान कैसे लगाया जाता है ?

(५) द्रव्य की परिभाषा लिखिये। अदल-बदल की क्या असुविधाएँ हैं ?

(६) अर्थशास्त्र में बाजार किसे कहते हैं ? वर्तमान समय में किसी वस्तु के बाजार के क्षेत्र के बढ़ने के कारण क्या हैं ?

१९४९ समूह (अ)

(इस समूह से केवल ३ प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सब प्रश्नों के अंक बराबर है)

(१) जब किसी वस्तु की कीमत घटती है तो उसकी बिक्री क्यों बढ़ जाती है ?

(२) मिश्रित पूँजी वाली कम्पनी की व्यवस्था समझाइये। इस प्रकार की कम्पनी की लोकप्रियता के क्या कारण हैं ?

(३) प्रतिस्पर्धा की दशा में बाजार मे किसी वस्तु की एक ही कीमत क्यों होती है ?

(४) बैंक से समाज को क्या लाभ होते हैं ? बैंक को द रिजर्व क्य [illegible] ड़ता है ?

(५) नकद मजदूरी और असली मजदूरी के भेद समझाइये। असली मजदूरी किन बातों पर निर्भर रहती है ?

(६) प्रत्यक्ष और परोक्ष करों का भेद समझाइये। दोनों का तुलनात्मक महत्त्व लिखिये।

१९५० समूह (अ)

(इस समूह से केवल ३ प्रश्नों के उत्तर दीजिये। सब प्रश्नों के अंक बराबर है)

(१) प्रतिस्थापन सिद्धात का उपयोग उदाहरणों सहित आमदनी खर्च करने में किस प्रकार होता है ?

(२) क्रमागत ह्रास नियम समझाइये। किन किन दशाओं मे यह लागू नहीं होता ?

(३) श्रम के बदले मशीनों के उपयोग करने से क्या हानि लाभ होते हैं ?

(४) एकाधिकार मे लागत खर्च और वस्तु के मूल्य का क्या सबन्ध रहता है।

(५) 'राष्ट्रीय आय' की परिभाषा लिखिये और समझाइये। वह किस प्रकार प्राप्त होती है और किस प्रकार वितरित की जाती है।

(६) कर के प्रधान नियम क्या हैं ? अपने प्रान्त में बिक्री पर जो कर लगाया गया है उसका औचित्य सिद्ध कीजिये।